मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण-काव्य में रूप-सौन्दर्य

मध्यकालीन

हिन्दी कृष्ण-काव्य में रूप-सौन्दर्य

डॉ० पुरुषोत्तम दास अग्रवाल
एम. ए.(हिन्दी, संस्कृत) पी-एच. डी,
प्रवक्ता हिन्दी-विभाग
पी० जी०, डी० ए० वी० कॉलेज
(दिल्ली-विश्वविद्यालय)
पहाड़गंज, नई दिल्ली-५५

रोशनलाल जैन एण्ड सन्स
बोरडी का रास्ता, जयपुर-३

प्रकाशक : बोहरा प्रकाशन
बोरडी का रास्ता, जयपुर–१

आवरण शिल्पी : श्री प्रेमचन्द गोस्वामी

मूल्य : पच्चीस रुपये

मुद्रक : स्वदेश प्रिण्टर्स
तेलीपाड़ा, चौड़ारास्ता,
जयपुर–३

चिरसंगिनी

पुष्पलता अग्रवाल

को

सप्रेम समर्पित

अनुक्रमणिका

अध्याय पृष्ठ

प्राक्कथन ९

१. पूर्व-पीठिका १

वेदों में विष्णु, नारायण और श्रीकृष्ण,
महाभारत में श्रीकृष्ण, पुराणों में श्रीकृष्ण

२. रूप-सौन्दर्य : स्वरूप-निर्वचन ३१

सौन्दर्य : स्वरूप और व्याख्या, सौन्दर्य एवं अन्य समानार्थक शब्द, आलंकारिकों का मत, व्युत्पत्तिगत अर्थ, कोशगत अर्थ, अन्य अर्थ, संस्कृत कवियों का मत, हिन्दी कवियों का मत, सुन्दर और उदात्त, सुन्दर और कुरूप सौन्दर्य के तत्व:—भोग-तत्व, रूप-तत्व, रूप-भेद, रूपानुभूति, रूप-तत्व के गुण, काव्य में रूप, रूप का अर्थ, रूप और लावण्य, अभिव्यक्ति, प्रियता।

३. रूप-सौन्दर्य : अभिव्यक्ति-निर्वचन ८९

कलात्मक-सौन्दर्य : कलात्मक-सौन्दर्य के भेद, अर्थ-परिवर्तन, शब्द-ध्वनि, विशेषणों का प्रयोग, मुहावरों का प्रयोग; चित्र-योजना लक्षित-चित्र योजना, रेखा-चित्र, वर्ण-योजना, उपलक्षित चित्र-योजना रूप-साम्य, धर्म-साम्य, प्रभाव-साम्य।

मानवीय-सौन्दर्य, भक्ति-परक दृष्टि, रीतिपरक दृष्टि। आत्मगत उपकरण, गुण, कायिक गुण, वय-सौन्दर्य, वय:सन्धि, नव्य, व्यक्त और पूर्ण यौवन; अलंकार, नख-शिख सौन्दर्य, सौकुमार्य, रूप की वाच्यता, आभिरूप्य।

चेष्टागत सौन्दर्य : कायिक अनुभाव, मानसिक अनुभाव, अंगज अलंकार, सौन्दर्य-साधक बाह्य उपकरण, प्रसाधन गत उपकरण, **तटस्थ सौन्दर्य।**

४. भक्तिकाल में रूप-सौन्दर्य १५१

राम के रस-अधिष्ठाता न होने के कारण, मधुर रस के अधिष्ठाता रूप में श्रीकृष्ण, सौन्दर्य के गुण-परक उपादान, भौतिक स्थूल गुण,

गुफाओं आदि में यदि सौन्दर्य का उदात्त रूप है तो बालक की निश्छल मृदु मुस्कान और क्रियाओं, रमणी के मधुर हाव-भावों, प्रकृति की कोमल कलिकाओं आदि में रमणीयता, सुगन्धि और वर्णादि का अनुपम और आकर्षक सौन्दर्य वर्तमान है। कहीं ऋजुता एवं रूप का भौतिक आकर्षण है और कहीं महाप्राणता का विशाल आकर्षण मानव को अपनी लघुता का आभास कराता रहता है। इसी लघुता और महाप्राणता के बीच मानव का मन सौन्दर्यान्वेषी होकर रूप-रस का आस्वादन करता है और दूसरों के लिये भी इसे सुलभ बना देता है। वह रूप से उत्पन्न अपनी निजी प्रक्रियाओं को कल्पना के योग और अभिव्यञ्जना कौशल से प्रेषणीय बनाकर उस भाव को सामान्य धरातल पर ले आने में सफल होता है। यह कार्य मुख्यत: काव्य के क्षेत्र में आसानी से सम्पन्न हो जाता है। इससे सदा से काव्य में रूप-सौन्दर्य की महत्ता रही है। इसी महत्ता को ध्यान में रखकर प्रस्तुत प्रबन्ध का नामकरण किया गया है।

नामकरण

प्रस्तुत प्रबन्ध का नाम 'मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण-काव्य में रूप-सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना है। प्रबन्ध का सम्बन्ध हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल और रीतिकाल की परिधि में आने वाली श्रीकृष्ण विषयक रचनाओं से है। ऐसी रचनाओं में कवियों की दृष्टि श्रीकृष्ण के अनन्त, असीम और अनिर्वचनीय रूप-सौन्दर्य के उद्घाटन में लगी हुई है। भक्तिकाल में अपने आराध्य श्रीकृष्ण के रूप की अतिशयता का वर्णन सभी कवियों ने किया है। इन कवियों का अलौकिक आराध्य सर्वाङ्ग सुन्दर और सर्वश्रेष्ठ है। इसके विपरीत रीतिकाल में श्रीकृष्ण के लौकिक एवं मानवीय रूप-सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना होने लगी थी। दोनों की दृष्टिभेद के परिणाम से उत्पन्न वर्णन-भेद को लक्षित कराना प्रबन्ध का उद्देश्य है।

'रूप' में आकारगत शोभा का महत्त्व रहता है और सौन्दर्य उस आकार में स्थित छवि का बोधक है। रूप-सौन्दर्य का अभिप्राय शृङ्गार-रस के आलम्बन के शारीरिक आकर्षण से है। इससे प्रस्तुत प्रबन्ध में मानवीय रूप-सौन्दर्य के शारीरिक पक्ष को ही विशेष महत्त्व दिया गया है और आकर्षण को बढ़ाने वाले सभी साधनों एवं उपकरणों को भी इसी के अन्तर्गत समेट लिया गया है।

'अभिव्यञ्जना' शब्द का प्रयोग यहाँ सामान्यार्थक ही है। उससे अभिव्यक्ति या वर्णन का ही अभिप्राय है, अभिव्यक्ति शैली का नहीं। रूप तथा सौन्दर्य का सम्बन्ध जीव-जगत् से है और उसी सीमा तक वह हमें भी अभीष्ट

है। उसके प्रस्तुतीकरण के कौशल की यहां अपेक्षा नहीं है। यही कारण है कि कवि-कौशल के शिल्पादिक रूपों का वर्णन यहाँ अलग अध्याय में न करके वर्ण्य-विषय के सन्दर्भ में यत्र-तत्र आवश्यक रूप से प्रस्तुत किया गया है।

शोध का कारण —

हिन्दी-साहित्य में रूप-सौन्दर्य सम्बन्धी सामग्री का नितान्त अभाव तो नहीं है, परन्तु जितनी सामग्री उपलब्ध है, उनमें विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का अभाव सा ही है। विभिन्न शोध-ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरी हुई कुछ सामग्री मिल जाती है, परन्तु इस सामग्री का समुचित विश्लेषण एवं विवेचन नहीं हो सका है। इससे रूप-सौन्दर्य की वास्तविक भावना का विकास शृङ्खलाबद्ध रूप में प्रस्तुत नहीं हो सका है। काल-विशेष का आधार लेकर डा० रामेश्वर खण्डेलवाल और डा० बच्चनसिंह ने अपना-अपना प्रबन्ध प्रस्तुत किया है। डा० खण्डेलवाल ने 'आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम और सौन्दर्य' नामक प्रबन्ध लिखा है। इसमें उन्होंने प्रेम और सौन्दर्य को शील-संयम तथा शालीनता प्रदान करके उसका विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है कि 'प्रेम और सौन्दर्य की मूल-भावना को अस्वाभाविक जीवन दृष्टियों से मुक्त कराकर तथा शुद्ध मानवीय परिवेश में अवस्थित कर उसे एक सांस्कृतिक प्राण प्रदान करना मेरा केन्द्रीय अध्यवसाय रहा है।' उनके मत से प्रेम और सौन्दर्य दोनों ही गंभीर, उज्ज्वल और उदात्त अनुभूतियां है और इन्हीं का स्पष्टीकरण उनका प्रमुख ध्येय है। डा० बच्चनसिंह ने रीतिकाव्यों में वर्णित प्रेम को ही अपना प्रधान विवेच्य विषय बनाया है। स्वच्छन्दधारा का उन्मुक्त और एकनिष्ठ प्रेम उनकी दृष्टि में गौण हैं। इसीसे उन्होंने प्रेम-वर्णन प्रसंग में रूप का यत्किञ्चित् संकेत मात्र कर दिया है। अन्य स्थलों पर भी रूप-सौन्दर्य सम्बन्धी विचारों का प्रायः अभाव सा ही है। उसी अभाव की पूर्ति के लिये प्रस्तुत प्रबन्ध की रूप-रेखा तैयार कर मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण काव्य को रूप-सौन्दर्य विवेचन का आधार बनाया गया है।

इस संदर्भ में यह कहना उचित होगा कि विषय की विशदता के लिए यत्र-तत्र कृष्णेतर काव्यों से भी पंक्तियां उद्धृत करके प्रस्तुत विषय का प्रतिपादन किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध की रूप-रेखा—

प्रबन्ध की सम्पूर्ण सामग्री को निम्नलिखित अध्यायों में विभक्त किया गया है :—

(१) पूर्व पीठिका।

(२) रूप और सौन्दर्य–स्वरूप-निर्वचन।

(३) रूप और सौन्दर्य–अभिव्यक्ति-निर्वचन।

(४) भक्तिकाल में रूप-सौन्दर्य।

(५) रीतिकाल में रूप-सौन्दर्य।

(६) उपसंहार।

इनमें पूर्व पीठिका के अन्तर्गत श्रीकृष्ण की साहित्यिक अभिव्यक्ति का संक्षिप्त विकास दिया गया है। विकास की इस भूमिका पर प्रस्तुत विषय का विवेचन सरल हो गया है।

दूसरे प्रकरण में रूप और सौन्दर्य के स्वरूप का विश्लेषण हुआ है। इसमें रूप और सौन्दर्य सम्बन्धी भारतीय विचारों का स्पष्टीकरण हुआ है। सौन्दर्यानुभूति की परम्परा को देते हुए सौन्दर्य के तत्त्व, व्युत्पत्ति, अर्थ, अन्य समानार्थक शब्द, तथा भारतीय मतों का विवेचन हुआ है। यहीं पर सौन्दर्य और कुरूपता, तथा सुन्दर और उदात्त के सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया है। इसमें विचारकों की परिभाषाओं को देते हुए रूप और सौन्दर्य के सूक्ष्म भेद पर विचार किया गया है। सौन्दर्य को आत्मगत मानकर उसके स्वरूप को समझने की चेष्टा की गई है। भारतीय दृष्टि की आध्यात्मिकता के कारण आत्मा की सत्ता सर्वोपरि रूप में स्वीकृत है। यही आधारभूत तत्त्व है। सौन्दर्य के इस आत्मतत्त्व के साथ वैज्ञानिक मान्यता का विवेचन वस्तुपरक दृष्टिकोण से हुआ है। इस प्रकार आत्म-परक और वस्तुपरक व्याख्याओं को प्रस्तुत करके समन्वयवादी मध्यम मार्ग को अपनाया गया है। इसमें रूप और सौन्दर्य के स्वरूप-निर्धारण में दोनों ही विचारों का अपने विषय के अनुकूल समर्थन एवं सहयोग लिया गया है। यहीं पर रूप और सौन्दर्य के स्वरूप की शास्त्रीय व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। इसी व्याख्या को आधार मानकर आगे के अध्यायों का विचार किया गया है। अन्त में सौन्दर्य के तत्त्वों का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में रूप और सौन्दर्य के अभिव्यञ्जना पक्ष पर विचार हुआ है। सिद्धान्त विवेचन के रूप में इस अध्याय का विशेष महत्त्व है, इस अध्याय में रूप और सौन्दर्य के अभिव्यक्ति पक्ष पर विचार है। सम्पूर्ण प्रबन्ध में इस अध्याय का वही महत्व है, जो शरीर में रीढ़ की हड्डी का है। इसी का आधार लेकर प्रबन्ध का सम्पूर्ण कलेवर निर्मित किया गया है। इस अध्याय

में सौन्दर्य के मुख्यतः तीन भेद कलात्मक, मानवीय और तटस्थ (प्राकृतिक) सौन्दर्य–किये गये हैं। इन तीनों में मानवीय सौन्दर्य की मीमांसा करना ही इस प्रबन्ध का प्रमुख ध्येय है। इस सौन्दर्य के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन शास्त्रीय आधार पर किया गया है। मानवीय सौन्दर्य में सौन्दर्य के उद्दीपन के मुख्य चार माध्यम स्वीकार किये गये हैं। गुण, चेष्टा, अलंकृति और तटस्थ साधनों से आलम्बन के बढ़े हुए सौन्दर्य को देखने की चेष्टा की गई है। मानवीय सौन्दर्य के बाह्य और आन्तरिक तत्त्वों का विश्लेषण किया गया है। इन सभी आधारों पर मानवीय सौन्दर्य के विश्लेषण की एक समुचित कसौटी तैयार हो जाती है।

चतुर्थ और पंचम अध्यायों में रूप-सौन्दर्य का व्यावहारिक पक्ष ग्रहण किया गया है। मध्यकाल के दो भेद, भक्तिकाल और रीतिकाल करके दोनों में रूप सौन्दर्य को देखने की चेष्टा की गई है। चतुर्थ अध्याय में भक्तिकाल के जिस रूप-सौन्दर्य का विवेचन हुआ है उसका आधार तृतीय अध्याय में स्थापित सिद्धान्त ही है। उन्हीं सिद्धान्तों को निकष बनाकर भक्तिकालीन कृष्ण साहित्य का व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करते हुए बताया गया है कि इस युग की रचनाओं में रूप-सौन्दर्य किन-किन रूपों में उपलब्ध है। अपने विचारों की पुष्टि में भक्त कवियों की रचनाओं में से पुष्कल उदाहरण देते हुए विषय-विश्लेषण एवं विवेचन को ग्राह्य बनाया गया है। मुख्यतः वल्लभ सम्प्रदाय के अष्ट छाप के कवियों तथा राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनेक कवियों की रचनाओं में से उदाहरण दिये गये हैं। इन दोनों सम्प्रदायों के रूप-सौन्दर्य निरूपण में प्रमुख भेद यह है कि प्रथम में श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य की महत्ता और द्वितीय में प्रधान पद राधा को प्राप्त है, जिसे रसेश्वरी मानकर उनके रूप का अनुपम, मोहक सौन्दर्य वर्णित हुआ है। प्रचुर उदाहरणों द्वारा इस विचार की पुष्टि की गई है। इस काल में शृङ्गार का जो स्वरूप वर्णित हुआ है, उसी को आधार मानकर परवर्ती रीतिकालीन कवियों ने सामयिक प्रवृत्तियों के अनुकूल अपना काव्य प्रस्तुत किया है।

रीतिकाल के रूप-सौन्दर्य का निरूपण पंचम अध्याय में हुआ है। इस अध्याय में भी तृतीय अध्याय में स्थापित सिद्धान्तों का ही आधार लिया गया है। सामयिक सामाजिक विशेषताओं के कारण रूप-सौन्दर्य निरूपण की भावना में परिवर्तन आ गया था। इन परिवर्तनों का यथास्थान निर्देश कर दिया गया है। भक्ति-विषयक आध्यात्मिक भावनाओं के उच्च स्तर से गिर जाने के कारण रूप-सौन्दर्य निरूपण का भक्तिकालीन भाव कवियों में न रह गया। दास्य एवं सख्य भाव की गहनता लगभग समाप्त हो गयी। श्रीकृष्ण और

राधा का आध्यात्मिक स्वरूप लुप्त हो गया। फल यह हुआ है कि रूप-सौन्दर्य वर्णन की भक्तिकालीन मर्यादित एवं रूपकातिशयोक्ति वाली सांकेतिक पद्धति समाप्त हो गई। राधा-कृष्ण का स्पष्ट और विलास भावना से युक्त ऐसा चित्र प्रस्तुत किया गया, जो गौरव सम्पन्न और भक्तिभाव का उद्रेक करने वाला न होकर मांसल हो गया। इस मांसल रूप-सौन्दर्य में शरीर के बाह्य आकर्षण और अवयवों की बनावट का सूक्ष्म वर्णन किया जाने लगा। नारी सौन्दर्य को महत्ता मिल गई। वह पुरुष के आकर्षण की साधन बन गई। नारी भोग्या बनी और पुरुष उसका भोक्ता। इससे नारी रूप-चित्रण में उसके अवयवों के उभार, बनावट आदि के मादक सौन्दर्य का वर्णन हुआ। पुरुष-सौन्दर्य अधिकांश कवियों की दृष्टि से ओझल रहा। एक-दो कवि इस परम्परा के अपवाद भी हैं। इन सभी कवियों की रचनाओं से उद्धरण दे देकर विश्लेषण करते हुए अपने विचारों की पुष्टि की गई है।

उपसंहार में प्रस्तुत प्रबन्ध के विचारों एवं विश्लेषणों का सार दिया गया है। इसमें एक निर्णय पर पहुँचने की चेष्टा की गई है। इसी अध्याय में पूर्व विवेचित विचारों के आधार पर मध्यकालीन कृष्ण-काव्य में रूप-सौन्दर्य की समता विभिन्नताओं का संकेत किया गया है। बदलती हुई काव्यधारा को दृष्टि में रख कर रूप-सौन्दर्य चित्रण के विभिन्न प्रकार, अभिव्यञ्जना और प्रवृत्तियों आदि का संकेत कर दिया गया है। अन्त में रूप-सौन्दर्य की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए मानवीय-हित में उसके योगदानमूलक विशेषताओं का संकेत करके प्रबन्ध की समाप्ति की गई है।

प्रस्तुत प्रबन्ध की विशेषता—

आज तक के उपलब्ध प्रकाशित शोध ग्रन्थों में या तो केवल प्रेम की व्यञ्जना हुई है अथवा प्रेम के साथ सौन्दर्य का भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। 'रूप' के विवेचन का प्रयास शोध ग्रन्थों में नहीं दीख पड़ा। रूप और सौन्दर्य दोनों के युगपत् विवेचन एवं विश्लेषण का अभाव अभी तक बना हुआ था। हिन्दी के मध्यकालीन कृष्ण-काव्य को आधार बना कर आज तक किसी शोधक ने उसमें रूप-सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना का विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया है। यह प्रबन्ध उसी अभाव की पूर्ति का एक प्रयास है।

इस प्रबन्ध में रूप एवं सौन्दर्य सम्बन्धी सत्य का अनुसंधान वैज्ञानिक पद्धति पर करते हुए पाश्चात्य एवं पौर्वात्य मतों को सुव्यवस्थित रूप में उपस्थित किया गया है। सौन्दर्य-विवेचन और उसके प्रभावों की व्यञ्जना में आश्रय और आलम्बन की मन में उठती हुई विभिन्न भावनाओं का विश्लेषण हुआ है। सौन्दर्य-दर्शन से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं का साहित्यिक विवेचन विभिन्न

कवियों की कृतियों के उद्धरणों द्वारा किया गया है। ऐसी स्थिति में आलम्बन की स्वतः संभवी छवि और सौन्दर्य-साधक उपकरणों से बढ़ जाने वाली छवि को ही रूप-सौन्दर्य के विश्लेषण का निकष माना गया है। आलम्बन के आकर्षण को बढ़ाने वाली सभी प्रसाधक सामग्रियों को भी सौन्दर्योपकारक रूप में ग्रहण करके ऐसे सभी तत्वों का आत्मसात् सौन्दर्य के अन्तर्गत कर लिया गया है, जिनसे आश्रय आलम्बन के रूप-सौन्दर्य की वृद्धि होती है।

सौन्दर्य के स्वरूप-निर्धारण में विभिन्न मनीषियों के प्रतिवादी विचारों की भिन्नता में समन्वयात्मक प्रवृत्ति अपनाई गई है। व्यक्तिवादी अथवा आत्मवादी और विषयवादी या वस्तुवादी इन दोनों विचारों का समन्वय करते हुए प्रस्तुत प्रबन्ध में सौन्दर्यानुभव में व्यक्ति और वस्तु दोनों की महत्ता स्वीकार की गई है, क्योंकि अनुभविता के अभाव में वस्तु का सौन्दर्य महत्वहीन होता है और वस्तु में सौन्दर्य की शून्यता अनुभवकर्ता की आत्मा को सन्तुष्ट नहीं करती। अतः सौन्दर्यानुभव में वस्तु के सौन्दर्य के साथ उसके अनुभवकर्ता की महत्ता भी रहती है। इन दोनों में प्रमुखता मानवीय दृष्टिकोण की ही है। इस से मानव की महत्ता के सापेक्ष में वस्तु-सौन्दर्य को स्वीकार किया गया है। इस से दो उद्देश्यों की सिद्धि होती है (१) आत्मपरक और वस्तुपरक दृष्टि से सौन्दर्य-विवेचन की दो अलग-अलग आधार भूमियां प्राप्त होती हैं। (२) सौन्दर्य-बोध से उत्पन्न आनन्द के महत्व का प्रतिपादन होता है। यह आनन्द काव्य के सौन्दर्यानुभव से ही उत्पन्न होता है। कला का आनन्द भी सौन्दर्यजन्य ही है। इस से काव्य का सौन्दर्य परक अनुशीलन उसके मूल ध्येय का ही अनुशीलन है। इस अनुशीलन में विषय की एक सीमा है, उस सीमा में रह कर ही अपना विचार व्यक्त किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के नामकरण से ही विषयवस्तु की परिधि का ज्ञान होता है। मध्यकालीन कृष्णकाव्य से अभिप्राय भक्तिकाल और रीतिकाल की कृष्ण सम्बन्धी रचनाओं से है। इन दोनों कालों की अनन्त रचनाओं का विवेचन करना प्रस्तुत प्रबन्ध का ध्येय नहीं है, अपितु इन कालों के प्रमुख कवियों की कृतियों का प्रवृत्ति-परक विश्लेषण ही सौन्दर्य-दृष्टि से किया गया है। भक्तिकाल में वल्लभ-सम्प्रदाय और राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कुछ कवियों की रचनाओं को प्रमुखता दी गई है, परन्तु आवश्यकतानुसार अन्य कृष्ण-भक्त कवियों के उद्धरणों आदि से भी प्रस्तुत विषय की पुष्टि हो सकी है। इन्हीं कवियों की रचनाओं के माध्यम से सिद्धान्त पक्ष का निरूपण किया गया है। एक बार सिद्धान्त का प्रतिपादन कर लेने पर अलग-अलग अध्यायों में भक्ति-काल और रीतिकाल का सौन्दर्य-विषयक विश्लेषण इसी आधार पर हुआ है।

इन दोनों कालों की सभी प्रवृत्तियों का गंभीर विवेचन इस शोध प्रबन्ध की सीमा के अन्तर्गत नहीं आता। इसमें सौन्दर्य-साधक पंक्तियों की ही सहायता ली गई है। कहीं-कहीं पर विषय को ग्राह्य बनाने के लिए कृष्णेतर काव्यों से भी अनेक पंक्तियों की सहायता ली गई है।

भक्तिकाल के विवेचन में भक्त कवियों की रचनाएँ ही आलोच्य रही हैं। इनकी भावनाओं से रीतिकालीन कवियों की भावनाओं में महान् अन्तर आ गया था। आलम्बन और आश्रय की एकरूपता होते हुए भी उसके स्वरूप में बदली हुई सामाजिक मान्यताओं का प्रभाव पड़ा है। राधा और कृष्ण वही हैं, परन्तु उनके स्वरूप में अन्तर आ गया। रीतिकाल में राधा-कृष्ण भक्ति के आलम्बन नहीं रह गये। वे सामान्य नायक-नायिका की स्थिति में आ गये। यदा-कदा भक्ति भाव से आप्लावित होती हुई कवियों की रचनाएँ मुक्तकों के रूप में प्रस्तुत होती रही हैं। इनमें भक्ति की एक क्षीण होती हुई भावना दीख पड़ती है, परन्तु कलात्मक अभिव्यक्ति उच्च कोटि की होने से अभिव्यञ्जनात्मक सौन्दर्य अच्छा बन पड़ा है। प्रस्तुत प्रबन्ध में रीतिकालीन कृष्ण-काव्य में राधा-कृष्णादि से सम्बन्धित रचनाओं का आधार लिया गया है। कृष्ण से सम्बन्धित किसी भी पंक्ति का चयन सुविधा और विषय के प्रतिपादन के उद्देश्य से ही किया गया है। प्रायः सभी रीति-ग्रन्थों में राधा-कृष्ण विषयक सामग्री प्राप्त हो जाती है। परन्तु प्रमुख कवियों की मुक्तक रचनाओं का ही सहारा लिया गया है और इन्हीं के आधार पर रूप और सौन्दर्य की व्याख्या की गई है।

रूप-सौन्दर्य को यहाँ मानवीय सौन्दर्य के सन्दर्भ में ही उपस्थित किया गया है। इस सौन्दर्य की व्याख्या शृङ्गार-रस के सन्दर्भ में की गई है। इससे शृङ्गार-रस में रति का आलम्बन होने के कारण नायक अथवा नायिका रूप राधा-कृष्ण के शारीरिक-सौन्दर्य को महत्त्व दिया गया है। रूप या आकारगत विशेषताओं के कारण शरीर के आकर्षण की अभिव्यक्ति के साथ आकार से भिन्न लावण्य, छवि, नूतनता आदि विशेष गुणों से बढ़ी हुई शारीरिक शोभा का वर्णन हुआ है। इस प्रकार मुख्यता मानवीय सौन्दर्य की ही है। इस सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने अथवा शरीर को आकर्षक बनाने वाले ऐसे सभी साधनों को भी सौन्दर्य में लिया गया है, जिनसे आश्रय के मन में आलम्बन के प्रति कोमल भावनाओं का उदय होता है। ऐसे साधनों में प्रसाधनों को माना गया है। मानव के इस भौतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त भावनाओं को उद्दीप्त करके आलम्बन के आकर्षण को बढ़ा देने में सहायक प्रकृति आदि की शोभा का

संकेत मात्र 'तटस्थ-सौन्दर्य' के नाम से कर दिया गया है। ऐसा शृङ्खला को जोड़ने के लिए ही किया गया है।

इस प्रबन्ध में श्रीकृष्ण अथवा ब्रज से सम्बन्धित काव्यों को ही ग्रहण किया गया है। श्रीकृष्ण का मध्यकालीन वैष्णव भक्तों में प्रचलित रूप अचानक समक्ष नहीं आ गया था, अपितु श्रीकृष्ण की साहित्यिक या धार्मिक अभिव्यक्ति शताब्दियों से होती चली आई है। वैदिक युग से आरम्भ कर पौराणिक युग तक श्रीकृष्ण के विभिन्न विकसित रूपों के आधार पर ही हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य में श्रीकृष्ण के रूप और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई है। इस परम्परा का ज्ञान कराने के लिये श्रीकृष्ण के वैदिक विष्णु रूप के विकास की एक शृङ्खला स्थापित की गई है। क्रमशः महाभारत और श्रीमद्भागवत पुराण में वर्णित श्रीकृष्ण के स्वरूप की व्याख्या करते हुए उनके भक्तिकाल में ग्राह्य रसिकेश्वर रूप को ग्रहण किया है। उनके इसी रूप के सौन्दर्य का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार श्रीकृष्ण साहित्य में श्रीकृष्ण या गोपांगनाओं आदि का जो सौन्दर्य वर्णित है, उसका मूल आधार यह पौराणिक साहित्य ही है। यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों को उपजीव्य मानकर परवर्ती साहित्य को प्रभावित करने वाला बन गया था। इसी दृष्टि से श्रीकृष्ण के पूर्व नामों और चरित्रों आदि की संक्षिप्त परम्परा भी उपस्थित की गई है।

कृतज्ञता-ज्ञापन—कारण और कार्य का अनवरत सम्बन्ध बना रहता है। कार्य की सिद्धि की मूल प्रेरणा प्रेरक कारण एवं परिस्थिति के ऊपर अवलम्बित रहती है। सामयिक स्थितियों से परिचालित होकर व्यक्ति कार्य की ओर अग्रसर होता है और कार्य-काल में उपस्थित अवरोधों को दूर करने में निर्देशक का स्नेह और मार्ग-दर्शन उसके लिये सम्बल का काम करता है। इसके अभाव में व्यक्ति का बल और धैर्य या तो समाप्त हो जाता है या वह कार्य से विमुख हो जाता है। मेरे लिये इस प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई क्योंकि मैं अपने निर्देशक का एक प्राचीनतम शिष्य रहा हूं और उनके स्नेह का पूर्ण अधिकारी भी। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए प्रायः उनके निवास-स्थल पर ही रहकर अपनी शंकाओं का समाधान करता रहा। वहां पर उनका सौहार्द्रपूर्ण पारिवारिक वातावरण मेरी प्रेरणा का कारण बनता रहा और नैराश्य के क्षणों में भी आशा की ज्योति मुझे आगे बढ़ाती रही। यही कारण है कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध आज पूर्ण होकर प्रकाशित हो रहा है।

इस प्रबन्ध के शीर्षक-चयन में एक नाटकीय परिस्थिति का योग है। नवलगढ़ (राजस्थान) की संस्था 'श्री सूर्य-मण्डल' में आमन्त्रित डा० सत्येन्द्र,

अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के साथ किये गये विचार-विनिमय ने मुझे उनके पास जयपुर जाने की प्रेरणा दी। वहां पर उनके सुझावों का लाभ उठाकर अपने निर्देशक डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, सम्प्रति अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, पूना-विश्वविद्यालय, पूना, की सहायता से इस शीर्षक को चुना गया तथा तदनुसार उसकी रूप-रेखा बनाकर उसी दिन डा० सत्येन्द्र की मौखिक स्वीकृति लेकर कार्य आरम्भ कर दिया गया था।

कार्य के आरम्भ कर देने पर कुछ मास के उपरान्त मुझे कई बाधाओं का सामना करना पड़ा। प्रथम यह कि इस ग्रन्थ का कलेवर बढ़ता चला जा रहा है। द्वितीय बाधा के रूप में समुचित ग्रन्थों का अभाव कार्य को अवरुद्ध कर देता था। तीसरी कठिनाई यह थी कि हमारे और निर्देशक के निवास-स्थान के बीच लगभग सौ मील की दूरी थी। क्रमशः इन अवरोधों को दूर किया गया। ग्रन्थ की रूप-रेखा में समुचित परिवर्तन करके उसे यथा सम्भव एक सीमा में ही रखने का प्रयास किया गया। इससे उसके बढ़ते हुए कलेवर को नियन्त्रित कर दिया गया।

ग्रन्थों के अभाव की पूर्ति अनेक स्थलों की यात्रा से की गई है। इस यात्रा में चार मास का समय लगा। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, जयपुर, उदयपुर, गोरखपुर, पूना, नाथद्वारा, कांकरोली से प्रस्तुत प्रबन्ध की सामग्री संगृहीत की गई। इनमें काशी नागरी प्रचारिणी सभा और नाथद्वारा से प्राप्त सामग्री विशेष उपयोगी सिद्ध हुई। नाथद्वारा के श्री आनन्दी लाल जी शास्त्री और लाला भगवान दास जी की सहायता से अनेक ग्रन्थ देखने को उपलब्ध हुए। यहीं पर गोस्वामी गोविन्द लाल जी महाराज का कृष्ण-साहित्य से सम्बन्धित अपूर्व संग्रह है। प्रत्येक शोधक यहां से लाभ उठा सकता है। पूना में कई हस्तलिखित ग्रन्थ मिले। यहां के संस्कृत-विभाग के डा० जोशी ने कई समस्याओं का समाधान किया। उदयपुर के एम० बी० कालेज के पुस्तकालया-ध्यक्ष ने वहीं पर बैठकर पुस्तकों के अध्ययन की सुविधा दे दी थी। जयपुर, गोरखपुर और पूना विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों से लाभ उठाया गया। इन सभी स्थलों से सामग्री का चयन करके उनका समुचित उपयोग किया गया। इस कार्य में सहायता देने वाले सभी लोगों के प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूं।

शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में हमारी तीसरी कठिनाई मेरे और निर्देशक के बीच स्थान की दूरी थी। बीच-बीच में कई शंकाएं उत्पन्न होती थीं, जिनका समाधान पत्र-व्यवहार से नहीं हो पाता था। अतः मुझे बार-बार

निर्देशक के पास जयपुर जाना पड़ता था। कालचक्र से यह दूरी और भी बढ़ गई। वे पूना विश्व-विद्यालय में हिन्दी के अध्यक्ष होकर पदोन्नति पर चले गये। इस दूरी को कम करने के लिये मुझे पूना में रहना पड़ा। अपनी शंकाओं के समाधान हेतु जयपुर में अपने निर्देशक के पास जाते हुए मुझे एक-बार एक दुर्घटना का भी शिकार हो जाना पड़ा। इस दुर्घटना एवं शोध-प्रबन्ध की स्मृति स्वरूप अर्जित की गई शारीरिक पीड़ा सम्भवतः आजीवन बनी रहेगी क्योंकि आज भी यदा-कदा वह पीड़ा उमड़कर समक्ष आ जाती है।

शोध-प्रबन्ध के सम्बन्ध में मेरी यह धारणा है कि शोध-कार्य आरम्भ करने के पूर्व प्रत्येक शोधक को शोध सम्बन्धी कार्यों एवं व्यवसायों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये कम से कम एक मास तक नियमित रूप से शोध-सम्बन्धी कक्षाओं में उपस्थित रहना चाहिए तथा सम्बन्धित विश्वविद्यालयों द्वारा इसका प्रबन्ध होना चाहिए। ऐसा होने पर अनेक शंकाएँ स्वतः ही समाप्त हो जायेंगी तथा कार्य-विधि का ज्ञान होने से व्यर्थ के अध्ययन में भटकना न पड़ेगा।

डा. सरनाम सिंह जी शर्मा, जयपुर के प्रति भी अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। यद्यपि मैं उनके निर्देशन में कार्य नहीं कर रहा था, और न ही उनसे मेरा कोई पूर्व परिचय ही था, फिर भी अपनी महती उदारता के कारण उन्होंने प्रथम परिचय के क्षण से ही बड़े मनोयोग पूर्वक मुझे अपनी अमूल्य सम्मतियाँ और सुझाव दिये थे।

अन्त में अपनी सहधर्मिणी श्रीमती पुष्पलता अग्रवाल के प्रति भी आभार प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूं। वे सम्पूर्ण पारिवारिक उत्तरदायित्वों को स्वयं वहन करते हुए मुझे अध्ययन के लिये पर्याप्त समय और प्रेरणा देती रहीं। इसी का फल है कि यह कार्य शीघ्र ही समाप्त होकर आपके हाथों में प्रस्तुत है। अन्य भी अनेक लोगों से मुझे ग्रन्थ-निर्माण में सहायता मिली, जिनकी स्मृतियाँ शेष हैं। उन सब के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए मैं केवल इतना ही कहूँगा कि—

"अन्ये चापि महाभागा : सहायाग्रन्थनिर्मितो ।
ये ते सर्वे प्रसीदन्तु नामतो न स्मृता इह ।

५६७०/३ देवनगर, नई दिल्ली ५,

आषाढ़ कृष्ण ११ सं० २०२७। पुरुषोत्तम दास अग्रवाल

पूर्व-पीठिका

(१) वेदों में विष्णु
(२) नारायण और श्रीकृष्ण
(३) महाभारत में श्रीकृष्ण
(४) पुराणों में श्रीकृष्ण

वेदों में विष्णु

साहित्य में भगवान श्रीकृष्ण के जिस रूप की आज इतनी अधिक महत्ता है, उसके मूल पर विचार कर लेना जिज्ञासुओं की तृप्ति का एक प्रधान साधन होगा। आज श्रीकृष्ण की सर्व व्यापकता के सम्बन्ध में मत वैभिन्न नहीं है। यदि उनके इसी गुण पर ध्यान केन्द्रित कर दिया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में 'विष्णु' के भी इसी गुण का बार-बार वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से श्रीकृष्ण को अपने आदि रूप में विष्णु मान लेने पर अत्युक्ति नहीं कही जा सकती है। विष्णु के इस व्यापकतापरक रूप पर विचार करना आवश्यक है।

'विष्णु' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ प्रवेश या व्याप्ति है। 'विश्' धातु से निष्पन्न इस शब्द से सम्पूर्ण विश्व में व्यापकता का भाव व्यक्त होता है। यह शब्द जिस व्यक्तित्व का बोधक है, वह निश्चित रूप से अपने इस गुण के कारण सर्वमान्य रहा है। वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार **सायण** ने विष्णु का अर्थ "व्यापनशील" माना है, **ब्लूमफिल्ड** (पाश्चात्य विचारक) के अनुसार 'पृष्ट पर होकर' (On the back) अर्थ किया गया है। **आप्टे** ने इस शब्द की निष्पत्ति 'विश्' धातु से मानते हुए कहा है कि चूंकि उसी की शक्ति से यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है, अतः विश् धातु के 'प्रवेश मूलक अर्थ' के कारण उसे विष्णु कहा जाता है।[1] यास्क ने कहा है कि, "अथ यद् विपितो भवति तद् विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा'। दुर्गाचार्य ने अपने निरुक्त में कहा है कि जो समस्त चराचर जगत् को व्याप्त करता है, वही विष्णु है 'वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः'। एक अन्य स्थल पर कहा हैं कि रश्मियों द्वारा यह व्याप्त होता है अतः विष्णु कहा जाता है।[2] यहां पर विष्णु को ही आदित्य के रूप में स्वीकार किया गया है। विष्णु शब्द में वि का अर्थ मोक्ष भी बताया गया है। अतः मोक्ष की योग्यता रखने वाला या मोक्षदाता ही विष्णु कहा गया। वेदों में इस मोक्ष का इन्द्र द्वारा वृत्र और पणिस से जलमोक्ष का अथवा

---

1 यस्माद्विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्यामहात्मनः।
तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशधातोः प्रवेशनात्।

2 यदा रश्मिभिरतिशयेनायं व्याप्तो भवति, व्याप्नोति वा रश्मिभि र्यं सर्वम्।
तद् विष्णुरादित्यो भवति। निरुक्त २/३/३

वरुण द्वारा पाश मोक्ष का अर्थ लगाया जा सकता है ।[1] इस दृष्टि से यही विष्णु उपेन्द्र भी कहे जा सकते हैं और इनका प्रमुख गुण व्यापकता है ।

विष्णु की इस व्यापकता की चर्चा ऋग्वेद के कई मंत्रों में है। वहाँ पर विष्णु को 'कुचर' और गिरिष्ठा कहा गया है ।[2] इनका एक नाम त्रिविक्रम भी बताया गया है । अपने पगों से अखिल ब्रह्माण्ड को माप लेने वाली विशेषता के कारण विष्णु एक महान् और व्यापक शक्ति के प्रतीक बनकर हमारे समक्ष आते हैं । आदित्य वाचक भाव का बोधक होकर उनके जिन तीन पदों की चर्चा है उनमें दो पदों का आधार पृथ्वी और अन्तरिक्ष तो चक्षु का विषय है, परन्तु तृतीय 'परम पद' अदृष्ट है, आकाश की ओर दृष्टि रखकर विद्वान् उसे देख सकते हैं ।[3] विष्णु के इन तीन पदों की चर्चा वेदों में अनेक स्थलों पर है । अपनी व्यापकता के कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को माप लेने की शक्ति वर्तमान है । कहा गया है कि "अदम्य विष्णु गोप ने तीन पदों में ब्रह्माण्ड बाँध लिया ।[4] उन्होंने तीन पद किये और ब्रह्माण्ड को नांघ गये ।[5] विष्णु का यह तीसरा पद पक्षियों के लिये भी अगम्य है ।[6] यह तीसरा पद मधु का उत्स है ।[7] यही परम पद बाद के धार्मिक ग्रन्थों के साधकों का प्राप्य बन गया । विष्णु के इन तीन पदों की चर्चा पौराणिक साहित्य में की गई है । वामनावतार का मूल स्रोत इसे ही मान सकते हैं । उस अवतार में भगवान वामन ने तीन पद से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को माप लिया था । उपर्युक्त मंत्र में प्रयुक्त 'गोपा' का शाब्दिक अर्थ गौवों का पालन करने वाला है । श्रीकृष्ण का सम्बन्ध गायों से बहुत अधिक

---

1 सूर की झाँकी । डा० सत्येन्द्र पृ० १७ प्रथम संस्करण, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं० आगरा ।

2 प्रतद् विष्णुः स्तवते वीर्येणमृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठा ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा । ऋग्वेद १/५४/२

3 इदं विष्णुविचक्रमे त्रेधा निदधे परम् । ऋगवेद १/२२/१७
तद्विष्णोः परमं पदम् सदा पश्यन्ति सूरयः
दिवीव चक्षुराततम् । १/२२/२० ऋग्वेद

4 त्रिणि पदानि विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदम्य । ऋग्वेद १/२२/१८

5 इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । ऋग्वेद १/२२/१७

6 द्वे इन्द्रस्य क्रमणे स्वर्द्दशोऽभिख्याय मर्त्योभुरण्यति ।
तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पपत्रिणः । ऋग्वेद १/१५५/५

7 उरुक्रमस्य सहिबन्धुरित्था विष्णयेः ।
पदे परमे मध्वः उत्सः । १/१५४/५ ऋग्वेद

था। यहां पर जिस लोक की कल्पना की गई है, वहां सिंगो वाली गायों की स्थिति भी बताई गई है।[1] सिंगों से युक्त गायों का यह स्थान विष्णु का परम पद कहा गया है जो सदा प्रकाशित होता रहता है। हो सकता है कि वैष्णव साधकों ने यहां से अपने वैकुण्ठ और विष्णु के वासस्थान गो-लोक का मूल बीज पा लिया हो। वृन्दावन की कल्पना में भी यही भावना दीख पड़ती है। वेदों में विष्णु के सम्बन्ध में वर्णित अनेक बातें श्रीकृष्ण के अवतारों में प्राप्त होती हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णु की यही भावना परवर्ती साहित्य में श्री कृष्ण के व्यक्तित्व में विकसित हो गई। श्रीकृष्ण जीवन से सम्बन्धित अन्य कई शब्दों का उल्लेख भी वेदों में प्राप्त हो जाता है।

विष्णु के अनेक पर्यायों का उल्लेख भी वेदों में है। ऐसे शब्दों में त्रिविक्रम, उरुगाय और गोपा आदि शब्दों का नाम लिया जा सकता है।[2] यहां पर कृष्ण को वृष्णि कहना अकारण नहीं हो सकता। परवर्ती साहित्य में पौराणिक आख्यानों के आधार पर श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार और वृष्णि-वंश में उत्पन्न माने गये हैं। इन्हीं विष्णु के लिये वेदों में ऋग्वेद १/२२/१८ और १/२२/१७ 'त्रिणि पदानि विचक्रमे' और 'त्रेधा निदधे पदम्' का प्रयोग किया गया है।

श्रीकृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित अन्य बहुत से शब्द वेदों में प्रयुक्त हुए हैं। राधा,[2] गो,[3] व्रज,[4] अहि, वृषभानु,[5] रोहिणी,[6] कृष्ण, अर्जुन[7] आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। ऋग्वेद के बहुत से मंत्रों[8] के द्रष्टा ऋषि श्रीकृष्ण का वर्णन भी मिलता है। इन्हीं के नाम पर कार्ष्णायण गोत्र चला था। हो

---

1 ता वां वास्तुन्युश्मसि गमध्ये यत्र गावोभूरि शृंगा अयासः।
यत्राह तदरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि। ऋग्वेद १/१५४/६

2 प्रभविष्णवे शूषमेतुमन्म गिरिक्षतं उरुगायाय वृष्णे। ऋग्वेद १/१५४/३

3 स्तोत्रं राधानां पते। ऋ० १/३०/२६॥
३—गवामव्रजं वृधि। ऋ० १/१०/७

4 दासपत्नी अहिगोपा अतिष्ठुत। ऋ० १/३२/११

5 त्वं नृचक्षा वृषभानुपूर्वी कृष्णास्वाग्ने अरुषो विभाहि। अथर्ववेद ३/१५/३

6 तमेदताधार यः कृष्णा रोहिणीषु। ऋग्वेद ८/९३/१३

7 कृष्णा रूपाणि अर्जुना विवो मदे। ऋग्वेद १०/२१/३

8 ऋग्वेद मंडल ८ सूक्त सं० ८५, ८६, ८७, तथा मण्डल १०/४२–४३–४४

सकता है कि इस प्रचलित नाम का आधार ग्रहण कर वसुदेव ने अपने पुत्र का नाम श्रीकृष्ण रख दिया हो। वैदिक आख्यानक के अनुसार नाग जाति का एक नेता अहरणक वर्ण में काला होने के कारण मरुत ऋषि द्वारा कृष्ण कहा गया था।[1] वही बाद में अपनी लोकप्रियता के कारण मूल पुरुषों में गिना जाने लगा था। इस प्रकार विष्णु और कृष्ण नाम की प्रसिद्धि वैदिक युग में हो चुकी थी, इसमें सन्देह नहीं है। यह बात दूसरी है कि उनके रूप का इतना अधिक विस्तार नहीं हो सका था।

इस स्थल पर तार्किकों के मन में यह एक सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि श्रीकृष्ण तो अनादि और अनन्त है, तो वेदों के माध्यम से उनके अस्तित्व को कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? यहां पर मेरा केवल इतना ही निवेदन है कि रचनाओं में श्रीकृष्ण की अभिव्यक्ति होने के पूर्व ही वेद अस्तित्व में आ चुके थे। श्रीमद् भागवत के अनुसार महाभारत में इतिहास के माध्यम से वेदों के रहस्य का उद्घाटन हुआ है।[2] इसमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण और वैदिक रहस्य इन दोनों का युगपत् ज्ञान होता है। इस कथन से वेदों को महाभारत के पूर्व का ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। महाभारत में भी श्रीकृष्ण को वेद वेदांग वेत्ता बताया गया है। इस विचार से भी यह स्पष्ट है कि वेदों के पंक्तिबद्ध करने अथवा अस्तित्व में आ जाने के बाद ही श्रीकृष्ण नाम का परिचय प्राप्त होने लगा होगा। ऐसा मान लेने पर एक दूसरी शंका यह उत्पन्न होती है कि ऐसी स्थिति में वेदों में प्रयुक्त राधा, गो आदि शब्दों का क्या अर्थ लगाया जायगा। इस शंका का निराकरण अत्यन्त सरल है। वैदिक व्याख्या ग्रन्थों में इन सभी शब्दों का तत्कालीन अर्थ दूसरा था। राधा शब्द धन, अन्न और नक्षत्र का बोधक है, गो का अर्थ किरण और व्रज का किरणों का स्थान द्यौ है। कृष्ण रात्रि, अर्जुन दिन, वृष्ण बलराम अर्थ को व्यक्त करते हैं। आरम्भ की वैदिक व्याख्याओं में यही अर्थ प्रचलित था, परन्तु शब्दों के सतत् प्रयोग और अर्थ परिवर्तन से इनका सम्बन्ध श्रीकृष्ण से जोड़ दिया गया होगा। इस आधार पर यह निर्णय अत्युक्ति पूर्ण न होगा कि वेद में प्रयुक्त राधा कृष्ण आदि शब्द ऐतिहासिक प्रसिद्धि प्राप्त व्यक्तित्व के बोधक नहीं, अपितु अपने मूल रूप में एक अन्य अर्थ के ही प्रतिपादक रहे हैं। यह बात दूसरी है कि हमारी धार्मिक भावनाएँ प्रत्येक विचार का बीज वेदों में खोज लेने की अभ्यस्त हो

1 साहित्यिक निबन्ध पृ. ३५ पुरुषोत्तमदास अग्रवाल

2 भारत व्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः। भागवत १/४/२८

गई हैं और इसी भावना के फलस्वरूप इन शब्दों के मूल में अवतार का रहस्य हमें प्राप्त हो गया है।

इस सम्बन्ध में मनु का विचार है कि सभी नामों एवं कर्मों का निर्माण वेदों से ही हुआ है।[1] डा० हरवंश लाल शर्मा के अनुसार इन मंत्रों में जो नाम आये हैं, उनका यद्यपि गोपाल कृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वैदिक कृष्ण का सम्बन्ध महाभारत के कृष्ण से जोड़ दिया गया, उसी प्रकार इन सभी नामों का उपयोग पौराणिक युग में कृष्ण के लिये कर लिया गया।[2] डा० मुंशीराम शर्मा ने भी इसी विचार का समर्थन किया है कि 'इस प्रकार वेदों में जो राधा, विष्णु, कृष्ण आदि शब्द आये हैं, वे ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नही है। ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं पदार्थों के नाम वेद के शब्दों को देखकर रखे गये हैं। वेद के शब्द पहले हैं, ऐतिहासिक व्यक्ति बाद में हुए हैं।"[3] अतः स्पष्ट है कि इन्हीं शब्दों का प्रयोग अवतारों में होने लगा होगा।

विष्णु के विभिन्न नामों में उनके आदित्य परक भावना का उन्मेष भी मिलता है। ये विष्णु यज्ञ के सहायक और द्वादश आदित्य भी कहे गये हैं।[4] विष्णु देवताओं में श्रेष्ठ हैं "तस्मादाहुःविष्णुर्देवानाम् श्रेष्ठा।" अन्य स्थलों पर भी उनकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है।[5] मैत्रेय उपनिषद् में विष्णु को अन्न रूप में पोषक माना गया है। आदित्य की उष्मा से अन्न का पोषण प्रसिद्ध ही है। विष्णु के विभिन्न कार्यों में उसका दैनिक कार्य आदित्य रूप में ही निष्पन्न होता है। इस रूप में विष्णु के तीन पदों का अर्थ भूत, भविष्य और वर्तमान कालों से लगाये जाने की परम्परा रही है। इस विचार में भिन्नता हो सकती है परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सूर्य, विष्णु और आदित्य एक ही देवता के भिन्न नाम उनके कार्यों के आधार पर बताये गये हैं। विष्णु में सूर्य के गुणों का समावेश है यद्यपि यह शब्द आरम्भ में विशे-

---

1 सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। मनुस्मृति १/२१

2 सूर और उनका साहित्य–पृ० १२५ डा० हरवंश लाल शर्मा।

3 भारतीय साधना और सूर साहित्य–पृ० १६६ सं० २०१० वि०

4 एकादशास तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते।
जघान्याज स तु सर्वेषाम् आदित्यानाम गुणाधिकः। ४/५५/६

5 अथर्ववेद ५/२६/७ व ८–५,१। तैत्तिरीय संहिता १/७/५४ वाज सनेयी संहिता १/३०–२, ६, ८–५, २१

षणवाची रहा होगा, परन्तु बाद में सतत् प्रयोग के कारण विष्णु की स्वतन्त्र सत्ता निर्धारित होने लगी।

विष्णु को आदित्य का पर्याय मानने का एक विशेष रहस्य प्रतीत होता है। वेदों में वर्णित विष्णु के तीन पदों में तीसरे पद को 'परम-पद' कहा गया है। यह पद आकाश में है। अपनी इस व्यापकता के कारण ही विष्णु शब्द पूषन्, मित्र आदि अन्य पर्यायों की भांति सूर्य का पर्याय ठहरता है। तीन पदों द्वारा ब्रह्माण्ड को माप लेने वाली विशेषता के कारण अन्य विशेषणों की तुलना में इस शब्द की महत्ता बढ़ी और स्वतन्त्र देवता के रूप में विष्णु का विकास होने लगा। यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें खण्ड की एक कथा द्वारा देवताओं के एक संघर्ष में विजयी होकर ही विष्णु श्रेष्ठ बन गये और उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती चली गई। श्रीमद् भगवद् गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से स्वयं कहा है कि मैं आदित्यों में विष्णु और देवताओं में इन्द्र हूँ।[1]

गीता के इस कथन से यह स्पष्ट है कि विष्णु ही आदित्य और इन्द्र के रूप में प्रसिद्ध है। एक अन्य स्थल पर भी श्रीकृष्ण ने अपने को वेदों में साम-वेद और देवताओं में इन्द्र माना है।[2] यहां प्रयुक्त 'वासव' शब्द इन्द्र का ही पर्याय है। इन्द्र की इस धारणा का कोई विशेष कारण रहा होगा। वेदों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक सूक्तों में अग्नि और इन्द्र की स्तुति ही अधिक की गई है। ये ही दोनों प्रधान देवता के रूप में ग्राह्य रहे हैं। इनमें इन्द्र को यदि हम राष्ट्रीय नेता माने, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि उन्होंने वृत्रासुर का वध करके जल का मोचन किया था। उनकी स्तुति में सूक्तों का आकर्षक रूप दीख पड़ा। बाद में इनके व्यक्तित्व की विशेषताएँ ही विष्णु में समाहित कर दी गई होंगी। इसी से इन्द्र के साथ विष्णु की गणना परवर्ती मंत्रों में होने लगी।

ऋग्वेद में विष्णु की चर्चा इन्द्र सखा के रूप में भी है। वृत्रासुर वध के अवसर पर विष्णु का विक्रम वर्णित है। विष्णु परमपद के अधिकारी होकर महादेव के रूप में प्रतिष्ठित होने लग गये थे। तीन पदों में ब्रह्माण्ड को नाप लेने वाली कथा से विष्णु की महिमा बढ़ती गई और कालक्रम से इन्द्र का महत्व अपेक्षाकृत कम होता चला गया। अनेक वैदिक सूक्तों में कभी स्वतन्त्र रूप में कभी अन्य देवताओं के साथ उनका गान होने लगा। ऋग्वेद में विष्णु

---

1 आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्। गीता १०/२१

2 वेदानां सामवेदोस्मि देवानामस्मि वासवः। १०/२२

एक महत्वपूर्ण देवता के रूप में नहीं थे, क्योंकि स्वतन्त्र रूप में इनसे सम्बन्धित बहुत कम ऋचाएँ ही देखने को मिलती हैं। अन्य देवताओं के संग ही इनके महत्व का प्रतिपादन हुआ है, परन्तु यजुर्वेद में यज्ञ की महत्ता के साथ ही विष्णु का भी महत्व बढ़ने लगा। फलस्वरूप विष्णु को भी यज्ञ रूप ही मान लिया गया और इनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास आरम्भ हो गया। इसी से विष्णु के लिये 'ऋतस्य गर्भम्' और 'यज्ञो ह्वै विष्णुः' कहा गया है। इनका यह यज्ञ रूप अधिक प्रचलित होने लगा।

यजुर्वेद में विष्णु, उपेन्द्र और इन्द्र सहायक अर्थ के भी द्योतक बने। यज्ञ को ही विष्णु की संज्ञा प्राप्त हो गई। कर्म क्षेत्र की यह प्रधानता यहीं तक सीमित न रहकर ज्ञान क्षेत्र में भी पहुँच गई। यज्ञ का कर्म पक्ष ही सब कुछ नहीं था, अपितु उसके मानसिक स्वरूप को भी ग्रहण किया गया। वैदिक कर्मों के इस मानसिक रूप के साथ तथ्य पर विचार होने से 'ब्राह्मण' और आरण्यक' काल में 'ब्रह्म' को परमतत्व के रूप में मान लेने की परम्परा का सूत्रपात हुआ। यह ब्रह्म अन्य सभी देवताओं से ऊंचा माना गया और सभी देवता इसमें समाहित हो गये। इस ब्रह्म का सम्बन्ध यज्ञ से बना रहने के कारण इसे सृष्टि का कर्ता भी मान लिया गया। इस ब्रह्म का बोध कर्म द्वारा न मानकर ज्ञान द्वारा माना गया। उपनिषद् इसकी व्याख्या करने में अपनी विद्वत्ता लगाने लगे। इसे मोक्षदायी माना गया। इसकी सर्वव्यापकता की चर्चा विष्णु सदृश हो जाने से यज्ञ में क्रमशः शिथिलता आने लगी और वैदिक कर्मकाण्ड एवं मान्यताओं के समक्ष जिज्ञासा का भाव उपस्थित होने लगा। फल यह हुआ कि विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों का मूल स्रोत यहीं पर स्पष्ट रूप से देखा जाने लगा इस प्रकार उपनिषद् में विष्णु जगत पालक और परमपद अर्थात् सर्वोच्च स्थान के अधिकारी हो गये।[1]

अथर्ववेद के विभिन्न उपनिषदों के एक भाग में शिव या विष्णु के विविध रूपों की व्याख्या और उनका स्पष्टीकरण किया गया है। ब्रह्म चिन्तन तो उपनिषदों का मुख्य विषय ही है। सामवेद के केनोपषिद में ब्रह्म की शक्ति-मत्ता और विचित्रता का कथन है। वहां ब्रह्म को अग्नि, इन्द्र वायु आदि सभी देवताओं से अधिक शक्तिशाली कहा गया है। ब्रह्म को देवताओं में सर्वप्रथम माना गया 'ब्रह्म देवानां प्रथमः सम्बरव।'[2] ब्रह्म ही पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, आगे

---

1 विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोतितद्विष्णोः परमं पदम्। कठोपनिषद् ३/९

2 मुण्डकोपनिषद् ?

पीछे ऊपर नीचे सभी कहीं व्याप्त है।[1] ब्रह्म के इस गुण (सर्वव्यापकता के कारण) यह ऋगवेद के विष्णु के समकक्ष हो जाता है। परवर्ती ग्रन्थों में भी विष्णु की चर्चा इसी रूप में की गई है। ब्रह्म को परम सत्ता मानकर उसे स्वयंभू माना गया और परम आत्मा के रूप में ब्रह्म की प्रतिष्ठा हुई।

वेदों के अतिरिक्त अन्य वैदिक ग्रन्थों में विष्णु रूप का विकास दीख पड़ता है। इन ग्रन्थों में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों की गणना हो सकती है। **कठोपनिषद्** में विष्णु के परमपद की प्राप्ति ही जीवन का ध्येय माना गया है। **मैत्रेय** में विष्णु को अन्नरूप में पोषक कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में विष्णु को वामन के रूप में स्वीकार किया गया है।[2] यह विष्णु ब्रह्म की भांति ही कल्पनातीत है। वामनावतार का मूल स्रोत इसे ही मानना युक्ति संगत प्रतीत होता है। यज्ञ निष्ठा की दृष्टि से इसमें विष्णु को अग्रणी बताया गया हैं। उनकी अलौकिक कथा यहां चमत्कारिक ढंग से स्पष्ट की गई है। वैदिक काल में इन्द्र को प्राप्त होने वाला महत्व ब्राह्मण काल में विष्णु को ही मिलने लगा और इसी में अवतारों का बीज खोज लेने की चेष्टा भी की गई। **शतपथ में** ही विष्णु के अन्य अवतारों–मत्स्य, कूर्म, वाराह और वामन आदि का वर्णन है।[3] यहाँ विष्णु के साथ नारायण की चर्चा भी हुई। तैत्तिरीय आरण्यक में विष्णु को नृसिंह कहा है।[4] **नृसिंह तापनी** में इस नाम की चर्चा हैं। यही विष्णु पुरुषोत्तम, वासुदेव और देवकी पुत्र भी हो जाते हैं। **गोपाल तापनी** में उनका दिव्य रूप दीख पड़ता है। विभिन्न सम्प्रदायों में विष्णु ही नृसिंह, राम, नारायण और कृष्ण के रूप में विख्यात हुए। क्रमशः इनका विष्णु रूप नारायण में परिवर्तित होने लगा।

नारायण रूप

चराचर व्याप्त विष्णु की व्यापकता के आकर्षण से ही वैष्णव सम्प्रदायों ने इन्हें नारायण रूप में ग्रहण किया। नर के अयन का अन्तिम लक्ष्य 'नारायण' कहे गये। **ऋग्वेद** की १०/२५/५–६ ऋचाओं में नारायण का संकेत है। **मनुस्मृति** में नारायण शब्द की व्याख्या की गई हैं कि नर का अयन

---

1 ब्रह्म वेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्द्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम।

2 शतपथ १/२/५

3 शतपथ/क्रमशः १/८/१/२–१० । १४/३५ ।
१४/१/२/११ । १/२५/१–७

4 तै० आ०–१०/१/८

होने से ही इसे नारायण कहा गया है।[1] दशम मण्डल के पुरुष सूक्त में जिस पुरुष की विशद चर्चा की गई है, उसके सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण का मत है कि वह पुरुष ही नारायण है।[2] इसी पुरुष के पञ्चरात्रि यज्ञ करने पर सभी वस्तुएं उत्पन्न हुई। नर भी इसी नारायण से उत्पन्न माना गया। **तैत्तिरीय आरण्यक** के मत से नारायण ही वासुदेव है "नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहितन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।" इसी आरण्यक में कूर्मावतार १/२३/१ और वासुदेव श्री कृष्ण १०/१/६ का वर्णन है। **ऐतरेय ब्राह्मण** में विष्णु को परम देवता और अन्यों की गणना विष्णु के बाद की गई है।[3] इसी विष्णु से सम्बन्धित उनकी पूजा का जो रूप ग्रहण किया गया, उसी को नारायण संज्ञा मानी जा सकती है। **शतपथ ब्राह्मण** में नारायण का नाम है।[4] बृहन्नारायणोपनिषद् में विष्णु को हरि कहा गया और वासुदेव तथा हरि से नारायण का सम्बन्ध स्थापित किया गया। तैत्तिरीय आरण्यक में विष्णु का नारायण से सम्बन्ध स्थापित किया गया। वे सर्वमान्य परमेश्वर का ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। इसीसे वे ब्रह्म स्थानीय हो जाते है १०/११/ इससे विष्णु की विशिष्टता का ज्ञान भी हो जाता है।[5]

ऋग्वेद में सृष्टि के पूर्व जल की स्थिति और ब्रह्मा की उत्पत्ति नारायण की नाभि से बताई गई है।[6] इसी में पांच रात्र सत्र का प्रयोजक पुरुष एवं पुरुष सूक्त के कर्ता के रूप में नारायण को ही माना गया है।[7] शतपथ ब्राह्मण की एक कथा के अनुसार पुरुष नारायण ने एक बार स्वयं यज्ञ स्थान पर निवास कर वसुओं, रुद्रों और आदित्यों को कहीं अन्यत्र भेज दिया और यज्ञ सम्पादित करके स्वयं सर्वव्यापी बन गये। १२/३/४ इसीसे पुरुष द्वारा पांच रात्र करके सर्वश्रेष्ठ बन जाने का वर्णन आता है। अतः नारायण पुरुष नारायण, परमात्मा के अवबोधक और विष्णु के समानार्थक बन गये।

---

1 आपो नरा इति प्रोक्ता आपो वै नर सूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः। मनुस्मृति १/४

2 पुरुषम् हि नारायणम् प्रजापतिरुवाच। शतपथ १४/३-४

3 अग्निर्वै देवानाभवमो विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्यादेवताः।
ऐतरेय ब्राह्मण १/१

4 शतपथ १३/३/४

5 तै० आ० १४/१/१

6 ऋग्वेद १०/८२/६

7 ऋग्वेद १०/८२/६

नारायण और श्रीकृष्ण

विष्णु की सर्वव्यापकता पहले ही सिद्ध एवं स्थिर हो चुकी थी। अवतार की कल्पना में ब्राह्मण और उपनिषद् में वर्णित नारायण को कृष्ण का अवतार[1] बनाकर विष्णु और कृष्ण का तादात्म्य स्थापित कर दिया गया। उपनिषदों में भी अवतार विषयक अनेक वर्णन आते हैं। **छान्दोग्य उपनिषद्** में देवकी पुत्र श्री कृष्ण का वर्णन है।[2] यहां श्री कृष्ण को घोर आंगरिस का शिष्य और देवकी का पुत्र माना गया है। **कौशितकी ब्राह्मण** में भी श्री कृष्ण के गुरु घोर आंगरिस की चर्चा है।[3] इन सभी नामों से एक ही व्यक्तित्व की व्यञ्जना होती है। **ब्रह्मपुराणकार** ने युग के अनुसार इन भिन्न-भिन्न नामों को एक ही माना है।[4] एक ही कृष्ण सास्वत धर्म के उपदेष्टा, ईश्वर और परब्रह्म माने गये हैं। यजुर्वेद के **पुरुष सूक्त** में 'श्रीश्चते लक्ष्मी च पत्न्यौ ३१/२२ कहा गया है। इसमें विष्णु की दो पत्नियों श्री और लक्ष्मी का संकेत है। श्रीकृष्ण विष्णु और नारायण के अवतार हैं, इससे इनके संग लक्ष्मी का होना अनिवार्य माना गया।

उपर्युक्त विचार से स्पष्ट है कि ब्राह्मणकाल के समाप्त होते-होते विष्णु के नारायण रूप को परम देव मानने की परम्परा चल पड़ी थी। मानव-प्रकृति से युक्त सगुण रूप का निर्धारण भी हो चुका था। नारायण और विष्णु की एकता मानव प्रकृति से सम्बद्ध थी। इनका यही रूप परवर्ती ग्रन्थों में वासुदेव कृष्ण के रूप में दीख पड़ा, जिसका समर्थन एवं वर्णन महाभारत में अधिक हुआ है। अत: कहा जा सकता है कि आरम्भ में विष्णु का सम्बन्ध यज्ञ से था। वे यज्ञ पुरुष, उपेन्द्र या इन्द्र के सहायक रहे हैं। नारायण सृष्टि के मूलकर्ता के रूप में ग्राह्य है। क्रमश: दोनों में ऐक्य हो गया। ब्राह्मण काल में विष्णु यदि परम देव थे तो नारायण में ईश्वरत्व का आरोप था। विष्णु वैदिक देवता, नारायण ब्राह्मणकालीन और श्रीकृष्ण पौराणिक हो गये।

---

1 शतपथ ब्राह्मण १२/३/४ और तैत्तिरीय आरण्यक १०/११

2 तद्वैतद् घोर आंगिरस: कृष्णाय देवकी पुत्राय उक्त्वा उवाच। अपिपास एव स बभूव। सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येते। अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणसंशितमसि। छान्दोग्य उपनिषद् ३/१७/६

3 कृष्णो हि तदाङ्गिरसो ब्राह्मणान् छन्दसीय तृतीयं सवनं ददर्श। कौ० ब्रा०

4 विष्णुत्वं श्रूयते यस्य हरित्वं च कृते युगे। ७०/वैकुण्ठत्वं च देवेषु कृष्णत्वं मानुषेषु च ७१ नारायणो ह्यनन्तात्मा, प्रभवोऽव्यय एव च। ७२ ब्रह्मपुराण अध्याय ७०

पंचरात्र का सम्बन्ध वासुदेव से था। नारायण का भागवत, वासुदेव तथा श्रीकृष्ण में विलीनकरण हो गया। गीता का विश्वरूप विष्णु का ही रूप है। वैदिक विष्णु और बाद के विष्णु के रूप में भी बहुत परिवर्तन आ गया था। इसी वैदिक विष्णु का विकसित रूप भक्ति कालीन साहित्य में ग्राह्य हुआ, जो महाभारत काल में परम पद को प्राप्त करता हुआ वैदिक इन्द्र से भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया। वैदिक विष्णु से भगवान कृष्ण के क्रम में जो परिवर्तन है, उसके मूलरूप में एकता बनी हुई है। भक्ति काल के कृष्ण लोक रक्षक एवं लोकरंजक दोनों ही हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विकास का जो क्रम आरम्भ हुआ; उसके बाह्य रूप में भिन्नता रहते हुए भी उसकी आन्तरिक एकता पूर्णतः बनी हुई है। परवर्ती साहित्य के कृष्ण वैदिक विष्णु एवं इन्द्र के प्रतिरूप हैं। यदि यह कहा जाय कि विष्णु एवं इन्द्र की गाथाएँ ही श्रीकृष्ण से सम्बद्ध कर दी गई हैं, तो इस कथन में अत्युक्ति नहीं मानी जायगी। इनमें विष्णु और श्रीकृष्ण की एकता का आभास दिया जा चुका है। यहां पर इन्द्र और श्रीकृष्ण की कथाओं का संक्षिप्त परिचय देंगे.

वैदिक देवताओं में इन्द्र की महत्ता सर्वमान्य थी। उसकी पराक्रम की गाथा वैदिक ऋचाओं में गाई गई है। वह एक प्रिय राष्ट्रीय नेता है। अपने वज्र से अन्धकार या वृत्र को समाप्त कर देता है और दुश्मनों पर विजय प्राप्त करता है। सोम उसका प्रिय पेय पदार्थ है। वज्रबाहु विशेषण से शोभित है। इन्द्र के साथ त्वष्ट्रि का नाम भी लिया गया है। विष्णु का नाम भी इसके साथ लिया गया है। उसका रूप बहुत विशाल है। उसकी शक्ति को अन्य देवता या मानव प्राप्त नहीं कर सकते हैं। वह वृत्र और अहि का हन्ता है। इस द्वन्द्व से पृथ्वी और स्वर्ग दोनों कांप उठती हैं। वह पर्वतों में छिद्र करके जल को मुक्त करता है। दस्युओं को मार भगाता है। दैत्य उससे भयभीत होते हैं। यह साधकों का सहायक और रक्षक है। इसी की सहायता से देवदूत स्वर्ग से अमरत्व ले आते हैं। वह सम्पूर्ण विश्व का शासक है। इन आधारों पर श्री कृष्ण के जीवन से समता स्थापित की जा सकती है।

वैदिक युग में विष्णु की उपेन्द्र संज्ञा भी थी। यहाँ विचार यह है कि बाद के श्रीकृष्ण को ही यदि हम वैदिक इन्द्र कहें, तो इसमें अत्युक्ति होगी या नहीं? इस प्रश्न के समाधान में इन्द्र का परिचय देने वाले मंत्रों का ध्यान देना आवश्यक हो जायगा।

१. यो जात एव मनस्वान्, देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां, नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः।

अर्थात् हे लोगों, जिसने जन्म लेते ही देवताओं को पीछे छोड़ दिया, जिसकी शक्ति के समक्ष दोनों संसार कांपते हैं, वही इन्द्र है। श्रीकृष्ण भी जन्म ग्रहण कर परमदेव बन जाते हैं। उनकी शक्ति भी असीम है।

२. यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्, यः पर्वतान्प्रकुपितां अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयं, यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः।

'जिसने कांपती हुई पृथ्वी को स्थिर किया, क्रुद्ध पर्वतों को ठीक किया, अन्तरिक्ष को माप लिया तथा स्वर्ग को सहारा दिया, वही इन्द्र हैं।'

३. यो हत्वाहिमरिणात्सप्तसिन्धून्, यो गा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्नि जजान, संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः।

जिसने सर्प को मारकर सातधाराओं को मुक्त किया, जिसने बल के घेरे से गायों को छुड़ाया, दो चट्टानों से अग्नि उत्पन्न किया, जो युद्धजयी है, वही इन्द्र है।

इन ऋचाओं में वर्णित घटनाओं का परवर्ती कृष्ण कथा पर प्रभाव पड़ा है। श्रीकृष्ण और इन्द्र के जीवन की इन घटनाओं का साम्य दोनों की एकता के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न कर देता है। गोवर्धन पर्वत को उठाना, अन्तरिक्ष को मापना, कालिय नाग को नाथ कर जल को स्वच्छ बनाना आदि घटनाओं का साम्य आकस्मिक नहीं कहा जा सकता है। गायों को घेरे से मुक्त करना और युद्धजयी होना आदि से इसी तत्व का संकेत मिलता है कि वैदिक युग के इन्द्र के, जो उस समय के एक राष्ट्रीय नेता थे, सभी गुण महाभारत के श्रीकृष्ण में [समाहित हो गये हैं। दोनों के गुणों एव क्रियाओं में इतना साम्य है कि इसे देखकर ऐसा लगता है कि वैदिक इन्द्र ही श्रीकृष्ण के रूप में पुनः प्रतिष्ठित हुए हैं। अन्य भी बहुत से स्थलों पर यह समता दीख पड़ती है।

चौथे मण्डल के १८ वें मंत्र में इन्द्र के जन्म एवं बाल जीवन का संकेत है। वहां इन्द्र की माता ने जन्म के समय ही देवता जानकर इन्द्र की स्तुति देवकी द्वारा कृष्ण की स्तुति की भांति की थी तथा उस नारकीय स्थान से उसे मुक्त कराने की प्रार्थना भी की थी। कृष्ण के कारागार में जन्म लेने के वर्णन से कितना अधिक साम्य है। "अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे। अतश्चिद् आ जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवेकः।" हो सकता है कि इन्द्र की माता भी वृत्र जैसे किसी असुर की वन्दिनी रही हो। यहां इन्द्र यह चिन्तन करते हैं कि अभी मुझे अन्य भी बहुत कार्य करने हैं, अतः अभी उस दानव को मारना समीचीन न होगा। इनका यह चिन्तन

कंस-वध के पूर्व श्रीकृष्ण के चिन्तन के ही तुल्य है। सोम की चोरी में माखन चोरी का बीज मिलता है।[1] इन्द्र को 'कुशाव' नामक दैत्य द्वारा निगल लिये जाने की कथा भी है। इस प्रकार की बहुत सी समताएँ मिल जाती हैं। ऋग्वेद के २/१२/१-१५ में अनेक बातों का वर्णन है जिनका साम्य श्रीकृष्ण के जीवन से प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में यदि यह कहा जाय कि इन्द्र ही अपने नाम को परिवर्तित करके श्रीकृष्ण के रूप में हमारे समक्ष आगये हैं, तो इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं होगी। वैदिक युग में इन्द्र सर्वमान्य थे। इसी कारण उन्हीं के गुणों का अवतरण श्रीकृष्ण में कर लेना असंगत प्रतीत नहीं होता। व्यक्तित्व की यह एकता केवल नामों में ही अपना अन्तर रखती हैं, गुणों में नहीं। अतः श्रीकृष्ण की साहित्यिक अभिव्यक्ति में इन्द्र के गुणों एवं क्रियाओं का महत् योग है। श्रीकृष्ण विकास क्रम में पहले विष्णु, उपेन्द्र, यज्ञरूप में इन्द्र से अधिक महत्वपूर्ण हो गये, विष्णु में इन्द्र समा गये। यही विष्णु कृष्ण रूप में अवतरित हुए। इन्द्र का विकसित रूप ही कृष्ण में प्रकट हुआ। यही कृष्ण नारायण, हरि, वासुदेव आदि रूपों में वैष्णव सम्प्रदायों में मान्य हुए। भागवत की छाप के बाद इष्ट देव होकर भगवान श्रीकृष्ण रूप में इनकी मान्यता हुई। ऐसे श्रीकृष्ण का प्रथम विस्तृत वर्णन महाभारत में है।

महाभारत में श्रीकृष्ण

वैदिक ग्रन्थों के उपरान्त श्रीकृष्ण का विस्तृत परिचय देने वाला प्रथम प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभारत है। इसमें उन्हें परब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है। वे विष्णु के अवतार और विराट पुरुष हैं। श्रीकृष्ण के पूर्व सभी नामों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा इसी ग्रन्थ से प्रारम्भ होती है। एक स्तुति में कहा गया है कि 'हे श्रीकृष्ण तुम अदिति के पुत्र हो, इन्द्र के छोटे भाई हो, तुम विष्णु हो। बालपन में ही तुमने द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी को तीन पैरों से नाप लिया। युगान्त में सब भूतों का संहार करके तथा आत्मा में जगत् को आत्मसात् करके तुम स्थित होते हो। तुम्हारे जैसे कर्म पूर्व या अपर काल में कोई नहीं कर सका। तुम ब्रह्म के साथ वैराज लोक में निवास करते हो। इस स्तुति से स्पष्ट है कि उपेन्द्र, विष्णु, वामन और ब्रह्म को एक ही माना गया है। यही श्रीकृष्ण ब्रज की लीलाओं के कर्ता हैं। अर्जुन के

---

१ परायतीं मातरमन्वचष्ट न गान्यनुनूगमिमानि।
त्वष्टुर्गृहे अपिवत् सोममिन्द्र शतधन्य चम्वोःसुतस्य।

अनुसार नर और नारायण एक हैं। एक स्थल पर कहा गया है कि जो भगवान नर तथा हरि हैं, वही नारायण भी हैं।[1] यही नारायण जगन्नियन्ता, देवाधिदेव, अखिल लोकपति वासुदेव श्रीकृष्ण के रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए। सभा-पर्व में भीष्म ने कहा है कि 'कृष्ण ही इस चराचर विश्व के उत्पत्ति स्थान एवं विश्रामभूमि हैं और इस चराचर प्राणि-जगत का अस्तित्व उन्हीं के लिये है।' वासुदेव ही अव्यक्त प्रकृति, सनातन धर्म कर्ता और समस्त प्राणियों के अधीश्वर हैं, अतएव पूजनीय हैं।[2]

महाभारत में श्रीकृष्ण को वासुदेव कहने का कारण यह है कि वे अपनी अलौकिक शक्ति से सभी प्राणियों को आच्छादित कर लेते हैं। स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं सूर्य के रूप में अपनी किरणों से समस्त विश्व को ढक लेता हूं और सभी प्राणियों का अधिवास हूं। इसी से मुझे वासुदेव कहा गया है। शान्ति पर्व में कहा गया है कि "सर्वेषामाश्रयो विष्णुरैश्वर्य विधिमाश्रितः। सर्वभूत कृतावासो वासुदेवेति चोच्यते।"[3] गीता में भी वासुदेव नाम का समर्थन है, "वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि।" एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि जिसमें सब बसते हैं तथा जो सबमें रहता है, वही वासुदेव है।[4] विष्णु पुराण में बताया गया है कि प्रभु समस्त भूतों में व्याप्त है। समस्त भूत उन्हीं में रहते हैं। वे ही संसार के रचयिता हैं, रक्षक हैं अतः वासुदेव कहलाते हैं।[5]

मथुरा के उत्तरी भाग में रहने वाले राजवंश की सन्तति को वासुदेव कहा गया है।[6] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वृष्णि-वंश का उल्लेख है। पाणिनी के अनुसार वासुदेव उपास्य देव हैं। इन्हीं के साथ अर्जुन का नाम लिया गया

---

1 नरस्त्वमसि दुर्द्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्। काले लोकमिमं प्राप्तौ नर नारायणावृषी। अनन्यः पार्थमत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च। नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ। महाभारत १२/४६-४७

2 कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाव्यय। कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदंभूत चराचरम्। एव प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः। परश्च सर्व भूतेभ्य-स्तस्मात् पूज्यतयो हरिः। सभा-पर्व ३८/२३-२

3 शान्ति-पर्व ३४७/७४

4 सर्वे वसन्ति वै यस्मिन् सर्वेस्मिन् वसते च यः।
तमाहुर्वासुदेवं च योगिनस्तत्वदर्शिनः। महाभारत ५२/८६

5 भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत्।
धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः। विष्णुपुराण अंश ६ अ. ५/८२

6 घट जातक

है ("वासुदेवार्जुनाभ्यां वुञ् ४।३।९३)"। पतञ्जलि के अनुसार वासुदेव और बलदेव दोनों ही वृष्णि नाम है। बौद्ध ग्रन्थ 'निद्देश' में वासुदेव के साम्प्रदायिक अनुयायियों की चर्चा है अतः वासुदेव कृष्ण और देवकीपुत्र कृष्ण दोनों एक हैं तथा वासुदेव ही श्रीकृष्ण नाम के पूर्व रूप हैं।

महाभारत में इन सभी नामों का समन्वय है। श्रीकृष्ण नाम में उनके प्रभावशाली शक्ति की प्रबलता है। यह सब नामों में श्रेष्ठ है। पृथ्वी के सुख पहुंचाने के अर्थ में इसका व्यवहार होता है।[1] दैत्यों से आक्रान्त पृथ्वी एक बार ब्रह्मा के शरण में गई थी और भगवान् ने दैत्यों को मार करके पृथ्वी को सुख दिया था।[2]

महाभारत में श्रीकृष्ण के नाम-पर्यायों को एक ही व्यक्ति का बोधक माना गया है। यहां विष्णु के माध्यम से जिस भागवत धर्म का समर्थन किया गया है उसके उपास्य श्रीकृष्ण ही है। नारायणी उपाख्यान में श्रीकृष्ण और विष्णु को परमेश्वर माना गया है। शान्ति पर्व की इस कथा में नारायण की पूजा करने वालों का निवास स्थान श्वेत द्विप बताया गया है। इसी नारायण को ब्रह्माण्ड पुराणकार ने वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण के नाम से बताया है। इसी पुराण के अनुसार वैकुण्ठ में निवास करने वाले भगवान पुरुषोत्तम, श्वेत-द्विपवासी नारायण ही श्रीकृष्ण हैं।[3]

महामुनि नारद ने बदरिकाश्रम में नारायण को प्रकृति की पूजा में संलग्न देखा था। सप्तर्षियों द्वारा पाञ्चरात्र धर्म का शास्त्र तैयार किये जाने पर नारायण उन्हें वेदों का सार बताते हैं। इस शब्द की व्याख्या में मनु ने बताया है कि ईश्वर की प्रथम सृष्टि जल है (अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमथासृजत्) जल को 'नारा' कहते हैं इसी में निवास किये जाने से उन्हें नारायण कहते है।[4] वह स्वयं अजन्मा है, परन्तु उसकी नाभि से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है। नारद की स्तुति से प्रसन्न होकर नारायण ने कहा है कि जो नित्य

---

1 कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृत्तिवाचकः। विष्णुस्तदभाव योगाच्च कृष्णो भवति शाश्वतः।

2 भूमिर्दृप्त नृप व्याज दैत्यानीक शतायुतैः। आक्रान्ता भूमि भारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ। भागवत।

3 यो वैकुण्ठे चतुर्बाहुर्भगवान पुरुषोत्तमः। यः एव श्वेतद्वियेतो नरो नारायणश्च यः। स एव वृन्दावन भू विहारी नन्दनन्दनः। ब्रह्माण्ड पुराण।

4 आपो नरा इति प्रोक्ता आपो वै नर सूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायण स्मृतः। मनु स्मृति।

अजन्मा शाश्वत और त्रिगुणों से परे है, जो आत्मा रूप में प्राणियों में साक्षी बनकर रहता है, वह परमेश्वर वासुदेव हैं। प्रलय में सभी तत्वों के एक दूसरे में समाहित हो जाने पर वासुदेव ही शेष रह जाते हैं। यही वासुदेव सूक्ष्म रूप में शरीर में निवास करते हैं। मार्कण्डेय मुनि ने प्रलय में सम्पूर्ण जगत को आत्मसात् करके वट वृक्ष पर शयन करने वाले विष्णु को नारायण एवं युधिष्ठिर का सम्बन्धी श्रीकृष्ण जनार्दन बताया है।[1] इस प्रकार वासुदेव, नारायण और जनार्दन तीनों एक ही हैं।

शान्ति पर्व में भगवान के अवतारों का वर्णन है। वहां हंस, कूर्म, मत्स्य, वाराह, नृसिंह, वामन, राम, सात्वत और कल्कि अवतारों की चर्चा है। अध्याय ३४१–३४२ में नारायण के विभिन्न नामों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्वयं उन्हीं के मुख से कहलाया गया है। वहां श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्राणियों के शरीर में मेरा अयन या निवास रहता है इससे मुझे नारायण कहा गया है। सारे विश्व में व्याप्त होने और विश्व का मुझ में स्थित होने के कारण मैं ही वासुदेव हूं। विश्व को व्याप लेने के कारण मुझे विष्णु कहते हैं। पृथ्वी, स्वर्ग और अन्तरिक्ष मैं ही हूं, इससे मैं दामोदर कहा जाता हूं। सूर्य, चन्द्र और अग्नि की किरणें मेरे केश हैं, इससे मैं केशव हूं। 'गो' पृथ्वी को ऊपर ले जाने के कारण मैं 'गोविन्द' हूं। यज्ञ का हविर्भाग ग्रहण करने के कारण 'हरि' हूं। सत्व गुण की प्रधानता से सात्वत और लोहे के काले फाल के रूप में पृथ्वी जोतने और रंग का काला होने से मैं कृष्ण हूं।[2]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि नारायण, वासुदेव, विष्णु, दामोदर, केशव, गोविन्द और हरि आदि विभिन्न पर्याय श्रीकृष्ण के ही बोधक हैं। ये भिन्न नाम उनके विभिन्न गुणों और क्रियाओं का बोध कराते हैं। इससे व्यक्तित्व की एकता में कोई अन्तर नहीं आता। दूसरी बात यह भी स्पष्ट है कि काले वर्ण के कारण ही उन्हें श्रीकृष्ण कहा गया। वैदिक काल में भी इसका समर्थन मिलता है। वहां पर अहणक नामक व्यक्ति को वर्ण में काले होने के कारण मरुत ऋषि द्वारा कृष्ण कहा गया है। इससे उनके वर्णगत इस गुण का समर्थन होता है। अतः श्रीकृष्ण की इस विशेषता के साथ एक उपास्यदेव के रूप में भी इनका विकास होने लग गया था। इनके विभिन्न नामों के एकीकरण की प्रवृत्ति दीख पड़ने लग गई थी। वैदिक ग्रन्थों में परमेश्वर के

---

1 यः स देवो मया दृष्टः पुरापद्मायतेक्षणः।
स एव पुरुष व्याघ्र सम्बन्धी ते जनार्दनः।

2 महाभारत अध्याय ३४१–३४२

विभिन्न नामों का समन्वय भी दिखाई पड़ता है। इसी से दार्शनिक ग्रन्थों में भी एकतत्व का प्रतिपादन है। वहाँ पर भी परमात्मा के समन्वित रूप की व्याख्या करके चतुर्व्यूह सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

यहाँ यह बताया गया है कि जो व्यक्ति अधिदेव चतुष्टय (अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव), अध्यात्म चतुष्टय (विराट्, सूत्रात्मा, अन्तर्यामि और शुद्ध ब्रह्म) तथा अवस्था चतुष्टय (विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय) को क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म में लय कर देता है, वह एक कल्याण पुरुष तक पहुँच जाता है। इसी पुरुष को योग में परमात्मा, सांख्य में एकात्मा और वेदान्त में केवलात्मा कहा गया है। एक रूप ये सभी भिन्न दर्शनों में अलग-अलग ढंग से वर्णित हैं। नाम की इस भिन्नता के होने पर भी स्वरूप में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

भगवान के इस चतुर्व्यूह सिद्धान्त का प्रतिपादन महाभारत में भी है। इसमें भक्ति द्वारा भगवान की प्राप्ति बताई गई है। वसु उपरिचर के उपाख्यानों में जहाँ हरि के महत्व का प्रतिपादन किया गया है, वहीं नारद-प्रसंग में चतुर्व्यूह भगवान के महत्व को भी स्वीकार किया गया है। ऐसा कहा गया है कि "निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ भगवान वासुदेव जो जीव रूप में अवतार लेता है, वह संकर्षण है। संकर्षण से मन रूप में अवतार लेने वाला प्रद्युम्न है, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध का उद्‌भव होता है। वही अहंकार और ईश्वर हैं।" यहाँ पर यह बताया गया है कि प्रद्युम्न (मन) अनिरुद्ध (अहंकार) संकर्षण (बलराम) जीव के अवतार और वासुदेव के अवतार श्रीकृष्ण हैं। चतुर्व्यूह सिद्धान्त की यह कल्पना सात्वत सम्प्रदाय में मान्य रही है और ये लोग श्रीकृष्ण के ही वंशज थे। अतः श्रीकृष्ण ही सात्वत, वासुदेव, नारायण और विष्णु रूप में प्रतिष्ठित हो गये।

महाभारत की गणना इतिहास ग्रन्थ के रूप में होती है। इसमें श्रीकृष्ण ही अधिकांश घटनाओं के नियामक और सूत्रधार हैं। ये सन्धि-वाहक, शान्ति-दूत और गीता के उपदेष्टा भी हैं। समदृष्टि के कारण दोनों पक्षों की सहायता करना उनका परम लक्ष्य है। वे राजसूय यज्ञ के नियामक विचारवान् व्यक्ति हैं। भीष्म ने कहा है कि श्रीकृष्ण वेद वेदांग वेत्ता और ऋत्विक होने से सबसे अधिक आदर के पात्र हैं।[1] अपनी दिव्यता के कारण कालगति में पड़े हुए कुल को नष्ट होने से नहीं बचाते हैं। गीता में इसी दिव्यता का समर्थन किया गया है "जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः। त्यक्त्वा देह पुनर्जन्म

1. सभा-पर्व अ० ३८

नेऽति मामेति सोऽर्जुनः ।[1] महाभारत में भी कृष्ण के विराट रूप का वर्णन है। युद्ध के उपरान्त उद्दंग मुनि द्वारा श्रीकृष्ण से अध्यात्म दर्शन की व्याख्या करने को कहा है। यहाँ पर इस दर्शन को समझाने के साथ ही भगवान श्रीकृष्ण ने अपना विराट रूप दिखाया है। वहाँ उनके इस रूप को वैष्णव रूप की संज्ञा दी गई है।[2] आगे चलकर श्रीकृष्ण के विष्णु रूप की व्याख्या[3] करके नारायण और विष्णु रूप की एकता स्थापित की गई है।

महाभारत में श्रीकृष्ण का मूल उद्देश्य धर्म की स्थापना है। अपनी समदृष्टि के कारण वे दुर्योधन और युधिष्ठिर दोनों की ही सहायता करते हैं। दुर्योधन की सहायता उनकी नारायणी सेना और युधिष्ठिर के पक्ष में वे स्वयं युद्ध क्षेत्र में उपस्थित रहते हैं। द्रोपदी के चीर-हरण प्रसंग पर अपनी अलौकिकता का संकेत करके लोगों को अपने स्वरूप का संकेत दे देते हैं। इसी दिव्यता के आधार पर उन्होंने राजनेतृत्व और नीति का निर्धारण किया है। लोगों की रक्षा करके अपनी लोक-दृष्टि का उन्मीलन किया है। वे आसक्तिहीन, समता-परायण और कर्मयोगी हैं। उनकी दिव्यता ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्नता, व्युत्पन्नमतित्व आदि विश्व कल्याण से प्रेरित होकर ही प्रत्यक्ष होता है। इसी दृष्टि के पूर्त्यर्थ उनमें ईश्वरत्व का आरोप है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाभारत में श्रीकृष्ण के अनेक नामों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गई है। इस ग्रन्थ में उन्हें उच्च कोटि का राजनैतिक योद्धा और विष्णु का अवतार माना गया है। महाभारत के ही एक अंश गीता में उन्हें अवतारी पुरुष माना गया है। इनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकालीन अनुराग के भाव भीने आलम्बन न होकर इस कृष्ण में क्षात्र-धर्म का तेज और शक्ति ही अधिक प्रबल है। क्षत्रिय योद्धा सात्वतों द्वारा पांचरात्र धर्म का प्रचार हुआ था। इससे श्रीकृष्ण में भी उन गुणों का आना अनिवार्य हो गया था। उनका यही व्यक्तित्व पौराणिक युग के अवतार में हिन्दी कवियों का आलम्बन बन गया। इस प्रकार जिस रूप का उद्घाटन हुआ, वह अपने पूर्व ग्रन्थों का आधार लेकर भी अपनी नवीनता में आकर्षक और ग्राह्य था।

---

1 श्रीमद्भगवद्गीता ४/९

2 आश्वमेधिक पर्व अ० ५३–५४

3 शांति पर्व अ० ४८

पुराणों में श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण की साहित्यिक अभिव्यक्ति हमारे ग्रन्थों का एक प्रमुख उपादान है। आदि से ही श्रीकृष्ण के किसी न किसी रूप के प्रतिपादन की परम्परा रही है। वैदिक ग्रन्थों में वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण और आरण्यक आदि में श्रीकृष्ण की अभिव्यक्ति मिलती है। वेदों से आरम्भ करके महाभारत तक श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का एक क्रमिक विकास दीख पड़ता है। वे विष्णु, उपेन्द्र आदित्य, नारायण, वासुदेव, जनार्दन और श्रीकृष्ण संज्ञा को धारण करते हुए दीख पड़ते हैं। महाभारत में उनके विभिन्न नामों और व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं के समन्वय की चेष्टा आरम्भ हो गई थी। पुराणों का प्रमुख उद्देश्य उनके माहात्म्य के वर्णन के साथ उनमें ईश्वरत्व का आरोप भी था। एक प्रमुख उपास्य देव के रूप में श्रीकृष्ण की महत्ता बढ़ती चली गई है। यही पौराणिक श्रीकृष्ण बाद में साहित्यिक अभिव्यक्ति के प्रमुख आलम्बन बन गये और उनके स्वरूप का जो हृदय आवर्जक वर्णन किया गया, वह जन-जन के मानस को प्रफुल्लित कर देने में पूर्ण समर्थ सिद्ध हुआ।

पौराणिक साहित्य में श्रीकृष्ण का वर्णन कई पुराणों में है। श्रीमद्-भागवत, हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त्य, विष्णु, ब्रह्म, पद्म, वायु, वामन, कूर्म, गरुण, अग्नि, ब्रह्माण्ड, बृहन्नारदीय आदि पुराणों में श्रीकृष्ण की कथा है। इनमें भागवत, विष्णु, ब्रह्मवैवर्त्य, बृहन्नारदीय और पद्म पुराण का भक्ति से अधिक सम्बन्ध है। भक्तिकालीन रचनाओं से इनका प्रत्यक्ष और सीधा सम्बन्ध है। इनमें विष्णु को परब्रह्म स्वीकार किया गया है और श्रीकृष्ण उन्हीं परब्रह्म विष्णु के अवतार हैं। वे ही सृष्टि के कर्ता, पालक और संहारक हैं। कहीं पर जनार्दन को सृष्टि का रचयिता, पालक और संहारक कहा गया है। इस प्रकार दोनों एक ही हैं। पुराणों में अवतार वाद का पूर्ण विकास हुआ है। यहीं पर श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बद्ध अनेक लीलाओं, पूतना-वध, शकट-भंजन, यमलार्जुन, माखनचोरी का वर्णन आरम्भ हो गया था। इन पुराणों में से अधिकांश में श्रीकृष्ण की लीलाओं का यत्र-तत्र संकेत है, केवल चार पुराणों—भागवत, हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त्य और विष्णु में कुछ विस्तार भी प्राप्त होता है। क्रमशः सभी पुराणों में वर्णित श्रीकृष्ण का संकेत किया जायगा।

विष्णु पुराण में रासलीला सम्बन्धी श्लोक हैं। यहां श्रीकृष्ण के मनोरम रूप का वर्णन है।[1] श्री कृष्ण का कमल सदृश खिलामुख गोपिकाओं

---

1 काचिद् भ्रूभंगरं कृत्वा ललाटफलकं हरिम्।
विलोक्य नेत्रभृगाभ्यां पपौतन्मुख पंकजम्। विष्णु पुराण १३/४५

के सतृष्ण नेत्रों के आकर्षण का साधन है। उनकी नृत्य की गति और वलय का मधुर रव दोनों मिलकर गति एवं ध्वनि सौन्दर्य के जनक हो जाते हैं, "ततः स ववृते रासश्चलद्वलय निस्वनः। अनुयात शरत्काव्य गेय गीतिरनुक्रमात्।" इसी पुराण के चौथे अंश के १५वें अध्याय में कृष्ण जन्म और पांचवे में श्रीकृष्ण लीला का वर्णन है। इस पुराण में परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण जगत-पालक कर्ता और संहारक हैं। स्वयं ब्रह्मा ने श्रीकृष्ण की स्तुति में कहा है कि 'हे देवताओं के अगोचर प्रभु! परा और अपरा ये दो विद्याएं आप ही हैं। हे नाथ! दोनों आप ही के मूर्त और अमूर्त रूप हैं। हे अत्यन्त सूक्ष्म! हे विराट स्वरूप! हे सर्व, हे सर्वज्ञ! शब्द ब्रह्म और परब्रह्म ये दोनों आपके ब्रह्ममय रूप ही है।[1] संसार के सभी ज्योति पुंज तथा त्रिभुवन, वन, पर्वत दिशाएं नदियां आदि भी विष्णु ही हैं। इस कथन में विष्णु की यह सर्व व्यापकता इस शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ को ही प्रतिपादिका है।[2] विष्णु पुराण के इस कृष्णावतार की समानता ब्रह्मपुराण में वर्णित कृष्णावतार से है।

रासलीला के प्रसंग पर राधा के व्यक्तित्व का प्रारम्भिक रूप इस पुराण में है। जरासंध-वध के साथ अन्य भी अनेक कथाएँ हैं। ब्रह्मपुराण में व्यास द्वारा विष्णु की स्तुति विष्णु के सिर के बल से श्रीकृष्ण का उद्भव (अध्याय १८१) शकट-भंग, पूतना-वध, यमलार्जुन कथा, कालियदमन, कंस-वध, रुक्मिणि का राक्षस विवाह, पारिजातवृक्ष का ले आना द्विविध-वानर कथा श्रीकृष्ण का स्वर्ग-गमन आदि अनेक प्रसंग हैं।

पद्म पुराण के पाताल खण्ड में श्रीकृष्ण की कथा है। उत्तर खण्ड में श्रीकृष्ण का अवतार व अन्य चरित्र है। वायु पुराण के अध्याय ९६–९७ में श्रीकृष्ण के वंश का वर्णन है। अग्नि पुराण में कृष्णावतार की कथा है। ब्रह्माण्ड पुराण के २०वें अध्याय में कृष्ण के आविर्भाव की चर्चा और देवी भागवत के चौथे स्कन्ध में श्रीकृष्ण की कथा का वर्णन है। इन पुराणों के

---

1 द्वे विधे त्वमनाम्नाय परा चैवापरा तथा।
त एव भक्तो रूपे मूर्तामूर्तात्मिके प्रभो ॥ ३४

द्वे ब्रह्मणो त्वणीयोऽतिस्थूलात्मन्सर्वसर्ववित्।
शब्दब्रह्म परं चैव ब्रह्म ब्रह्ममयस्य मत्। ५/१/३५ विष्णु पुराण

2 ज्योतिषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुर्वनानि विष्णुः गिरयो दिशाश्च। नद्यः समुद्राश्च स एव सर्वं यदस्ति यन्नास्ति च विश्ववर्यः। २/१२/३८

अतिरिक्त अन्य भी बहुत से पुराणों जैसे पद्म[1], वायु[2], वामन, कूर्म[3] और गरुड[4] में भी श्रीकृष्ण की कथा है। पद्म पुराण में श्रीकृष्ण असुर संहारक और माखन चोर हैं। इसमें पारिजात वृक्ष की कथा, बाणासुर कथा और रासलीला का वर्णन है। बृहन्नारदीय पुराण में विष्णु को परमात्मा का रूप माना गया है। इसमें कहा गया है कि जगत के कर्ता ब्रह्मा इनकी नाभि से उत्पन्न हुए हैं। इसलिए ये विष्णु ही परमात्मा रूप हैं, इनसे परे अन्य कोई नहीं है। विष्णु से सभी चर और अचर उत्पन्न हुए हैं कुछ भी विष्णु से भिन्न नहीं है। ब्रह्मा ने इस विष्णु की स्तुति करते हुए उन्हें सबका मूल कारण और परमेश्वर माना है। पद्म पुराण के पाताल खण्ड अध्याय ६९ में विष्णु परमात्मा और भगवान हैं। वे ब्रह्मा की प्रार्थना पर जगत के लिए प्रकट हुए हैं। इसी श्रीहरि के अंश से कोटि ब्रह्मा, विष्णु और शंकर उत्पन्न होते हैं। इन्हीं से सृष्टि का पालन, नाश और उत्पत्ति होती है।[5]

वायु पुराण में श्रीकृष्ण जन्म, स्यमन्तक मणि, श्रीकृष्ण की सोलह सहस्र पत्नियों का वर्णन है, परन्तु राधा नाम की किसी गोपी का कोई उल्लेख नहीं है। इसी में आभीरों के दश राजाओं का वर्णन है। वामन पुराण में केशी, मुर और कालनेमि के वध की चर्चा है। वामनावतार और त्रिविक्रम की भी कथा है। कूर्म पुराण में यदुवंश, कृष्ण द्वारा महादेव की आराधना और श्रीकृष्ण के पुत्रों की कथा है। गरुड पुराण के आचार काण्ड में श्रीकृष्ण की कथा को विस्तार दिया गया है। पूतना वध, यमलार्जुन कथा, गोवर्धन-धारण, केशी-चाणूर-वध, कालिय दमन शकटसुर प्रसंग, सान्दीपनी द्वारा शिक्षा की प्राप्ति और श्रीकृष्ण की आठ पत्नियां आदि का उल्लेख है।

हरिवंश पुराण में श्रीकृष्ण

हरिवंश पुराण को महाभारत के परिशिष्ट के रूप में स्वीकार किया गया है। पुराणों में इसकी प्राचीनता असन्दिग्ध रही है। गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का सर्वप्रथम वर्णन इसी पुराण में है। कृष्ण की इस कथा को सौति उग्रश्रवा ने शौनक को सुनाया था। इसमें श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का आकर्षक

---

1 पाताल खण्ड। वृन्दावन महात्म्य। अध्याय ५९ से ८३ तक

2 द्वितीय खण्ड। अध्याय ३४

3 पूर्वार्द्ध अध्याय २३–२७

4 आचार काण्ड। अध्याय १४४

5 पद्म पुराण। पाताल खण्ड अध्याय ६९

वर्णन हुआ है। इस भौतिक सौन्दर्य की समस्त निधियों के साथ ब्रह्म रूप श्रीकृष्ण का अलौकिक और अद्वितीय सौन्दर्य भी उल्लास का विशेष कारण है। यह सौन्दर्य रास के प्रसंग पर और अधिक प्रस्फुटित हो जाता है।

इस पुराण की प्राचीनता के कारण इसे प्रमाण रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इसमें श्रीकृष्ण के दैवी और मानवीय दोनों रूपों का समन्वय है। वे विष्णु के अवतार, परब्रह्म और विराट है। सांख्य के पुरुष, वीर योद्धा और महापुरुष रूप में इनको उपस्थित किया गया है। कृष्ण-चरित्र और विष्णु भक्ति का प्रारम्भिक रूप यही प्राप्त होता है। इसमे वर्णित कथाओं का प्रभाव परवर्ती साहित्य पर पड़ा है। यहां की अस्पष्ट और सांकेतिक रूप में वर्णित कथाएं ही बाद के साहित्य मे विस्तृत रूप धारण करके आलोकित हो जाती हैं। इसी से कृष्ण चरित्र को प्रभावित करने में भागवत की भांति ही इस पुराण का भी अधिक महत्व है।

इसमें कृष्ण के गोपाल रूप और दार्शनिक कृष्ण का स्पष्ट समन्वय है। नारद ने बाल्यकाल से मथुरा तक की कथा में उसके रहस्यपूर्ण अंशों की सांकेतिक व्याख्या प्रस्तुत की है। शिव ने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए उन्हें ब्रह्मविद्, अग्नि और ज्योतिपति, सूर्यपुत्र और तेज का स्वामी कहा है। "अग्नयेऽग्निपतेतुभ्यं ज्योतिषां पतये नमः। सूर्याय सूर्यपुत्राय तेजसां पतये नमः।" इसमें श्रीकृष्ण का सम्बन्ध ज्योति एवं ज्योतिपति से करके उनके आदित्य रूप तेज पुंज की व्याख्या की गई है। यह उनका वैदिक रूप है, जिसका संकेत पीछे किया जा चुका है। इसमें प्रयुक्त इन दोनों विशेषणों का सम्बन्ध छान्दोग्य उपनिषद् और गीता में वर्णित श्रीकृष्ण के सूर्य और ज्योति रूप विशेषणों का ही प्रतिरूप है। इससे इन दोनों ग्रन्थों के कृष्ण ही 'हरिवंश' में आलम्बन बने हुए है। 'छान्दोग्य' में कृष्ण स्वयं भी सूर्यपूजक हैं, उन्हें उत्तम ज्योति की पूजा सिखाई जाती है। अन्य पुराणों में श्रीकृष्ण के इस ज्योति रूप का वर्णन नहीं है। इस वर्णन की दृष्टि से छान्दोग्य, महाभारत, गीता और हरिवंश पुराण के श्रीकृष्ण की एकता स्वयं सिद्ध हो जाती है। दार्शनिक एवं उपास्य श्रीकृष्ण का समन्वय भी इन ग्रन्थों में हुआ है। उत्तर वैदिक काल के गोपाल कृष्ण यहां आकर छान्दोग्य कृष्ण की भांति अपने गुरु आंगिरस के समान ही सूर्यपूजक और ज्योति को महत्व देने वाले बन जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित श्रीकृष्ण की एकता सिद्ध हो जाती है।

श्रीकृष्ण की अनेक कथाओं का वर्णन इसमें है। कालियदमन, नाग-पत्नियों की स्तुति, रासलीला, कंस, धनुभंग, कुवलयापीड-प्रसंग, चाणूर-मुष्टिक

वध, बलराम का गोकुल गमन, रुक्मिणीहरण, काल यवन प्रसंग, प्रद्युम्नकथा, बाणासुर आख्यान, पौण्ड्रक का द्वारिका पर आक्रमण, श्रीकृष्ण का कैलाश गमन, बदरिकाश्रम में तपस्या आदि अनेक प्रसंग इस पुराण में आये हैं। इस प्रकार इसमें विष्णु भगवान और कृष्णावतार की कथा को विस्तार मिल गया है। वृष्णिवंश और श्रीकृष्ण के जन्म पर भी विचार है। विष्णुभक्ति के विकास का क्रमिक रूप यहाँ से आरम्भ हो जाता है विभिन्न रूपों में विष्णु के नामों का समन्वय भी आरम्भ हो जाता है। वासुदेव, नारायण, श्रीकृष्ण को विष्णु का ही अवतार माना गया। बाद में तो कृष्ण को भगवान ही मान लेने की परम्परा चल पड़ी। भगवान कृष्ण की लीलाओं के बीच में प्रकृति का वर्णन भी किया गया है। यही उनके रूप और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी अनेक ढंग से हुई है।

ब्रह्मवैवर्त्य पुराण में श्रीकृष्ण

हरिवंश के अतिरिक्त ब्रह्मवैवर्त्य में भी श्रीकृष्ण की अनेक कथाएँ मिलती हैं। श्रीकृष्ण के जन्मादि और लीलाओं से समन्वित इस पुराण की बड़ी महत्ता है। इसमें श्रीकृष्ण परब्रह्म है। ब्रह्मा ने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा है कि आप ही जगत के स्वामी है, सुख दुःख और संसार के कारण हैं। शंकर भी आपसे पार नहीं पाते। जो कुछ संसार में है, सब आपका ही अंश है।[1] एक अन्य स्थल पर भी इसी भाव का समर्थन किया गया है कि आप ही ब्रह्मधाम और निर्गुण निराकार हैं। आप ही सगुण हैं। आप ही साक्षी रूप है, निर्लिप्त हैं और परमात्मा हैं। प्रकृति और पुरुष के भी आप ही कारण है।[2] परमात्मा और जगत का प्रादुर्भाव भी आप से ही हुआ है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व के मूल कारण के रूप में श्रीकृष्ण का विशद वर्णन है।

ब्रह्मवैवर्त्य में गोलोक, राधा-मन्दिर, राधा-कृष्ण का सांख्य के अनुसार प्रकृति-पुरुष रूप में सम्बन्ध, श्रीकृष्ण के अंशावतारों आदि का वर्णन किया गया है। इसके सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण जन्माख्यान, आठवें में जन्माष्टमी व्रत, नौवें में नन्द के पुत्रोत्सव का वर्णन है। कंस-वध, मथुरागमन, उद्धव कथा आदि भी है। शृङ्गारिक वर्णनों में उग्रता है। राधा के अस्तित्व और वर्णनों की विशदता की दृष्टि से इस पुराण की बहुत अधिक महत्ता है। पौराणिक साहित्य में सर्वप्रथम इसी पुराण में राधा की परिचय प्राप्त होता है, जबकि

1 ब्रह्मवैवर्त्य पुराण-श्रीकृष्ण जन्म खण्ड २०/४०–५१

2 ब्रह्मवैवर्त्य पुराण-श्रीकृष्ण जन्म खण्ड १/३६–३७

अन्य पुराण इस सम्बन्ध में मौन ही हैं। भगवन की एक प्रिय गोपी ही कृष्ण के राग से रंजित होकर यह राधा नाम से प्रसिद्ध हो जाती है। इसी प्रसंग में प्रकृति और पुरुष के एकीकरण का सफल प्रयास किया गया है। सांख्य की यह दृष्टि अन्य स्थलों पर उपलब्ध नहीं है।

इस पुराण में राधा का विस्तृत वर्णन है। राधाकृष्ण की प्राणेश्वरी है, उनकी शक्ति है और प्रकृति है। कृष्ण कहते हैं कि हे राधा तुममे और मुझमें कोई अन्तर नहीं है। जैसे दूध में सफेदी, अग्नि में दाहकता और पृथ्वी में गंध रहता है, वैसे ही मैं सदा तुझ में रहता हूं। तुम संसार की आधार हो और मैं कारण रूप हूं।·····मैं जब तुझसे अलग रहता हूं तो लोग मुझे कृष्ण और जब साथ रहता हूं तो श्रीकृष्ण कहते हैं।[1] इसी में राधा के महात्म्य का वर्णन भी किया गया है। राधा शब्द में प्रयुक्त रकार का उच्चारण करोड़ों जन्मों के अंचे शुभ और अशुभ कर्मफलों को नष्ट करता है। आकार, गर्भवास और मृत्यु रोगादि से छुडाता है। धकार आयु की हानि से बचाता है और आकार भव-बन्धन से मुक्त करता है।[2] इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन युग में राधा को ही सर्वशक्तिशालिनी मानकर पूजा-उपासना प्रचलित हो गई थी। बाद के साहित्य में इस राधावाद का पूर्ण प्रचार हो गया।

इस पुराण की साहित्यिक दृष्टि भी दर्शनीय है। श्रीकृष्ण के जन्म पर उनके रूपाकार का आकर्षण स्तुत्य है। जलद्प्रभा से मण्डित कृष्ण का रूप अतीव सुन्दर था। वे सुन्दर, शरद पूर्णिमा के समान मुख और इन्दीवर तुल्य लोचनों वाले थे। सुविन्यस्त हस्त और लाल कमल के समान पद थे:—

ददर्श पुत्रं भूमिस्थं नवीन नीरद प्रभम्। अतीव सुन्दरं नग्नं पश्यन्तं गृहशेखरम्।
शरत्पार्वण चन्द्रास्यं नीलेन्दीवर लोचनम्। ब्रह्मवैवर्त्य पुराण ६।५४-५८

इस स्थल पर वर्णित सौन्दर्य आलंकारिक पद्धति का अनुसरण करने वाला है। इसमें कृष्ण का रूप सौन्दर्य मूलक है। यही सौन्दर्य चेतना आगे के हिन्दी कवियों में दीख पड़ती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राधा विषयक वर्णनों का मूल उपजीव्य स्रोत यही पुराण है। सर्व प्रथम इसी पुराण में विस्तार से किया गया वर्णन मिलता है। इस दृष्टि से इसकी अत्यधिक महत्ता स्वीकार की जा सकती है। इसी पुराण के साथ श्रीमद्भागवत् पुराण भी श्रीकृष्ण की लीलाओं का स्रोत ग्रन्थ माना जाता है।

---

1 ब्रह्मवैवर्त्य पुराण श्रीकृष्ण जन्म खण्ड १५/५६-६४

2 रेफोहि कोटि जन्मान्धं कर्मयोग शुभाशुभम्। आकारो गर्भवासं च मृत्युं च रोगमुत्सृजम्। धकारोमायुसि हानिः आकारो भवबन्धनम्। ब्र० वै०पु०

श्रीमद् भागवत पुराण में श्रीकृष्ण—

श्रीकृष्ण के चरित्र से स्पष्ट और सीधा सम्बन्ध रखने वाले पुराणों में भागवत प्रमुख है। हिन्दी के मध्यकालीन कवियों पर इस पुराण का अधिक प्रभाव पड़ा है। इसमें वैदिक युग से प्रारम्भ कर अब तक के वर्णित श्रीकृष्ण सम्बन्धी सभी सामग्रियों का सार-संग्रह समन्वित रूप में दिया गया है। इस ग्रन्थ में श्रीकृष्ण स्वयं भगवान रूप हैं और अन्य अवतार अंश रूप के ही बोधक माने गये हैं, "एते चांश कला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।"[1] ऐसे स्थलों पर यह बताया गया है कि श्रीकृष्ण और बलराम दोनों नारायण के दो रूप कृष्ण और शुक्ल हैं, जिन्होंने असुरों के संहार के लिये अवतार लिया है।[2] इनका सोलहों कलाओं से युक्त पुरुषावतार है। सृष्टि के निर्माण प्रसंग पर बताया गया है कि इन्हीं से पंचभूतों की रचना हुई है। वे ब्रह्माण्ड का निर्माण करके अपने अन्तर्यामी रूप से प्राणियों में प्रवेश करके 'पुरुष' नाम को सार्थक करते हैं।[3]

ब्रह्म की स्तुति के अवसर पर भी यही भाव व्यक्त किया गया है कि, "हे अधीश! क्या आप नारायण नहीं है? आप अवश्य ही नारायण हैं, क्योंकि आप सब जीवों की आत्मा और अखिल विश्व के साक्षी हैं।[4] धार्मिक दृष्टि से श्रीकृष्ण पर ब्रह्म के अवतार और भागवत धर्म के पुनरुद्धारक हैं। उनके इस अवतार रूप का समर्थन स्थान-स्थान पर है। इसी से 'भागवत' में भगवान के छः गुणों-ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य—का वर्णन है।

इस पुराण में भगवान ने स्वयं कहा है कि 'मैं सबका उपादान कारण होने से सबका आत्मा हूं। सबमें अनुगत हूं, इसलिये मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। "भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित्। यथा भूतानि भूतेषुखंवाय्वग्निर्जलं मही। तथा हं च मनः प्राण भूतेन्द्रिय गुणाश्रयः।[5] आगे चलकर कहा गया है कि, "जगत का परम कारण मैं ही हूं। मैं ब्रह्मा और महादेव हूं। मैं सबका आत्मा, ईश्वर और साक्षी हूँ तथा स्वयं प्रकाश और उपाधि शून्य हूँ। अपनी त्रिगुणात्मिका माया को स्वीकार करके मैं ही जगत की रचना पालन और संहार करता रहता हूँ। ऐसा ही भेद-रहित

---

[1] श्रीमद्भागवत् १/३/२८
[2] ,, ,, २/७/२६
[3] ,, ,, ११/४/३
[4] ,, ,, १०/१४/१४
[5] ,, ,, १०/४७/२९

विशुद्ध परब्रह्म स्वरूप मैं हूँ। इसमें अज्ञानी पुरुष ब्रह्मा, रुद्र, तथा अन्य समस्त जीवों को विभिन्न रूप में देखता है।"[1]

ब्रह्मा ने भी अपनी स्तुति में यही समर्थन किया गया है कि 'आपकी नाभि रूप भवन से मेरा जन्म हुआ है। यह सम्पूर्ण विश्व आपके उदर में समाया हुआ है। आपकी कृपा से ही मैं त्रिलोकी की रचना रूप उपकार में प्रवृत्त हुआ हूँ।"[2] इस ब्रह्मा की स्तुति से तथा गौ रूप में पृथ्वी की प्रार्थना पर भगवान ने अवतार लिया था। भगवान का यह स्वरूप लीला के निमित्त है इसी से श्रीकृष्ण एक आराध्य के रूप में मान्य हैं और इनकी अनेक लीलाओं का वर्णन भागवत में है। कई नये प्रसंगों का भी इसमें समावेश है। कृष्ण की एक प्रिय गोपी का वर्णन दशम स्कन्ध में मिलता है। श्रीकृष्ण काव्य को प्रभावित करने वाला यह एक विशिष्ट पुराण है।

इसमें श्रीकृष्ण भक्ति के आधार हैं। इनके चरण कमल संसार सागर को पार करने के एक मात्र आधार हो सकते हैं। कहा गया है कि, "जो मन और इन्द्रिय रूप नगरों में भरे हुए इस संसार-सागर को योग आदि दुष्कर साधनों से पार करना चाहते हैं, उसका उस पार पहुँचना कठिन ही है, क्योंकि उन्हें कर्णधार रूप श्री हरि का आश्रय प्राप्त नहीं है। अतः तुम भगवान के आराधनीय चरण-कमलों को नौका बनाकर अनायास ही इस दुस्तर समुद्र को पार कर लो।"

'कृच्छ्रो महानिव भवार्णवमप्लवेशां षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीर्षन्ति।
तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम्॥
४/२२/४० भागवत

उपर्युक्त विचारों के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि श्रीकृष्ण की साहित्यिक अभिव्यक्ति का एक क्रमिक विकास ग्रन्थों में दीख पड़ता है। परवर्ती रचनाओं में महाभारत, गीता और भागवत का महत्व स्वीकार करना ही पड़ेगा। इन तीनों ही ग्रन्थों से श्रीकृष्ण के स्वरूप का सम्यक् उद्घाटन हुआ है। भगवान श्रीकृष्ण के दिव्य रूप का जो संकेत महाभारत में मिलता है, उसका पूर्ण विकास भागवत में है। महाभारत के आख्यानों में ही भावगत धर्म का पूर्व रूप दीख पड़ता है। गीता में इन दोनों का समन्वित रूप स्पष्ट है।

---

[1] श्रीमद् भागवत ४/७/५९-५२

[2] ,, ,, ३/९/२१

महाभारत और भागवत में जो विभिन्न आख्यानों का वर्णन है, उसके विश्लेषण से यह प्रकट हो जाता है कि महाभारत का नारायणी धर्म और भागवत का भागवत धर्म दोनों एक ही है। गीता का निष्काम कर्मयोग भक्ति के अभाव में सफल नहीं हो सकता है। भागवत में इसी भक्ति का पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया गया है। गीता में पुरुष रूप धारण कर अपने विश्व रूप का उन्मीलन करते हैं महाभारत के नारद प्रसंग में भी इसी रूप का वर्णन है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण पर ब्रह्म है। इनका यह रूप गीता के श्रीकृष्ण रूप से मिलता हैं। महाभारत में श्रीकृष्ण के पर ब्रह्मत्व के रूप में संशय बना रहता है। अतः स्पष्ट है कि महाभारत में श्रीकृष्ण एक वीर योद्धा, गीता में पर ब्रह्म और भागवत में रसिकेश्वर वृन्दावन विहारी गोपी प्रिय यशोदोत्संग लालित नन्दनन्दन है।

श्रीमद्भागवत में यद्यपि उनके अनेक रूपों का उद्घाटन हुआ है, परन्तु प्रधानता उनके रासिकेश्वर रूप की है। उनमें सभी प्रवृत्तियों का समाहार है। वे एक साथ ही असुर संहारक, वीर योद्धा, बालकृष्ण, गोपी विहारी, राजनीतिवेत्ता कूटनीतिज्ञ, योगेश्वर, पर ब्रह्म आदि सब कुछ हैं। इसमें बाल-लीला, गोपी-प्रसंग, और अलौकिक चरित्रादि है। उत्तरार्द्ध में श्रीकृष्ण असुर–संहारक, राजनीतिवेत्ता, कूटनीतिज्ञ आदि हैं। इनका यह रूप महाभारत से मिलता है। इस प्रकार समन्वय की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। पुराणों में श्रीकृष्ण को नारायण ऋषि, वामन, क्षीरोपशायी, सहस्रशीर्ष, वैकुण्ठनाथ और नारायण आदि कहा गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इन तीनों ग्रन्थों के माध्यम से एक ही तत्व की व्याख्या भिन्न-भिन्न ढंग से की गई है। भागवत में श्रीकृष्ण लोकरंजक और लोकरक्षक दोनों ही हैं। गीता का कर्मयोग ही भक्ति से मिलकर भक्ति की महत्ता का प्रतिपादक बन जाता है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण परमपुरुष, सर्वव्यापक अव्यक्त और अमृत तत्व है। यही अव्यक्त व्यक्त होकर सगुण बन जाता है। श्रीकृष्ण उसी परम पुरुष के अवतार हैं। उन्होंने अपने को पुरुष कहकर व्यक्त रूप की उपासना का समर्थन किया है। गीता में ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीनों का समन्वय है, परन्तु भागवत में श्री कृष्ण की भक्ति की महत्ता सर्वोपरि है। इसमें श्री कृष्ण पूर्णावतार है, उनके षड्गुणों की चर्चा है। गीता ने भी इन गुणों का समर्थन किया है।

भागवत में श्रीकृष्ण महाभारत के अनुसार ही पाण्डवों के सखा, गीता के उपदेष्टा और धर्म के संस्थापनार्थ प्रकट हुए हैं। वे ही ब्रज के लीला–विधायक राज्य के संचालक और असुरों का संहार करने वाले हैं। योगेश्वर

रूप का पूर्ण विकास इस पुराण में हो सका है। अर्जुन द्वारा सम्बोधित गीता के वार्ष्णेय कृष्ण ही सात्वत हैं। भागवत में उन्हें 'सास्वतर्षभ' कहा गया है। देवकी और वासुदेव पुत्र दोनों एक हैं। श्रीकृष्ण की ही वासुदेव संज्ञा है। वे इस पुराण में पूर्णब्रह्म है। इसीसे उनकी लीलाएं लौकिक नहीं है, अपितु वे योगलीलाएं हैं। श्रीकृष्ण अपनी योग माया से एक का अनेक रूप धारण करके लीला में प्रवृत्त होते हैं। यही कारण है कि लौकिक स्थूल शरीर से गोप-अंगनाएं अपने पतियों के समक्ष बनी रहती हुई भी योग माया के कारण दूसरा स्वरूप धारण कर श्री कृष्ण के सानिध्य का लाभ उठाती हैं। सच तो यह है कि श्रीकृष्ण परस्त्री का स्पर्श तक नहीं करते, अपितु अपना चिन्मय श्री विग्रह ही प्रकट करके उसी रूप में रमण करते हुए अपनी दीव्यता का प्रतिपादन करते हैं। इनकी इच्छा रूप और आकार ग्रहण कर लेती हैं। वे स्वयं इस रूप से मुग्ध नहीं होते। इसीसे वे अलौकिक हैं। यही नहीं, अपितु राजनैतिक स्थिति में भी राज्य-धर्म को न्याय और सत्य की कसौटी पर कसने वाले वे एक ऐसे राज्य नियन्ता हैं जो भक्ति-प्लावित होकर ही हमारे समक्ष आते हैं। इसी कारण वे सर्वज्ञ, सर्वेश्वर और योगेश्वर हैं। वे भक्ति के आराध्य हैं और उनका रूप इतना आकर्षक है कि हिन्दी के भक्त कवियों का मूल उप-जीव्य ग्रन्थ इसे ही माना जाने लगा। श्रीकृष्ण के इसी मोहक रूप की व्यञ्जना में कवियों ने अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा लगा दी। इन भक्त कवियों ने अपने आराध्य के रूप के साथ ही उनके सौन्दर्य का जो अनिर्वचनीय रूप प्रस्तुत किया उससे सम्पूर्ण मध्यकालीन हिन्दी साहित्य आप्लवित है। श्रीकृष्ण का यह रूप सौन्दर्य भक्त कवियों के आकर्षण का परम प्रेरक तत्व था। इसीसे इन कवियों ने श्रीकृष्ण के साथ अन्य गोपांगनाओं के रूप सौन्दर्य का भी वर्णन करके आश्रय और आलम्बन दोनों के ही सौन्दर्य का सम्यक रूप से उद्घाटन किया है। इस दृष्टि से आश्रय-आलम्बन दोनों के ही सौन्दर्य की उत्तमता की व्यञ्जना आवश्यक मानी जाती है। यही कारण है कि मध्यकालीन श्रीकृष्ण साहित्य में रसेश्वर कृष्ण और रसेश्वरी राधा तथा अन्य गोपियों के रूप सौन्दर्य की अभिव्यक्ति उच्चकोटिक है। इसी रूप सौन्दर्य के व्यावहारिक पक्ष को प्रस्तुत प्रबन्ध में बताया गया है। इसके पूर्व रूप-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की एक संक्षिप्त परम्परा प्रस्तुत करते हुए हिन्दी साहित्य पर उसके प्रभावों की चर्चा भी की गई है।

रूप सौन्दर्य-स्वरूप निर्वचन

(१) सौन्दर्य-स्वरूप और व्याख्या

(२) सौन्दर्य एवं अन्य समानार्थक शब्द

(३) आलंकारिकों का सौन्दर्य सम्बन्धी मत

(४) संस्कृत कवियों का मत

(५) हिन्दी कवियों का मत

(६) सुन्दर और उदात्त

(७) सुन्दर और कुरूप

(८) सौन्दर्य के तत्व

सौन्दर्य : स्वरूप और व्याख्या

प्रायः सभी देशों के साहित्य में कवियों ने सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने में अपनी-अपनी रुचि का प्रदर्शन किया है। धार्मिक और लौकिक दोनों ही प्रकार की रचनाओं में इसकी अभिव्यक्ति मिलती है। 'वेदों' में सौन्दर्य के प्रति अभिरुचि प्रकट की गई है। ऋग्वेद के कई मंत्रों में अनेक स्थलों पर इस शब्द का प्रयोग किया गया है।[1] इन स्थलों पर इस शब्द का वर्तमान रूप व्यवहृत नहीं हुआ है। यह शब्द विशेषण (सुनरः) कारक (सुनरम्) सम्बोधन (सूनरि) अथवा प्रथमा विभक्ति (सूनरी) में प्रयुक्त हुआ है। यही 'सुनर' शब्द भाषा-विज्ञान के एक विशेष नियम के आधार पर सुन्दर बन जाता है। यहाँ 'मध्यागम' हो जाता है। इससे अर्थ का विस्तार भी हो गया है। इस शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ 'सुष्ठुनरः इति सुनरः' अर्थात् सुन्दर मानव है। इस व्युत्पत्ति से मानवीय सौन्दर्य ही लक्षित होता है, परन्तु अर्थ-विस्तार द्वारा इससे मानव और मानवेतर जगत के अतिरिक्त कलागत और मानवकृत सौन्दर्य का बोध भी कराया जाता है। सामान्य व्यावहारिक अर्थ में सुन्दर शब्द का सम्बन्ध मूर्त वस्तु से ही लगाया जाता है और मानव-जगत तक इसकी सीमा मानी जाती है।

सौन्दर्य एवं अन्य समानार्थक शब्द :—

साहित्य में प्रायः बहुत से समानार्थक शब्दों का प्रयोग हुआ करता है। ऐसे शब्दों के मूल अर्थ में अन्तर न होते हुए भी उनके व्यावहारिक अर्थ में अन्तर दीख पड़ता है। यह अन्तर प्रबुद्ध एवं शिक्षित मनीषियों की भाषा में देखा जा सकता है। जन-सामान्य के भाषा-प्रयोग में इस प्रकार का कोई अंतर नहीं दीख पड़ता। इसका कारण शब्द-प्रयोग करने वाले लोगों की अबोधता है। ऐसे अबोध प्रयोगों द्वारा शब्दों के अर्थ का अन्तर समाप्त नहीं हो जाता, अपितु बना रहता है। फिर भी अपनी अज्ञानता के कारण हम उन सभी शब्दों को एकार्थक मान लेते हैं।

सुन्दर के समानार्थक शब्दों में रूप, लावण्य, मनोहर, रुचिर, चारु, सुषम, साधु, शोभन, कान्त, मनोरम, रुच्य, मनोज्ञ, मञ्जु, मञ्जुल, मनोहारि, सौम्य, भद्रक, रमणीय, रामणीयक, बन्धुर, पेशल, वाम, राम, अभिराम,

---

1 ऋगवेद—८/२९/१; १/४०/४; १/४८/१०;४/५२/१; १/४८/५; १/४८/८;७/८१/१

नन्दित, सुमन, वल्गु, हारि, स्वरूप और दिव्य आदि बताये गये हैं।[1] अमर कोश में भी लगभग इन्हीं शब्दों का प्रयोग हुआ है। सुन्दर, रुचिर, चारु, सुषम, साधु, शोभन, कान्त, मनोज्ञ, मनोरम, रुच्य, मंजु और मञ्जुल आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[2] ऋग्वेद में सौन्दर्य के पर्याय रूप में अप्सः' लावण्य, शुभ, पेशल, हिरण्यपेशस् आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दों में 'अप्सः' विषयगत सौन्दर्य का बोध कराता है। मानस-शरीर अथवा अन्तर्बाह्य अवस्था का ज्ञान कराने के लिये सुन्दर के स्थान पर 'लावण्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'पेशल' शब्द को अन्तःकरण के सौन्दर्य का बोधक माना जा सकता है। 'विश्वपेशस्' व्यापक सौन्दर्य को बताने वाला है। हिरण्य पेशस् को यास्क उपदेशात्मकता तथा आनन्द का, आत्मा और अर्थ का समन्वय द्योतक मानते हैं। अतः 'पेशस्' शब्द द्वारा वस्तु तथा शैली के समन्वित रूप का ही ज्ञान होता है। ऋग्वेद में ही मरुत को शुभ और अश्विनों को शुभस्पति कहा गया है। इसके द्वारा बाह्य एवं आभ्यन्तर सौन्दर्य को स्वीकृति मिलती है। यही कारण है कि सौन्दर्य-प्रेमी अश्विन् को शुभस्पति कहा जाता है।[3]

ऋग्वेद के अतिरिक्त कोशगत सुन्दर शब्द के अन्य समानार्थक शब्दों पर भी विचार कर लेना चाहिए। इन शब्दों में 'रूप' और 'लावण्य' प्रसिद्ध शब्द हैं। रूप की व्युत्पत्ति करते हुए बताया गया है कि 'रूप्यते कीर्त्यते रौति वा रूपः।' इस शब्द की निष्पत्ति 'रू+प्वप्प शिल्प शष्पेति प दीर्घश्च' सूत्र से होती है। 'भोग-तत्व' के समुचित विन्यास से 'रूप' का आविर्भाव होता है। 'रूप' में आकार की महत्ता होती। 'लावण्य' 'रूप में स्थित चमक या कान्ति का बोध कराता है। 'लवणस्य भावः लावण्यः'। खाद्य पदार्थों में नमक की महत्ता के समान ही रूप में लावण्य का महत्व रहता है। दोनों शब्द बोल-चाल में 'सुन्दर' के पर्याय रूप में प्रयुक्त होते हैं।

'मनोहर' शब्द मनोज्ञ या मनोहारि अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'मनसो हरमिति मनोहर :—हृ+अच् प्रत्यय से इस शब्द की निष्पत्ति होती है। मन को हरण करने वाला मनोहर कहा जाता है। रूप और सौन्दर्य सम्पन्न मानव में ही यह गुण होता है। इससे किसी चेतन में मनोहरता का गुण होता है। 'मनोरम' वस्तु या प्राणी का ऐसा गुण है जिसमें मन रम जाय।

---

1 हलायुध—कोश, पृ० ७१४

2 सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं चारु शोभनम्।
कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम्। अमरकोश ३/१/५२-५३

3 सौन्दर्य तत्व—भूमिका भाग, पृ० ३७ अनु० डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित

'सुन्दर' के साक्षात्कार से मन में लीनता आती है। वस्तु के सौन्दर्य को देखकर बहुधा उसमें लीन होते हुए देखा गया है। कभी-कभी जड़ और कलात्मक वस्तुओं में भी मन रम जाता है। इससे मन को रमाने का साधन जड़ पदार्थ और चेतन प्राणी दोनों में ही पाया जाता है। 'रुचिर' शब्द रुच् धातु में किरच् प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है। 'रुच्यते इति रुचिः', जो रुचिकर हो, उसे 'रुच्य' कहते हैं। इस रुच्य से बना हुआ रुचिर शब्द 'सुन्दर' अर्थ को बताता है। 'रुचिर' में मन की प्रियता रहती है, मनोरम और मनहर शब्दों में मन के स्तम्भन का भाव दीख पड़ता है। प्रायः 'सुन्दर' के साक्षात्कार से मन निश्चल होकर उसमें लीन हो जाता है। वस्तु में मन की यह लीनता उसके स्तम्भन की दशा को व्यक्त करने वाली होती है।

नैसर्गिक सौन्दर्य से आकृष्ट करने वाले रूप को 'रामणीयक' 'रमणीय' और 'हारि' कहा जा सकता है। आकारगत प्रशंसनीय सौन्दर्य को 'अभिराम' संज्ञा दी जायगी। 'अभितः रामः इति अभिरामः' अर्थात् सर्वाङ्ग सुन्दर 'अभिराम' है। 'रामः' शब्द की व्याख्या 'रमयति मनः अस्माकमिति रामः' है। इस व्याख्या में मन के रमण करने की व्युत्पत्ति बताई गई है। इससे अभिराम ऐसे सर्वाङ्ग सुन्दर के लिये प्रयुक्त होगा, जिसमें आकारगत शोभा प्रशंसनीय हो। इस शोभा में आनन्ददायकता का गुण भी वर्तमान रहता है। अतः आनन्ददायक सुन्दर रूप को 'अभिराम' की संज्ञा दी जा सकती है आकार में रहने वाली शोभा या चमक के लिये 'लावण्य' और 'कान्त' शब्द उपयुक्त होता है। रूप का वह तत्व जो नेत्रों को प्रिय लगे, वह 'शोभा' है। 'शोभा' में प्रियता का कारण आलम्बन के सौन्दर्य की सहजता और भोलापन है। अंग्रेजी में इसके लिये Gracefullness का प्रयोग किया जा सकता है। 'चारु' में चित्त को दोलायमान कर देने की शक्ति वर्तमान रहती है। इसकी नैसर्गिक शोभा से ही मन की यह अवस्था होती है।

कोमलता-जन्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए सुन्दर शब्द के समानार्थक कई शब्दों का प्रयोग होता है। इन शब्दों में मञ्जु, मञ्जुल, पेशल की गणना हो सकती हैं। मञ्जु और मञ्जुल की मृदुता दृष्टि गत है, 'पेशल' में स्पर्श-सुख का सौन्दर्य रहता है। इसमें शारीरिक मार्दव की महत्ता रहती है। स्पर्श के अतिरिक्त घ्राण और दृश्य की मृदुता का वर्णन भी होता है।

आकारगत सौन्दर्य के लिए 'बन्धुर' शब्द का प्रयोग हुआ है। सुविन्यस्त अवयवों से युक्त 'रूप' 'बन्धुर' कहा जाता है। विन्यासगत सौन्दर्य के लिए 'वल्गु' शब्द का प्रयोग हुआ है। औचित्य-मूलक प्रयोग में 'साधु' शब्द

उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसमें उपयोगितावादी दृष्टिकोण माना जा सकता है। 'वाम' शब्द में जय प्राप्त कर लेने वाले सौन्दर्य का गुण रहता है। इसे Winsome Beauty कहेंगे। यह प्राप्तव्य सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य के गुण द्वारा आश्रय का मन जीत लिया जाता है।

'सौम्य' शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से सम्बोधन के लिए किया जाता है। शान्त-चित्त, व्यक्ति में इस गुण के कारण उत्पन्न होने वाले आकर्षण से ही उसे 'सौम्य' कहा जाता है। सौम्य में शान्त स्वभाव का आकर्षण रहता है। इससे चरित्रगत सौन्दर्य का बोध होता है। सामाजिक-संदर्भ एवं लोक-कल्याण की भावना से युक्त अनेक शब्दों में सौन्दर्य की समानअर्थता मिल जाती है। भद्र, भद्रक आदि शब्दों में कल्याण की प्रवृत्ति और व्यवहारगत सौन्दर्य का औचित्य रहता है। यह सौन्दर्य क्रिया पारस्परिक सम्बन्धों एवं व्यवहारों के संदर्भ में औचित्य का ज्ञान कराता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि सौन्दर्य के पर्याय में अनेक शब्दों का प्रयोग होता रहा है। इन सबका समान अर्थ होते हुए भी उनके प्रयोग विधि में अन्तर आ जाता है। रूप, अभिराम, बन्धुर और वल्गु द्वारा आकार के विन्यास से उत्पन्न सौन्दर्य का बोध होता है। लावण्य और कांति आकार में स्थित चमक या आभा का द्योतक है। मञ्जु, मञ्जुल आदि शब्दों द्वारा रूप की दृश्य कोमलता की प्रतीति और पेशल शब्द से स्पर्श-सुख की अनुभूति होती है। आकार के रंग-वैभव से उत्पन्न सौन्दर्य को 'सुषम' कहते हैं। इन सभी शब्दों की सौन्दर्य मूलकता में आकार का महत्व किसी न किसी रूप में अवश्य बना रहता है। मन को प्रभावित करने वाले सौन्दर्य अर्थ के व्यञ्जक अनेक शब्दों का प्रयोग होता हैं। इन शब्दों में मन की प्रियता का सम्बन्ध 'रुचिर' शब्द से होता है। मन को स्तम्भित कर देने वाला सौन्दर्य मनोहर, मनहर, मनोहारि शब्द से ज्ञात होता है। मनोज्ञ, मनोरम में आकर्षण है। नैसर्गिक शोभा के लिए रमणीय, रामणीयक और हारि शब्द प्रयुक्त होते हैं। चित्त को दोलायमान कर देने की शक्ति 'चारु' शब्द में है। इन आकार मूलक और मन से सम्बन्धित सौन्दर्य के पर्याय शब्दों के विभिन्न प्रयोगों के अतिरिक्त औचित्य मूलक और कल्याण भावना के द्योतक अनेक शब्दों का प्रयोग होता है। ऐसे शब्दों में साधु से औचित्य का, भद्र और भद्रक द्वारा कल्याण भावना का और सौम्य तथा वाम द्वारा मध्यम पुरुष के गुणगत सौन्दर्य का बोध होता है। अतः सौन्दर्य के समानार्थक प्रयुक्त शब्दों की तीन प्रमुख कोटियाँ हो जाती हैं—

(१) आलम्बन का आकारगत सौन्दर्य ।

(२) आलम्बन का आकार और गुणगत सौन्दर्य तथा आश्रय के मन के संदर्भ में इन शब्दों का प्रयोग ।

(३) औचित्य मूलक और कल्याण भावना के द्योतक सौन्दर्य के समानार्थक प्रयोग ।

इन सभी शब्दों के सौन्दर्यमूलक प्रयोग की भिन्नता को ऊपर बताया जा चुका है ।

आलंकारिकों का मत

काव्य के स्वरूप का निर्धारण करते हुए वामनाचार्य ने लिखा है कि 'काव्यम् ग्राह्यम् अलंकारात् । सौन्दर्यमलंकार : अर्थात् काव्य का ग्रहण अलंकार से होता है और सौन्दर्य ही अलंकार है। इस कथन द्वारा इन्होंने सौन्दर्य को अलंकार कहकर चारुत्व, सौन्दर्य और अलंकार को एक कर दिया है । इस प्रकार दोनों में अभेद स्थापित किया गया है । और काव्य में सौन्दर्य की महत्ता स्वीकार करली गई है । अलंकार विरोधियों ने इसे अप्रस्तुत योजना के अन्तर्गत काव्य-परिच्छद के रूप में स्वीकार किया है । यदि इस मत को भी मान लिया जाय तो काव्य-सौन्दर्य के हृदयंगम करने एवं सम्यक विश्लेषण के लिए इस बाह्य रूप की सत्ता का भी महत्व कम नहीं होता । सौन्दर्य की अवधारणा के लिए अप्रस्तुत तत्व कभी उपेक्षणीय नहीं रहे हैं। रस और भावों की रमणीयता के उपरान्त सौन्दर्य-विधायक तत्वों में अप्रस्तुत योजना या अलंकारों का महत्व निर्विवाद रहा है । हिन्दी के अलंकार वादी केशव ने तो अलंकारों से रहित रचना को सौन्दर्य युक्त माना ही नहीं है ।[1] उन्होंने अप्रस्तुत योजना में वर्ण्य वस्तु और वर्णन प्रणाली के पार्थक्य को स्वीकार करके सामान्य और विशिष्ट अलंकार से अभिहित किया है । इनमें वर्णन शैली को अभिव्यञ्जना पक्ष के अन्तर्गत माना जाता है ।

सौन्दर्य के लिये चारुत्व शब्द का प्रयोग आनन्दवर्द्धन ने किया है । इनके मत से अलंकार चारुत्व के हेतु हैं । इनमें अनुप्रासादि शब्दगत चारुत्व हेतु और उपमादि अर्थगत चारुत्व हेतु तथा अर्थ के संघटनागत चारुत्व हेतु वर्ण-संघटना धर्म माधुर्यादि गुण हैं ।[2] यहीं पर सौन्दर्य के लक्षण का संकेत

---

1 यदपि सुजात सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषण विनु नहि राजहीं, कविता, वनिता, मीत । केशव ।

2 तत्र केचिदाचक्षीरन्, शब्दार्थशरीरन्तावत् काव्यम् । तत्र शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोपमादयः । वर्णसंघटना

किया गया है कि वस्तु के दर्शन से हमारे हृदय में नवीन भावनाओं और प्रेरणाओं का संचार उसी प्रकार होता चला जाता है, जैसे घण्टे के निनाद का अनुरणन दीर्घकाल तक हमारे कानों में गूंजता रहता है। यहाँ वस्तु की नवीन भावनाओं को संचरित करने वाली शक्ति को स्वीकार किया गया है। यही शक्ति उसका आन्तरिक मूल्य है और इसे ही सौन्दर्य नाम देना असंगत नहीं होगा। काव्य-शास्त्र में इसे ध्वनि नाम से बताया गया है। यही काव्य की आत्मा है। इसीमें सौन्दर्य का चिरन्तन रहस्य छिपा रहता है। आनुषंगिक रूप में सौन्दर्य को बाह्य उपकरण मानते हैं, फिर भी वह अन्तर्तत्व की रमणीयता को बढ़ाने वाला ही सिद्ध होता है। ध्वनिकार का मत है कि वह परम तत्व रमणियों के प्रसिद्ध तत्-तत् अंगों से भिन्न लावण्य के समान दीप्तिमान् रहता है।[1] यह सौन्दर्य अवयवों से भिन्न पृथक रूप में ही सुन्दरियों में दीख पड़ता है। अभिनव गुप्त ने इस सौन्दर्य को 'विच्छित्ति' के रूप में स्वीकार किया है। यह प्रतिभासित होने वाली छवि है जो अंगों में ही वर्तमान रहती है।

आचार्य कुन्तक ने भाषा और अभिव्यक्ति के जिस समन्वय को काव्य माना है उसमें भी अर्थ-चमत्कार और अर्थ सौन्दर्य बना रहता है। वहां पर काव्य के लिये 'सौभाग्य' और 'लावण्य' इन दो शब्दों का प्रयोग है। सौभाग्य छन्दोमयी वाणी के आन्तरिक धर्म का बोधक है और लावण्य द्वारा उसकी बाह्य रमणीयता और सुन्दरता का ज्ञान होता है। इस प्रकार बाह्य और आन्तरिक दोनों पक्षों का बोध इन शब्दों द्वारा हो जाता है।

सौभाग्य के अन्तरीण धर्म के लिये लावण्य के बाह्य-सौन्दर्य को स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके मत में सौन्दर्य विषयीगत है। लावण्य के आधार से ही 'सौभाग्य' का स्फुरण होता है। सौन्दर्य की अनुभूति में विषय की सत्ता निर्विवाद है, फिर भी तज्जन्य आनन्द का उपभोग करने वाला ही उस सौन्दर्य को सार्थक करता है। अतः विषयी में ही सौन्दर्य की भावना माननी चाहिए। कुन्तक के 'लावण्य' का यह सौन्दर्य बोध आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त सौन्दर्य को अपने में पूर्णतः आत्मसात् नहीं कर पाता। उन्होंने वाक्य विन्यास में भी

धर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत–पृ० ६-७ गौतम बुक डिपो–दिल्ली सन् ६६५२

1 यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु। ध्वान्यालोक १/४

सौन्दर्य-बोध की बात 'बन्ध-सौन्दर्य सम्पदा' के कथन द्वारा की है, तथा शब्द और अर्थ सहित विचित्र विन्यास पर ही उनका काव्य अवलम्बित है।[1]

आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य के बाह्य आवरण में सौन्दर्य देखा है। उन्होंने उचित स्थान-विन्यास में सौन्दर्य को माना है।[2] क्षेमेन्द्र ने चमत्कृति की सिद्धि के लिये 'लावण्य' का प्रयोग किया है।[3] इसमें बताया गया है कि लावण्यहीन युवती निर्दोष का लेश होने पर भी किसके चित्त में उदित होती है। इन्होंने चमत्कार के दश भेदों में से अविचारित रमणीय और विचार्यमाण रमणीय चमत्कार का सम्बन्ध 'लावण्य' और 'रमणीय' से माना है। इस दृष्टि से **चमत्कृति और रमणीय** एक दूसरे के पर्याय कहे जायंगे। रस का सार हमारे यहां चमत्कार को ही माना गया है। 'रसे सारश्चमत्कारः।' अतः चमत्कार और रस का अविच्छिन्न सम्बन्ध माना जायगा। हमारे यहाँ चमत्कार की नवीनता का अर्थ है उस रचना की अनन्तता, अमेयता, अखण्डता और अभूत पूर्वता। यदि चमत्कार को हम रस का पर्याय मानें, तो सौन्दर्य की अनुभूति भी रसानुभूति के समान अनन्त, अमेय, अखण्ड और अपूर्व है। इससे स्पष्ट है है सौन्दर्य में 'नाविन्य' नामक गुण की महत्ता है। इस गुण की चर्चा अनेक मनीषियों ने की है।

जगन्नाथ का मत

पण्डित राज **जगन्नाथ** की सौन्दर्य विषयक मान्यता स्पष्ट है। उनका 'चिदाभरणभंग' इसी रहस्य के उद्घाटन के लिये है। इसमें चित्त पर पड़े हुए आवरण का भंग होकर रसानुभूति होने लगती है। यहाँ चमत्कार अनुभूति रूप में स्वीकृत है। इन्होंने सौन्दर्य में जिस चमत्कार को देखा है, वह **उनके मत से 'जाति-विशेष'** है।[4] यहाँ रमणीयता नामक चमत्कार आनन्द से

---

1 शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी:। कुन्तक

2 औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। उचितस्थानविन्यासादलं कृतिरलंकृतिः। औचित्यादच्युतानित्यं भवन्त्येव गुणागुणा:॥ औचित्य विचार चर्चा–श्लोक ५–६ हरिदास संस्कृत ग्रन्थ माला।

3 एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण काव्यं चमत्कृति पदेन विना सुवर्णम।
निर्दोष लेपमपि रोहति कस्य चितेलावण्य हीनमिव यौवनमंगनानाम्।
कविकण्ठाभरण ३/२

4 लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जाति विशेषः। कारणं च तदवच्छिन्नं भावना विशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा।

भिन्न है। यह अनुभूति का विषय है। यहां पर प्रयुक्त 'भावना विशेषः' वाक्यांश उद्‌बोधित संस्कार-विशिष्ट को व्यक्त करता है। इस प्रकार सौन्दर्य बोध मन में जागृत भावों का परिणाम है। दूसरे प्रयुक्त पद 'अनुसन्धानात्मक' द्वारा बताया गया है कि मन पर संस्कार रूप में पड़े भाव ही समान नई वस्तु के अवलोकन से आह्लाद की सृष्टि कर देते हैं। अतः प्राचीन भागवत संस्कार ही वर्तमान ज्ञान के संग भावात्मक संयोग से सौन्दर्य या रस व्यञ्जना या अभिव्यक्ति के कारण बनते हैं। इस दृष्टि से उनके सौन्दर्य बोध के दो पक्ष हो जाते हैं:—प्रथम द्वारा पुरातन संस्कारों का उद्‌बोधन होता है। 'पुनः पुनः अनुसन्धानात्मा भावना विशेषः।' द्वितीय पक्ष में नित नूतन आकर्षण और अनुसंधान की प्रवृत्ति बढ़ती है। इस दृष्टि से रमणीयता पार्थिव मात्र न रह कर आध्यात्मिक भी हो जाती है। सहृदय की आत्मा और पार्थिव वस्तु-जगत के सम्मिलन में ही सौन्दर्य की अनुभूति होती है। इस आधार पर निस्संकोच रूप में यह निर्णय दिया जा सकता है कि भाव के अभाव में केवल वस्तु सुन्दर नहीं हो सकती और वस्तु के अभाव में सौन्दर्य निराधार और अशरीरी होकर टिक नहीं सकता। ऐसी स्थिति में वह मात्र संस्कार ही रह जायगा।

पण्डित राज ने रमणीयता के साथ रस को स्वीकार किया है। काव्य स्वरूप निर्धारण में रमणीय तत्व को प्रधानता दी गई है। रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द ही काव्य माना गया है।[1] यहां रमणीय के अन्तर्गत सौन्दर्य को भी मान लिया गया है। भारतीय काव्य साधना में रस या रमणीयार्थ को सौन्दर्य-बोध का मूल स्वीकार किया गया है। इसका कारण भारत की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति प्रतीत होती है। इसी से पाश्चात्य मनीषियों के समान इन्होंने सौन्दर्य को बाह्य अलंकरण का साधन न मानते हुए रस-प्रतीति में इसे प्रमुख माना है।

भारत के अन्य आलंकारियों ने सौन्दर्य की अपेक्षा रस की महत्ता की ओर अधिक रुचि दिखाई है। रस की प्रधानता को मानकर रमणीयता और रस दोनों का पार्थक्य बताया गया है। जगन्नाथ के मत से यदि रस को ही

रस-गङ्गाधर पृ–१०–११, व्याख्याकर पण्डित मदनमोहन झा, १९५५ ई० चौखम्भा विद्या भवन–बनारस १।

१ रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। पृ० ९ रस गङ्गाधर।

काव्य मानें तो वस्तु और अलंकार वर्णन प्रधान रचना काव्य के अन्तर्गत नहीं आ सकती। दूसरी कमी यह होगी कि ऐसा मानने पर परम्परागत कवि परिपाटी में गड़बड़ी उत्पन्न हो जायगी क्योंकि कवियों ने जो स्थान-स्थान पर जल-प्रवाह, वेगादि का वर्णन किया है, यदि वे सभी रस से सम्बन्धित कर दिये जाँय, तो 'बैल दौड़ता है' जैसा वाक्य भी काव्य कहा जायगा, परन्तु ऐसा सम्भव न होने से इसे उचित नहीं कहा जा सकता है।[1]

पण्डित राज ने जिस सौन्दर्य को स्वीकार किया है उसके सम्बन्ध में बताया गया है कि विशिष्ट सामञ्जस्य अथवा विशेष परिचय बोध को ही सौन्दर्य कहेंगे। इसे न तो विशेषात्मक या विशिष्ट बोध कह कर ही इसका लक्षण स्थिर किया जा सकता है और न इसे लाल, नीला या हरा अथवा मधुर, तिक्त आदि बताकर ही इसका लक्षण दिया जा सकता है....सौन्दर्य बोध तो मन की एक विशिष्ट अनुभूति है। इसका **तटस्थ लक्षण** तो फिर भी देना सम्भव है, परन्तु **स्वरूप लक्षण** उपस्थित करना सम्भव नहीं है[2]। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि हमारे मन में स्थित संस्कार देश काल पात्रादि से सम्बद्ध होकर उत्तेजक वस्तु के साक्षात्कार से उद्बुद्ध हो जाते हैं। ऐसी उद्दीपक सामग्री के द्वारा उद्बुद्ध उपचेतन में स्थित संस्कारों का जो आत्म लाभ है, उसे सौन्दर्य मान सकते हैं। इसमें उद्दीपक एवं उद्दीप्त संस्कार दोनों की ही महत्ता है। इस पर विचार करते हुए डा० दीक्षित ने कहा है कि इसी कारण जहाँ एक ओर हम सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी विशिष्ट जातीय अनिर्वचनीय अन्तर बोध हर्ष को ग्रहण करते हैं, वहाँ साथ ही वस्तु को भी सुन्दर कहते हैं अर्थात् सौन्दर्य से एक ओर संस्कारों का उद्बोध ज्ञान होता है और दूसरी ओर उद्-बोधक सामग्री की प्रतीति भी रहती है।[3] इस प्रकार सौन्दर्य बोध के समय

---

1 सौन्दर्य तत्व डा. सुरेन्द्रदास गुप्ता अनु. डा. आ० प्र० दीक्षित पृ. ६९–७०

2 यत्तु रसवदेव काव्यमिति साहित्यदर्पणे निर्णीतम् तन्न। रसवदलंकार प्रधानानाम् काव्यानाम् अकाव्यत्वापत्ते। न चेष्टापत्तिः। महाकवि सम्प्रदायस्य आकुलीभाव प्रसंगात्। तथा च जलप्रवाहवेगपतनोत्पतने भ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कोऽपि बालादि विलसितानि च। न च तत्रापि यथा कथंचित परम्परया रस स्पर्शोऽस्त्येव इति वाच्यम्। ईदृशो रसस्पर्शस्य गौश्चलति मृगोधावति इत्यादौ अतिप्रसक्तत्वेन अप्रयोजकत्वात्। अर्थ मात्रस्यविभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वात्॥

3 सौन्दर्य तत्व अनु० डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित पृ० १०४–१०५

हमने वस्तु को जान लिया है यह ज्ञान भी बना रहता है अर्थात् सौन्दर्य बोध में सौन्दर्य और उसके विषय दोनों की युगपत् प्रतीति होती रहती है। न्याय दर्शन इसी तत्व को 'प्रामाण्य वाद' के अन्तर्गत स्पष्ट करता है। इनमें वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता का ज्ञान और बाद में उस ज्ञान का ज्ञान होना है। अर्थात् 'वस्तु है' तथा 'मैंने इस वस्तु को जान लिया' इस प्रकार इसमें ज्ञान की दो श्रेणियां होती हैं।

आचार्य ने जिस रमणीयता को स्वीकार किया है, उसका स्पष्टीकरण भी वहीं कर दिया गया है "रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता" अर्थात् "लोकोत्तरस्यालौकिकस्य आह्लादस्यानन्दस्य, जनकमुत्पादकं यज्ज्ञानं, तद्गोचरतातन्निरूपितविषयता रूपाऽर्थ निष्ठा रमणीयतेत्यर्थः।[1] यहाँ जिस लोकोत्तर आनन्द की बात कही गई है, इसे केवल अनुभव द्वारा ही समझा जा सकता है। साहित्य दर्पणकार **विश्वनाथ** ने भी इसका समर्थन किया है कि 'सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्'। इस प्रकार चित्त पर पड़े हुए संस्कार का अनुसंधान जिस चमत्कार को उत्पन्न करता है, वह अलौकिक है। इसे दो रूपों में ग्रहण करेंगे।

(१) रमणीयता या सौन्दर्य का स्वरूप लोकोत्तर होने से इसकी अलोक सामान्य स्थिति है।

(२) यह चमत्कार ज्ञान, आह्लाद तथा क्रिया-वृत्ति का संश्लिष्ट रूप उपस्थित करता है।

इस स्थल पर ध्यान देने की एक बात यह है कि रमणीयता का यह आनन्द व्यक्तिगत सुख-दुःख-जन्य सांसारिक प्रयोजन की तृप्ति के आनन्द से भिन्न होता है इसी कारण यह रमणीय भी है। इस दृष्टि से इस आनन्द प्राप्ति की तीन उत्तरोत्तर श्रेणियां मानी जा सकती हैं:—(१) किसी चमत्कार युक्त रचना द्वारा किसी विषय का अभिव्यञ्जित होना। (२) इस अभिव्यञ्जना से ज्ञान की सक्रियता। (३) आनन्द की प्राप्ति। इससे स्पष्ट हो जाता है कि किसी माध्यम द्वारा कथित विषय की अभिव्यक्ति से आनन्द की उपलब्धि हो पाती है। काव्य के लिये इस माध्यम के साथ अर्थ की महत्ता भी रहती है। इसी से अपना निर्णय देते हुए **जगन्नाथ** ने बताया है कि इस प्रकार लोकोत्तर आह्लाद का जनक भाव के अर्थ के प्रतिपादक शब्द में काव्य है। यह रमणीयता

---

[1] रस गङ्गाधर। पृ० १० व्याख्याकार-बदरीनाथ झा। चौखम्भा विद्याभवन बनारस सं० १०११

का आधार लेता है और यही लोकोत्तर आह्लाद सौन्दर्य-जनक है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि काव्य का रस सौन्दर्य की अनुभूति ही है। वस्तु दर्शन का विषय होकर शब्दों के माध्यम से जब रमणीय और चमत्कार युक्त रूप में अभिव्यक्त हो जाता है, तो वही काव्य संज्ञा को धारण करता है। सुन्दर भाव या वस्तु ही अन्तर्मन की चेतना से सम्बद्ध हो संस्कारों के उद्बुद्ध होने पर सत्व का उद्रेक कर देता है। यही जब अभिव्यञ्जनात्मक सौन्दर्य का माहात्म्य पा लेता है तो सुन्दर हो जाता है। इस प्रकार भारतीय काव्य शास्त्र की सौन्दर्य चेतना मन की चेतनापूर्ण सत्ता अथवा चेतन अंश के स्वीकार से अन्तर्मुखी ही मानी जायगी, पाश्चात्यों के समान बहिर्मुखी नहीं।

यहीं पर सौन्दर्य शब्द के अन्य अर्थों पर भी विचार कर लेना चाहिए इसके विभिन्न प्रयोगों का निर्देश निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है।

(क) **व्युत्पत्तिगत अर्थ**—(१) सौन्दर्य शब्द की रचना 'सुन्दर' विशेषण से भाव अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय लगाकर हुई है। सुन्दर + ष्यञ् (य) अर्थात् सुन्दरस्य भावः सौन्दर्यः। इसमें 'सुन्दर' के आदि उ को औ तथा अन्त्य अकार का लोप होकर सौन्दर् + य → से 'सौन्दर्य' शब्द निष्पन्न हो जाता है।

(२) सुन्द् पूर्वक रा धातु (आदाने → लाना) में औणादिक अन् प्रत्यय से 'सुन्दर' शब्द बनता है तथा 'गुण वचन ब्राह्मणादिभ्यः ष्यञ्' सूत्र से 'ष्यञ्' (य) लगने से 'सौन्दर्य' शब्द बनता है। 'सुन्दं राति इति सुन्दरः तस्य भावः सौन्दर्यः। अथवा सुष्ठु नन्दयति इति सुन्दरः तस्य भावः सौन्दर्यः मानकर अच्छी प्रकार से प्रसन्न करने के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग होता है।

(ख) **कोशगत अर्थ**—(१) वाचस्पत्य कोश के अनुसार 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'उन्द्' धातु से 'अरन्' प्रत्यय जोड़कर यह शब्द बनता है। 'सु' अर्थात् (अच्छी प्रकार) 'उन्द्' (आर्द्र करना) से अरन् प्रत्यय जोड़कर यह शब्द निष्पन्न हुआ है। इस रचना से इसका व्युत्पत्ति मूलक अर्थ 'अच्छी प्रकार आर्द्र या सरस करना' होगा। सुन्दरता में चित्त को सरस बना देने की क्षमता रहती है।

(२) हलायुध कोश में 'सुन्दर' शब्द के कई अर्थ हैं। 'सुष्ठु उनत्ति-आर्द्री करोति चित्तमिति।' अर्थात् जो चित्त को अच्छी प्रकार आर्द्र कर दे, उसे सुन्दर कहेंगे। यहाँ पर इस शब्द की व्युत्पत्ति 'सु' पूर्वक उन्दी (क्लेदने) और 'अर्' प्रत्यय लगाकर की गयी है। इस शब्द को स्पष्ट करने के लिये

पर्याय रूप में जिन अन्य शब्दों[1] का प्रयोग हुआ है, कोशकार की दृष्टि में वे सभी शब्द समानार्थक हैं।

(ग) **अन्य अर्थ**—'सुष्ठु नन्दयति इति सुन्दरः तस्य भावः सौन्दर्यः' मानकर अच्छी प्रकार प्रसन्न करने के अर्थ में इसका प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार सौन्दर्य में आनन्द देने का गुण वर्तमान रहता है।

संस्कृत कवियों का मत—

संस्कृत साहित्य के अन्य विद्वानों एवं कवियों के विचारों को ग्रहण करना समीचीन नहीं होगा। अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वाल्मीकि, कालिदास माघ, भारवि, भास, बाण आदि की सौन्दर्य चेतना अधिक जागरूक रही है। कालिदास तो प्रेम और सौन्दर्य के कवि ही है। बाण की कल्पना उनकी सौन्दर्य वृत्ति की परिचायिका है। क्रमशः सौन्दर्य विषयक इन कवियों की मान्यता पर भी ध्यान दिया जायगा।

संस्कृत साहित्य के आदि लौकिक ग्रन्थकार वाल्मीकि का अन्तः विश्लेषण करने से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है कि तपलीन वाल्मीकि के समक्ष काम-रत क्रौंच मिथुन में से एक का निषाद द्वारा वध किये जाने पर उनके मुख से जिस श्लोक-बद्ध वाणी का निस्सरण हुआ, उसका विचार स्वयं उन्हें भी विस्मय-विमूढ़ बनाने में समर्थ सिद्ध हुआ। वे बार-बार उस श्लोक का उच्चारण करते हुए भाव-विभोर हो गये। उस रस-विह्वल दशा में उन्होंने कहा था कि "अहो गीतस्य माधुर्यम्' और इसे सुनकर मुनिगण भी 'बाष्प पर्याकुल नेत्र वाले हो गये थे।'[2] यदि उस स्थिति का विश्लेषण करें तो स्पष्ट है कि विह्वलता-जन्य अश्रु-बिन्दुओं का आविर्भाव, गति के माधुर्य के सम्बन्ध में मन के सहज उद्‌गार अतः मूल रूप में सौन्दर्य मूलक वृत्ति के ही परिचायक हैं। अतः लौकिक काव्य में सौन्दर्य-शास्त्र के मूलभूत तत्व 'माधुर्य' का प्रारम्भ वाल्मीकि रामायण से ही समझना चाहिए।

कालिदास की सौन्दर्य चेतना अत्यधिक विकसित थी। उन्होंने सौन्दर्य को सभी अवस्थाओं में रूप का पोषक माना है। मनोहर आकृति वालों को कोई भी वस्तु शोभा विधायक हो जाती है।[3] प्रसिद्ध प्रसाधन के अभाव में

---

[1] हलायुद्ध कोश पृ० ७१४

[2] तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे बाष्पपर्याकुलेक्षणाः —वाल्मीकि रामायण।

[3] सर्वावस्थासु रमणीयत्वमाकृति विशेषाणाम् । शाकुन्तलम् अंक ६
(ii) 'सर्वावस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्णाति।' ,, अंक २
(iii) 'सर्वावस्थासु अनवद्यता रूपस्य।' मालविकाग्नि मित्र

भी ऐसी आकृति वालों की शोभा बढ़ती ही है। इसी में वल्कल द्वारा शकुन्तला का सौन्दर्य और बढ़ जाता है।[1] भास ने भी बताया है कि सुरूप लोगों के लिये सभी वस्तु अलंकार हो जाते हैं।[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुरूप व्यक्ति या वस्तु की सुन्दरता स्वतः सिद्ध है, उसके लिये बाह्य साधनों की अनिवार्यता नहीं है। प्रसिद्ध मण्डनों के अभाव में भी सौन्दर्य वृद्धिगत ही होता है। यहाँ सौन्दर्य की प्राकृतिक सत्ता का समर्थन मिलता है। ऐसा सौंदर्य मन को पापवृत्ति की ओर कभी भी नहीं ले जा सकता है।[3] इससे स्पष्ट है सौन्दर्य में सात्विकता उत्पन्न करने की क्षमता रहती है। इसमें मधुर एवं मनोहर आकृति की सुडौलता बनी रहती है। यह सौन्दर्य इसी कारण ईश्वर द्वारा प्रतिष्ठित, आध्यात्मिक और अभौतिक भी है। कालिदास ने हारमोनी और सीमेट्री को भी 'सर्व द्रव्य समुच्चय और यथा प्रदेश-विनिवेश' शब्द द्वारा व्यक्त किया है। जिसे पाश्चात्य सौंदर्य शास्त्री सौंदर्य के अवयव के रूप में स्वीकार करते हैं।

कालिदास के सौन्दर्य की पूर्णता उपेक्षणीय नहीं है। पार्वती के सृजन में 'जग की रचना करने वाले ब्रह्मा ने सभी उपमान द्रव्यों के समुच्चय से उन्हें यथा स्थान विनिवेशित करके एक ही स्थान पर सौन्दर्य की पूर्णता को देखने की इच्छा से यत्नपूर्वक उसका निर्माण किया है।'[4] यही कारण है कि रूप और सौंदर्य इनकी दृष्टि में सभी अवस्थाओं में प्रिय और आकर्षक बना रहता है। एक अन्य स्थल पर पार्वती के स्वरूप वर्णन में सूर्य और अरविन्द को प्रस्तुत करके सौंदर्य सिद्धि के लिये व्यक्ति और वस्तु के सामञ्जस्य का रहस्योन्मीलन किया गया है।[5] यहाँ पर सौन्दर्य के अधिष्ठान की चर्चा की गई है और विषय तथा विषयी दोनों के समन्वय में सौन्दर्य को स्वीकार किया गया है।

---

1 इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणांमण्डनं आकृतिनाम्। शाकुन्तलम्

2 सर्वमलंकारो भवति सुरूपाणाम्। भास नाटक चक्रम्। पृ० १२६

3 यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः। कु.सं. ५/३६

4 सर्वोपमा द्रव्य समुच्चयेन यथा प्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थ सौंदर्य दिदृक्षयेव। कु० सं० १/४६

5 उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम्, सूर्यांशुभिरभिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याः चतुरस्रशोभी, वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥

सौन्दर्य की नित-नूतनता के सम्बन्ध में भी इनका अपना विचार है। यह प्रतिक्षण बदलता ही रहता है। मालविकाग्निमित्र में इस विचार का एक अच्छा उदाहरण मिल जाता है। इस नाटक का एक पात्र नाट्याचार्य गणदास कहता है कि यह राजा मेरा परिचित नहीं है, ऐसा नहीं है। वहाँ मेरा जाना अगम्य भी नहीं है। इसके समीप मैं चकित हो जाता हूँ, क्योंकि यह मेरे नेत्रों को प्रतिक्षण नवीन प्रतीत होता रहता है।[1]

माघ की सौन्दर्य कल्पना भी इसी प्रकार की है। इनके विचार से क्षण-क्षण में जो नवीनता को धारण करता है, उसे ही रमणीय रूप कहते हैं।[2] यह सौन्दर्य वस्तु का आन्तरिक गुण होने से वस्तु-निष्ठ हो जाता है। माघ के रमणीय रूप की इस व्याख्या से तीन बातों का ज्ञान होता है (१) सौन्दर्य के रूप को ग्रहण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह प्रतिक्षण बदलता रहता है और उसमें नवीनता आती रहती है इससे वह अग्राह्यता के कारण निश्चित रूप वाला नहीं हो पाता है।

(२) सौन्दर्यपूर्ण वस्तुओं के दर्शन में अतृप्ति का भाव बना रहता है। सौन्दर्य का मूल भाव वास्तव में यही है और इस रूप में पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र में इसकी चर्चा नहीं मिलती है। प्रतिक्षण की नवीनता का यह वर्णन केवल भारतीय परम्परा में ही प्राप्त है। इसकी विशेषता यही है कि नित्य नूतन तथा अपनी परिवर्तनशीलता में भी आकर्षक है। यही लावण्य का मूल है।

माघ के इस विचार की तीसरी विशेषता यह है कि सौन्दर्य धर्म, वर्ण और आकार की सीमाओं का उल्लंघन करके अपनी सूक्ष्मता और अग्राह्यता से प्रेक्षक को चमत्कृत कर देता है। भारवि के मत से रम्य वस्तुएँ गुण की अपेक्षा नहीं करती। इस दृष्टि है रम्यता भी निरपेक्ष सिद्ध होती है।[3] सौन्दर्य की पराकाष्ठा का वर्णन भवभूति ने 'मालती-माधवम्' में किया है। मालती सौन्दर्य की निधि या देवता है सौन्दर्य के सार का निकेतन है, इसके निर्माण में निश्चय ही इन्दु सुधा, मृणाल, ज्योत्स्ना आदि का उपकरण लिया गया है

---

1 न च न परिचितो न चाप्यगम्यः चकितमुपैति तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवनवोऽयमक्ष्णोः। मालवि०

2 क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। शिशुपाल वध ४/१७

3 न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्। किरातार्जुनीयम् ४/२३

और इसका निर्माण करता स्वयं कामदेव है।[1] इस प्रकार कवि परम्परा में प्रसिद्ध सौन्दर्य के सर्वोत्तम साधन एवं तत्वों के संग्रह से उसे उच्चतम रूप में प्रस्तुत किये जाने की चेष्टा की गई है। इसे सौन्दर्य की पूर्ण कल्पना कह सकते हैं।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत कवियों ने सौन्दर्य के यथातथ्य चित्रण में अपनी असमर्थता व्यक्त की है। उनके मन में इसकी पूर्णता का बोध तो बार-बार होता रहा है, फिर भी वे उसे शब्दों में नहीं बांध पाते थे। इन कवियों ने सौन्दर्य के पराश्रय-निरपेक्षता, नित-नूतनता, पूर्णता, आनन्दात्मकता आदि गुणों का वर्णन किया है। इनकी सौन्दर्य-कल्पना अद्वितीय और स्वतः सिद्ध है। इसके लिए किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं है। सौन्दर्य के पर्याय के रूप में यहां कई शब्द मिलते हैं। यथा सुन्दर के लिए शोभन, विचित्र चित्रमय के लिए पेशल और आनन्दमय के लिये रमणीय तथा रूपवान् के लिये चारु जैसे पर्यायों का प्रयोग किया गया है। सौन्दर्य की वस्तु निष्ठता में इन कवियों का विश्वास बना हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि सौन्दर्य-शास्त्र नाम से स्वतंत्र रूप में सौन्दर्य की व्याख्या तो नहीं हो पाई है, परन्तु प्रसंगतः सौन्दर्य सम्बन्धी सभी आवश्यक तत्वों का विवेचन संस्कृत साहित्य में प्राप्त होता है। यदि इन सभी विचारों को संगृहीत कर दिया जाय, तो यह एक शास्त्र का रूप-ग्रहण कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और शृंगार मूलक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। दार्शनिक व्याख्या द्वारा सौन्दर्यानुभव में जन्मान्तर के संस्कारों की महत्ता स्वीकार की गई है। वस्तु-सौन्दर्य के साथ चित्त पर पड़े संस्कारों से ही उसके सौन्दर्य का अनुभव होता है। इस संस्कार से रहित होकर केवल वस्तुगत सौन्दर्य अनुभविता के अभाव में व्यर्थ हो जाता है। मनोवैज्ञानिक व्याख्या में सौन्दर्य बोध के लिये आकर्षण, रुचि-प्रियता, आकांक्षा-तृप्ति, और वासना का महत्व स्वीकार किया गया है। शृंगार मूलक विवेचन में वस्तु का सौन्दर्य, प्रकृति का साहचर्य, सौन्दर्य की वीर्य-विक्षोभन-शक्ति, लावण्य, प्रतिक्षण की भासमान नवलता, अवस्था-निरपेक्ष रमणीयत्व, पूर्णत्व, आत्म-निर्भरत्व आदि तत्वों

---

[1] सा रामणीयकनिधेरधि देवता वा। सौन्दर्यसारनिकाय निकेतनं वा।
तस्याः सखे नियतमिन्दुसुधा मृणाल ज्योत्स्नादि कारणमभून्मदनश्च वेधाः।
मालती-माधवम्-भवभूति

की चर्चा की गई है। सौन्दर्य की स्थिरता के लिये प्राकृतिक, मानवकृत एवं स्वर्गिक उपकरणों का प्रयोग भी बताया गया है। इन्हीं प्रवृत्तियों का आधार लेकर रूप में सौन्दर्य को देखने की चेष्टा की गई है।

अतः यह कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य में सौन्दर्य की जो कल्पना की गई है, वह रूप पर आधारित है। रूप में आकार एवं विभिन्न अंगों के उचित संगठन आदि का सौन्दर्य रहता है। यह रूप वाह्य प्रसाधनों के अभाव में भी स्वतः संभवी रमणीयता से उद्भासित होता रहता है। इसमें रूप के नैसर्गिक गुणों का समर्थन मिलता है, अर्जित सौन्दर्य की रुचि कम दीख पड़ती है। यहीं पर हिन्दी के विद्वानों की सौन्दर्य-विषयक मान्यता भी देख लेनी चाहिए।

हिन्दी कवियों का मत

सौन्दर्य-विषयक हिन्दी कवियों की अपनी अलग मान्यताएँ हैं। बिहारी की धारणा इस सम्बन्ध में प्रमुखतः दो रूपों में दीख पड़ती है। प्रथमतः वे वस्तु में रूप अथवा कुरूप को नहीं मानते हैं। उनके विचार से वस्तु में रूप अथवा कुरूप नहीं होता, अपितु समय-समय पर मन की रुचि के अनुसार ही वस्तु प्रिय अथवा अप्रिय प्रतीत होती है।[1] इस विचार का विश्लेषण करने से स्पष्ट है कि बिहारी ने सौन्दर्य के आत्म-परक दृष्टिकोण का समर्थन किया है। सौन्दर्य को विषय-प्रधान न मानकर विषयी प्रधान माना है और सौन्दर्यानुभूति में व्यक्ति की भावना का महत्व स्वीकार किया गया है। इस प्रकार यह सौन्दर्य आत्म-परक हो जाता है। वास्तव में आँखों में ही सौन्दर्य का मान दण्ड है। वह परख की जाने वाली वस्तु या व्यक्ति में नहीं होता। एक दूसरे स्थल पर उन्होंने रूप को रिझाने वाला और नेत्रों को रिझने वाला बताया है।[2] यहाँ यदि रूप, जो सौन्दर्य का समानार्थक प्रतीत होता है, ही रिझाने वाला हुआ तो यह वस्तुनिष्ठ भावना हो जाती है। इसमें रूप या सौन्दर्य की ही प्रधानता मानी गई है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे की प्रतिकूल धारणाएँ हैं। भावना के आवेश में ही इस प्रकार की विरोधी प्रवृत्ति दीख पड़ती है, फिर भी इससे सौन्दर्य-विषयक उनकी उच्च-धारणा में कोई अन्तर नहीं आता।

---

1 समय-समय सुन्दर सबै, रूप-कुरूप न कोय।
मन की जित जेती रुचि, तित तेती रुचि होय॥ बिहारी-रत्नाकर ४३२

2 रूप-रिझावन हार वो, ये नैना रिझवार।

संस्कृत कवियों की भाँति इनकी सौन्दर्य कल्पना भी बहुत उच्च-कोटि की है। वास्तविक सौन्दर्य का अंकन तो संसार का बड़े से बड़ा कलाकार भी नहीं कर सकता है। बिहारी की नायिका के सौन्दर्य को चित्रित करने में 'जगत् के केते चतुर चितेरे कूर' हो जाते हैं।[1] इसका कारण सौन्दर्य की प्रतिक्षण की नूतनता और रमणीयता है। **दास** की नायिका भी 'भोर में और, पहर में और दोपहर में और ही हो जाती है।[2] मतिराम की कल्पना में पास से देखने पर 'गुराई' खरी दीख पड़ने लगती है।[3] पद्माकर ने अंगों के पल-पल में बदलते रहने की बात कही है। इसी से ऐसी बाला का वर्णन करते नहीं बनता है :—

पल-पल में पलटन लगे, जाके अंग अनूप।
ऐसी इक ब्रजबाल को, कहि नहि सकत सरूप॥

यहाँ उनका वस्तु-परक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है जिसमें सामीप्य भी एक आवश्यक तत्व हो जाता है। इनकी सौन्दर्य दृष्टि का माधुर्य परिचिति की सान्द्रता में स्पष्ट हो जाता है। **कुलपति मिश्र** ने राधा की 'लुनाई' की सरसता को कल्पना की मधुरिम जगत् में परिणित कर दिया है। सूर की गोपियाँ कृष्ण से पहचान मानती ही नहीं हैं, क्योंकि उनका रूप-निमिष-निमिष में और हो जाता है। अतः रूप की एक निश्चित धारणा के अभाव में छवि की रति नहीं हो पाती।[4]

तुलसी की सौन्दर्य चर्चा भी द्रष्टव्य है। उन्होंने **मनोहर** शब्द का प्रयोग बार-बार किया है। उनके मति के अनुसार राम की कथा 'मनोहर' है। 'करइ मनोहर मति अनुसारी।' काव्य में वाल्मीकि ने **माधुर्य**, आचार्य जगन्नाथ ने **रमणीय** का प्रयोग अधिक किया है। इसी प्रकार तुलसी ने उसी अर्थ में '**मनोहर**' शब्द का प्रयोग किया है। इस मनोहरता के साथ

---

1 लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर, चितेरे कूर। बिहारी

2 आज भोर औरई, पहर होत औरई ह्वै, दोपहर औरई,
रजनि होत औरई। दास

3 ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि,
त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई। मतिराम

4 स्याम सो काहे की पहचानि।
निमिष-निमिष वह रूप न वह छवि, रति कीजै जेहि आनि। सूर

मंगलकारिता के गुण को भी उन्होंने माना है। 'मधुर मनोहर मंगलकारी।' रामचरितमानस में वर्णित विभिन्न घाटों को 'मनोहर' कहा है, उपमाओं का विचि-विलास मनोहर है, चौपाइयां 'चारु' हैं, कवि-युक्तियों में 'मञ्जुता' है। छन्द, सोरठा, दोहा ये सभी 'सुन्दर' हैं, अर्थ 'अनूप' हैं।[1] तुलसी के छन्दों की विवेचना मात्राओं आदि की न होकर उनके प्रति विशेष अभिव्यंजनाओं में है। छंद विभिन्न रंग के कमलों के तुल्य माने गये हैं। यह अर्थ फूलों के पराग, मकरंद, सुवास आदि के समान चित्त को आह्लादित करता है। अतः मधुर, मनोहर, मञ्जु, चारु आदि शब्दों का प्रयोग उनकी सौन्दर्य-वृत्ति को ही प्रकट करता है।

आधुनिक युग में जयशंकर प्रसाद ने सौन्दर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान कहा है।[2] यदि सौन्दर्य का सम्बन्ध चेतना से है, तो यह मानसिक जगत की वस्तु है। अतः प्रसाद को आत्मवादी दृष्टिकोण वाला कहा जायगा। पंत ने सुन्दरता को सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का सन्धान बताया है।[3] मैथिलीशरण गुप्त ने शिवरूप सत्य को विरूपाक्ष और कल्पना के मन को सुन्दरार्थ कहा है।[4]

उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्य का विवेचन स्वतंत्र शीर्षक से न होकर काव्य-रस या रमणीयार्थ के प्रसंग पर हुआ है। काव्य-ग्रन्थों में भी इसे स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त नहीं हो सका है। आज के अर्थ में सौन्दर्य शब्द का विवेचन भी नहीं होता था। आज तो इसे काव्य का प्राण मानते हैं। इसका मूल अलफातू और अरस्तू का काव्य-सिद्धान्त माना जाता है। क्रोचे की आधुनिक विचारधारा का प्रभाव भी उपेक्षणीय नहीं है। इस सम्बन्ध में डा० विजयेन्द्र स्नातक का मत द्रष्टव्य है, "अलफात्" का 'दी ट्रू, गुड एण्ड दि ब्युटिफुल के रूप में जिस ब्युटिफुल का संकेत किया है, वह सुन्दर की भूमिका में सामने आया और उसका बाह्य एवं आभ्यन्तर स्वरूप का आख्यान आरम्भ हुआ। ईसा की उन्नीसवीं शती के

---

1 छंद-सोरठा सुन्दर दोहा। सोई बहुरंग कमल कुल सोहा।
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोई पराग मकरंद सुबासा। तुलसी

2 उज्जल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं—
जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं। कामायनी-लज्जा सर्ग

3 अकेली सुन्दरता कल्याणि, सकल ऐश्वर्यों की सन्धान—पल्लव—पृ. ५४ पन्त

4 सत्य सदा शिव होने पर भी विरूपाक्ष भी होता है।
और कल्पना का मन केवल, सुन्दरार्थ ही होता है। मैथिलीशरण गुप्त

अन्तिम चरण में सत्यं शिवं, सुन्दरम् के रूप में जो सिद्धान्त वाक्य बंगला भाषा से हिन्दी में आया, वह भी कदाचित् पाश्चात्य मीमांसकों की विचार धारा से ही नहीं, वरन् शब्दावली से भी प्रभावित था।[1]

स्पष्ट है कि भारतीय काव्य शास्त्रज्ञ सौन्दर्यानुभूति में मन के चेतन अंश की महत्ता को स्वीकार करता है। इससे यह अन्तर्मुखी है, साहित्य में सौन्दर्य का आरम्भ शब्द की जिज्ञासा के साथ स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि आत्मा की जिज्ञासा सहज एवं स्वाभाविक है। यह सौन्दर्यानुभूति शब्दार्थ के माध्यम से भाव-जगत् की निधि बनकर सौन्दर्य का परिष्कृत रूप हमारे समक्ष लाती है जिसे लक्ष्य करके सौन्दर्य का बोध हो, वही वस्तु सुन्दर है। वह शब्द, भाव, कवि या कलाकार की सृष्टि कुछ भी हो सकती है। वस्तु तभी सुन्दर कही जाती है, जब उपचेतन के संस्कार उद्बुद्ध होने पर मन की एक विशेष स्थिति बन जाती है। यही स्थिति सत्वोद्रेक की भाव-भूमि है। सच तो यह है कि कलात्मक अभिरुचि जिनमें है, वे सभी सौन्दर्य के पारखी हैं और सहृदय भावों को प्रेषणीय बनाने के साथ ही अव्यक्त कलागत सौन्दर्य को देखता और परखता भी है।[2] ऐसे सौन्दर्य की तीन कोटियां हो सकती है (१) देखते ही लुब्ध कर लेने वाला सौन्दर्य। ऐसा वर्णन सूर ने एक स्थल पर अच्छा किया है।[3] (२) दैनिक व्यवहारों में दीख पड़ने वाला सौन्दर्य, जिसका महत्व परिचय की अधिकता से चेतन दशा तक नहीं पहुँच पाता या वह वस्तु-विशेष चर्चा की विषय नहीं बनती। बहुधा सम्बन्ध भावना की मधुरता के अभाव में ही वस्तुगत सौन्दर्य का अभाव सा रहता है। यदि वही वस्तु हमसे सम्बन्धित हो जाय तो उसके सौन्दर्य का अलौकिकत्व प्रकट होने लग जाता है। (३) मध्यवर्ती सौन्दर्य-यही काव्य का प्रेरक हो सकता है, क्योंकि वस्तु में सम्बन्ध रहने से या तो

---

1 हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य-भूमिका भाग डा० विजयेन्द्र स्नातक।

2 Every man is an artist not only in that he conveys his impressions to others by language but becaue he perceives the beauty of world and of art each of which he must create or recreate for himself since neither speaks to the animal. Carritt.

3 औचक ही देखी तहाँ राधा, नैन विशाल भाल दिये रोरी।
नील-बसन फरिया कटि बांधे, बेनी रुचिर भाल झकझोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी। सूर सागर।

वह अलौकिक हो जायगा या भाव संवलित होकर हमारे समक्ष प्रस्तुत होगा। मध्यवर्ती स्थिति में वस्तु का वास्तविक मूल्यांकन सम्भव होता है। ऐसी वस्तु सौन्दर्य युक्त होकर हमारे समक्ष आती है। इस सौन्दर्य के अनेक तत्व स्वीकार किये गये हैं। इसकी व्याख्या करने के पूर्व सुन्दर शब्द के साथ उदात्त और कुरूप के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण होगा।

सुन्दर और उदात्त—

सौन्दर्य आत्मा का धर्म है। वस्तु के साथ मन का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर तथाकथित असुन्दर वस्तु भी सुन्दर प्रतीत होने लगती है। ऐसी वस्तुओं में मन या आत्मा के विभिन्न गुण अनन्तता, विशालता आदि के दर्शन होने लगते हैं। यहाँ तक कि प्रकृति का विशाल रूप भी हमारे आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। इस आकर्षण के साथ सौन्दर्य के अन्य भी कई तत्व—**नवीनता, माधुर्य, रमणीयता, आह्लादकता**—आदि की चर्चा की गई है। प्रकृति की इस विशालता को देखकर उसकी महानता को हम स्वीकार कर लेते हैं। हमारी मौन-स्वीकृति उस विशालता के समक्ष अपनी लघुता को व्यक्त करने लग जाती है। विशालता और आत्म-लघुता के इसी भाव में उदात्त-तत्व छिपा रहता है।

आत्मा की विशालता में उदात्त-तत्व निहित रहता है। **उदात्त-बोध** के अवसर पर दृश्य वस्तु में भय का मिश्रण और तज्जन्य आतंक की विभीषिका के साथ अपनी लघुता का बोध भी तुलनात्मक दृष्टि से बना रहता है। काव्यों में वर्णित विराट घटनाएँ, जीवन का विराट् राग-द्वेष, त्याग और वीरता आदि सभी विराट् के किसी रूप की अभिव्यञ्जना करते हैं। उत्तुंग पर्वत श्रेणियाँ, महासागर की गहनता एवं विस्तार, कान्तार की भयावह गुफायें तथा इसी प्रकार के अन्य विराट् वस्तुओं में उदात्त के भाव उत्पन्न होते हैं। यह उदात्त-तत्व सुन्दर से भिन्न होता हुआ भी उसके भेदों में एक है।

सुन्दर का विश्लेषण करते हुए उसके पाँच भेद किये गये हैं। **उदात्त** (Sublime), **भव्य** (Grand), **सुन्दर** (Beautiful), **मनोरम** (सुष्ठु—GraceFul) और **ललित** (Pretty)। इनमें उदात्त को पराकोटि और ललित को अपराकोटि बताया गया है। सुन्दर की मध्यवर्ती स्थिति स्वीकार की गई है। इसकी स्थिति बहुत कुछ प्रसाद गुण की सी मानी गई है। सुन्दर तत्व एक ओर उदात्त और भव्य में और दूसरी ओर मनोरम और ललित में मूलतः वर्तमान रहता है। भाव पक्ष में उदात्त की अनुभूति चित्त के उत्कर्ष और विस्तार के रूप में होती है। आलम्बन और प्रमाता के बीच एक सुखद

सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। सुन्दर की **अनुभूति प्रीति के रूप में होती है।**[1]

उदात्त शब्द का प्रयोग नायक-विश्लेषण प्रसंग पर भी नाट्यशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में किया गया है। नायक या नेता के चार भेद धीर ललित, प्रशान्त, उदात्त और उद्धत बताये गये हैं। इन चारों भेदों में वीरता का गुण अनिवार्य रूप में वर्तमान है। धीरोदात्त कोटि का नायक महासत्व, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर, निगूढ़ अहंकार वाला और दृढ़व्रत होता है।[2] इन विशेषताओं में गम्भीरता को अत्यधिक महत्ता स्वीकार की गई है। एक अन्य स्थल पर लोकातिशय सम्पत्ति वर्णन या प्रस्तुत के अंग रूप में महापुरुष का चरित्र सुनना ही उदात्त बताया गया है। 'लोकातिशय सम्पत्ति वर्णनोदात्तमुच्यते। यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत्।" यहां पर महापुरुष के कथन द्वारा भी लोकोत्तर विशाल चरित्र की व्यञ्जना की गई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उदात्त में महानता का होना आवश्यक है, परन्तु वैभव सम्पन्न ऐश्वर्य युक्त राज दरबार का वर्णन उदात्त की श्रेणी में नहीं आयेगा।

सुन्दर को ललित और उदात्त की मध्यवर्ती स्थिति में माना गया है। 'ललित' शब्द की चर्चा कई स्थलों पर हुई है। धीर ललित नायक को निश्चिन्त, कलाओं में आसक्त, सुखी और कोमल चित्त का बताया गया है। शृंगार की प्रधानता के कारण उनके आचार-व्यवहार और चित्त की वृत्तियों में सुकुमारता होती है। वह मृदु होता है। नायक के आठ सात्विक गुणों में भी 'ललित' की गणना की गई है। स्वाभाविक शृंगार और आकार की चेष्टा करने को ललित कहते हैं।[3] नायिका के स्वभावज अलंकार में भी ललित की गणना होती है। यहाँ पर सुकुमार अंगों के सरस विन्यास में 'ललित' माना गया है। अंगों की सुकुमारता सुन्दरता के साथ रहती है। सौन्दर्य के अभाव में मुग्धता का यह गुण नहीं पाया जाता। अतः ललित और सुन्दर का विशेष सम्बन्ध माना जायगा।

भारतीय परम्परा में जो सम्बन्ध ललित और उदात्त में है, पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र में वही सम्बन्ध उदात्त और सुन्दर में है। इस दृष्टि से ललित

---

1 काव्य में उदात्त-तत्व—डा० नगेन्द्र

2 महासत्वोऽतिगंभीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥ दशरूपक २/४-५ धनञ्जय

3 शृङ्गाराकार चेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु। २/१४ दशरूपक

और सुन्दर दोनों समानार्थक हैं। सौन्दर्य के मोहक शक्ति का लावण्य ललित होने से ही प्रिय और ग्राह्य होता है। इसमें आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाता है। इसी से उसके सानिध्य की कामना मन में बनी रहती है।

सुन्दर में प्रियता का जो भाव है, उदात्त में उस कोटि का भाव उपलब्ध नहीं होता। उदात्त के विशेष गुणों के कारण वह श्रद्धास्पद होता है। इसमें शील और महानता का सौन्दर्य रहता है। उदात्त की महानता के कारण उसके प्रति श्रद्धा मिश्रित और एक भय-युक्त भाव की उत्पत्ति होती है। उदात्त सौन्दर्य का आलम्बन हमारे श्रद्धा भाव को उभारता है और रूप-सौन्दर्य युक्त आलम्बन हमारा प्रेम-पात्र बनता है। इस प्रकार उदात्त और सौन्दर्य की अनुभूतियों के फल में अन्तर पड़ता है। पहले में श्रद्धा और दूसरे में प्रेम है। सुन्दर की आत्मीयता उदात्त के भय में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रेम का एकान्त भाव श्रद्धा में विस्तार पा लेता है। प्रेम में आश्रय और आलम्बन की एकता मानी जाती है, श्रद्धा में आश्रय अनेक हो सकते हैं।

उदात्त तत्व के मूल पर विचार करने से ज्ञात होता है कि वैदिक युग का ऋषि प्रकृति के महान् तत्वों को एक विशेष शक्ति के रूप में स्वीकार करता रहा है। वह उनसे आतंकित रहता था। उसके प्रति उदात्त भावना थी। इस प्रकार आरम्भ में उदात्त के साथ भय की भावना वर्तमान रहती रही है।

बर्क ने बताया है कि उदात्त और सुन्दर में भिन्नता है। सौन्दर्य का सम्बन्ध प्रियता से है और उदात्त का दुःख और भय से है। कुरूप को सुन्दर का विरोधी माना है। इससे यह प्रियता का विरोधी भी हो गया।[1] इसके अतिरिक्त रूपहीनता, शक्ति, महदाकार आदि उदात्त के अन्य महत्वपूर्ण गुण हैं। लिस्टोवेल ने बर्क के उदात्त के एक और गुण का संकेत किया है। उदात्त की स्थिति में भय तभी उत्पन्न होता है, जब जीवन और शरीर के लिए वास्तविक खतरा नहीं होता।[2]

कान्ट की उदात्त कल्पना बर्क के सिद्धान्त से प्रभावित है। बर्क का विचार है कि जो कुछ भयजनक है अथवा भय के उत्पादन का मूल है, उसे उदात्त उद्गम का एक साधन मान सकते हैं।[3] इनके अनुसार उदात्त का

---

[1] History of Aestheics. P. 203.

[2] A critical History of Modorn Aesthetics P. 250.

[3] Whatever is fitted in any sort to excite the idea of pain, and danger, that is to say whatever is in any sort terri-

सम्बन्ध आत्म-रक्षा से अवश्य है, किन्तु उदात्त की कलात्मक अनुभूति तभी होती है जब मृत्यु अथवा शारीरिक शक्ति का कोई वास्तविक खतरा नहीं रहता।[1] कान्ट ने सुन्दर और उदात्त में भेद माना है। इनकी सौन्दर्य कल्पना रूपात्मक है। उदात्त को इन्होंने भी वर्क के अनुसार रूपहीन या कुरूप माना है।[2]

सौन्दर्य एक शक्तिशाली संवेदना उत्पन्न करता है, जो कल्पना और आकर्षण से युक्त होता है। उदात्त की प्रसन्नता सीधी न होकर अवान्तर रूप में मिलने वाली रहती है क्योंकि यह एक विशेष शक्ति के क्षणिक अवरोध से आता है।[3] इन्होंने उदात्त के दो भेदों को बताया है। प्रथम **गणितात्मक** है, जिसका मुख्य गुण आकार की महत्ता है; इन्द्रियाँ इस महत् आकार को ग्रहण करने में असमर्थ रहती हैं। उदात्त का दूसरा रूप **सक्रिय** है, इस रूप में शक्ति की महत्ता के विपरीत हमारी अशक्तता का उद्घाटन होता है।[4] इस प्रकार आकार और शक्ति की महत्ता द्वारा हमारे में भय का भाव उत्पन्न होता है।

हीगेल ने उदात्त को अनन्त की अभिव्यक्ति का प्रयास कहा है। रूप-प्रधान कला का विषय उदात्त नहीं हो सकता; यद्यपि भारतीय देवों की असामान्य कल्पना से उदात्त को रूप देने की चेष्टा विद्वानों ने की है। ब्रह्मा के चार और कार्तिकेय के छः मुखों की कल्पना का यही रहस्य है। फिर भी अनन्त को आकार देने के विभिन्न साधनों-रूप, रेखा, संख्या आदि-में बाँधना

---

ble, or is conversant about terrible object, or operates in a manner analogous to terror, is a source of the sublime. Edmond Burke Quoted from Philosophies of Beauty by.
E. F. Carritt.

1 Critical History of Modern Eesthetics. P. 250.

2 History of Aesthetics. P. 276

3 Beauty brings with it directly a feeling of vital stimulus, and so can be united with charm and play of imagination. But our feeling for the Sublime is only an indirect pleasure, since it is produced by the experience of a momentary check to our vital powers. The critique of Judgement. P. 117 Immamuel kant

4 History of Aesthetics P. 277

सम्भव नहीं है। उदात्त की इन्द्रिय गम्य कल्पना सुन्दर रूप में ही अभिव्यक्त है। ब्रह्म के साकार रूप की अभिव्यक्ति की सुन्दरता का यही कारण है। उदात्त के इस सौन्दर्य तत्व और अनन्तता के समक्ष मानव को अपनी लघुता की भावना का आभास बना रहता है। लघुता का यह भाव दास्य-भक्ति के प्रसंग पर देखा जा सकता है। सूर के सख्य भक्ति के आलम्बन कृष्ण के सौन्दर्य के कारण ही यह भक्ति लोक विकास में अधिक सहायक सिद्ध हो सकी है। इस दृष्टि से महान् की अनुभूति जब हम सरल रूप में करते हैं, तो इसे उदात्त को समझने के साधन रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

रस्किन की कल्पना कुछ भिन्न है। उसने उदात्त में भयावह तत्व न मानकर बर्क के विपरीत विचार प्रकट किया है। आकर्षण तत्व को प्रमुख माना है। मानव अपनी रुचि के अनुकूल इसका आरोप उस तत्व में कर लेता है। अतः भारतीय एवं रस्किन के विचार से भी उदात्त सुन्दर के निकट है।

उदात्त को समझने के लिये यथार्थ जीवन को ग्रहण करेंगे। वास्तविक जगत में अनन्त पीड़ा, दुःख, प्रतिकूल वेदनाओं आदि का प्राबल्य रहता है। व्यक्ति कटुता की यथार्थता से बचना चाहता है और व्यावहारिक जीवन में अपने पार्थिव अस्तित्व को भी बनाये रखना चाहता है। वह जीवन की प्रतिकूल वेदनीयता में अनुकूलता उत्पन्न करके कठिनाइयों के रुक्ष रूप को हटाकर उसमें आध्यात्मिकता-जन्य एक आनन्द की सृष्टि करना चाहता है। यही सृष्टि कलाओं के रूप में समक्ष आती है।

कला की इस भाव-भूमि पर व्यक्ति रज और तम को भूलकर सत्व गुण के मधुर आलोक में जाना चाहता है। व्यक्ति की पीड़ायें विभिन्न कलाओं में आस्वादन की हेतु बन जाती हैं, जिसका यह रूप यथार्थ जगत में सम्भव नहीं है। इस प्रकार पीड़ा में आनन्द का, असुन्दर में सुन्दर की जो सृष्टि हो जाती है, वह 'सुन्दर' न कही जाकर 'उदात्त' कही जाती है। इस प्रकार उदात्त की भाव-भूमि पर प्रतिकूलता अनुकूलता में परिवर्तित हो जाती है। इससे अपनी भावनाओं की प्रवृत्ति का एक आधार और आलम्बन मिल जाता है।

सिगमन फ्रायड ने काव्य एवं कला को स्नायु विकृति की प्रतिक्रिया स्वीकार किया है। इसके मत से यथार्थ जगत की अतृप्त वासना कला-जगत में प्रवृत्ति का मार्ग पा लेती है और व्यक्ति की भोग-वृत्ति कलाओं में ही तृप्त होती रहती है। कवि या कलाकार यथार्थ की वास्तविकता से ऊपर उठकर उदात्तीकरण के द्वारा अवरोधित चेतना के प्रसार का मार्ग खोज लेता है। इस दृष्टि से विचार करने पर सूर का काव्य-शृंगार-काव्य-यथार्थ के दमन से ही उत्पन्न माना जायगा।

इस सम्बन्ध में **रामरतन भटनागर** का विचार है कि सूर की शृंगार भावना का गोपीकृष्ण अथवा राधाकृष्ण सम्बन्धी सन्दर्भों में उदात्तीकरण हुआ है। प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण किये गये राधाकृष्ण में उनका व्यक्तित्व छिप गया है। उनके दमन ने लौकिक शृंगार भाव को अलौकिक का शृंगार बनाकर प्रस्तुत किया है। इससे समाज की स्वीकृति प्राप्त होने में कोई बाधा नहीं आई। जहां कहीं समाज द्वारा दूषित विचारों को ग्रहण किये जाने की आशंका थी, वहां सूर ने प्रतीकों का अवलम्ब लिया; कूट-काव्य के द्वारा समाज और अपने व्यक्तित्व के बीच में एक पर्दा डाल दिया; तथा साहित्यिक रूढ़ि एवं परम्पराओं के रूप में अपने अवचेतन मन की वासनाओं को तृप्त होने के लिये मुक्त रूप में छोड़ दिया। अतः उनमें कवि एक जागरूक कलाकार और रस-भोक्ता के रूप में समक्ष आता है।[1]

डा० हरद्वारी लाल शर्मा के अनुसार जब हम अनन्त पीड़ा को चित्र, काव्य, मूर्ति, भवन आदि में मूर्त बनाकर अथवा प्राकृतिक पदार्थों में इसी का मूर्त रूप पाकर इसका आस्वादन करते हैं, तब हम इन्हें सुन्दर न कहकर उदात्त कहते हैं। वस्तुतः सुन्दर का ही उत्कृष्ट रूप उदात्त है, जिससे प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर मन आध्यात्मिक जगत की अनुभूतियों का मूर्त रूप में आस्वादन करता है।[2] इस जगत में पहुँच कर वह धर्म की सीमा में आ जाता है, उसकी आध्यात्मिकता यथार्थ की प्रतिकूलता समाप्त कर देती है। ध्यान में रखना चाहिये कि सौन्दर्यानुभूति की सरसता उदात्त में नहीं रहती। उदात्त के अनन्त भाव के जागृत होने में व्यक्ति में लघुता का भाव आता है। वेदनानुभूति मन में संकोच उत्पन्न करती है। तदनन्तर मन तीव्र गति से आत्म-बोध प्राप्त करता हुआ नवीन चेतना की जागरूकता अनुभव करने लगता है। यह चेतना धर्मगत भी होती है। इससे धर्म की अनुभूति को 'उदात्त' की अनुभूति कह सकते हैं। धर्म का उदय जीवन में अनन्त और असीम तत्व की स्पष्ट अथवा अस्पष्ट दर्शन एवं चिन्तन से ही होता है। बौद्ध दर्शन में "सर्वं दुःखम् एवं क्षणिकम्' की अनन्त कल्पना में जीवन का विषाद देखा गया था। इसका अवसान उनके जीवन का ध्येय था। इस कल्पना में लोकोत्तर वेदना और सन्तोष के अनुभव में उदात्त की ही अनुभूति की गई। युद्धोपरान्त महाभारत की शान्ति कल्पना उदात्त की भूमि पर है। सभी धार्मिक ग्रन्थों में कल्पना का यही सुन्दर रूप

---

1 मूल्य और मूल्यांकन—पृ० ११६-११७ रामरतन भटनागर

2 सौन्दर्य-शास्त्र—पृ० १०५ (१९५३ संस्करण) साहित्य-भवन।

दीख पड़ेगा। भगवान् कृष्ण के जीवन में सुन्दर और उदात्त की कल्पना का अच्छा समन्वय मिलता है। उनमें रूप, माधुर्य, शोभा प्रेमादि गुण आनन्दात्मक हैं, रुदन उत्पन्न करने वाले नहीं हैं। विपत्तियों में उनका अविचल भाव यहाँ तक कि उनका अवसान भी आनन्द का ही विषय है। इसे ही उदात्त की उच्च अनुभूति कहेंगे। उनके इस स्वरूप की तथ्यता जानने के लिये ही धर्मगत साधना का प्रादुर्भाव होता है। अतः स्पष्ट है कि धर्म के क्षेत्र में ग्रन्थों में जिस परम शक्ति या तत्व का वर्णन किया जाता है, वह लोक भावनाओं के अनुकूल होकर भी लोकोत्तर है। यही उदात्त की शक्ति है। इससे आराध्य की विशालता, अलौकिकता और अपनी लघुता का भाव बराबर बना रहा है।

लौकिक जगत की यथार्थता से अलौकिक की सृष्टि में उदात्त की भूमि पर मानव के पहुँचने की प्रवृत्ति का विश्लेषण एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जायगा। 'रति' नामक भाव का प्रधान साधन नायिका का वर्णन साहित्य में बहुत हुआ है। यह वर्णन लौकिक व्यवहार में सरस एवं आकर्षक माना जाता है। यह 'उदात्त' भावनापूर्ण नहीं कहा जायगा, परन्तु इसका उदात्तीकरण दो प्रकार से सम्भव हो सकता है। (१) लौकिक रति विषयक अन्य भावनाओं को एक मान्य अलौकिक आलम्बन के आधार से प्रकट कर दिया जाय। सूर आदि भक्त कवियों ने ऐसा ही किया है। इसी से वे उच्चकोटि के भक्त कवियों में स्थान पा सके हैं। (२) रति भाव की अनुभूति की अति से मानव में विरक्ति जन्य जिस भावना का विकास होने लगता है, वही रत्यनुभूति की निस्सारता से 'उदात्त' तत्व की ओर अग्रसर हो जाता है। इस प्रकार रमणी का आकर्षक सौन्दर्य उसमें अनासक्ति उत्पन्न कर देता है।

व्यक्ति के इस मानसिक स्थिति का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि उसमें वैराग्य की भावना मूर्त और स्पष्ट होने लगती है तथा एक अलौकिक प्रकाश की प्रतीति होने लगती है। यह मन का ऐसा सन्धि स्थल होता है, जहाँ एक ओर रूप का आकर्षण एवं वासना और दूसरी ओर उदात्त की आलोकमय कान्ति रहती है। व्यक्ति पीछे लौटकर विषय स्वाद पाने की विकलता के अनुभव के साथ विराग-जन्य वेदना का अनुभव करता है। विकलता एवं वेदना में दोलायमान उसकी चित्तवृत्ति क्रमशः स्थिरता ग्रहण करती हुई शान्ति की ओर उन्मुख हो भोगों से विरक्त होती चली जाती है। वह विरक्ति उसमें एक नये सृजन को बल देती है। वह यथार्थ जीवन से परे एक आध्यात्मिक जगत की कल्पना करने लग जाता है। यही कल्पना कलाओं में व्यक्त होने लगती है।

कला कल्पना के इस साहाय्य से आध्यात्मिक जगत में प्रविष्ट हो आनन्दानुभव का कारण बनती है। कलाकार कल्पना लोक से आनन्द के लोक में जाकर विराटता, अनन्तता और विस्मयजनकता के स्थायित्व में 'उदात्त' का दर्शन करने लग जाता है। संसार की उसकी वेदना अनन्त में लीन हो जाती है, उसका आत्म-चेतन प्रबुद्ध हो जाता है, वह स्वयं में ब्रह्म की अनुभूति पा लेता है। लौकिक वेदना आध्यात्मिक आनन्द में परिणित हो जाती है। वह अब सौन्दर्य के स्थान पर उदात्त की अनुभूति करने लग जाता है। उसकी मानसिक भाव-भूमि लोक के वस्तुगत आकर्षण को त्याग कर उस महान् तत्व के साथ एकाकार करती हुई उसके आलोक के विस्मय से मुग्ध हो उदात्त की अनुभूति क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाती है।

डा० **रामेश्वर खण्डेलवाल** का मत है कि उदात्त सौन्दर्य में मानव और प्रकृति में व्याप्त आत्मा की अनन्तता, शक्ति, विशालता उदात्तता और विराटता का दर्शन होता है। इसमें दृश्यमान वस्तु या परिस्थिति को देखने पर अनुभूत होने वाला एक धार्मिक भाव-मिश्रित भय या आतंक ही मुख्य तत्व है। उदात्त के दर्शन के समय हममें एक आत्म-लघुता की भावना भी होती है। प्रचण्ड झंझावात, महिमावान् विराट हिमवान् का विस्तार, विशाल व विस्तृत नद, तारों भरा अनन्त आकाश, आक्षितिज विस्तृत नील बैंगनी तरंगायित रत्नाकर, दृढ़ व विशाल भवन, शिव-ताण्डव, शिव की जटा से आकाश से कूदती हुई गङ्गा आदि का सौन्दर्य उदात्त सौन्दर्य कहलाता है, क्योंकि इनका विस्तार, दृढ़ता व शक्ति मन पर एक ऐसा विचित्र और मधुर आतंक स्थापित कर लेती है कि मन चुपचाप अपनी लघुता स्वीकार कर लेता है।[1] इस विचार में प्रकृति के विशाल रूपों के समक्ष अपनी लघुता की भावना पर बल दिया गया है।

उदात्त में इसका आलम्बन हमारे चित्त को केवल आकर्षित ही नहीं करता, अपितु उसका विकास और उन्नयन भी करता है। इस प्रकार जो आलम्बन चित्त को उत्कर्ष की ओर ले जाय, वह उदात्त कहा जाता है अर्थात् जिस तत्व से आश्रय की चित्त भूमिका उत्कर्ष को प्राप्त हो, वही उदात्त है। इस उत्कर्ष अथवा उन्नयन के साथ लोकातिशयता अथवा महानता प्राप्त होती है। व्यक्ति की स्वार्थमयी भावना से ऊपर उठकर लोक मंगल की भाव-भूमि पर आते ही अतिशयता का आरम्भ हो जाता है। आलम्बन की अतिशयता से हम उसके तात्विक स्रोत की ओर अभिमुख होते हैं। उसके प्रेरक रहस्य भावना

आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार—पृ० १७३

में रमण करने लग जाते है। अतः उदात्त का दर्शन वहीं होगा, जहाँ किसी वस्तु, घटना, शील आदि में अतिशयता के साथ उत्कर्ष हो।

उदात्त की यह अतिशयता दो प्रकार की होती है। प्रथम प्रवाह की ओर ले जाने वाली (२) धारा-स्रोत के प्रवाह में रमा देने वाली अतिशयता। इस दूसरी अतिशयता में जिज्ञासा का भाव होता है। इसमें हम अपने को रमा देना चाहते हैं। अतः वह अतिशयता जो रहस्य भावना को जन्म दे, उसकी स्रोत कल्पना में निमग्न कर दे, वह उदात्त कोटि की मानी जायगी। इन दोनों में विस्मय और तन्मयता का भाव पहले प्रकार में होगा।

उदात्त के सम्बन्ध में किये गये विचार के दो दृष्टिकोण हो सकते हैं। प्रथम दार्शनिक दृष्टिकोण और दूसरा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण। बताया जा चुका है कि उदात्त अपने वृहत् रूप में मानव में एक लघुता का आभास कराता है। व्यक्ति अपने लघुत्व को वृहत् अथवा विशाल में मिला देने की चेष्टा करता है। इसी चेष्टा द्वारा रहस्य की भावना का उदय होता है। प्रकृति के विशाल काय विभिन्न अंग समुद्र, पर्वतादि इसी विराट के रूप हैं। इसे देखकर मनुष्य में जिस भय की उत्पत्ति होती है उस भाव के दो आलम्बन हो सकते हैं। प्रथम वह स्थूल वस्तु समुद्र, पर्वतादि जिसे देखकर इस भाव का संचार होता है। दूसरा सूक्ष्म तत्वों से उत्पन्न होने वाला भाव। इसमें अमूर्त भावों से भय का संचार होता है। काल की अनन्तता, अनादि अवस्था, विश्व की निस्सीमता आदि इसी क्षेत्र में आते हैं। यहाँ साधक साध्य के प्रति आत्म-बलिदान का अनुभव करता है। वह अपने अस्तित्व को उस अनन्त में विलीन कर देना चाहता है। उसका यही भाव कला या काव्य में उदात्त का अनुभव कराता है। इससे साधक अपने क्षुद्रत्व एवं सीमाओं के बन्धन को छोड़कर महान् और निस्सीम हो जाता है। कबीर आदि कवियों की रहस्यात्मकता इसी कोटि की है।

उदात्त का दूसरा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। उदात्त की मानसिक अनुभूति करते समय प्रवृत्तियों में एक गतिरोध आ जाता है। इससे एक पीड़ा का अनुभव होता है, जिससे भावनाएँ ऊर्ध्वमुखी हो जाती हैं इससे आत्म चेतना और स्फूर्ति का अनुभव होता है। उदाहरण के लिये त्याग, बलिदान आदि में मन की किन्हीं प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ता है। इससे आत्मा भौतिकता के स्वार्थ से ऊपर उठकर एक आनन्द का अनुभव करने लग जाता है, यही उदात्त का अनुभव है। इसी अनुभव की अभिव्यक्ति कृष्णभक्तों ने अपनी कला के माध्यम से दास्य भक्ति के विभिन्न अवसरों पर की है। इनके

दीनता के पदों में आत्म-प्रक्षालन की कामना तथा आराध्य की महत्ता के साथ अपनी लघुता का ज्ञान बना रहता है। इसी से उनकी अभिव्यक्ति आनन्द-दायिनी बन जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि सुन्दर और उदात्त की रूप भव्यता में अन्तर है। 'सुन्दर' में अरसिकता अथवा भयानकता नहीं होती। उदात्त में भय को उत्पन्न करने की क्षमता रहती है। कहीं-कहीं पर 'अरूप' से भी भयोत्पत्ति हो जाती है। ग्रन्थों में वर्णित प्रलयकाल में रूप के अभाव से ही उदात्त की कल्पनात्मक अनुभूति होती है। यहां उस परमनियन्ता की चेतना भाव तत्व से जागृत न होकर अभाव-तत्व से ही हो जाती है। प्रकृति के इस विनाश में भी महानता के बीज वर्तमान रहते हैं। भव्य-निर्माण में यदि सौन्दर्य की अनुभूति होती है, तो इस निर्माण के अवशेष चिन्हों से उदात्त की ही अनुभूति होती है, सौन्दर्य की नहीं। सौन्दर्यानुभूति में 'रूप' उसका प्रमुख साधन है, जिसकी एक निश्चित आकर और सीमा है, परन्तु उदात्त की अनुभूति में इसका आलम्बन रूप और रूप का अभाव भी हो सकता है। इस अभाव दशा में वह अनन्त हो जाता है। इस दृष्टि से सौन्दर्य और उदात्त में गति, प्रस्थान और ध्येय का अन्तर भी माना जायगा।

उदात्त में धर्म की भावना है और सुन्दर में प्रियता की। कोमलता में भी सौन्दर्य का आभास हो सकता है। सुन्दर कलाओं की सृष्टि में माधुर्यगुण की महत्ता मान्य रही है। सुन्दर वस्तु वह है, जिसमें माधुर्य और रमणीयता दोनों ही गुण वर्तमान हों। क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाली नवीनता ही रमणीयता है। माधुर्य का अर्थ चित्त को द्रवित करने वाला आह्लाद है "चित्त द्रवीभावमयोऽह्लादो माधुर्यमुच्यते।" रमणीय वस्तुओं में उदात्त को भी सम्मिलित किया जा सकता है, परन्तु नवता और माधुर्य से 'सुन्दरम्' की ही सृष्टि होती है, उदात्त की नहीं। फिर भी सुन्दर और उदात्त पूर्णतः भिन्न नहीं कहे जा सकते। उनकी संगति कहीं न कहीं अवश्य रहती है। सुन्दर और उदात्त में मूल भेद यह है कि सुन्दर में सुख की मात्रा अधिक होती है। सामान्य दुःख के द्वारा आनन्द की अनुभूति नहीं होती, परन्तु यदि दुःख से भी आनन्द की अनुभूति होने लगे तो उसे सुन्दर न कहकर 'उदात्त' ही कहेंगे। इस प्रकार सुन्दर और उदात्त एक ही भाव के दो भिन्न पक्ष कहे जा सकते हैं।

सुन्दर और कुरूप

जगत की सम्पूर्ण वस्तुओं के प्रति मानव में तीन प्रकार की

प्रवृतियां लक्षित होती हैं। कोई वस्तु आकर्षित करती है किसी वस्तु में आकर्षण के स्थान पर उन विषयों मे विकर्षण उत्पन्न होता है और तीसरे प्रकार की वस्तु से वह उदासीन रहता है। ऐसी वस्तुएं न तो उसे आकर्षित करती है और न ही उसे देखकर मानव के मन में विकर्षण का भाव उत्पन्न होता है वह ऐसी वस्तुओं की उपस्थिति से पूर्ण निरपेक्ष रहकर उदासीन रहता है। यह आकर्षण और विकर्षण की मध्यावस्था है, जिससे मानव चेतना में किसी प्रकार का कोई आन्दोलन उपस्थित नहीं होता। मन की इन्हीं तीन प्रवृत्तियों के आधार पर वस्तु की तीन कोटियां की गई हैं (१) सुन्दर (२) असुन्दर या कुरूप (३) उदासीन-यहां उदासीनता वस्तु का गुण न होकर मन की एक अवस्था विशेष है, जो इस स्थल पर चर्चा का विषय नहीं है। शेष दो-सुन्दर और कुरूप-को स्पष्ट किया जायगा।

ऊपर की पंक्तियों में बताया गया है कि वस्तु में आकर्षण होने से उसकी ओर खिचाव होता है। इससे वस्तु को 'सुन्दर' कहा जाता हैं। सौन्दर्य उसका गुण बन जाता है। यह गुण सहृदयता पर निर्भर है। यदि वस्तु में आकर्षण नहीं है, तो उसमें रुचि नहीं होगी। इस आकर्षण से व्यक्ति के मन में प्रियता का भाव उत्पन्न होता है। प्रियता-जन्य इसी रुचि से वस्तु सुन्दर प्रतीत होने लगती है। यदि प्रियता न हो तो वही वस्तु विकर्षण उत्पन्न करती है और वह सुन्दर होने के स्थान पर कुरूप प्रतीत होने लगती है। इससे स्पष्ट है कि वस्तु की एकरूपता के स्थिर रहने पर भी उसे देखकर आकर्षण और विकर्षण मूलक मनोगत भाव ही उसकी सुन्दरता या कुरूपता के निर्धारण में सहायक होते हैं। वस्तु को दी जाने वाली यह विशेषता वस्तु के स्वयं का गुण न होकर अनुभविता आत्मा का गुण है, जो अपनी मानसिक प्रवृत्तियों के आधार पर ऐसे आकर्षक या विकर्षक भावों को व्यक्त करती है।

वस्तु में आकर्षण रहने से सुख मिलता है। व्यक्ति का आचरण, उसकी मानसिक प्रवृत्तियां वस्तु को सुन्दर मान लेती हैं। इसके विपरीत किसी वस्तु से हृदय का सामञ्जस्य स्थापित न होने पर एक ही वस्तु विभिन्न मानसिक स्थितियों में अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न करता है। भक्त कवि सूरदास की गोपियां ऐसे ही भावों को व्यक्त करती हैं। श्री कृष्ण के वियोग में एक ही पक्षी पपीहा कभी समदुःख भोगी होने के कारण उन्हें प्रिय प्रतीत होता है और मानसिक स्थिति में परिवर्तन आ जाने से वही उन्हें अप्रिय और दुःख देने वाला

सिद्ध हो जाता है।[1] इससे सिद्ध है कि प्रियता या अप्रियता के कारण उत्पन्न होने वाले वस्तु का सौन्दर्य या कुरूपता उसका व्यक्तिगत गुण न होकर अनुभविता की आत्मा की मानसिक स्थितियों के आधार पर ही निर्भर रहता है। इस दृष्टि से सौन्दर्य वस्तु का गुण न होकर आत्मा के अनुभव का फल है। 'रूप' आकर्षक प्रतीत होने पर सुन्दर और विकर्षक या घृणोत्पादक होने के कारण असुन्दर या कुरूप हो जाता है। यहाँ सुन्दर का तात्पर्य सुन्दर का विरोध या विलोम नहीं है, अपितु असुन्दर विशेषण ऐसे वस्तुओं के लिये प्रयुक्त हुआ है, जिसका रूप आकर्षक न होने से दुःख का कारण बन जाता है। गोपियों को सुखदायिनी यमुना इसी से कुरूप प्रतीत होने लग गई थी। 'देखियत कालिंदी अतिकारी[2]' पद का यही रहस्य है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव मन में वस्तु के प्रति आकर्षण और विकर्षण की उत्पन्न होने वाली अनुभूतियाँ ही सुन्दरता या कुरूपता की नियामिका हैं। आकर्षण के कारण प्रियतामूलक भावभूमि की परिधि में आने वाली सम्पूर्ण वस्तुएँ सुन्दर हो जाती हैं। इसके विपरीत विकर्षण से उत्पन्न अप्रियता वस्तु के प्रति अरुचि का भाव जागृत करती है। व्यक्ति की यही अप्रियता या अरुचि वस्तु को कुरूपता की कोटि में प्रविष्ट करा देता है। इससे वस्तु के प्रति उपेक्षा के साथ ही निन्दामूलक भाव उत्पन्न होता है। यदि प्रशंसा और निन्दा इन दोनों से मन तटस्थ रहे तो यही वस्तु के प्रति मन की उदासीन स्थिति है। इस स्थिति में वस्तु का गुण व्यक्ति को प्रभावित नहीं करता और उसकी मानसिक चेतना उस वस्तु से किसी प्रकार की प्रेरणा ग्रहण नहीं करती। इससे उसकी प्रतिक्रिया भी तटस्थ ही रह जाती है। इससे सिद्ध होता है कि सौन्दर्य और कुरूपता वस्तु का गुणमात्र ही नहीं है, अपितु मनुष्य की चेतना के भाव पर भी निर्भर है।

वस्तु का सौन्दर्य उसके 'रूप' के आश्रित रहता है। सामान्य अर्थ में 'रूप' आकार में रहने वाली कान्ति है। 'रूप' में चक्षुप्रियता रहने से ही उज्ज्वल वर्ण वाले व्यक्ति सुन्दर कहे जाते हैं। नैतिक मान्यताओं के आधार पर कुत्सित भाव कुरूप और मंगलमय भाव सुन्दर होते हैं। 'कुरूप' को लोग ग्रहण नहीं

---

1 (i) बहुत दिन जीवौ पपीहा प्यारे।
बासर रैन नांव लै बोलत, भयो बिरह जुर कारे। सूरसागर
(ii) हौं तो मोहन की बिरह जरीरे, तूँ कत जारत।
रे पापी तूँ पंखी पपीहा, पिउ, पिउ कत अधिरात पुकारत। सूरसागर

2 सूरसागर।

करना चाहते। वह बौद्धिक रूप में अग्राह्य है। यह कुरूपता वस्तु के 'रूप' में ही रहती है, 'तत्व' में नहीं रहती। श्लेगेल का मत है कि श्रेय की सुखद अभिव्यक्ति सौन्दर्य और अश्रेय की अप्रिय अभिव्यक्ति ही कुरूप है।[1] इस स्थल पर अभिव्यक्ति के आधार पर सुन्दर और कुरूप का निर्धारण किया गया है। इससे स्पष्ट है कि जगत में अमंगल जनक, क्रूर एवं अप्रिय सभी अभिव्यक्तियां कुरूपता की श्रेणी में आयेंगी और इनसे मुक्त प्रिय और आकर्षक अभिव्यक्तियां सौन्दर्य की परिधि में परिगणित होंगी। अतः सौन्दर्य लोकहित से सम्पन्न संगत अभिव्यक्ति और कुरूपता क्रूर विचारों से युक्त अमंगल जनक असंगत अभिव्यक्ति है। इस निर्णय के आधार पर कहा जा सकता है कि कलात्मक सौन्दर्य भी संगत अभिव्यक्ति का ही फल है। कला के सृजनात्मक निपुणता में सौन्दर्य और कलाहीनता में कुरूपता का बीज देखा जा सकता है। इसी से कुरूप वस्तुएं भी कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त होने पर आकर्षक हो जाती हैं। चित्रकला में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। चित्रों में अंकित कुरूप वस्तुएँ भी कला के मंत्रबल से दर्शक को आकृष्ट कर लेने में पूर्ण समर्थ होती हैं। इससे वस्तु सौन्दर्य में कला का विशेष हाथ है। भारतीय साहित्य के विभिन्न काव्य सम्प्रदायों में कलात्मक अभिव्यञ्जना का बहुत महत्व है। रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और अलंकार सम्प्रदायों का सौन्दर्य अभिव्यक्ति का ही सौन्दर्य है। इन सम्प्रदायों से स्पष्ट है कि समस्त सौन्दर्य विधायक साधनों से प्रकट होने वाला सौन्दर्य अभिव्यक्ति का ही सौन्दर्य है। दूसरी विचारणीय बात यह है कि काव्य में प्रत्येक उपकरण का मूल्यांकन सौन्दर्य दृष्टि से किया जाता है। काव्योत्कर्ष में सहायक तत्वों को सुन्दर और बाधक तत्वों को असुन्दर कहेंगे। इसी से अभिव्यक्तिगत बाधक तत्व मात्र प्रदर्शन रह जाते हैं। उनसे रस की पूर्ण निष्पत्ति नहीं हो पाती है। ऐसे प्रदर्शनकारी उपकरणों से युक्त काव्य को 'अधम-काव्य' की श्रेणी में रखा जाता है।

कुरूपता रूप' के तत्वों का व्यवस्थागत दोष है ऐसे वस्तुओं के साक्षात्कार से व्यक्ति का मानसिक श्रम बढ़ जाता है और आनन्दानुभव का अभाव हो जाता है। सौन्दर्य सुखद ऐन्द्रिय संवेदना से युक्त 'रूप' का गुण है। यह सुख की अनुभूति कराने वाला होता है। 'रूप' ही सुखद होकर 'सुन्दर' और दुःखद बनकर 'कुरूप' बन जाता है। सौन्दर्य में 'रूप' के 'भोग्य-पदार्थों' के उचित

---

1 **Beauty is defined as the pleasant manifestation of the good, ugliness as the unpleasant manifestation of the bad, fr V. Schlagels-Essay on Study of Greak Poetry.**

संयोजन से आस्वाद योग्य मधुरता का आविर्भाव हो जाता है। यह माधुर्य अवयवों के उचित संगठन गत व्यवस्था से उत्पन्न होता है। यह मन में सुख की अनुभूति कराता है। इससे वह वस्तु हमें प्रिय लगती है। उसकी ऐन्द्रिय संवेदना मन के अनुकूल रहती है। इसके विपरीत कुरूप वस्तुओं के साथ संवेदना और भावनाओं का आत्मीय सम्बन्ध नहीं रहता। कुरूपता से घृणा और विकर्षण का भाव उत्पन्न होता है और सुरूपता से प्रियता और आकर्षण का भाव उद्भूत होता है। इससे सौन्दर्य और प्रियता का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है। इस सौन्दर्य के अभाव में वस्तु कुरूप प्रतीत होती है। कभी-कभी एक ही वस्तु व्यक्ति भेद से सुन्दर और असुन्दर दोनो ही प्रतीत होती है। अन्य स्थलों पर एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न मानसिक स्थितियों में प्रिय या अप्रिय भाव उत्पन्न करती है। इससे स्पष्ट है कि सौन्दर्य का निर्धारण व्यक्ति भेद और मानसिक चेतना के परिवर्तित होने से होता है। सम्बन्ध भावना से कुरूप वस्तु प्रिय हो जाती है। ऐन्द्रिय संवेदना रहने हुए भी उसकी स्वीकृति न रहने से वस्तु अप्रिय बन जाती है। सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता भी रहती है, वही कलात्मक अभिव्यक्ति से आकर्षक बन जाती है। कला-जगत में कुरूप भी सुन्दर बन जाता है। इससे यथार्थ जगत की विभीषिका क्षीण हो जाती है। कुरूप को बौद्धिक रूप से ग्रहण के अयोग्य कहा जा सकता है क्योंकि इस कुरूप के संग आत्मसात् की प्रवृत्ति लोगों में नहीं देखी जाती है। 'कुरूपता' सौन्दर्य की व्यवस्था में एक हीन तत्व है। सुन्दर वस्तुओं की तुलना में कुरूप, वस्तु के रूप में उसके तत्वों की व्यवस्था ठीक ढंग से नहीं रहती।

सुन्दरता और कुरूपता ये दोनों ही सापेक्षिक शब्द हैं। कुरूपता के अभाव में सौन्दर्य का महत्व गिर जायगा। सौन्दर्य कुरूपता के माध्यम से ही अपनी साकारता ग्रहण करता है। कुरूप तत्व की समुचित आकर्षक व्यवस्था सौन्दर्य का आविर्भाव करती है। कुरूप कला के माध्यम से सौन्दर्य का साधक बनता है। इन दोनों शब्दों में सौन्दर्य की महत्ता कुरूप के अस्तित्व से ही है। यदि कुरूपता न हो तो सौन्दर्य चर्चा का विषय न बन सकेगा। ऐसी स्थिति में कुरूपता सौन्दर्य का साधक तत्व हो जाता है। अतः सुन्दरता के निर्धारण में कुरूपता का अस्तित्व महत्वपूर्ण है। कुरूपता के अभाव में सौन्दर्य महत्वहीन हो जायगा। इससे ये दोनों ही शब्द एक दूसरे के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये सापेक्ष और पूरक हैं।

इन विचारों के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि सौन्दर्य और कुरूपता के निर्धारण में निम्नलिखित परिस्थितियाँ एवं भाव कार्य करते हैं।

(१) वस्तु से उत्पन्न होने वाली मन की सुखद अनुभूतियां अथवा ऐन्द्रिय संवेदना की अनुकूलता या प्रतिकूलता।

(२) सामाजिक एवं नैतिक मान्यताओं के नियमानुसार वस्तु का मंगल या अमंगल रूप होना।

(३) व्यक्ति का वस्तु से सम्बन्ध भाव।

(४) कलात्मक योजना और 'रूप' में भोग्य पदार्थों की व्यवस्था।

(५) व्यक्ति भेद और एक ही व्यक्ति की मानसिक स्थितियों में अन्तर का आ जाना।

सुन्दर और कुरूप के इस विचार के उपरान्त सौन्दर्य के तत्व पर विचार किया जायगा।

सौन्दर्य के तत्व

सौन्दर्य की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करने के लिये इसके तत्वों का ज्ञान हो जाना आवश्यक है। 'रूप' के स्पष्टीकरण के लिये डा० हरद्वारीलाल शर्मा ने सुन्दर वस्तुओं में तीन तत्वों का होना आवश्यक माना है। इन्हें क्रमशः भोग, रूप और अभिव्यक्ति तत्व कहते हैं।

भोग तत्व—दृश्यवस्तु का साधारण अनुभव-गम्य और भौतिक अंश 'भोग-तत्व' कहा जाता है। वस्तु के निर्माण में उसके कलेवर को निर्मित करने के साधन रूप में लिये गये पदार्थ को 'भोग' कहा जाता है। व्यक्ति अपनी सौन्दर्य चेतना द्वारा ही इस तत्व का अनुभव कर सकता है। सौन्दर्य के अनुभव का वास्तविक आधार यही है। मानव की किसी भी स्थिति में इसके मूल में कोई अन्तर नहीं आता। शिशु के किसी वस्तु के प्रति आकर्षण में भोग की यही प्रवृति दीख पड़ती है। सुन्दर वस्तु में भोग-तत्व के विभिन्न साधनों पर विचार किया गया है। इनमें सर्वप्रथम साधन रंग है।

रंग द्वारा शिशु की वास्तविक सौन्दर्यवृति प्रेरित होती है। किसी वस्तु के प्रति सौन्दर्य या आकर्षण में बालकों के मन में जो एक ललक होती है उसके मूल में रंग का मोहक स्वरूप ही है। रंग की इस प्रियता में अवस्था भेद से अन्तर भी आ जाता है। विज्ञान के अनुसार वस्तु से सतत रूप में निकलने वाली प्रकाश-किरणों द्वारा उसके वर्ण की मोहकता का ज्ञान होता है।

रंग के इस आकर्षण में भोग-तत्वों के अन्य अवयवों या साधनों की चर्चा भी मिलती है। ज्ञानेन्द्रियों के विभिन्न विषय-ज्ञान में भी भोग-तत्व की यही प्रधानता है। ध्वनि, स्पर्श, गंध, और रस का सम्बन्ध इन ज्ञान-ग्राहकों के माध्यम से 'भोग-तत्व' कहा जाता है। चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विषय के

ज्ञान के साथ उनके उपभोग से आनन्द की प्राप्ति भी होती है। विषय की अनुभूति के सुख से सौन्दर्य की चेतना जागृत होती है। इसे ही साहित्यकार अपनी रचना के माध्यम से व्यञ्जित करता है।

दृश्य रूप 'भोग' तत्व का आधार मानव या मानवेतर सृष्टि कोई भी हो सकती है। यही सौन्दर्य का अनुभव कराता है। प्रकृति में इसी कारण रंग, रूप, स्पर्श, गंधादि का आकर्षण होता है। इसी से मनुष्य की सौन्दर्य चेतना तुष्ट होती है। प्रकृति के विभिन्न उपकरण सौन्दर्य के अपरिमित साधन और आनन्द के निधान हैं। आकाशादि की नीलिमा में विस्तार और अपूर्वता के साथ ही वर्ण, रंग आदि की विविधता भी वर्तमान है। वहाँ पर विन्यास का अभाव है, इसी से उसकी सीमा नहीं है। किसी रूप-रेखा में बंध जाने पर एक सीमा हो जाती है। अतः नैसर्गिक शोभा के लिये आवश्यक है कि प्राकृतिक वस्तुओं में विन्यास का अभाव हो। इस अभाव में ही वस्तु का भोग-तत्व रहता है। यदि अभाव समाप्त होकर विन्यास की भूमिका में प्रविष्ट हो जायगा, तो वह 'भोग-तत्व' कहा जाने का अधिकारी न रह जायगा। क्रमशः उसका एक आकार उभरता हुआ दीख पड़ेगा। इसी आकार में सौन्दर्य का दूसरा तत्व 'रूप' प्रत्यक्ष होने लगता है।

रूप-तत्व––वस्तुओं का अविन्यस्त रूप भोग-तत्व कहा गया है। औद्योगिक जगत के शब्द में इसे रूप-तत्व का कच्चा माल (Raw-Material) कहेंगे। उदाहरण के लिये केवल ईंट किसी भवन के लिये भोग-तत्व मात्र है और ईंट, चूना, गारा, मिट्टी, सिमेण्ट आदि के विन्यास से उनका जो आकार निर्मित हो जाता है, उसे 'रूप' तत्व कहेंगे अर्थात् भोग-तत्व के समुचित विन्यास में 'रूप' का आविर्भाव होता है। 'रूप' कोई अलग सत्ता वाला पदार्थ नहीं है, अपितु भोग्य पदार्थों में ही वह निहित रहता है और उनकी समुचित व्यवस्था से प्रकट हो जाता है।

रूप और भोग तत्व—रूप का यह आविर्भाव विभिन्न कलाओं में विभिन्न साधनों से सम्भव है। यह रंग, रेखा, गति, ध्वनि आदि में अपनी साकारता पा लेता है। चित्र में यह रंग और रेखा का आधार ग्रहण करता है, संगीत में ध्वनि के आरोहावरोह से इसका रूप आविर्भूत होता है। गति के समुचित संचालन से यह नृत्य बनता है तथा शब्द और अर्थ के सार्थक विन्यास द्वारा काव्य रूप में प्रकट हो जाता है। इस प्रकार 'रूप' रेखा, ध्वनि, गति, शब्दार्थ आदि के संगठन से उत्पन्न होता है।

रूप भोग्य पदार्थों में रहता हुआ भी उससे भिन्न है। भोग्य-पदार्थ

में अनेकता और रूप में एकता रहती है। इस दृष्टि से रूप अवयवी या अंगी और भोग्य-पदार्थ अवयव या अंग है। भोग्य-पदार्थ की अनेकता में रूप की एकता वर्तमान रहती है। भोग्य पदार्थ यदि खण्ड सत्तात्मक है, तो रूप पूर्ण सत्ता वाला। भोग्य-पदार्थों के सम्मिलन से ही 'रूप' आकार ग्रहण करता है। यदि यह मिलन निरर्थक हो, तो उसे 'रूप' नहीं कहेंगे। रूप न तो अवयव विशेष है और न उनका निरर्थक समूह ही है। जैसे शब्दों का सार्थक समूह या विन्यास वाक्य कहा जाता है, उसी प्रकार अवयवों के सार्थक विन्यास में 'रूप' का आविर्भाव होता है। इस प्रकार अवयवों का व्यवस्थित संघात 'रूप' संज्ञा प्राप्त करता है और अलग-अलग विभिन्न अवयव 'भोग्य-पदार्थ' कहे जाते हैं। अतः 'रूप' व्यापक, अखण्ड सत्ता वाला, अनेक की सार्थक एकता से उत्पन्न सौन्दर्य का एक तत्व-विशेष है। भोग्य पदार्थ की अपेक्षाकृत एक सीमा है, जिसमें विन्यास का अभाव होता है।

इससे स्पष्ट हो गया कि भोग-तत्व का अभिप्राय उस पदार्थ से है, जिससे किसी वस्तु के कलेवर का निर्माण होता है। उदाहरणार्थ भवन-निर्माण में प्रस्तरादि भोग्य-पदार्थ और भवन का आकार 'रूप' है। इसी प्रकार सुन्दर वस्तु के भोग-तत्व में रंगों आदि का महत्व है और इनसे जो आकार बनता है, वह 'रूप' है। इस 'रूप' के सौन्दर्य का ग्राहक सहृदय ही कहा जा सकता है।

मानव की रचनात्मक-प्रकृति नैसर्गिक है। वह रूप का निर्माण करना चाहता है। उसकी यह स्वाभाविक प्रकृति बालकों द्वारा खेल में बनाये गये मिट्टी या ईंट के एक विन्यास में दिखाई पड़ती है, जिसे वह कुछ समय के लिये घर या किले के 'रूप' में स्वीकार कर लेता है। बालकों का यही स्वभाव बड़े होने पर सुधर कर ललित कलाओं में विकास पाता है। 'रूप' के आविर्भाव का यही कारण है।

मानव की इस रचनात्मक प्रकृति से रूप का आविर्भाव होने में दो उद्देश्य दीख पड़ते हैं :—

(१) रूप को अधिकाधिक सुन्दर और स्पष्ट बनाकर उसे जीवन के लिये उपयोगी बनाने की चेष्टा की जाती है।

(२) इस सृजन में उसे आनन्द मिलता है। रचनात्मक प्रवृत्ति से रूप प्रकट होता है। यही रूप सौन्दर्य का कारण बनता है और सौन्दर्य से आनन्द की अनुभूति होती है।

रूप के इस आविर्भाव में कलाकार की कल्पना, उसकी मानसिक एवं बौद्धिक चेतना उसमें एक गति ला देती है। उसकी स्पन्दनशीलता उसके आह्लाद

का कारण बनती है। इस रूप के निर्माण की मोहकता बहुत कुछ कलाकार की कारयित्री प्रतिभा के ऊपर निर्भर रहती है। सौन्दर्य के अनुसन्धान की प्रतिभा का अभाव होने पर वह एक समर्थ 'रूप' प्रकट नहीं कर पाता। उसका भोग्य-पदार्थ मात्र साधन होकर रह जाता है।

इन दोनों तत्वों में भोग्य पदार्थ को साधन बताया गया है, जिससे सौन्दर्य उद्भूत होता है। मानवीय-सौन्दर्य के आधार पर कवियों का नख-शिख भोग-तत्व के अन्तर्गत आ सकता है, क्योंकि भोग्य-पदार्थों की सत्ता स्वतंत्र रूप में स्वीकार की गई है। नख-शिख वर्णन की एक स्वतंत्र सत्ता और स्वीकृति है। नख-शिख वर्णन की इस अनेकता में एक समष्टिगत एकता 'रूप' की व्यञ्जना होती है। इसकी अभिव्यक्ति के आकर्षण में ही सौन्दर्य-बोध की महत्ता छिपी रहती है। इसी से कवियों में सौन्दर्य-चेतना को उद्बुद्ध करने के लिये अंग-प्रत्यंग अथवा भोग्य पदार्थ के वर्णन की परम्परा रही है। इसे केवल कवि-प्रथा कहकर महत्वहीन नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि इसका एक महत् उद्देश्य है, जिसके द्वारा हमारी आत्म-चेतना परिष्कृत और सत्व-प्रधान होकर सौन्दर्य का उपभोग करने में सक्षम हो जाती है।

रूप-भेद—बताया जा चुका है कि भोग्य-पदार्थों के समुचित-विन्यास से रूप का आविर्भाव होता है। यह रूप इन पदार्थों में ही रहता है। यह कोई अलग वस्तु नहीं है। इस रूप के कई भेद हो जाते हैं :—

(१) **निर्जीव या जड़ रूप**—पदार्थों का ऐसा संयोजन जिसमें चेतना का अभाव हो, निर्जीव रूप कहा जाता है। इन रूपों में गति का अभाव होता है। स्थिरता इस रूप का प्रथम लक्षण है। ललित कलाओं में स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला को स्थिर रूप में ग्रहण किया जा सकता है। किसी प्रकार की रेखा स्थिरता को बताती है। जहाँ भी किसी आकार का निर्माण होता है, जिसमें चेतनता न हो, उसे निर्जीव रूप कहेंगे। इसके अन्तर्गत अचल वस्तुओं की गणना की जायगी। ऐसी वस्तु मानव कृत या प्रकृति-कृत हो सकती है।

(२) रूप का दूसरा भेद **'सजीव रूप'** है। इसमें गत्यात्मकता, चंचलता, स्पन्दनशीलता या परिवर्तनशीलता अनिवार्य्य तत्व है। वैज्ञानिकों की दृष्टि में ऐसे सभी पदार्थ जो एक निश्चित नियम में बँधकर बढ़ते हैं, शक्ति प्राप्त करते हैं, उन्हें 'सजीव-रूप' में माना गया है। निरन्तर की परिवर्तन शीलता और विकास या वृद्धि की अवस्था को इसके अन्तर्गत मानते हैं। इसमें स्पन्दन और गतिशीलता को आवश्यक अंग माना गया हैं। संगीत और नृत्य को इसी सीमा के भीतर मानते हैं। संगीत में ध्वनि की गतिमयता और नृत्य

में अंग-संचालन और गति का प्रवाह माना गया है। सभी प्राणी, पशु-पक्षी, वनस्पतियाँ आदि बढ़ती हुई शक्ति संचित करती है।

(३) रूप का तीसरा भेद 'प्रतीक' कहा गया है। काव्य में मनोगत भावों की सूक्ष्मता और सौन्दर्य सत्ता का आभास इन्हीं प्रतीक-विधानों में होता है। प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण की गई वस्तु से सूक्ष्म तत्वों का विधान होता है। प्रतीक-विधानों की यह परम्परा काव्य में सदा से रही है। प्रतीक विधान द्वारा अव्यक्त अनुभूति, विचार या भावों को व्यक्त रूप दे दिया जाता है। यथा कमल को सौन्दर्य का, सिंह को शक्ति का, हाथी को मद का प्रतीक मानते हैं। इसी प्रकार अन्य भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

रूप का महत्व **अभिव्यक्ति के माध्यम** पर निर्भर रहता है। यदि अभि-व्यक्ति का ढंग आकर्षक न हो तो रूप आनन्द-दायक नहीं हो पाता। कुछ लोगों ने तो रूप को नगण्य मान लिया है। "काव्य में फार्म या रूप का महत्व नगण्य है। मेरा तो केवल यह मन्तव्य है कि रूप का कविता में वह सार्वभौम महत्व नहीं हो सकता है, जो कि अन्य कलाओं में प्राप्त होता है।"[1] परन्तु यह विचार समुचित नहीं जान पड़ता क्योंकि रूप की आधार-शिला पर ही सौन्दर्य के महल का निर्माण होना है। इससे रूप को नगण्य तो माना ही नहीं जा सकता है। वस्तुतः काव्यतत्व और अर्थ का अन्योन्य सम्बन्ध 'रूप' की भाव-भंगिमा में प्राण-संचरित करता है। काव्य में तत्व ही रूप को चेतना प्रदान करता है। रूप के कलेवर में ही काव्य-तत्व की परिव्याप्ति रहती है। अतः कहा जा सकता है प्रतीक-विधान द्वारा दो कार्यों की सिद्धि होती हैं। प्रथम यह एक रूपात्मक तथ्य है और द्वितीय प्रतीक उसके रूप में प्राण-प्रतिष्ठा करने वाला तत्व हो जाता है। इसी से उस प्रतीक से अर्थ का ज्ञापन सम्भव हो पाता है। रूप के ये तीनों ही भेद—जड़, सजीव और प्रतीकात्मक—प्राकृतिक और कलात्मक दोनों प्रकार के सौन्दर्य में पाये जाते हैं।

रूपानुभूति—बताया जा चुका है कि भोग्य पदार्थों के समुचित विन्यास में 'रूप' का आविर्भाव होता है जिसे सौन्दर्य के एक माध्यम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। 'इस दृष्टि से 'रूप' नेत्रों के माध्यम से सौन्दर्य का विकास करने वाला एक तत्व विशेष माना जा सकता है।' इसमें अनुभूति की महत्ता अपरिहार्य है। सर्वप्रथम चक्षुरिन्द्रिय के सम्पर्क से रूप का ज्ञान और तत्पश्चात् भावों के योग से पुनः उसकी अनुभूति होने लगती है। इस अनुभूति में भाव-

---

1 हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास—पृ० ५८

तत्व की प्रबलता होती है। इसके विकास की तीन अवस्थाएँ स्वीकार की गई हैं।

(१) **वस्तुगत रूप की अनुभूति**––इसमें अनुभूति कर्ता एक तटस्थ व्यक्ति की भाँति वस्तु के भोग्य-पदार्थों का एक सामूहिक रूप देखता है। वह वस्तु के विभिन्न अंगों के सामञ्जस्य को ग्रहण करता है। इसमें उसकी निजी रुचि-अरुचि का किसी प्रकार का मेल नहीं हो पाता। वह तटस्थ-द्रष्टा की भांति एक **'बोध'** से अवगत हो जाता है। उसे यह चेतना हो जाती है कि उसने वस्तु को जान लिया है। ज्ञान की यह प्रथम अवस्था है, जिसे तर्क शास्त्र में **'प्रामाण्यवाद'** के नाम से जाना जाता है।

(२) रूप की अनुभूति की इस दूसरी अवस्था में रूप जन्य मानसिक आनन्द की अनुभूति होती है। इसमें वस्तु के 'भोग्य-पदार्थों' के **सुविन्यस्त रूप के साथ मानवीय भावों का भी सामञ्जस्य** रहता है। इस सीमा में आकर द्रष्टा तटस्थ नहीं रह पाता। वह अपनी वृत्तियों के योग से अपनी भावनाओं के अनुकूल 'रूप' में प्रियता या अप्रियता का सायुज्य उत्पन्न कर देता है। उसकी सौन्दर्यानुभूति सचेष्ट हो जाती है और वह रूप के आस्वादन की ओर उन्मुख होने लगता है।

(३) रूप के प्रति **वासना की अनुभूति** तृतीय सोपान है। मन में वासना का उद्रेक होते ही शरीर के उपभोग की कामना बलवती हो जाती है। यहाँ रूप की तीव्रता अथवा हलकेपन का ज्ञान उसकी उपयोगिता के आधार पर निश्चित की जाती है। प्रसाद ने इसी आधार पर 'कैसी कड़ी रूप की ज्वाला' लिखा है। इसमें आनन्द की भावना में वैषयिक चेतना का प्राधान्य रहता है।

इस सम्बन्ध में अभिनव गुप्त पादाचार्य का विचार भी दर्शनीय है उन्होंने माना है कि नारी सौन्दर्य का वर्द्धक काम-भावना का आधिक्य ही है। उन्होंने वीर्य-विक्षोभन शक्ति को रूप की वास्तविक कसौटी मानी है। आचार्य के मत से, "आँखों में रमणीय लगने वाला रूप वीर्य-विक्षोभन-जन्य सुख का प्रतीक है। मधुर गीतादि के श्रवणगत होने में भी यही बात है। यदि सर्वत्र इसका चमत्कार न हो, तो वह व्यक्ति मनुष्य रूप में भी जड़ ही माना जायगा। अधिक चमत्कार का आवेश अर्थात् आनन्दानुभूति में मग्न होने वाली वीर्य-विक्षोभात्मा ही सहृदयता है।[1] इस विचार से दो बातों का ज्ञान होता है।

---

1 नयनयोरपि हि रूपं तद् वीर्यं विक्षोभात्मक महाविसर्ग विश्लेषण युक्त्या एव सुखदायि भवति। श्रवणयोश्च मधुरं गीतादि।...........सर्वतो हि

प्रथम यह कि वीर्य-विक्षोभ के माध्यम से ही विषय-सौन्दर्य का माप हो सकता है और द्वितीय स्थान पर प्रेक्षक की सहृदयता का भी अपना एक अलग महत्व होता है।

सौन्दर्य की इस रूपानुभूति में रस-शास्त्र के आधार पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि इस अनुभूति में विस्मय, आनन्द और रति की पृथक अथवा सम्मिलित अनुभूति होती रहती है। इसी अनुभूति के आधार पर वस्तु या व्यक्ति के रूप-जन्य सौन्दर्य में अन्तर आता रहता है। सुन्दरता रूप के तत्वों पर निर्भर रहती है। यह उसके विन्यास से आविर्भूत हो जाती है। अतः रूप के तत्व ही मानवीय चेतना के सम्पर्क से सुविन्यस्त होकर सुन्दर बन जाते हैं। इसके अनेक गुणों की चर्चा हुई है।

रूप तत्व के गुण—आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र ने रूप-तत्व के चार गुणों की चर्चा की है। इन्हें क्रमशः सापेक्षता, समता, संगति और सन्तुलन कहते हैं।

सापेक्षता (Proportion)— इसमें भौतिक पदार्थों को अनुकूल ढंग से सजाया जाता है। प्रत्येक अंग का सम्पूर्ण के समक्ष एक विशिष्ट स्थान होता है। कला के प्रत्येक खण्ड की महत्ता अंगी के निर्माण में होती है। इसमें किसी वस्तु का प्रत्येक खण्ड एक दूसरे से निरपेक्ष और असम्बद्ध न रहकर सापेक्ष और सम्बद्ध रहता है। यदि विभिन्न अवयवों को केवल एकत्र कर दें, तो इससे रूप की योजना नहीं हो पाती, उसे तो केवल भोग्य-पदार्थ ही कहा जायगा। इससे स्पष्ट है कि अवयवों के समूह से 'रूप' की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु एक विशेष योजना द्वारा विभिन्न अंगों के संयोजन से ही ऐसा सम्भव है। 'विभिन्न अवयवों की खण्डता में उनका जो एक उचित स्थान संयोजन के समय प्राप्त हो जाता है–अर्थात् उनकी विभिन्नता द्वारा जो एक समग्रता उत्पन्न हो जाती है, उसे ही सापेक्षता कहते हैं।' यहाँ पर प्रत्येक खण्ड एक दूसरे पर निर्भर रह कर रूप का आविर्भाव करते हैं।

समग्र में अवयवों का यह उचित संयोजन सजीवता उत्पन्न कर देता है। इससे उत्पन्न होने वाले चमत्कार में माधुर्य का उद्भव होता है। इसी माधुर्य और अंगों की सापेक्षता से किसी युवती का सुन्दरी नाम सार्थक होता है। उसे हम लावण्यमयी कहने लग जाते हैं। प्रत्येक रूपवान् पदार्थ में अंगों की सापेक्षता उस अंगी के निर्माण में सजीव, व्यापक और सक्रिय होती है।

अचमत्कारे जड़तैव। अधिक चमत्कारावेश एव वीर्य विक्षोभात्मा सहृदयता उच्यते। अभिनव गुप्त, परात्रिंशिका, पृ० ४७–४८

समता (Symmetry)—समता के लिये किसी एक विन्दु को आधार बनाकर उसके चतुर्दिक सापेक्ष खण्डों की पुनरावृत्ति की जाती है। उदाहरणार्थ शरीर के प्रत्येक अंग में एक दूसरे की अपेक्षा रहती है। आकार की समता का बड़ा महत्व होता है। शरीर की लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार ही सिर, बाहु, पैर आदि की सानुपातिक समता होनी चाहिए। यदि कोई अवयव दूसरे की तुलना में बहुत बड़ा या छोटा हो, तो सुन्दर नहीं प्रतीत होगा। उसका बड़ापन या छोटापन समतानुसार ही होना चाहिये। सुन्दर वस्तु या शरीर में एक प्रकार की दो वस्तुएँ एक ही समान होनी चाहिए दोनों एक दूसरे की प्रतिरूप हों, तभी वे 'सम' हो सकेंगी। उदाहरण के लिये यदि एक आँख छोटी और दूसरी बड़ी हो, तो शरीर 'समता' के अभाव में सुन्दर नहीं कहा जा सकता है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि 'अवयव अपने अवयवी के साथ किसी विन्दु से सानुपातिक योजनानुसार बनाये जाने पर 'सापेक्षता और 'समता' गुण से युक्त होकर वस्तु को सुन्दर बना देता है।'

संगति (Harmony)—संगति के द्वारा रूप में विरोध का शमन होता है। इसमे अनेक में एकता उत्पन्न हो जाती है। इसे रूप का अनिवार्य गुण कहा जायगा, क्योंकि अन्य सभी गुण इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। रूप के संग संगति भी रहती है। काव्य में रूप तत्व का आविर्भाव रस-परिपाक से होता है। किसी एक रस को प्रमुख मानकर अन्य सहायक रसों का योग उस मुख्य रस के परिपाक में और सौन्दर्य ला देता है। विभिन्न रसों की इस संगति से काव्य में 'रूप' का आविर्भाव होता है। यदि रूप का अभाव हो, तो काव्य-रस में संगति न बन सकेगी, रस-परिपाक होना तो दूर की बात है। अतः विभिन्न अवयवों के समन्वय से ही 'रूप' का निर्माण होता है तथा रूप से रस-परिपाक और सौन्दर्य की अनुभूति होती है। संगति के अभाव में रूप कुरूप हो जाता है। काव्य में शब्द और अर्थ की संगति से भाव का रूप उपस्थित होता है। स्वरों की संगति से संगीत में वैचित्र्य आता है। रेखाओं की संगति चित्र में चमत्कार उत्पन्न करती है। इस प्रकार संगति की महत्ता किसी भी कला के सौन्दर्योत्पादन में सहायक हो जाती है।

सन्तुलन (Balance)—रूप तत्व का चौथा गुण सन्तुलन है 'अनेक तत्व जब एक योजना में आबद्ध होकर एक दूसरे को क्षति न पहुँचाते हुए सौन्दर्योत्पत्ति के कारण होते हैं, तो वहीं पर सन्तुलन होता है।' मानसिक भावनाओं को कलाकार काव्यादि द्वारा रूप' प्रदान करता है। यथार्थ जगत की प्रतिकूल भावनाएँ जब 'रूप' धारण कर अनेक अंगों के विन्यास एवं संचारी

भावों का समर्थन प्राप्त कर लेती हैं, तो अन्य तत्वों की योजना में जो नियम लगता है, वही सन्तुलन कहा जाता है।

इस पर विचार करते हुए 'व्हाइटहैट नामक दार्शनिक कहता है कि जब अनेक तत्व किसी योजना में इस प्रकार संघटित हों कि एक दूसरे का विघात न करके वे परस्पर गौरव और प्रभाव की वृद्धि करें, एक स्वर दूसरे स्वर का; एक भावना, अलंकार, घटना, रंग, रेखा और कथन आदि[1] दूसरे के प्रभाव की वृद्धि करें, तो इससे एक सन्तुलित रूप का उदय होता है। सन्तुलन के 'रूप' का अवयव अपने प्रधान भाव के अन्तर्गत उसकी रक्षा और संवर्द्धन करता है।

काव्य में भाषा और भाव का सन्तुलन सृजन का सौन्दर्य उत्पन्न करता है। शब्द और अर्थ का समन्वय, अर्थ की परस्पर सम्बद्धता या संगति, सन्तुलन, सापेक्षता से उसका सौन्दर्य और बढ़ जाता है। यही कारण है कि यदि किसी शब्द का स्वतन्त्र अर्थ ग्रहण किया जाय, तो अन्य शब्दों की संगति के अभाव में वह सौन्दर्य उत्पन्न नहीं हो पाता है, जो उन सबके एक समुचित मिश्रण, सन्तुलन, संगति आदि से होता है। विषयगत सौन्दर्य की दृष्टि से सापेक्षता, संगति, सन्तुलन, समता, सानुपातता आदि एक ऐसे पूर्णत्व का बोध कराते हैं, जिससे सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। इसी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति काव्यों में हुई है, जो 'रूप' का आधार लेकर अग्रसर होता है।

काव्य में रूप काव्य में रूप का अर्थ उसकी शब्द गत सत्ता और छन्दात्मक आकार से है।[2] कवि द्वारा काव्य में अभिव्यक्त विचार या अनुभव अपनी शैली में काव्य-कृति के रूप हैं।[3] प्रत्येक काव्य-कृति की अपनी विशेषता, निजी आकार या बाह्य रूप उसे अन्य काव्य-कृति से पृथक कर देता है। कृति का यह बाह्य ढांचा जो हमारी मनश्चक्षुओं के सम्मुख नाम-मात्र से स्पष्ट हो

---

1 सौन्दर्य-शास्त्र डा० हरद्वारीलाल पृ० ७४ से उद्धृत

2 The commonest meaning of form in poetry is perhaps that of metrical pattern or form. Encychlopedia Brittania–Volume IX Page 95

3 These thoughts and experiences which are put in different ways in different poems of the poet, we call that particular way their form or 'Poetical Form.' From the style in Poetry. W. P, Ker Page 97

जाता है, वही उसका रूप है। रूप ही कला का बाह्य-तत्व है, जिससे हमारी चेतन-वृत्ति जाग्रत होती है। इसी से वह इन्द्रियों का विषय बनता है। रूप के अभाव में कला का निर्माण असम्भव हो जाता है।

काव्य-रूप का अभिप्राय काव्य विशेष के उस समस्त बाह्याकार से है, जिसका सृजन कवि अपने अनुभवों के साहाय्य से अनेक अथवा एक ही छंद के माध्यम द्वारा करता है। यहाँ काव्य-रूप के निर्माण में छंदों का विशेष योग रहा है। कवि द्वारा निर्मित यह समस्त आकार, जो काव्यगत है, काव्य-रूप संज्ञा का अधिकारी है। इन काव्य-रूपों में अपनी एक निजी विशेषता होती है, जिससे वे विशेष कवियों की कृति के परिचायक हो जाते हैं। एक उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट हो जायगा :--

कृष्ण की रस-सिक्त-मधुर लीला के गायकों में विद्यापति, सूरदास और मीराबाई विशेष प्रसिद्ध हैं। इन तीनों ने पद-शैली को अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। इनके पदों के अध्ययन से इनके रचयिता के व्यक्तित्व का ज्ञान हो जाता है। इसका कारण यह है कि इन तीनों के ही काव्य-कृति के रूप में अन्तर है, जिससे वे पहचान लिये जाते हैं। इनका अलग-अलग काव्य रूप या आकार है। इसी से तीनों के वर्ण्य-वस्तु और आलम्बन के एक रहते हुए भी उनमें काव्य रूप गत भिन्नता है; भिन्नता का यह 'रूप' उनका नितान्त अपना और निजी है। समता में भिन्नता दीख पड़ने का यही कारण है। सच तो यह है कि प्रत्येक कवि का अपना काव्य-रूप ही काव्य-सृजन में योगदान देता हुआ कवि के काव्य के विभिन्न तत्वों और उसके अनुभवों की एकाग्रता की रक्षा करता है। इस प्रकार कोई भी कला कवि द्वारा 'रूप' प्राप्त करके ही सफल होती है। अतः काव्य-कृति में रूप का अभिप्राय ऐसी शब्द-अर्थ-मयी रचना से है, जिससे कवि का सौन्दर्य-बोध पाठक या दर्शक के लिये प्रेषणीय बन जाता है।' इसी विचार का समर्थन किया गया है कि काव्य-कृति के रूप से तात्पर्य उसके उस निश्चित आकार अथवा रूप रेखा का है, जिसके अन्तर्गत एक नियमित विधान अथवा पद्धति के अनुसार शब्दों के माध्यम से कवि की अनुभूति पाठक तक प्रेषणा पाती है। रूप-निर्माण की ये पद्धतियाँ विषय और आवश्यकता के अनुकूल भिन्न हो सकती है।'[1]

प्रत्येक कला किसी न किसी रूप की रचना है। इससे रूप में एक वैचित्र्य आ जाता है। इसमें निहित सौन्दर्य प्रकट हो जाता है। इस प्रकार

---

1 आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप-विधाएँ--डा० निर्मला जैन पृ० ४

कलाओं द्वारा रूप के सौन्दर्य का सृजन होता है। यह सृजन मानव मन की प्रियता और सौन्दर्यानुराग का बोधक है। इसके अतिरिक्त मानवेत्तर सत्ता व रूप भी किसी चेतन तत्व की कला का सृजन है। उस सृजन में महानता के सौन्दर्य का वोध आकाश, पर्वत, नदी, वन, वृक्षादि के रूप में होता है। इनकी एक स्वतंत्र सत्ता है और उसमें सौन्दर्य का एक अमानवीय तत्व है। इसे प्राकृतिक-सौन्दर्य की संज्ञा दी जायेगी।

सौन्दर्य प्राकृतिक, मानवीय या कलात्मक कोई भी क्यों न हो, उसे वस्तु के गुण के रूप में स्वीकार किया गया है। यही गुण मानसिक प्रत्यक्षता प्राप्त कर सौन्दर्य हो जाता है। इसकी अनुभूति से ही आनन्द प्राप्त होता है। चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों के विषय रस, गन्धादि अनुभवगत हैं, परन्तु सौन्दर्य बोध के साथ वस्तु का गुण है। सौन्दर्य की अनुभूति में 'आनन्द' है। इस प्रकार रूप की आधार शिला पर सौन्दर्य की कलात्मक अथवा भावात्मक अभिव्यञ्जना होती है तथा सौन्दर्यानुभूति आनन्द का कारण है। अतः इन तीनों–रूप, सौन्दर्यानुभूति और आनन्द– के सम्बन्ध में उत्तरोत्तर एकता और परस्परता बनी रहती है।

'रूप' समस्त कलाओं का आधार है। शरीर-रचना में रीढ़ का जो स्थान है, कलाओं में वही रूप का है। साहित्य में अर्थ का अपना एक रूप होता है, जो विभिन्न साहित्यिक मूर्तियों या विधाओं के रूप में जानी जाती हैं। ये विधाएँ ही अर्थ के व्यक्त रूप हैं। साहित्य में रूप के इसी सौन्दर्य का बड़ा महत्व है। एक उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट हो जायगा।

नैयायिकों ने वस्तु में संकेतित अर्थ के चार भेद (जाति, गुण, क्रिया और यदृक्षा) माने है।[1] महाभाष्यकार ने भी इन भेदों का समर्थन किया है।[2] परन्तु मीमांसक मत में 'जाति' रूप केवल एक प्रकार का ही संकेतित अर्थ होता है। यह जाति मनुष्य में मनुष्यत्व है। इसी प्रकार तथाकथित सुन्दर वस्तुओं में सौन्दर्य एक जाति-विशेष ही है। यहाँ पर एक दूसरा प्रश्न यह उठ सकता है कि ऐसी स्थिति में इस सौन्दर्य का अधिष्ठान किसमें मानें? यह एक विवादास्पद प्रश्न है। उदाहरण के लिए एक पुष्प में पुष्पत्व क्या है? वह

---

1 संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा। काव्य प्रकाश २/८ पृ० ४३ ज्ञान-मण्डल लिमिटेड, वाराणसी। व्याख्याकार–आचार्य विश्वेश्वर

2 चतुष्टयी च शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुणशब्दा, क्रियाशब्दाः यदृक्षाशब्दाश्चतुर्थाः। महाभाष्यकार। काव्य-प्रकाश से उद्धृत।

पंखुड़ियों का संश्लिष्ट रूप है, उसका रंग है या कोमलता है, या सौरभ है ? इस प्रश्न के उत्तर में मतैक्य नहीं रहेगा। यदि पंखुड़ियों को बिखेर दें, तो वह 'पुष्पत्व' रहेगा या नहीं ? ऐसा करने से उसके 'रूप' में भी अन्तर आ जाता है। अतः स्पष्ट है कि पंखुड़ियों के समुचित विधान में एक ऐसे 'रूप' का निर्माण हो जाता है, जिसे सौन्दर्य की आधार-शिला कह सकते हैं। इसमें सापेक्षता, संतुलन, समता आदि का एक ऐसा संघात है, जिसका विवेचन सौन्दर्य-शास्त्र की परिधि में आता है। इन सभी तत्वों की गणना विषयगत सौन्दर्य के अन्तर्गत होती है। इन सबका समन्वित रूप अपनी पूर्णता में पर्यवसित होकर 'सौन्दर्योत्पत्ति' का कारण बन जाता है। इसी से यह आनन्द का जनक हो जाता है। यहाँ 'रूप' का अर्थ और तत्सम्बन्धी धारणा का स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए।

रूप का अर्थ—

उज्ज्वल नील मणिकार ने 'रूप' की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'किसी भूषणादिक द्वारा भूषित न होने पर भी जिसके द्वारा भूषणवत् कान्ति हो जाती है, उसे 'रूप' कहते हैं।[1] इस व्याख्या में रूप-निर्धारण के लिये उसके आवश्यक गुणों में कान्ति उत्पन्न करने वाले गुण का समर्थन किया गया है। वस्तु के 'रूप' में उत्पन्न होने वाली भास्वरता अधिक महत्वपूर्ण होती है। इसी से उसकी 'रूप' संज्ञा सार्थक होती है। इस दृष्टि से आकार में रहने वाली छवि या प्रकाश को रूप कहेंगे। यह 'रूप' वर्ण और कान्ति से आच्छादित वाह्य आवरण का विन्यास है। 'रूप' वस्तु का वह गुण है, जिसका ग्रहण चक्षु द्वारा देखकर ही होता है। इससे रूप में चाक्षुष बोध का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अभाव में 'रूप' में वर्तमान कान्ति या भास्वरता का ज्ञान नहीं हो पाता। इससे 'रूप' को आकार की चाक्षुष प्रतीति कहेंगे। आकार में अवयवों के उचित संस्थान से उत्पन्न अवरोधी और समन्वित प्रभाव 'रूप' संज्ञा को धारण कर लेता है।

रीति कालीन कवि देव ने 'रूप' की व्याख्या में 'सुख' को प्रमुख तत्व माना है। उनका विचार है कि 'रूप' दर्शन मात्र से मन को हर लेने वाला, आँखों को सुख देने वाला और संसार को चेरा बना लेने वाला होता है।[2] इस

---

1 अङ्गान्यभूषितान्येव केनचिद् भूषणादिना।
येन भूषितवद् भाति तद्रूपमिति कथ्यते।

2 देखत ही जो मन हरै, सुख अँखियन को देइ।
रूप बखानै ताहि को जग चेरो कर लेइ। रस-विलास—देवः

व्याख्या में रूप के तीन गुणों को आवश्यक माना गया है। (१) रूप द्वारा मन को हरण कर लेने में रूप की शक्ति और उसके प्रभाव की व्यञ्जना की गई है। यह रूप की भावात्मक व्याख्या है। (२) रूप की सुखद शक्ति द्वारा आनन्द का उपस्थापन किया गया है। सुख आँखों के माध्यम से मिलता है। इसमें चक्षु 'रूप' के वाहक हुए। यह रूप आकार का आधार लेकर ही स्थित रहता है। इसमें रूप द्वारा आकार में स्थित गुण का ही बोध होता है। (३) रूप के मोहक गुण को बताते हुए इसकी मोहकता का विस्तार और प्रभाव सम्पूर्ण जग में बताया गया है। इन तीनों गुणों द्वारा रूप की आकारगत सत्ता और उसके आन्तरिक प्रभाव की व्यञ्जना की गई है। इससे स्पष्ट है कि रूप की एक सत्ता और स्थिति होती है, जिसके बाह्य एवं आन्तरिक प्रभावों द्वारा चक्षुओं की तृप्ति एवं मन में प्रसन्नता की अनुभूति होती है। इस दृष्टि से 'रूप' केवल बाह्य आकार का बोधक मात्र न रहकर लावण्य-जन्य सौन्दर्य की अनुभूति कराने से आनन्द का कारण बन जाता है। यह बाह्य तुष्टि एवं आत्म-तृप्ति दोनों का ही साधन है। इस व्याख्या के आधार पर रूप के स्वरूप-निरूपण में दो प्रकार की मान्यताएँ दीख पड़ती हैं—

(१) **रूप की सामान्य धारणा**—नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से दीख पड़ने वाला वस्तु का आकार 'रूप' कहा जाता है। रूप का यह सामान्य एवं व्यावहारिक अर्थ है। इस अर्थ की परिधि में कोई भी भौतिक सत्ता युक्त पदार्थ मानसिक भाव या तत्वादि किसी माध्यम के द्वारा प्रकट होकर 'रूप' संज्ञा को धारण करते हैं। यही रूप बोल-चाल में 'सौन्दर्य' का पर्याय बनकर प्रयुक्त होता है।

(२) **रूप की विशेष धारणा**—इस धारणा के अनुसार रूप में विभिन्न अवयवों के संगठन और सुविन्यास से अनेकता में एकता उपस्थित होने पर दिखाई पड़ने वाले आकार को 'रूप' कहते हैं। इसमें विन्यास एवं दृश्य रूप की महत्ता स्वीकृत है। अतः किसी भी जीवधारी चेतन प्राणी या जड़ पदार्थ का दृश्य बाह्याकार ही रूप है। सुविन्यस्त तत्वों द्वारा निर्मित बाह्याकार के रूप में गृहीत इस 'रूप' की परिधि काव्यात्मक कृतियों तक ही सीमित न रहकर वस्तु, चित्र, संगीत आदि सभी विधाओं को अपने में समाविष्ट कर लेती है। इन्हीं विभिन्न विधाओं में दृश्य या चाक्षुष रूपों में अभिव्यक्ति के माध्यम द्वारा सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। इसी से भ्रम-वश 'रूप' और 'सौन्दर्य' को पर्याय मानने की परम्परा है।

उपर्युक्त दोनों शब्दों को पर्याय मानने की यह परम्परा लोक-व्यवहार

और संस्कृत साहित्य में है। लोक व्यवहार में किसी सुन्दरी को रूपवती कहते हैं। संस्कृत में 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुआ है। कालिदास ने अनेक स्थलों पर इस शब्द का प्रयोग 'सौन्दर्य' अर्थ में किया है। शिव को आकृष्ट न कर सकने के कारण पार्वती ने अपने 'रूप' की निन्दा की है।[1] शकुन्तला के सौन्दर्य वर्णन में कालिदास ने कहा है कि ऐसा लगता है मानो विधाता ने विश्व के समस्त रूप के संचय द्वारा शकुन्तला के सौन्दर्य की रचना की है।[2] इन दोनों ही स्थलों पर 'रूप' द्वारा सौन्दर्य का ही अर्थ व्यक्त किया गया है। इसी रूप शब्द में सौन्दर्य का तत्व निहित रहता है। इस दृष्टि से रूप और सौन्दर्य समानार्थक शब्द हैं। इस अर्थ में रूप के प्रयोग की सीमा है। सभी रूपों को सौन्दर्य नहीं कहा जाता है, अपितु प्राकृतिक पदार्थों और मानवीय आकार तक ही इस 'रूप' शब्द का प्रयोग 'सौन्दय' के पर्याय में होता है। इस 'रूप' में आकर्षण का कारण अवयवों के उचित संश्लेषण से उत्पन्न उनका सौन्दर्य है। रूप वस्तुगत आकार या छवि है तो सौन्दर्य उस रूप की छवि या लावण्य है। इस लावण्य की अनुभूति इन्द्रियों की संवेदना से होती है।

'रूप' तत्वों से निर्मित आकार ग्रहण करने वाला कोई भौतिक पदार्थ या मानसिक भावादि है। पदार्थ के तत्व अभिव्यक्त होकर ही 'रूप' कहे जा सकते हैं। यह अभिव्यक्ति ऐन्द्रिय, इन्द्रियों से ग्रहणीय या मानसिक भी हो सकती है। इससे सभी प्रकार की सूक्ष्म या स्थूल सत्ताएँ अभिव्यक्त होती हैं। इससे 'रूप' को वस्तु के तत्व की अभिव्यक्ति मानेंगे। अभिव्यक्त होने पर ही वस्तु में एक ऐसा गुण उत्पन्न हो जाता है जिससे 'रूप' की चाक्षुष प्रतीति होने लगती है। सौन्दर्य में इसी चाक्षुष रूप की महत्ता रहती है। जहाँ इस 'रूप' की अधिकता होगी, वही सौन्दर्य लक्षित होगा। नारी के मांसल और वर्तुलाकार अंगों में 'रूप' की चाक्षुष प्रतीति अधिक होने से यह सुन्दर दीख पड़ती है। आकार के उचित संगठन और अंगों के विस्तार में स्त्री का सौन्दर्य आकर्षक प्रतीत होता है। वक्ष, नितम्ब, जघन आदि के सौन्दर्य का यही रहस्य है।

'रूप' शब्द अंगरेजी के 'फार्म' शब्द का समानार्थक है। अभिव्यक्त होने पर समस्त रूपों को 'फार्म' कहा जा सकता है। तत्वों के संश्लेषण से आकार रूप में अभिव्यक्त होने वाला 'रूप' नेत्रों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है आकार से वस्तु की रूप-रेखा प्रकट हो जाती है। डा० रामानन्द तिवारी के अनुसार

---

1 निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती, प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता। कु. सं, ५/१

2 रूपोच्चयेन विधिना मनसा कृतानु। अभिज्ञान शाकुन्तलम्। अंक २

'रूप' एक प्रकार का अतिशय है। वस्तु में तत्वों के अतिशय की बाह्य अभिव्यक्ति 'रूप' है। वर्ण, कान्ति आदि इस आकार के अन्तर्गत रूप (फार्म) के अन्य अतिशय हैं।[1] विभिन्न कलाओं में यह 'रूप' भिन्न प्रकार से व्यक्त होता है। भौतिक वस्तु के देह के समान कुछ रूपों में विशेष रूप द्वारा सौन्दर्य की स्थापना होती है। ऐसे ही स्थलों पर 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का पर्याय हो जाता है, परन्तु अंग्रेजी के 'फार्म' शब्द से अभिव्यक्त होने वाले सभी पदार्थों में सौन्दर्य नहीं होता। इस शब्द द्वारा भौतिक सत्ता से युक्त वस्तुओं का ही बोध होता है। यदि फार्म या रूप मात्र को सुन्दर कहें तो कई बाधाएँ उपस्थित हो सकती है:—

(१) रूप मात्र को सुन्दर मानने से रूप का आधार लेकर होने वाली सम्पूर्ण अभिव्यक्तियाँ सुन्दर हो जायगी, परन्तु व्यवहार में अभिव्यक्त होने पर भी अनेक रूप सुन्दर नहीं होते।

(२) दूसरी बाधा यह है कि सौन्दर्य के पर्याय में 'रूप' द्वारा मानवीय सौन्दर्य का ही बोध होता है। इस बोध में सौन्दर्य की सीमा मानुषी आकृतियों तक ही रहती है। इससे इस शब्द के प्रयोग में व्यापकता और विस्तार का अभाव हो जाता है।

(३) चक्षु से प्रतीत होने वाले रूपों की 'आकार' संज्ञा है। यह आकार वस्तु के तत्वों का एक भौतिक चाक्षुष संश्लेषण है। इसकी सीमा उसकी रेखाओं में रहती है और केवल रेखा द्वारा सौन्दर्य की अनुभूति नहीं हो सकती है। यदि ऐसा सम्भव भी हो जाय तो संगीत के श्रव्य रूप या ध्वनि के आकार का प्रश्न उपस्थित हो जायगा। अतः इन सभी बाधाओं की शान्ति के लिये 'रूप' का अर्थ मानवीय शरीर में वर्ण और कान्ति से युक्त उसके बाह्य आवरण का समुचित विन्यास कहा जा सकता है।

सौन्दर्य के अर्थ को व्यक्त करने वाला यह 'रूप' शब्द काव्य और व्यवहार दोनों स्थलों पर प्रयुक्त होता है। इस शब्द द्वारा मनुष्यों में भी विशेषतः स्त्री सौन्दर्य का ही ध्यान रखा जाता है। स्त्रियों के 'रूप वर्णन' में शोभा कान्ति आदि जिन अलंकारों की चर्चा की गई है, वे सभी रूप के ही अलक्ष पक्ष हैं।[2] इन अलंकारों की स्थिति स्त्रियों में होने से रूप एवं सौन्दर्य का

1　सत्यं शिवं सुन्दरम् पु० ८४१–८४२

2　शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता।
औदार्यधैर्यमित्येते सप्तभावा अयत्नजा। दशरूपक–द्वितीय प्रकाश।

संचित कोष इन्हीं में अधिक होता है। इसी से इनका 'सुन्दरी' नाम सार्थक होता है।

'रूप' का सौन्दर्य अर्थ में जो प्रयोग हुआ है उससे मानवीय एवं कलात्मक दोनों ही प्रकार के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। रूप के आधार पर कलात्मक सौन्दर्य अभिव्यक्त होता है। इससे स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति 'रूप' का आवश्यक अंग है। अभिव्यक्ति 'रूप' के स्पष्ट होने का माध्यम है। इसके द्वारा सत्ता का आविर्भाव होता है। 'रूप' सत्ता की समुचित व्यवस्था से स्वयं आविर्भूत हो जाता है। यही रूप वर्ण, कान्ति, छवि आदि से युक्त होकर सौन्दर्य बन जाता है। कला की परिधि में अभिव्यक्ति की नवीनता धारण करके यह रूप 'सौन्दर्य' कहा जाता है। सौन्दर्य रूप की अतिशयता से युक्त कान्ति आकार, शोभा, आदि आकर्षक गुणों का पुंज है। रूप की समुचित रचना ही सौन्दर्य की अनुभूति कराती है। इससे समस्त रूप ही सौन्दर्य का कारण है तथा सौन्दर्य उसका कार्य है। किसी वस्तु में तत्वों की आन्तरिक अभिव्यक्ति 'भाव' और बाह्य अभिव्यक्ति 'रूप' है और इसकी नवीन रूपों में अभिव्यक्ति सौन्दर्य की सृष्टि है। सौन्दर्य की सृष्टि करने वाली रूप की यह रचना ही उसकी कलात्मक सौन्दर्याभिव्यक्ति है। इस विचार से रूप और सौन्दर्य में पूर्वापर सम्बन्ध है।

इस रूप की कलात्मक अभिव्यक्ति से सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। अभिव्यक्ति की न्यूनता सौन्दर्यानुभूति में अवरोध उपस्थित करती है। इस अभिव्यक्ति के कलात्मक अतिशय द्वारा सौन्दर्य का पूर्ण उपभोग हो सकता है। यह अभिव्यक्ति भावों का आधार ग्रहण करके केवल बाह्य सत्ता मात्र की ही प्रकाशिका नहीं होती, अपितु इसके द्वारा भावों की आन्तरिक चेतना का भी प्रकाशन होता है। इसी अभिव्यक्ति के माध्यम से 'रूप' सौन्दर्य का विधायक बनता है। अतः कलात्मक सौन्दर्य रूप का ही अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य है।

'रूप' सौन्दर्य को आधार मिला है। 'रूप' के अभाव में सौन्दर्य टिक ही नहीं सकता है। रूप आधार है, सौन्दर्य आधेय। 'रूप' में तत्वों के सानुपातिक संगठन के परिणामस्वरूप वस्तु में सुडौलता और आकर्षण की पर्याप्त मात्रा रहती है। आकर्षण से नेत्रों को सुख एवं विश्राम मिलता है। इसी कारण मानव इसकी योजना का प्रयास करता है। इसी प्रयास से उसे वस्तु में सौन्दर्य की अनुभूति होने लग जाती है। 'रूप' के इस प्रयास के प्रति आकर्षण का भावात्मक खिंचाव न हो, तो सौन्दर्य की अनुभूति नहीं हो सकती है। अतः 'रूप' में तत्वों की आकर्षक योजना और भावात्मक प्रियता से सौन्दर्य की अनुभूति हो सकती है। यह योजना जितनी ही कलात्मक ढंग से होगी, सौन्दर्यानुभव भी उतना ही तीव्र और चरम कोटि का होगा।

अतः 'रूप' सौन्दर्य का आधार है। 'रूप' बाह्य तत्व और 'सौन्दर्य' उस रूप की आन्तरिक प्रियताजन्य अनुभूति है। हमारी अन्तर्वृत्तियां आकार को देखकर जब आनन्द की अनुभूति करने लग जाती हैं तो अपने मानसिक परिष्कार के अनुकूल ही उस वस्तु में सौन्दर्य का ज्ञान होने लग जाता है। इस दृष्टि से 'रूप' सौन्दर्य का उपादान कहा जा सकता है। वस्तु के बाह्य तत्व के अभाव में सौन्दर्य की रूपात्मक कल्पना कठिन हो जाती है। आकार मूलक वस्तु का बाह्य तत्व सौन्दर्यानुभूति का निमित्त तत्व है और उससे उत्पन्न आनन्दानुभूति उसका साध्य है, जो सौन्दर्यमूलक होता है। 'तत्व ही अभिव्यक्त होकर 'रूप' कहा जाता है और रूप में आकर्षण, कान्ति, शोभा, लावण्यादि के अतिशय से सौन्दर्य की अनुभूति होती है। आनन्द की प्राप्ति में 'रूप' उसका प्रथम तत्व और सौन्दर्यानुभूति द्वितीय तत्व है। इन दोनों में पूर्वापर सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित हैं।' 'रूप' का समुचित प्रकाशन ही सौन्दर्य है। 'रूप' की सार्थकता इसी सौन्दर्य के अंकन में है। कोई भी प्रकाशन की कला से सौन्दर्य बन जाता है। इसी से क्रिया विदग्धा और वचन विदग्धा नायिकाओं की क्रियाओं और वचनों में प्रकाशन का आकर्षक और मोहक सौन्दर्य रहता है। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में इस प्रकार का सौन्दर्य स्थान-स्थान पर वर्णित है। इस प्रकार की अभिव्यक्तियों द्वारा वस्तु या भावों की सत्ता और स्थिति का ज्ञान होता है। इन अभिव्यक्तियों से स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकार की सत्ताएँ ग्रहणीय बन जाती हैं। इससे 'रूप' सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का आधार है और 'सौन्दर्य' रूप के आधिक्य का पुंजीभूत प्रिय आनन्द मूलक अनुभूति है। इन दोनों में इस सूक्ष्म अन्तर के होते हुए भी काव्य और लोक व्यवहार में इन दोनों को समानार्थक मानने की परम्परा है।

रूप और लावण्य—भोग्य पदार्थ के समुचित विन्यास में 'रूप' का आविर्भाव होता है। किसी वस्तु के विभिन्न अंगों के सुव्यवस्थित ढंग से रखने में उसका जो आकार बन जाता है, वही 'रूप' कहा जाता है। इस 'रूप' में रहने वाले मोहक तत्व को 'लावण्य' कह सकते हैं। जैसे मोती में वर्तमान उसकी आब या कान्ति उसके मूल्य को बढ़ाकर दर्शन–सुखद बना देती है और अपनी स्वतंत्र सत्ता भी रख सकने में समर्थ होती है उसी प्रकार विभिन्न अवयवों से निर्मित शरीर के रूप तत्व में आश्रित रहने वाला लावण्य स्वतंत्र सत्ता वाला होता है। वह न तो शरीर है न कोई विशेष अंग। शरीर में आश्रित रह कर भी उससे भिन्न है। रूप में लावण्य का अनुभव करने के लिये सजीव रूप में तरलता और तरंग की प्रतीति होती है। इसी से सुन्दरी के अंगों में तरङ्गमान योजना 'लावण्य' कही जाती है।

ध्वनिकार ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि यह तत्व रमणियों के प्रसिद्ध तद्–तद् अंगों से भिन्न प्रकाशित होता है।[1] 'यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्य मिवाङ्गनासु।' यह लावण्य सुन्दरियों के अंग में रहता हुआ भी उससे भिन्न सत्ता वाला है।

'लावण्य' की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। **पं० बदरीनाथ शर्मा** ने बताया है कि "अङ्गनासु प्रशस्त स्त्रीषु प्रसिद्धेभ्योऽवयवेभ्यः करचरणादिभ्योऽतिरिक्तं भिन्नं, लावण्यम् 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमितीरितम्' इति शिङ्गभूपेन लक्षितं कान्ति पूरमिव........[2] स्त्रियों के प्रसिद्ध कर चरणादि से भिन्न कान्तिपूर्ण तत्व जो अंगों में प्रकाशित होता रहता है, उसे ही लावण्य कहते हैं, जैसे मुक्ताफल में उसके पानी की तरलता प्रतिभासित होती है, वैसी ही अंगों में लावण्य प्रतिभासित होता है।

लावण्य का अपना आकर्षण तो है ही, वह जिन अंगों में रहता है, उसकी शोभा का कारण भी बन जाता है। रूप में यह गुण नहीं है। रूप केवल बाह्याकार का बोधक है। इससे किसी वस्तु की सम्पूर्ण रेखाओं का एक रूप में बोध हो जाता है। रूप यदि तत्व का बोधक है, तो लावण्य उस तत्व में वर्तमान छवि का ज्ञापक है। **लावण्य के अन्तर्गत लय, रूप सौन्दर्य, अभिरूपता, मार्दव** आदि कायिक गुणों का उपपादन किया गया है।

लावण्य— अवयव संस्थान से व्यक्त होने वाला अवयव से भिन्न एक दूसरा धर्म है। अवयवों की निर्दोषता अथवा भूषण योग लावण्य नहीं है। अवयवों से अविकल रमणी भी कई बार लावण्य युक्त नहीं होती। अलंकार भी लावण्य के विधायक नहीं होते। यह तो एक आन्तरिक धर्म है, जो शरीर में वर्तमान रहता हुआ भी अपनी स्वतंत्र सत्ता में रहता है। यह बाहरी उपकरण न होकर शरीर की कान्ति की आन्तरिक चमक है। इसी का समर्थन राम सागर त्रिपाठी ने किया है कि, "लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यङ्ग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। न चावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणयोगो वा लावण्यम्। पृथङ् निर्वर्ण्यमाणकाणादि दोषशून्य शरीरावयव

---

[1] यथाह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ् निर्वर्ण्यमानंनिखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदय लोचनामृतं, तत्वान्तरं........ध्वन्यालोक १.४ पृ. १९ (१९५२) टीका आ० विश्वेश्वर।

[2] ध्वन्यालोक–दीधिति–टीका (१९५३) बदरीनाथ शर्मा पृ. १७ चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी

योगिन्यामप्यनङ्कृतायामपि लावण्यशून्यमिति, अतथाभूतायामपि कस्याञ्चि-ल्लावण्यामृत चन्द्रिकेयमिति सहृदयानां व्यवहारात् ।[1] कालिदास ने भी लावण्य के लिये आभूषणों का होना अनिवार्य नहीं माना है । उनके विचार से लावण्य अपने मौलिक अथवा मूल रूप में ही प्रतिभासित होता है । इसके लिये मण्डन अनावश्यक है ।[2] मधुर आकृतियों के लिये सभी वस्तुएं आकर्षक हो जाती हैं । अलंकारों की भी आवश्यकता नहीं रहती है ।

लावण्य युक्त रमणी सभी अवस्थाओं में मनोज्ञ प्रतीत होती है । बिहारी ने आभूषण को दर्पण पर लगे मोर्चे के समान माना है ।[3] इससे स्वतः प्रकाशित अवयवों की चमक और नहीं बढ़ती । अतः लावण्य तो वस्तु में रहता हुआ उसका एक धर्म विशेष है । 'रूप' वस्तु का वाह्यतत्व होने से इतिवृत्तात्मक है और लावण्य वस्तु में स्थित उसका धर्म विशेष है । अतः सभी प्रकार के रूपों में लावण्य का होना आवश्यक नहीं है । रूप के संग लावण्य की स्थिति होती भी है और नहीं भी होती है, परन्तु जहां लावण्य है वहां रूप' अवश्य होगा ।

रूप में आकृति की महत्ता है और लावण्य में उस आकृति में रहने वाली चमक का आकर्षण होता है । लावण्य अवयवों से स्फुरित होने वाला उसका एक प्रधान तत्व है, वह स्वयं अवयव नहीं है । उससे निर्मित भी नहीं है, फिर भी सम्पूर्ण अवयव में वर्तमान एक तेज के समान है । जैसे सूर्य का प्रकाश न तो स्वयं सूर्य है और न उसकी किरण ही है, अपितु उन सबका उनमें व्याप्त रहने वाला एक तेजो मय रूप है, उसी प्रकार लावण्य न तो अंग विशेष है और न अंगों से निर्मित उसका एक 'रूप' विशेष ही है, अपितु इन अंगों में ही वर्तमान रहने वाला एक तेज है । अतः यह अंगों में रहता हुआ भी अंगों से भिन्न है ।

रूप में वस्तु सत्ता का बोध इतिवृतात्मक होने से सामान्य है और 'लावण्य' सत्ता में व्याप्त रहने वाला गुण विशेष है । सहृदय लावण्य का प्रशंसक होने से उसकी अनुभूति करता है, यह अनुभूति भावनात्मक पक्ष का आधार ग्रहण करती है । इससे इसका क्षेत्र आन्तरिक है । रूप का बोध सामान्य है, इससे वह बौद्धिक है । 'मैंने अमुक वस्तु के रूप (फार्म) को जान लिया है' इस प्रकार की प्रवृत्ति में माधुर्य का अभाव है । लावण्य में जहां रसिकता है,

---

1 लोचन टीका–ध्वन्यालोक–पृ० ७८ (१९६३) व्याख्या ।
रामसागर त्रिपाठी । मोतीलाल बनारसीदास ।

2 इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतिनाम् । –अभि० शाकुन्तलम् १।१७

3 सतसई ।

वहीं रूप ज्ञान में एक शुष्क बौद्धिकता है। रूप में बुद्धि की ज्ञापन शक्ति है, लावण्य में भाव-पक्ष की सरलता है। लावण्य का स्फुरण हमारी चेतना में अविलम्ब हो जाता है, इसकी व्याप्ति पूरे शरीर में रहती है।

लावण्य के सौन्दर्य में जीवन का आनन्द रहता है। 'लुनाति जाड्य-मिति। लू × नन्द्यादित्वात् ल्यु। नन्द्यादिगणे णत्वपाठाद् णत्वम्। .... लवणस्य भावः लावण्यम्।[1] इस व्युत्पत्ति में लावण्य शब्द का रहस्य छिपा है। लूणपणे के भाव में ही लावण्य है। जैसे भोज्य सामग्री में नमक के योग से आस्वाद सुख रुचिकर हो जाता है, वैसे ही 'रूप' में लावण्य के संयोग से आकर्षण और मनोरमता उत्पन्न हो जाती है। लावण्य अवयवों में मधुरता और सरसता का विधायक तथा उसके जीवन की समृद्धि का स्रोत है। इससे रूप में सौन्दर्य की वृद्धि होती है। आनन्द का संचार होता है। इस दृष्टि से सौन्दर्य रूप का लावण्य है। रूप वस्तुगत आकार है। रूप का लावण्य इन्द्रियों की विशेष प्रक्रिया से सम्वेदना में बदल जाता है। ऐन्द्रिय रूपों के लावण्य में एक प्रियता होती है। इसी प्रियता से सौन्दर्य का आत्मिक आनन्द जाग्रत होता है। इससे चेतना उद्बुद्ध होती है। यही आत्म चेतना वस्तु में सौन्दर्य का अनुभव करती है। इसी से वस्तु का आस्वाद मिलता है।

रूप और सौन्दर्य का विकास सभ्यता के विभिन्न उपकरणों में दीख पड़ता है। जीवन के विभिन्न उपकरणों में सन्निहित सौन्दर्य रूप का ही लावण्य माना जायगा। इन्द्रियों की प्रक्रियात्मक सहयोग से रूप का यह लावण्य संवेदना में बदल जाता है। 'उत्तरोत्तर वस्तुगत रूप लावण्य तथा ऐन्द्रिक संवेदना और मनोगत चेतना की यह पारस्परिकता उत्तरोत्तर घटित होती गई है इसी क्रम विकास में भागवत सौन्दर्य का उदय होता है। ऐन्द्रिक रूप का लावण्य अपनी प्रियता द्वारा सौन्दर्य के आत्मिक आनन्द के जागरण में सहायक होता है। चेतना के भाव से वस्तु सुन्दर होती है। यह चेतना ऐन्द्रिय रूप के लावण्य से जाग्रत होती है। इस प्रकार ऐन्द्रिय रूप और चेतना दोनों एक दूसरे से प्रभावित होते हैं और वस्तु का लावण्य ही हमें संवेदनात्मक बोध कराने में सहायक होता है। यदि रूप का लावण्य न हो तो किसी प्रकार की प्रियतामूलक संवेदनात्मक चेतना जाग्रत नहीं हो सकती। अतः रूप, लावण्य, संवेदना, और तज्जन्य चेतना का उत्तरोत्तर विकास क्रम है।'

डा० हरद्वारी लाल ने रूप लावण्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि सजीव रूप में यदि अवयव इस प्रकार गुम्फित हैं कि उनमें तरलता, जीवन का ओज और तरंग की प्रतीति होती है, तो हमें रूप में लावण्य का अनुभव होता

---

1 हलायुध-कोश-पृ० ५७७

है[1] रूप की उचित और सजीव योजना को उन्होंने लावण्य कहा है। विभिन्न अंगों के सुविन्यस्त संगठन और तरङ्गमान योजना से ही यह सम्भव होता है। इस प्रकार उनकी दृष्टि से रूप के विन्यास में ही लावण्य है। इस दृष्टि से यह विन्यास से उत्पन्न होने वाला एक तत्व विशेष हो जाता है, परन्तु लावण्य विन्यास में न होकर रूप में वर्तमान ओज में अथवा कान्ति में ही माना जायगा।

अंत में कह सकते हैं कि वस्तु के रूप और लावण्य में आकार और धर्म का भेद है। 'लावण्य' शब्द के उच्चारण मात्र से वस्तु में वर्तमान कान्ति का आभास होने लगता है। जड़-पदार्थ आकर्षक हो सकता है, परन्तु लावण्य तो चेतन का ही धर्म है। रूप की सत्ता चेतन-अचेतन सभी में ही रहती है, लावण्य में सत्त्व की प्रधानता रहती है। इसका आश्रय स्थान सचेतन प्राणी ही है। रूप में 'सत्त्व' नहीं भी होता। इसमें 'लावण्य' के आश्रय भूत तत्त्व की एक सीमा है और रूप में इस प्रकार की कोई सीमा नहीं होती। लावण्य जीवन में आकर्षण और रस उत्पन्न करता है। इसी से लावण्य युक्त रूप स्पृहणीय बन जाता है। इस स्पृहणीयता से सौन्दर्य उद्‌भासित होता है। अतः कहा जा सकता है कि 'रूप' ही सौन्दर्य का आधार है। रूप के बिना सौन्दर्य की स्थिति ही नहीं हो सकती है। इस रूप में विन्यास की महत्ता रहती है और विन्यास-गत आकर्षण प्रसाधन के उपकरणों से उत्पन्न होता है। रूप में सौन्दर्य की मोहकता विन्यास के गुण और वाह्य प्रसाधनों से आती है। इससे रूप और सौन्दर्य दोनों का ही युगपत् कथन होता है। भेद केवल यह है कि सौन्दर्य की अधिकता में रूप की चेतनता दब जाती है और सौन्दर्य की मोहकता ही उभर कर समक्ष आ जाती है, फिर भी दोनों एक दूसरे के सापेक्ष और पूरक हैं। इसी रूप में इनकी मान्यता है। अगले अध्यायों में आत्मगत और विन्यासगत रूप-सौन्दर्य का तात्विक आधार निश्चित करके उसी निकष पर मध्यकालीन कृष्ण काव्य को परखने का प्रयास किया गया है।

(३) **अभिव्यक्ति**—सुन्दर वस्तु का तृतीय तत्व अभिव्यक्ति है। काव्य की परिधि में अमूर्त अथवा अव्यक्त मानसिक वृत्तियों को व्यक्त रूप दे देना ही अभिव्यक्ति है। संसार के सभी पदार्थ किसी अदृश्य के व्यक्त रूप ही हैं। कोई अनन्त चेतन सत्ता प्रकृति और प्राणियों के माध्यम से अपने को व्यक्त करती रहती है। इससे अभिव्यक्ति की यह सनातन और स्वाभाविक परम्परा है।

मानव में अभिव्यक्ति को एक स्वाभाविक प्रेरणा मान सकते हैं। वह जिन पदार्थों को देखता है अथवा जिनसे उसकी आत्मा तृप्त होती है, ऐसे

---

[1] सौन्दर्य-शास्त्र पृ० ७१

पदार्थों से उसे आनन्द की अनुभूति होती है। वह इस आनन्द को सौन्दर्य के भोग और रूप तत्वों के आधार पर व्यक्त करता है। स्वाभाविक प्रेरणा से इसकी अभिव्यक्ति होने पर यह स्वयं में सुन्दर हो जाती है। यदि भावनाओं को व्यक्त न करें, तो मन में एक अव्यवस्था हो जाती है। अतः इसी व्यवस्था को लाने के लिये अदृश्य प्रवृत्तियों, भावनाओं तथा प्राकृतिक और मानवीय या अन्य दृश्यों को हम रूप देते हैं। यह रूप देना ही 'कला' है। इससे जिस सौन्दर्य की सृष्टि होती है, उसे कलात्मक सौन्दर्य कहेंगे।

इस सौन्दर्य के लिये माध्यम को सुरुचिपूर्ण होना चाहिए। कभी-कभी अप्रिय माध्यम भी अभिव्यक्ति की सुन्दरता से प्रिय हो जाता है। भय, क्रोध करुण, रौद्र आदि भाव सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त होने से ही 'रस' कहे जाते हैं। अभिव्यक्ति के ढंग से ही रसानुभूति होती है। इस अभिव्यक्ति के नियम की यदि कठोरता से पालन करें तो कलाओं में एक निर्जीवता आ जाने की सम्भावना भी बनी रहती है तथा इसकी अवहेलना से विद्रूपता आ जाती है।

अभिव्यक्ति में नियम और भावों का स्वच्छन्द प्रवाह कला में निखार लाता है। कलाकार की उत्पादक प्रतिभा रूप को सुन्दर बना देती है तथा अरूप को रूप दे देती है। इसके गुणों में ओज, प्रासाद और माधुर्य मन की विभिन्न मानसिक अवस्थाओं को सूचित करते हैं। संस्कृत साहित्य में कई आचार्यों ने अभिव्यक्ति पक्ष पर ही अधिक बल दिया है। आचार्य वामन, रुय्यक, उद्भट, जयदेव, कुन्तक आदि के काव्य निरूपण में इसी पक्ष पर अधिक बल दिया गया है।

संस्कृत काव्य शास्त्रियों के मत से अभिव्यक्ति का माध्यम सुरूप होने पर स्वयं अभिव्यक्ति भी सुन्दर हो जाती है। पाश्चात्य देशों में तो कला के लिये ही कला की सृष्टि मानते हैं। इटैलियन विद्वान क्रोचे ने अभिव्यक्ति को ही सुन्दर माना है। इस अभिव्यक्ति के द्वारा अदृश्य, अव्यक्त और आध्यात्मिक अनुभूतियां भी व्यक्त हो जाती हैं।

साहित्य में वर्णित नौ स्थायी भावों में से रौद्र भयानक आदि से जो एक आनन्ददायक अनुभूति होती है, उसका मूल कारण अभिव्यक्ति का सौन्दर्य ही है। यदि ऐसा न हो तो यथार्थ जगत में विकर्षण उत्पन्न करने वाले ये भाव काव्य जगत् में कभी भी आकर्षण के कारण नहीं बन पाते। अभिव्यक्ति में उसके विशेष नियम और कवि की स्वच्छन्दता इन दोनों के समुचित समन्वय में ही सौन्दर्य मुखर हो जाता है। केवल नियम का पालन काव्य में नीरसता उत्पन्न कर देता है। कवि की स्वच्छन्द भावना विशेष मानसिक स्थिति में उच्चकोटिक अनुभूतियों में अभिव्यक्त करती है। यद्यपि कला की सृजनात्मक

प्रतिभा रूढ़ियों को स्वीकार करने को बाध्य नहीं होती, फिर भी उसकी नूतन आविष्कृत रूपादि नियम के शासन को किसी न किसी रूप में अवश्य ही ग्रहण करते हैं। इस प्रकार दोनों के समन्वय से कला की अभिव्यक्ति सुन्दर होती है। इसका लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है। इसी बात का समर्थन करते हुए कहा गया है कि, 'सौन्दर्य केवल आत्मिक और आन्तरिक अनुभूति मात्र नहीं है, वरन् वह आत्म भाव की भूमिका में वाह्य माध्यमों द्वारा साकार होने वाली सामाजिक अभिव्यक्ति है।[1]

(४) **प्रियता** को सौन्दर्य का एक चौथा तत्व मान सकते हैं। इसी प्रियता से वस्तु में आकर्षण का भाव आता है। एक ही वस्तु एक के लिए सुन्दर और दूसरे के लिये असुन्दर हो जाती है। यहां प्रियता रुचि पर निर्भर है। अतः जिन गुणों के कारण वस्तु प्रिय बनती है, उन गुणों को सौन्दर्य कहेंगे।

अन्त में कहा जा सकता है कि सुन्दर वस्तु के प्रथम तीन तत्वों में विकास का एक क्रम है। इनमें से किसी एक की प्रधानता होती है। भोग के संग 'रूप' और अभिव्यक्ति की अस्पष्टता बनी रहती है। प्रकृति के कुछ पदार्थों में भोग और रूप दो पक्षों की प्रबलता होती है। मानव में भोग और रूप के साथ चेतनता का अस्तित्व भी बराबर बना रहता है। इसी से एक शिशु तथा युवती में भोग्य पदार्थों के समुचित विन्यास से रूप की पराकाष्ठा और सौन्दर्य के आकर्षण के साथ चेतन अंश के समावेश तथा मानसिक वृत्तियों उत्साह, आकांक्षा की प्रियता भी वर्तमान रहती है। यदि ये तीनों ही तत्व एक ही स्थल पर समन्वित हो जायं, तो उनसे उत्पन्न होने वाला सौन्दर्य लोकोत्तर हो जाता है। वह अपनी दिव्यता के कारण आकर्षक रूप में प्रियता का बोध कराता है। अतः कहा जा सकता है कि भोग और रूप के साथ अभिव्यक्ति का सौन्दर्य महत्वपूर्ण हो जाता है। मानवीय स्तर पर अभिव्यक्ति आत्मगत एवं बाह्य सौन्दर्य साधक उपकरणों से पूर्णता को प्राप्त होती है। इससे रूप और अधिक आकर्षक और सुन्दर होकर आकृष्ट करने वाला बन जाता है। इसी रूप और सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना का व्यावहारिक पक्ष इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है। अतः इसे ही इसकी सीमा मानेंगे।

---

[1] सत्यं शिवं सुन्दरम्-भूमिका पृ० १७ डा० रामानन्द तिवारी

रूप-सौन्दर्य—अभिव्यक्ति-निर्वचन

(१) कलात्मक-सौन्दर्य
(२) कलात्मक-सौन्दर्य के भेद
(३) मानवीय-सौन्दर्य
(४) सौन्दर्य-साधक उपकरण
 (क) आत्मगत उपकरण
  (१) गुणगत
  (२) चेष्टागत
 (ख) बाह्य उपकरण
  (१) प्रसाधनगत
  (२) तटस्थ

मानव की बोध वृत्ति क्रमशः तीन दिशाओं में संचरण करती हुई विकसित होती है। इसे जिज्ञासा, चिकीर्षा और सौन्दर्यानुराग कहते हैं। इन तीनों वृत्तियों की तृप्ति के लिये मानव क्रमशः ज्ञान, कर्म और उपासना का आधार लेता है। सौन्दर्यानुभव की अभिलाषा मानव मात्र में रहती है। यह आनन्द का अनुभव कराने वाली वृत्ति है। सौन्दर्यानुभूति में मानव अपनी ही तन्मयता एवं अनुराग का बाह्य वस्तु के माध्यम से भोग करता है। अतः इसमें वस्तु की सत्ता और व्यक्ति की अनुभूतियों का महत्व रहता है।

ज्ञान से जिज्ञासा वृत्ति की तृप्ति और आत्म-तत्व का बोध होता है। यह बोध चिन्तन अथवा प्रातिभ ज्ञान से होता है। इस ज्ञान की सीमा में सत्य दर्शन का विषय हो जाता है, परन्तु अनुभूति की परिधि में यही सत्य 'सुन्दर' बनकर प्रस्तुत होता है और 'सुन्दर' कर्म के आश्रय से कल्याणकारी और मङ्गलमय बन जाता है। इस प्रकार मानसिक रूप में सत्य सुन्दर की अनुभूति कराता है। अतः सौन्दर्य में मानसिक अनुभूति और लोक-हित में आचरण सम्बन्धी कार्यों की महत्ता रहती है। काव्य में मानसिक अनुभूति एवं तज्जन्य सौन्दर्यानुराग की महत्ता रहती है। इसी से सौन्दर्य वर्णन में काव्य सदैव सचेष्ट रहता है। इस वर्णन में वह मानव को आधार बनाकर उसकी मुख्यता का प्रतिपादन करता है। इसमें अपनी योग्यता के प्रदर्शन में वह जिस ढंग और कलात्मक प्रतिभा का सहारा लेता है, उससे अभिव्यञ्जनागत सुन्दरता की अभिव्यक्ति होती है। निम्नलिखित पंक्तियों में सौन्दर्य के इन्हीं दो रूपों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। वे दोनों कलात्मक और मानवीय सौन्दर्य के नाम से अभिहित किये जा सकते हैं।

कलात्मक-सौन्दर्य –

बाह्य रूप की आन्तरिक अनुभूतियाँ ही अपनी विशेष प्रक्रिया से कलात्मक सौन्दर्य का अधिष्ठान बनती हैं। मनोजगत को बाह्य जगत की दृश्य ऐन्द्रिय वस्तुओं का साक्षात्कार होने पर अन्तःकरण की सक्रियता उस बाह्य रूप में एक नवीन भावना का समावेश कर देती है। इस प्रकार वस्तु की अभिव्यक्ति कलात्मक हो जाती है। यहाँ वस्तु का स्थूलतत्व मानस की सूक्ष्म सत्ता का साहाय्य पाकर विभिन्न कलाओं के रूप में स्फुरित हो जाता है। मूल सामग्री ही भावना संवलित होकर आकर्षक रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। अभिव्यक्ति के कारण उत्पन्न होने वाले सौन्दर्य को कलात्मक सौन्दर्य कहते हैं।

कला का यह सौन्दर्य कलाकार की सर्जनात्मक शक्ति के ऊपर निर्भर रहता है। उसकी अभिव्यञ्जना में व्यक्तिगत विशेषताओं का समावेश होता है। कवि अपनी अनुभूतियों को युग वैशिष्ट्य के आधार पर कभी सहजभाव से और कभी सचेष्ट होकर अभिव्यक्त करने में भावना अथवा ज्ञान, बुद्धि आदि का सहारा लेता है। इसमें कवि द्वारा अपनाया गया शिल्प जिस सौन्दर्य का विधान करता है, वही 'कलात्मक सौन्दर्य' कहा जाता है। इसे ही अभिव्यञ्जनागत सौन्दर्य भी कह सकते हैं।

इस सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण अन्य चाक्षुप विषयों के प्रत्यक्षीकरण की भांति सम्भव नहीं है, केवल अनुभूति का विषय है। काव्य सहृदय के अनुकूल होता हुआ उसे भावमग्न कर देने की क्षमता रखता है। काव्य में वर्णित वस्तु यथार्थ जगत में हमें आकर्षित कर लेने में कई बार अक्षम हो जाती है, परन्तु वही बाह्य रूप रेखा, शब्द, ध्वनि आदि में बंधकर रसानुभूति कराने लग जाती है। यही कलाकार की क्षमता है। वह अपनी क्षमता से रसानुभूति कराता हुआ स्थूल और कुरूप को भी सूक्ष्म और सुन्दर बना देता है। इससे आविर्भूत होने वाले सौन्दर्य द्वारा कलाकार अनुभूतियों के सम्बल, प्रतिभा और कल्पना के साहाय्य और चित्र विधायिनी शक्ति से सहृदय के मानस पटल पर सौन्दर्य और रमणीयता की एक अपूर्व छाप छोड़ देता है। सहृदय भी उस कलात्मक सृजन में अपनी ही भावनाओं का प्रतिबिम्ब पाकर रस-मग्न हो जाता है। इस प्रकार कवि की प्रतिभा से शुष्क बाह्य तत्व या व्यापारादि काव्यात्मक रूप पाकर कलागत सौन्दर्य कहे जाते हैं। इससे उत्पन्न होने वाली नवीनता मूलक रमणीयता की अनुभूति ही रसानुभूति है। अतः काव्यगत सौन्दर्य की कलात्मक मानस अनुभूति ही रस है।

भारतीय काव्य शास्त्र में इस अनुभूति को भिन्न काव्य सम्प्रदायवादियों ने अलग-अलग रूप में ग्रहण किया है। विश्वनाथ का रस सम्प्रदाय, आनन्दवर्धन का ध्वनि सम्प्रदाय, दण्डी का अलंकार सम्प्रदाय, कुन्तक का वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, वामन का रीति-सम्प्रदाय इसी को व्यक्त करने के विभिन्न मार्ग है। क्षेमेन्द्र ने इसका स्पष्टीकरण औचित्य द्वारा किया है आचार्य जगन्नाथ शब्द में रमणीयता को पाने का प्रयास करते हैं। मम्मटाचार्य शब्द और अर्थ के समन्वय में इसे देखते हैं। अभिनव गुप्त के अनुसार गुण, अलंकार और औचित्य के ध्वनियुक्त शब्दार्थ द्वारा समन्वित रूप में सौन्दर्य की अनुभूति होती है। कोई वाच्यार्थ को महत्व देता है कोई प्रतीयमान अर्थ में ही रमणी के अंगों में व्याप्त लावण्य के समान उस सौन्दर्य का अस्तित्व पा लेता है। इससे स्पष्ट है कि

काव्यगत सौन्दर्य के अस्तित्व को सभी भारतीय किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार कर लेते हैं।

इस काव्यगत सौन्दर्य का मूल स्रोत प्रकृति और मानव जगत का वह सम्पूर्ण रूपाकार है जो कल्पना और अनुभूति की रमणीयता प्राप्त करके सुन्दर बन जाता है। मानव एवं प्रकृति का जड़ तत्व कल्पना से ही चेतन बन जाता है। इससे एक विशेष आनन्द मिलता है। इस आनन्द का आधार मानव है। अतः इस आनन्द के मूल में स्थित सौन्दर्य भी मानवीय सौन्दर्य की अनुभूति हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सृजनात्मक कल्पना की दृष्टि से अनुभावन करने पर सभी वस्तुएँ सुन्दर हो जाती है। यहां तक कि प्रकृतिगत सौन्दर्य में भी वस्तु का गुण, कल्पना की सृजनात्मक चेतना आदि कलात्मक सौन्दर्य के कारण बन जाते हैं। सृजन के इस सौन्दर्य में प्रदर्शन की भावना वर्तमान रहती है।

यह सृजन एकान्त क्षणों में सम्भव हो सकता है, परन्तु उसका एकान्त भाव सदा बना नहीं रहता। उसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सामाजिक चेतना बनी रहती है। इसी से प्रदर्शन की कलाओं में श्रोताओं की रुचि का ध्यान बना रहता है। ऐसी कलाओं में चाक्षुप रूप सौन्दर्य की महत्ता बनी रहती है। इस रूप पर अवलम्बित होते हुए भी रूपगत सौन्दर्य और कलात्मक सौन्दर्य में अन्तर है।

(१) कलात्मक सौन्दर्य मनोजगत का सौन्दर्य है, यद्यपि इसकी चयन सामग्री का आधार यही रूपाकार गत प्रकृति एवं मानव जगत का क्षेत्र है।

(२) काव्यगत सौन्दर्य की मानसिक अनुभूति की मान्यता सभी सम्प्रदायों में हैं।

(३) बाह्य रूप में ही सौन्दर्य की अनुभूति होती है। यही रूप रमणीय होकर आकर्षण का कारण बनता है।

(४) कलात्मक सौन्दर्य एकान्त, व्यक्तिगत और आन्तरिक अनुभूति एवं प्रतिभा का फल है। इसमें सृजन का एक अपूर्व भाव रहता है। इससे इसमें अभिव्यञ्जनागत शिल्प का महत्व रहता है। यह अभिव्यञ्जना अनेक रूपों में प्रस्तुत की जाती है।

कलात्मक सौन्दर्य के भेद

काव्य-सृजन में अभिव्यञ्जनागत-सौन्दर्य का महत्व है। व्यक्ति भेद से अभिव्यञ्जना के रूप में अन्तर आ जाता है। काव्य के सृजन में कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियां ही विषय वस्तु के समन्वय से एक विशिष्ट शैली में

प्रकट हो जाती है। काल का प्रभाव तो पड़ता ही है। कवि वस्तु के रूप का आधार लेकर कल्पना एवं अपनी बौद्धिक चेतना से ध्वनि और शब्द के प्रयोग द्वारा अभीष्ट अर्थ की सिद्धि करता है। इस प्रकार रूप, शब्द, ध्वनि और कल्पना के आधार पर काव्य में कलात्मक-सौन्दर्य का स्फुरण होता है। इन चारों का स्थूल आधार व्यावहारिक दृष्टि से 'रूप' या उसका आकर्षण ही है। सर्वप्रथम व्यक्ति रूप-आकार की स्थूलता का बोध करता है। यही बोध कुछ क्षण बाद ही आकार और रूप से निर्मित उस वस्तु या व्यक्ति के गुण का आन्तरिक विश्लेषण करने में लग जाता है। इस कार्य में पहली क्रिया रूपाकर्षण की स्थूलता की बोधिका और दूसरी क्रिया गुण के आकर्षण और आन्तरिक क्रिया का ज्ञान कराने वाली होती है। व्यावहारिक जीवन में रूपाकर्षण की क्षणिकता के स्थान पर गुणों की चिरन्तनता अधिक महत्वपूर्ण होती है। यही पक्ष काव्य में भाव-सौन्दर्य बनकर प्रस्तुत होता है। इन दोनों रूप और भाव-की सौन्दर्याभिव्यक्ति ही काव्य का लक्ष्य है। अभिव्यक्ति के माध्यम से रूप ही भाव-सौन्दर्य बनकर आनन्द का कारण होता है। इस भाव-सौन्दर्य के सम्यक् नियोजन में काव्यकार भावों (स्थायी आदि) वस्तु-सौन्दर्य (परिस्थिति, वातावरण, देशकाल, परम्परा) और दृश्य-सौन्दर्य (प्रकृति, मानव और विश्व के चित्र) को उपस्थित करता है। अपने इस सृजन को आकर्षक बनाने के लिये वह अर्थ-परिवर्तन शब्द ध्वनि, चित्र-योजना आदि अनेक तत्वों का सहारा लेता है :—

(क) **अर्थ परिवर्तन**— युग की भावनाओं के अनुसार तथा सतत प्रयोग के कारण अनेक शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। प्रयोग बाहुल्य तथा लौकिक प्रसंगों के समावेश से 'श्रीकृष्ण' शब्द के अर्थ में उत्तर-मध्यकाल के साहित्य में गिरावट आ गई। इनका अर्थ सामान्य नायक से लिया जाने लगा। इसी प्रकार के अन्य शब्दों में कन्हैया, सांवलिया, लाल, ललन लली आदि की गणना की जा सकती है। इसी से सम्बन्धित अन्य शब्दों में भी गिरावट आ गई। इससे इन सभी शब्दों का प्रयोग लौकिक अर्थ में होने लगा।

(ख) **शब्द-ध्वनि**— कलात्मक सौन्दर्य के अन्तर्गत शब्द-ध्वनियों द्वारा अनुकूल वातावरण की सृष्टि की जाती है। इनसे मानव की मूल संवेदना या भाव प्रकट होता है। शब्दों से उत्पन्न ध्वनि के माध्यम द्वारा चित्रात्मक गूँज वातावरण में फैलता रहता है। इसमें श्रुति-सुखदता और नाद-सौन्दर्य प्रस्तुत को प्रभावशाली बना देने में समर्थ हो जाता है। ऐसे शब्दों के प्रयोग से अभिव्यञ्जना का कलात्मक सौन्दर्य दीख पड़ता है। इस सौन्दर्य में श्रुति-

चित्र महत्वपूर्ण होता है। ध्वनि उत्पन्न करने वाले ये शब्द तीन प्रकार के होते हैं।

(१) अनुकरणात्मक (२) रणनात्मक (३) लक्षणात्मक। ऐसे शब्दों का प्रयोग प्रायः मिलन प्रसंग पर अथवा रति प्रसंग पर श्रुति-माधुर्य उत्पन्न करने या भावों को उद्दीप्त करने में किया गया है।

अनुकरणात्मक शब्दों द्वारा वस्त्रों की फरफराहट का बोध कराया जाता है। ऐसे प्रयुक्त शब्दों द्वारा स्वयं ही एक ध्वनि सी निकलती हुई प्रतीत होती है। यथाः—

'फहर-फहर होत पीतम को पीत-पट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया। देव

इसमें प्रयुक्त शब्दों के फरफराहट की आवाज से निर्जीव वस्त्रादि में भी मिलन-सम्भावना से आनन्द एवं उत्साह की अभिव्यञ्जना हुई है।

रणनात्मक शब्दों द्वारा आभूषणों से उत्पन्न ध्वनि के माध्यम से विशेष वातावरण एवं प्रसंगादि का बोध कराया जाता है। यह ध्वनि मिलन के अवसर पर अपने चमत्कारिक प्रभाव के कारण प्रसिद्ध है। यथाः—

'झाँझरिया झनकैंगी खरी खनकैंगी, चुरी तन को तन तोरें। दास

आभूषणों के इस रणन का तत्काल और सीधा प्रभाव संवेगों पर पड़ता है। इससे मिलन प्रसंग की सुखदता बढ़ जाती है।

लक्षणात्मक शब्दों में नाद और अभिव्यक्ति का युगपत् सौन्दर्य देखने को प्राप्त हो जाता है। यथा "उमड़्यो परतरूप" जैसे प्रयोगों में लक्षणा द्वारा वाचक शब्द से भिन्न एक ऐसे अन्य अर्थ का बोध होता है, जो इन्द्रिय ग्राह्य होने के साथ ही रूप-सौन्दर्य के आधिक्य की व्यञ्जना करता है। रूप के उमड़ने में उसके आकर्षण, पूर्णता और तरलता आदि का बोध होता है। ऐसे चित्रों द्वारा काव्य का आकर्षण बढ़ जाता है।

(३) विशेषणों के प्रयोग में, अभिव्यञ्जनात्मक-सौन्दर्य-वृत्ति स्पष्ट होती है। काव्य एवं प्रसंगानुकूल विशेषण के प्रयोग से रूप की अद्भुत सृष्टि होती है, जिससे कवि की जीवन दृष्टि एवं भावनाओं का ज्ञान होता है। यदि उस शब्द के स्थान पर किसी अन्य पर्याय ध्वनि का प्रयोग करें, तो न तो रूप की अद्भुत सृष्टि ही हो सकेगी और न काव्य-सौन्दर्य की विलक्षण अभिव्यक्ति ही। अतः विशिष्ट विशेषणों के चयन में चित्रोपम सौन्दर्य एवं कवि की भावना इन दोनों का समन्वय रचना के आकर्षण को बढ़ा देता है। ऐसे विशेषणों का प्रयोग अंगों की मधुरता, कोमलता, आकर्षण आदि की अभि-

व्यक्ति द्वारा उसका रूपचित्र उपस्थित करने में हुआ है। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग, वर्ण की महत्ता, अंग वर्णन के प्रसंगों पर इन शब्दों द्वारा ऐन्द्रिय चक्षु-चित्र के साथ भाव-चित्र रूप और रस का समन्वय भी प्राप्त हो जाता है। जैसे अनियारे नयन, लाज कसी अंखियां, उत्तुङ्ग उरोज, सुरंग चूनरी, सघन-जघन, गदरे देह, जगमगे जोवन आदि शब्दों द्वारा यही भाव व्यक्त होता है। इनमें क्रिया मूलक विशेषणों से (ललचौही चखन) मानसिक भावों की अभि-व्यक्ति भी होती है। अनेक विशेषणों के प्रयोग से रूपचित्र में एक अन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है। आकार और कठोरता को व्यक्त करने वाले विशेषण कुचों की उपमा में प्रयुक्त हुए हैं। क्रियात्मक पक्ष के द्योतक विशेषणों से चित्रोल्लेखन एवं भावों की क्षमता व्यक्त होती है। ठाढ़े, उचके कुच में यही पक्ष है। 'खरे' विशेषण में मांसलता की अभिव्यक्ति है। सुरंग चूनरी आदि द्वारा चक्षुग्राह्य उत्तेजना मूलक विशेषण का प्रयोग हुआ है। घनानन्द के विशेषणों में विपयिनिष्ठता का रंग अधिक है, रसखान का रूपचित्र एवं देव की ऐन्द्रिय भावना प्रधान है। बाद की रचनाओं में प्रयुक्त विशेषणों द्वारा प्रस्तुत विषय में चमत्कार लाने की चेष्टा की गई है।

(४) मुहावरों के प्रयोग में प्रयोजनवती और रूढ़ि लक्षणा के दर्शन होते हैं। आरम्भ में इनका प्रयोग प्रयोजन विशेष में होता रहा, परन्तु सतत प्रयोग से वे रूढ़ अर्थों में प्रयुक्त होने लगे हैं। इन्हीं मुहावरों के प्रयोग में स्वभावोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि कई अलंकारों का सौन्दर्य भी देखा जा सकता है। भावों की अभिवृद्धि और अलंकारों के चमत्कार से अभिव्यञ्जना में निखार आ जाता है। मुहावरों का प्रयोग मुख्यतः मन, चित, आंख आदि के प्रसंग पर हुआ है। मतिराम ने 'रसराज' में आंखों के लिये अखियां भर आई (छंद ११) दृग जोरे (छंद १२७) नैनन को फल पायो (छंद २३८); देव ने 'सुन्दर विलास' में मिले दृग चारों (१२) बंक विलो-कनि पै ही विकान्यो (पृ. ६ प्रेम चन्द्रिका) और पद्माकर ने 'जगद्विनोद' का प्रयोग किया है। मन के लिये मन भायो न कियो (छंद १३८ रसराज) गुन औगुन गनै नहीं (छंद ५३) (जगद्विनोद) आदि का प्रयोग है। कुल कानि गंवाए (छंद १२२ रसराज) तिनतोरत फिरत (सुन्दर विलास पृ. ६) आदि अन्य मुहावरों का सौन्दर्य भी देखा जा सकता है।

मुहावरों के प्रयोग का मूल उद्देश्य शरीरी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को हृदय आवर्जक बनाना है। आंख, मन और चित्त सम्बन्धी मुहावरों में क्रमशः इनके लड़ने, बंधने और चोरी चले जाने में प्रेम-भाव का एक क्रमिक

विकास दीख पड़ता है। रूप-लावण्य पर आधारित आंखों के चार होने में मांसल सौन्दर्य का आग्रह ही अधिक दीख पड़ता है।

वैभव से भिन्न सामान्य गृहस्थ जीवन के दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले मुहावरों में 'रवा राखत न राई सी' 'ठॅग गनौगी' आदि मुहावरों द्वारा अर्थवत्ता लाई गई है। अलंकारों के चमत्कार प्रदर्शन में मुहावरों को देख सकते हैं। घनानन्द ने विरोधाभास के लिये मुहावरों का प्रयोग किया है। असंगति का चमत्कार विहारी में दर्शनीय है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि मुहावरों के प्रयोग द्वारा भावों में तीव्रता लाई जाती है। मुहावरे जब कवि के साध्य बन जाते हैं, तो भाव-तीव्रता के स्थान पर चमत्कार का प्रदर्शन अधिक होने लगता है। उचित प्रभाव की व्यञ्जना के लिये मुहावरों का सुविचारित प्रयोग अभीष्ट अर्थ की सिद्धि करता है।

(५) **चित्र—योजना**— अभिव्यञ्जना के कलागत सौन्दर्य के लिये काव्य चित्रों को उपस्थित करने की परम्परा मध्यकालीन साहित्य में अत्यधिक रही है। चित्र के माध्यम से ही अनुभूतियां आकार ग्रहण करती हैं। इन काव्य चित्रों के दो भेद—**लक्षित चित्र योजना** और **उपलक्षित चित्र योजना** किये जा सकते हैं। पहले में वाह्य रेखाओं और वर्णों आदि के द्वारा चित्रोपस्थिति का तत्काल ज्ञान हो जाता है और दूसरे में अप्रस्तुतों एवं सादृश्य-विधान द्वारा ज्ञान होता है। लक्षित चित्र योजना के दो भेद-**रेखा-चित्र** और **वर्ण चित्र** माने जा सकते हैं। इन दोनों में क्रमशः रेखाओं या वर्णों के द्वारा आलम्बन के रूप को अभिव्यक्त किया जाता है। इस साधन में कलाकार का चेतन मन सहजतया रेखा या वर्णों द्वारा स्पष्ट हो जाता है। उपलक्षित चित्रों में सादृश्य—विधान एवं अप्रस्तुतों की महत्ता रहती है। चित्र योजना के इन दोनों प्रकारों में अभिव्यञ्जना का कलात्मक और मानसिक वृत्तियों का सुन्दर स्वरूप उपस्थित होता है।

(क) **लक्षित चित्र योजना** के अन्तर्गत **रेखा-चित्र** द्वारा रूपांकन के साथ ही ज्ञानेन्द्रियों के अन्य विषयों रस, शब्द, स्पर्श, गंध का भाव भी कहीं-कहीं लक्षित होता है। उदाहरणार्थ, रूप में स्पर्श की भावना से ही आनन्द का उद्बोध होता है। दो या दो से अधिक विषयों के समुचित रूप के कारण आकार की महत्ता बढ़ जाती है। रूप मात्र या अन्य कोई भी एक विषय अपनी नीरस अवस्था में आनन्द का जनक नहीं हो पाता। इसीसे नख-शिख की रूढ़िग्रस्त परम्परा, नायक-नायिका भेद का घिसा-पिटा रूप, अभिसारिका,

खण्डितादि के वर्णनों की एकरूपता आदि से बौद्धिक संतुष्टि भले हो जाय, उनसे रसानुभूति नहीं हो पाती। इससे अभिव्यञ्जनात्मक विविधता स्पष्ट होती है परन्तु इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि मध्यकालीन चित्रों में नयनाभिराम रूपों, भाव-चित्रों, अनुभावों आदि का सौन्दर्य है ही नहीं। इनको अपने उत्कृष्टतम रूप में मध्यकाल में देखा जा सकता है।

रेखा-चित्रों द्वारा नायिका के **रूप और उसकी चेष्टा** की सुन्दरतम अभिव्यक्ति हुई है। रूप आकर्षण का प्रमुख साधन है। अनुभावों और चेष्टाओं से प्रेम प्रकट होता है। ये उद्दीपन के उपकरण हो जाते हैं। अतः रेखा-चित्रों में इन तीनों को आत्मसात् कर लिया जाता है। मतिराम के प्रसिद्ध छंद 'कुंदन को रंगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गुराई" में रूढ़िग्रस्त उपमानों के न होने पर भी कुंद से गौर वर्ण, आँखों के आलस्य और चितवन के विलास द्वारा सौन्दर्य का संश्लिष्ट रूप उपस्थित होता है। यह भावमय, व्यञ्जक और मनोरम है। चेष्टा और हावों का सौन्दर्य बिहारी में अधिक है।[1] हावों का सम्बन्ध मन से होने पर मन की विविध दशाओं का ज्ञान इसके द्वारा हो जाता है। इस प्रकार के चित्र-निर्माण की क्षमता मध्यकालीन कवियों में बहुत पाई जाती है।

वर्ण योजना—चित्र-निर्माण में रेखाओं द्वारा रूप उपस्थित करने में वर्ण योजना का भी अत्यधिक महत्व है। इससे अभीप्सित भावों की अभिव्यक्ति हो जाती है। वर्णों द्वारा रूप उपस्थित करने में नायिका की **आंगिक वर्ण-शोभा** एवं **प्रसाधन गत** शोभा का वर्णन होता है। प्रसाधन वस्तुओं में आकर्षण उत्पन्न करने के लिये **वर्ण की अनुरूप योजना वर्ण-मिश्रण, प्रतिरूप वर्ण योजना और वर्ण परिवर्तन** का विशेष महत्व स्वीकार किया गया है। इन वर्णों के सादृश्य का आधार **प्रकृति, प्रसाधनगत सामग्री** (वस्त्राभूषण), **पावक** एवं अग्निशिखादि है। प्राकृतिक साधनों द्वारा वर्ण योजना ने नक्षत्र आकाशादि तथा पुष्पादि का आधार ग्रहण किया गया है। वस्त्राभूषणों में वैभव के उपकरण, विभिन्न रत्नों के साथ कामदार साड़ी, अंगिया, चोली, चूनरी आदि की चर्चा है। दीपशिखा के कथन द्वारा अंग-ज्योति एवं प्रकाश की अभिव्यक्ति सरलतया हो सकी है।

गतिशील वर्ण योजना द्वारा सुकुमारता की अभिव्यक्ति हुई है। 'सुन्दरी तिलक' में बताया गया है कि नायिका के पाँव धरने से रंग की धारा

---

[1] नासा-मोरि नचाइ दृग करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकति अजौं गड़ी कटीली भौंह। बिहारी।

प्रवाहित होने लगती है, और भीतर से वाहर तक जुन्हाई की धार सी दौड़ जाती है।[1] लाल और श्वेत रंगों द्वारा पावों की स्वाभाविक लालिमा और तन–द्युति का आभास कराया गया है। शारीरिक कोमलता और सुकुमारता की ऐन्द्रिय अनुभूति नायिका के समग्र सौन्दर्य को व्यक्त कर देती है। अंग की फूटती ज्योति से मूर्त प्रत्यक्षीकरण सफलता से हो जाता है।

(ख) **उपलक्षित चित्र योजना या अप्रस्तुत योजना का सौन्दर्य**–उपमेय का रूप उपस्थित करने के लिये कवि उपमान का प्रयोग करता है। यह सादृश्य विधान द्वारा ही अधिक होता है उपमा और रूपक के द्वारा उपमेय के स्वरूप का बोध केवल चक्षु का विषय ही नहीं रहता है, अपितु भावों के उद्बोध के साथ इससे एक वातावरण की सृष्टि भी होती है इन अलंकारों का आन्तरिक महत्व होता है। यथा 'विपत्ति का समुद्र' कहने से इसकी अनन्तता और भयंकरता का वर्णन किया जाता है। इससे जो वातावरण बनता है वह मानसिक भावों को उद्बुद्ध करता है इन उपमानों के प्रयोग में रुचि, वातावरण और देशकाल का संकेत होता है इससे चित्रयोजना में कवि की बोधवृत्ति और भाव-वृत्ति दोनों का समन्वय होना चाहिए इसमें एक विषय होते हुए भी व्यक्तिगत रुचि से विभेद हो जाता है। रीतिकाल में रूढ़ उपमानों का प्रयोग नारी के स्थूल अंगों के चित्रण के लिये किया गया है और चित्र योजना के लिये ग्रहण किये गये अप्रस्तुतों का क्षेत्र तत्कालीन वातावरण प्रकृति, पशु-पक्षीजगत शास्त्र-ज्ञान और व्यावहारिक जीवन रहा है। जैसे सुरतिरण, प्रेम-सरिता, मन-मृग, तिय-तिथि हृदय-हिंडोल आदि क्रमशः इन्हीं क्षेत्रों के उदाहरण हैं।

विहारी के अप्रस्तुत दरवारी वातावरण से, देव के पशु पक्षीजगत और घरेलू जीवन से आये है। इन अप्रस्तुतों का प्रतीकात्मक अर्थ कवि की वृति को स्पष्ट करता है। देव ने नायिका को 'पिंजरा की चिरी' कह कर पीड़ा, वेदना, तड़फन आदि मानसिक स्थितियों का वर्णन किया है। घरेलू अप्रस्तुतों में देव ने मन के लिये मोम, माखन, घी आदि के प्रयोग से द्रवणशीलता का संकेत किया है। मध्यकाल में अप्रस्तुतों के चुनाव में दो बातों का ध्यान रखा गया है।

---

[1] पांव धरे अलि ठौर जहां तेहि ओरते रंग की धार सी धावति
भीतर भौनते वाहिर लौं द्विजदेव जुन्हाई की धार सी धावति।
सुन्दरी–तिलक।

(१) रूप और प्रेम को उद्दीप्त करने वाले अप्रस्तुत।

(२) इन प्रस्तुतों का तीन क्षेत्र है (i) सामान्तीय जीवन में वैभव-विलास और रूप की आसक्ति दिख पड़ती है। (ii) घरेलू जीवन के अप्रस्तुतों में द्रन्एणशीलता है (iii) प्रकृति पशु-पक्षी के जीवन से गृहीत अप्रस्तुतों द्वारा नायिका की संयोग-वियोग सम्बन्धी मानसिक भावना व दशा का वर्णन किया गया है। इस अप्रस्तुत योजना का आधार साट्श्य है जो तीन रूपों-**रूप साहश्य, धर्म-साहश्य और प्रभाव साहश्य** में प्रकट होना है।

रूप साहश्य—साहश्यमूलक अप्रस्नुत योजना में आकार के साथ वस्तु का भावात्मक बोध भी कराया जाता है। यहां रूपानुभूति की तीव्रता का महत्व अधिक हो जाता है।

रूप साम्य में अप्रस्तुत विधान का लक्ष्य वस्तु चित्रण को रमणीय बना कर उसे उत्कर्ष देना होता है। इससे सहृदय की कल्पना उद्दीप्त होती है। रूप-साम्य से वस्तु चित्रण रमणीय होता है। इस साहश्य विधान का मुख्य उद्देश्य सौन्दर्य का बोध करना होता है। उपमानों द्वारा वर्ण्य वस्तु का चित्र उपस्थित हो जाता है परन्तु रीतिकाल का रूप-वर्णन नख-शिख की सीमा में रूढ़िवद्ध हो गया है। संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त उपमानों का पिष्ट-पेषण ही अधिक हुआ है। ऐसे परम्परागत उपमानों से रूपानुभूति में तीव्रता नहीं आती।

धर्म साम्य—का एक अच्छा उदाहरण दास कवि ने दिया है। "हरख मरु धरनि को नीर भौ री। जियरो मदन तीर गन को तुनीर भौ।" इसमें मरु-भूमि की विशेषता पानी को सोख लेने में है। इस धर्म के साम्य से हर्ष के क्रमशः विलीन हो जाने की क्रिया को प्रत्यक्ष किया गया है। धर्म साम्य का यह उदाहरण अछूता होने से सौन्दर्य को बढ़ाने वाला हो सका है। इससे उत्पन्न रमणीयता द्वारा वर्णन प्रभाव पूर्ण हो जाता है। यह रूप साम्य की अपेक्षा साहश्य का सूक्ष्मतर विधान करता है।

प्रभाव साम्य—अप्रस्तुत योजना की इस सीमा में सूक्ष्म तत्व के प्रभाव की व्यज्जना होती है। इससे आलम्बन का प्रभाव अधिक पूर्ण होता है। पुरुष-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में प्रभाव साम्य की व्यज्जना अधिक है, क्योंकि उसी के रूपादि से प्रभावित होकर नायिकाओं की विभिन्न स्थितियों का चित्रण होता रहा है। देव का एक उदाहरण देखिए :—

ये अँखियां सखि आनि तिहारियै. जाय मिलीं जल बूँद ज्यों कूप में।
कोटि उपाय न पाइए फेरि समाइ गईं रंग राहू के रूप में।

श्री कृष्ण के रूप में ये आँखें उसी प्रकार जाकर समा गईं जैसे जल विन्दु कूप में समा कर लय हो जाता है। इसमें प्रभाव का साम्य है, जो लय होने के व्यापार द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

संभावना मूलक सादृश्य-योजना में उत्प्रेक्षा अलंकार लोकानुभूति और कल्पना पर आधारित होकर अत्यधिक काव्य सौन्दर्य का सर्जक बन जाता है, परन्तु रूढ़ियों के निर्वाह में पड़कर बहुज्ञता का प्रदर्शन नीरस हो उठता है। नख-शिख में दूर की सूझ वाले ऐसे अप्रस्तुतों का प्रयोग होता है। वास्तव में उत्प्रेक्षा द्वारा चमत्कार पूर्ण लालित्य के आ जाते से काव्य सौन्दर्य की श्रीवृद्धि हो जाती है। "हार मानि प्यारी विपरीत के विहार लागि, सिथिल सरीर रही सांवरे के तन पर, मानहु सकेलि केलि केतिको कला को करि, थाकी है चलाकी चंचला की छोर घन पर।" यहां केलि का क्रीड़ात्मक पक्ष मूर्तिमान हो गया है। इससे रूप की चेतना जागृत होती है। भावानुभूति को तीव्र करने वाले अप्रस्तुतों की योजना भी मिलती है। अप्रस्तुतों में चमत्कार मूलक, और अतिशयमूलक अलंकारों के द्वारा भी रूप की या दशा की तीव्रता बताई गई है। निष्कर्ष यह है कि जहां परम्परायुक्त सादृश्य विधान है, वहां वह काव्योत्कर्ष में सहायक नहीं हुआ है, परन्तु अन्य स्थलों पर ये अप्रस्तुत रूप-चेतना और भाव की अनुभूति कराने में समर्थ हुए हैं। रूप-चेतना की प्रबलता में तो संदेह का स्थान ही नहीं है, देव, घनानन्दादि ने भावानुभूति का अधिक ध्यान रखा है। कलागत इन सभी विशिष्टताओं का उद्देश्य मानवीय सौन्दर्य का उत्कर्ष दिखाना है।

मानवीय-सौन्दर्य—

इस जगत की प्रत्येक वस्तु मानव के आकर्षण का केन्द्र हो सकती है। मानव वस्तु को देखकर उसे अधिकाधिक सुन्दर ढंग से व्यक्त करना चाहता है। वस्तु की प्रथम अनुभूति उसके मन में जिज्ञासा उत्पन्न करती है। उसकी कलात्मक बुद्धि उसमें सुन्दरता का आधान कर देती है। इससे उस वस्तु के स्वरूप का रसास्वादन करने में तृप्ति होती है। कलाकार के हृद्देश में आकर्षक वस्तु के ऐन्द्रिय सन्निकर्ष से आध्यात्मिक सत्व प्रधान भावनाओं की जागृति होती है, यह जागृति उसकी मानसिक अनुभूति है। इसी को वह कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करके उसमें सौन्दर्य की सृष्टि कर देता है। यहां कलाकार अपनी सौन्दर्यानुभूति को मूर्त रूप देता है और सहृदय उन मूर्तिमान भावों का आस्वादन करके तृप्त होता है। यों तो कलाकार के अनुभव की यह प्रेरणा उसे जगत की सभी वस्तुओं से मिलती है, परन्तु मानव उसे सबसे अधिक प्रेरित करता है। इसी से उसने अपनी अनुभूति का आधार मानव

जगत को बनाया और उसके सुन्दरतम रूप की अनुभूति करके चराचर विश्व सौन्दर्य का अनुभव करने लगा। मानव के इसी सौन्दर्य के माध्यम से कलाकार प्रकृति या वस्तु सौन्दर्य की ओर उन्मुख होता है। अतः प्रकृति की उपयोगिता अथवा उसके सौन्दर्य का मूल्यांकन मानव भावों की सापेक्षता में है। यह उपयोगिता सौन्दर्य के निर्धारण में सहायक होती है। उपयोगिता के आधार पर वस्तु या व्यक्ति के सौन्दर्य का मूल्य घटता-बढ़ता रहता है। यह उपयोगिता स्थूल दृष्टि से भौतिक तत्वों के उपभोग से तथा सूक्ष्म दृष्टि से मानसिक तृप्ति से आती है। भौतिक तत्वों के उपभोग का प्रमुख साधक माध्यम सौन्दर्य है और मानसिक तृप्ति में आन्तरिक भावनाओं को प्रमुखता होती है। इस शारीरिक सौन्दर्य के उपभोग और तज्जन्य मानसिक आनन्द का प्रमुख आधार मानव है। अतः मानव सौन्दर्य तथा उस सौन्दर्य को बढ़ाने वाले साधनों एवं अन्य उपकरणों को सौन्दर्य के अन्तर्गत माना जायगा।

मानव सौन्दर्य की चर्चा करते ही उसकी परिधि या सीमा का ध्यान आ जाता है। यों तो इस सौन्दर्य की अनन्तता और असीमता का गुणगान अधिकांश भावुक शृङ्गार कवियों ने किया है, परन्तु इस सौन्दर्य वर्णन के आलम्बन की एक सीमा है। यह सीमा नारी और पुरुष के सौन्दर्य वर्णन की है। इनमें से केवल एक का सौन्दर्य वर्णन मानव की सम्पूर्णता की दृष्टि से अपर्याप्त है। मानव के पूर्ण सौन्दर्य की अभिव्यक्ति स्त्री और पुरुष दोनों को ही आधार बनाकर हो सकती है। स्त्री की शारीरिक कोमलता पुरुष की परुषता से मिलकर मोहक बन जाती है। इन दोनों गुणों का अस्तित्व एक दूसरे का पूरक है। पुरुष-सौन्दर्य वर्णन में उसका पौरुष सदैव आकर्षक होता है और स्त्रियों की रमणीयता हृदय को आवर्जित कर लेती है। पुरुष-वर्णन में उसकी शारीरिक कोमलता आदि का वर्णन भी मिलता है, परन्तु नारी-सौन्दर्य वर्णन की तुलना में इसकी मात्रा कम है। हिन्दी का भक्ति साहित्य बालक के मधुर एवं अबोध सौन्दर्य के अंकन में प्रमुख है और रीतिकालीन साहित्य नारी के रमणीय रूप की मधुरता और सौन्दर्य का अंकन करता है। इस प्रकार भक्ति काल में पुरुष-सौन्दर्य और रीतिकाल में नारी-सौन्दर्य का वर्णन करके मानव-सौन्दर्य की दृष्टि से सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। इन दोनों के सम्मिलित सौन्दर्य में उत्पन्न पूर्णता को मानव-सौन्दर्य की संज्ञा प्राप्त है। इस सौन्दर्य में अन्तर्निहित लावण्य, छवि या कान्ति की रहस्यात्मक जिज्ञासा के प्रति कृष्ण काव्य का मध्यकालीन कवि प्रायः मौन है। इससे उसका सौन्दर्य वर्णन रहस्यात्मक न होकर स्पष्ट हो गया है। यह स्पष्टता स्त्री और पुरुष दोनों के ही वर्णनों में मिल जाती है।

कवि प्रायः इन दोनों का वर्णन करता है। वह अपनी विभिन्न अनुभूतियों को समाज की सौन्दर्य चेतना से मिलाकर जिस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है, उसका प्रधान आधार स्त्री और पुरुष को ही बनाता है। यहाँ इन दोनों के सौन्दर्य का स्पष्टीकरण हो जाना आवश्यक है।

कवियों ने प्रायः पुरुषों के सौन्दर्य का वर्णन कम किया है। पुरुष की शारीरिक कठोरता के वर्णन में उनकी वृत्ति रम नहीं सकी। अंगों की सुकुमारता अथवा रमणीयता जैसे गुणों को पुरुष वर्णन का आधार नहीं माना गया। इन कवियों की दृष्टि में पुरुष का सौन्दर्य अवयव के समुचित तथा समानुपातिक निर्माण में उतना नहीं है, जितना उसके कर्म में है। इसी से पुरुष के अंग-प्रत्यंग वर्णन में कवि अपनी रुचि की स्थिरता नहीं रख पाता। पुरुष का नख-शिख उसके वर्णन का गौण पक्ष है। जहाँ कहीं ऐसा हुआ है, वह बाल-रूप वर्णन के प्रसंग पर है। कृष्ण काव्य में गोपियों की रति भावना को उद्बुद्ध करने के लिये भी इस नख-शिख का संक्षिप्त वर्णन मिल जाता है। रीति काल के 'ग्वाल' जैसे दो एक कवियों ने श्रीकृष्ण के नख-शिख वर्णन में स्वतन्त्र ग्रन्थों का सृजन किया है परन्तु पुरुष-वर्णन की परम्परा प्रचलित न हो सकी। अतः पुरुष-सौन्दर्य का निर्धारण अंग-प्रत्यंग वर्णन के द्वारा न होकर उसके शील और कर्त्तव्य पालन द्वारा होने लगा।

पुरुषों में कर्त्तव्य पालन की यह धारणा उसे लोक-हित की प्रेरणा देती है। जो व्यक्ति अपने कर्तव्य पूर्ण करने में सचेष्ट रहेगा, उसी का व्यक्तित्व आकर्षक माना जाता है। ऐसे व्यक्तियों का कार्य-क्षेत्र युद्ध और दुष्ट-दमन द्वारा लोक-कल्याण करना है। उसकी सुन्दरता देश रक्षा द्वारा निर्धारित की जाती है। उसका कर्म सौन्दर्य दया, क्षमा, आत्म-निग्रह, कष्ट-सहिष्णुता द्वारा निखरता है। पुरुष सौन्दर्य के इस अंश की चर्चा वयः प्राप्त व्यक्तियों की दृष्टि से की गई है। कृष्ण साहित्य पुरुष सौन्दर्य के इस रूप की ओर केवल संकेत मात्र कर सका है।

हिन्दी के कृष्ण कवियों ने पुरुष सौन्दर्य के बाल एवं वयः प्राप्त रूपों को ग्रहण किया है। कृष्ण का लोक रक्षक रूप उनकी लोकरंजकता में ही निहित है। कर्त्तव्य पालन व असुर संहार के कर्मों का सौन्दर्य दीख पड़ता है, परन्तु कवियों ने इस रूप को महत्व नहीं दिया। उन्होंने श्रीकृष्ण के मोहक रूप की ही अवतारणा की है। शिशु सौन्दर्य की मोहकता एवं उल्लास का वर्णन सूर आदि भक्त कवियों ने किया है। उन्होंने बालक के स्वभाव की निष्कपटता, सरलता और अबोधपन का अच्छा चित्र अंकित किया है। इस रूप

को वय-क्रम से चार अवस्थाओं में विभाजित कर सकते हैं:—(१) कौमार, (२) पौगण्ड, (३) किशोर, (४) यौवन।

हरि भक्ति रसामृत सिन्धु में इन अवस्थाओं का वर्णन है। कौमारावस्था जन्म से पांच वर्ष की अवधि तक मानी गई है, छ वर्ष से दश वर्ष तक पौगण्डावस्था, दश वर्ष के पश्चात् सोलह वर्ष तक का समय किशोर और उसके बाद की अवस्था को युवावस्था माना गया है।[1] इनमें उज्ज्वल रस के लिये किशोरावस्था सर्व श्रेष्ठ है। इस अवस्था में वर्ण की उज्ज्वलता, नेत्रान्त में चारु छवि आदि प्रकट हो जाती है। रोमावली सघन हो जाती है। प्रसाधनों में वैजयन्ती माला, मोर पंख, नटवरवेष, वस्त्र आदि से शोभा बढ़ती है, वंशी की मधुरिमा से व्यक्तित्व का आकर्षण बढ़ जाता है।[2] यही कारण है कि रीतिकालीन कवियों ने पुरुष रूप में श्रीकृष्ण की इसी अवस्था के वर्णन को प्रश्रय दिया है और भक्ति काल में इसके पूर्व की अवस्था को काव्य का विषय बनाया है। इस किशोर रूप की आद्य, मध्य और शेष तीन अवस्थाओं की स्पष्ट विभिन्नता इस काव्य में नहीं मिलती, परन्तु वर्णनों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि रीतिकाल के किशोर रूप की रसिकता यौवनोन्मुख है। अतः यह किशोर वय के 'शेष काल' का वर्णन है। भक्ति काल का यह वर्णन 'किशोर वय' की शेष दो अवस्थाओं का सूचक माना जा सकता है, क्योंकि रीतिकाल जैसी मांसलता एवं कामुक तरलता इस युग में नहीं है, फिर भी निश्चयात्मक रूप से एक विभाजक रेखा खींच देना सरल नहीं है। भक्ति काल में बालक रूप के कौमार, पौगण्ड और कैशोर रूप की चर्चा एवं उसके सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना अधिक हुई है। किशोर रूप की वर्णित चेष्टाओं से श्रीकृष्ण के 'आद्य, मध्य

---

1 "वयः कौमार पौगण्ड कैशोरमिति तत् त्रिधा।
कौमारं पञ्चमाब्दान्तं, पौगण्डं दशमावधि।
आषोडषाच्च कैशोरं यौवनं स्यात्ततः परम्।"
हरिभक्ति रसामृत सिन्धु। कारिका ११९-१२० दक्षिण विभाग।
प्रथम लहरी। अच्युत ग्रन्थ माला काशी सं० १९८८ वि०।

2 वर्णस्योज्ज्वलता काऽपि नेत्रान्ते चारुणच्छविः।
रोमावली प्रकटता कैशोरे प्रथमे सति।
वैजयन्ती शिखण्डादि नटप्रवरवेषता।
वंशी मधुरिमा वस्त्र शोभा चात्र परिच्छदः।
वही। पृ० १८८ छंद १२३-१२४-१२५।

और शेष' इन तीनों अवस्थाओं की सूचना मिल जाती है, परन्तु इसके और रीतिकाल के वर्णनों में 'कैशोरावस्था का कौनसा रूप कब प्रकट हो जायगा, यह नहीं जा सकता। अवसर और प्रसंग के अनुकूल विभिन्न चेष्टाओं द्वारा इस वय का अनुमान लगाया जा सकता है, फिर भी यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि भक्तिकालीन साहित्य ने किशोर रूप के 'आद्य' और 'मध्य' अवस्था के सौन्दर्य को और रीतिकाल ने इसके 'शेष' अवस्था के सौन्दर्य को महत्व दिया है। इस सौन्दर्य के अंकन में तथा उसका एक बिम्बात्मक स्वरूप उपस्थित करने में कवियों ने प्रकृति से अप्रस्तुत योजना में उपमानों को ग्रहण किया है। कवि की अपनी अनुभूतियां सौन्दर्य के साक्षात्कार से नये रूप में प्रकट होती है। कवि के मस्तिष्क में वर्तमान बिम्बों में से अप्रस्तुतों को ग्रहण कर सौन्दर्य का स्फुरण होता रहता है। इन बिम्बों के लिये इन कवियों ने 'तटस्थ' शोभा विधायक तत्वों में परम्परागत उपमानों को ग्रहण किया है। ये उपमान प्रकृति अथवा व्यावहारिक जीवन की अनुभूतियों का आधार लेकर प्रयुक्त हुए है। मानव जीवन की सापेक्षता में प्रकृति की इन वस्तुओं को अनुकूल अनुभव करते हुए कवियों ने उनके गुण, क्रिया अथवा रूप का साम्य उपस्थित किया हैं। इससे प्रस्तुत की रमणीयता बढ़ती है और उसमें इन्द्रियों की अनुकूल वेदनीयता उत्पन्न होने से वह वस्तु भी सुन्दरता या सुखदता का साधक बन जाती है। इस प्रकार मानवीय सौन्दर्य के संदर्भ में साधक उपकरणों को भी सौन्दर्य की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। इन उपकरणों का क्षेत्र असीम विश्व है। विश्व की सभी कोमल, सुखद, रमणीय, प्रसाधक वस्तुएं प्रयुक्त होती हैं। इनका प्रयोग किसी न किसी रूप में करके मानव अपने सौन्दर्य का वर्द्धन करता है। इस सौन्दर्य का प्रयोग या उपभोग पुरुष और नारी दोनों ही करते हैं। इनमें पुरुष सौन्दर्य के शिशु बाल आदि अनेक अवस्थाओं का अंकन किया गया है। यह सौन्दर्य नारी सौन्दर्य के बिना अधूरा है। अतः भक्तिकालीन कवियों ने पुरुष के बाल, कौमार आदि विभिन्न रूपों का सुन्दर और हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत किया है। इस रूप चित्र का पूर्ण विकास रीतिकालीन नायिका चित्रण के संयोग से हो सका है। इस काल में वयः सन्धिकाल की बदलती हुई शारीरिक एवं मानसिक परिस्थितियों तथा भावनाओं से आरम्भ करके प्रौढ़ात्व को प्राप्त नायिकाओं की विभिन्न शारीरिक, मानसिक परिवर्तनों का सुखद एवं शोभा जनक वर्णन मिल जाता है। अतः पुरुष और नारी सौन्दर्य मिल कर पूर्ण मानव सौन्दर्य को व्यक्त करते हैं। अगली पंक्तियों में मानव सौन्दर्य के नारी सौन्दर्य विषयक विचारों का अनुशीलन होगा।

मानवीय सौन्दर्य की पूर्णता नारी-सौन्दर्य वर्णन से आती है। नारी की कोमलता, सुकुमारता और रमणीयता कवियों के रसिक हृदय को आकर्षित कर लेती है। वह नारी के रूप, वय, अंग, चेष्टा आदि को देखकर मुग्ध होता है। उसके प्रति अनुभूतियों की प्रशंसात्मक प्रवृत्ति को काव्य के माध्यम से व्यक्त करता है। नारी के रूप की रीझ उसे विभिन्न दृष्टियों से देखने की प्रेरणा देती है। यहाँ कवियों के मन में नारी के प्रति सहज आकर्षण के कारणों के प्रति जिज्ञासा का उठना स्वाभाविक है। नारी को ही वर्णन का आधार क्यों माना गया ? पुरुष की महत्ता नारी की तुलना में कम क्यों है ? इन प्रश्नों का समाधान अपेक्षित है।

विचार करने से प्रतीत होता है कि आलोच्य काल के कवियों की दो दृष्टियाँ थीं:—(१) भक्ति परक दृष्टि—इसमें अपने आराध्य अथवा आराध्या को सम्पूर्ण जगत की सुन्दरता से अधिक सुन्दर रूप दिया गया है। इस सौन्दर्य निरूपण में 'सौभग सीवाँ', 'अनन्त-शोभा', शोभा-सिन्धु' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[1] पुरुष-पक्ष में इस प्रकार के सौन्दर्य-वर्णन का मूल उद्देश्य नारी के मन में सौन्दर्य के इस आलम्बन के प्रति रति-भाव उत्पन्न करना है। रति शृङ्गार रस का स्थायी भाव है। शृङ्गार में अनुकूल प्रकृति के नायक-नायिका के मानसिक भावों एवं शारीरिक क्रियाओं आदि की प्रियता के संदर्भ में एक दूसरे के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है। इस आकर्षण का मूल अवयव का सुन्दर, सुगठित और सुढर होना है। इसलिए स्त्री-पुरुष दोनों का सौन्दर्य निरूपिण होता है। पुरुष-सौन्दर्य निरूपण में आराध्य के सौन्दर्य की असीमता वर्णित है। इसका उद्देश्य रूप की लीनता है। इसी लीनता से 'रति' भाव का संचार होता है, परन्तु स्त्री-सौन्दर्य के अभाव में यह लीनता एकांगी होगी। रति की पूर्णता के लिए पुरुष के मन में स्त्री-सौन्दर्य का आकर्षण आवश्यक है। भक्ति काल में स्त्री-सौन्दर्य के वर्णन का उद्देश्य पुरुष को रिझाना था। पुरुष स्त्री

---

1 (i) देखो माई सुन्दरता को सागर। सूर सागर (सभा)

(ii) सोभा सिन्धु न अन्त रही री। ,, ,,

(iii) कृष्णदास प्रभु गोवर्धनधर, सुभग सींव अभिराम

अष्ट० परि० पृ० २३५

(iv) "अरी यह सुन्दरता को हद।" गोविन्द स्वामी

अष्ट० परि० पृ० २५६

(v) कुम्भनदास प्रभु सोभग सीवाँ, गिरधर धर सिर मौर। अष्ट० परि०

की अंग-सुन्दरता और प्रसाधन से उत्पन्न होने वाले आकर्षण से रीझ सकता है। इस दृष्टि से नारी-सौन्दर्य का वर्णन किया गया है:—

"औचक ही देखी तँह राधा, नैन विशाल भाल दिये रोरी।
नील वसन फरिया कटि बांधे वेनी रुचिर भाल झकझोरी।
सूर स्याम देखत ही रिझे नैन-नैन मिलि परी ठगोरी। सूर सागर

इस उद्धरण से शृङ्गार की उपयोगिता मूलक भावना व्यक्त हुई है। भक्ति काल में स्त्री-सौन्दर्य एवं सौन्दर्य प्रसाधनों के वर्णन में यही दृष्टिकोण कार्य करता है। इस प्रकार का सौन्दर्य-वर्णन तीन प्रसंगों पर प्राप्त होता है:—

१. कृष्ण द्वारा गोपी या राधा के रूप-प्रसाधन आदि से उत्पन्न सौन्दर्य का वर्णन।

२. गोपी द्वारा राधा के सौन्दर्य, अवयव या प्रसाधनादि का वर्णन।

३. कवि की ओर से सौन्दर्यादि का वर्णन।

इन सभी प्रसंगों पर वर्णनों का उद्देश्य मन में आराध्य के प्रति भक्ति-भाव को उत्पन्न करना था। इन कवियों का रूप-सौन्दर्य वर्णन स्वयं में साध्य नहीं था, अपितु प्रिय की महत्ता प्रतिपादित करने में साधन मात्र था। इससे इनका यह वर्णन अपनी सहज और स्वाभाविक सौन्दर्य चेतना से प्रादुर्भूत हुआ है। भविष्यत् रीतिकालीन कवियों के समान वह प्रयत्न साध्य नहीं है। इसी से इन वर्णनों में सच्चाई और वास्तविकता है। रीतिकालीन सौन्दर्य चेतना प्रयत्न साध्य होते हुए भी अनुभूति की सघनता के कारण पूर्ण सजीव एवं सचेतन है। यह रीति परक दृष्टि सौन्दर्य को समझने में सहायक हो सकती है।

(२) **रीतिपरक दृष्टि**—इस काल के सौन्दर्य वर्णन के उद्देश्य और रूप में अन्तर आ गया। सामाजिक विलासिता की बढ़ती हुई भोग-परक भावना ने बहु-पत्नीत्व और परकीयात्व की स्थापना कर दी। बाल्य-काल की समाप्ति से ही कन्याओं के मन में अनंग-भावना स्फुरित होने लगी। वय क्रम के साथ रूप-लावण्य का निखार एक सीमा तक होता है। यहाँ तक स्त्रियाँ आकर्षण की केन्द्र बिन्दु बनी रहीं, परन्तु रूप के ह्रास काल में आकर्षण को बनाये रखने के लिए रूप-प्रसाधक उपकरणों का प्रयोग होने लगा। यौवन-काल में नायिकाओं के विभिन्न गुण, चेष्टा आदि नायक को आकर्षित करने के प्रधान उपकरण थे, परन्तु नायक की अत्यधिक रसिकता नायिका के मन में अन्य रमणियों के प्रति स्पर्द्धा का भाव उत्पन्न कर अपने को अधिक से अधिक आकर्षक बनाने की प्रेरणा देने लगी। स्वयं स्त्रियों ने भी अनेक पुरुषों से भोग

का समर्थन किया है।[1] यह तभी सम्भव हो सकता था, जब स्त्री सुन्दरी और यौवनवती हो। इसके साथ रति भाव को जागृत करने वाली चेष्टा, प्रसाधन और शृङ्गार से उसकी महत्ता और आकर्षण बढ़ गया हो। इस दृष्टि से नारी रति की मूल प्रेरिका के रूप में प्रतिष्ठित हो गई और उसका यह रूप मोहक और आकर्षक हो गया। रीतिकाल की सौन्दर्य-चेतना में नारी की प्रधानता का यही कारण है. यह प्रधानता सम्पूर्ण काव्य में छाई हुई लक्षित होती है। इसी से स्थान-स्थान पर नारी का अंग-प्रत्यंग, आभूषण एवं अन्य बाह्य साज-सज्जा, सोलह शृङ्गार, अनुलेपन आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। सौन्दर्य के उत्कर्षक इन साधनों के अतिरिक्त नायिका की चेष्टाएँ उसकी अवस्था, अवस्थाजन्य शारीरिक एवं मानसिक विकास, गुण आदि की महत्ता अस्वीकार नहीं की जा सकती। देखा जाता है कि यौवनवती होती हुई भी रूखे अंगों वाली, अंग-कान्ति से शून्य, मार्दव, सौकुमार्य और माधुर्य-रहित, उद्दीपक चेष्टाओं के प्रभाव से अनभिज्ञ नायिका रति भाव का संचार करने में समर्थ नहीं हो पाती है। अतः यौवन में उत्पन्न होने वाले गुणों, चेष्टाओं, अलंकारों तथा बाह्य साधनों में प्रसाधक उपकरणों और रति भाव को उद्दीप्त करने में प्रस्तुत वातावरण आदि का बहुत महत्व है। इस दृष्टि से नायिका या नायक-रूप आलम्बन के सौन्दर्य के साधक सम्पूर्ण उपकरणों की दो कोटियाँ की जा सकती हैं:—

१. आत्मगत उपकरण

२. बाह्य उपकरण

आत्मगत उपकरण—

आलम्बन से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले सौन्दर्य के उत्कर्षक तत्वों को आत्मगत उपकरण कहते हैं। इन उपकरणों का सीधा सम्बन्ध नायक अथवा

---

1 कैसे वे जियत नारी एक ही पुरुष पागी,
कैसे हियकमल सदाई खिलिबो करै।
एक ही सवाद तैं भरत मन कैसे दैया,
रसना सो षट रस ही को मिलिबो करै।
ग्वाल कवि भौरनि पीयत रस फूल-फूल,
बीजुरी हूं घन-घन मिलि हिलिबो करै।
बेल को बिलोकि एक तरु सो प्रथम लगि,
पुन पास-पास के तरुन मिलिबो करै।
रसरंग—ग्वाल। तृतीय तरंग छन्द ६६

नायिका से रहता है। ये तत्व आलम्बन के शरीर से स्वतः प्रकट हो जाते हैं। स्वयं-संभूत इन तत्वों में नैसर्गिकता होती है। ये दो रूपों में प्रकट होते हैं:—

१. गुण
२. चेष्टा

गुण—अवस्था विशेष में नायक या नायिका की शारीरिक एवं मानसिक विशेषताओं का नाम गुण है। मुख्यतः नायिका में इन गुणों का विकास होता है। नायिका ही पुरुष के आकर्षण की केन्द्र रहती है, उसी की रूप-मदिरा अपना मादक-प्रभाव उत्पन्न करके पुरुष को अपने पर आसक्त करती है। आसक्ति की यह प्रवृत्ति उत्पन्न करने में नायिका के गुण सहायक होते हैं। इन गुणों का विभाजन **कायिक, मानसिक और वाचिक** रूप में किया गया है।

कायिक गुण—शरीर से सम्बन्धित नायिका के व्यक्तित्व की शोभा को बढ़ाने वाले तथा उसमें आकर्षण उत्पन्न करने वाले तत्वों को कायिक गुण कहते हैं। इन विशेषताओं के आविर्भूत हो जाने पर अंगों में एक नवीनता आ जाती है, व्यक्तित्व का आकर्षण बढ़ जाता है और नायिका का सुन्दरी नाम सार्थक प्रतीत होता है। इन गुणों में **वय, रूप-लावण्य, अभिरूपता, मार्दव, सौकुमार्य** की गणना होती है।

वय—इस शब्द से आयु का ज्ञान होता है। रूप-सौन्दर्य के वर्णन में आयु का विशेष महत्व है। इसका प्रचलित अर्थ युवाकाल है। इस काल में विभिन्न अंगों का विकास और उसमें परिवर्तन होने लगता है। यह परिवर्तन रूप को निखार कर नायिका के आकर्षण को बढ़ा देने में समर्थ सिद्ध होता है। अंगों के परिवर्तन और विकास की दृष्टि से इस यौवन काल को चार वर्गों में विभाजित करेंगे :—

१. वयः सन्धि काल।
२. नव्य-यौवन।
३. व्यक्त-यौवन।
४. पूर्ण-यौवन।

वय सन्धि काल—इस काल से यौवन का आरम्भ माना गया है। इसमें अबोध अवस्था वाली, लज्जाशील किशोरी नायिका का चित्रण होता है। यह यौवन और बालपन का सन्धि काल है। एक ओर नायिका की बालपन की प्रवृत्तियाँ और दूसरी ओर आंगिक परिवर्तनों के प्रति जिज्ञासा का भाव रहता है। काम की कथाओं के श्रवण में अभिरुचि हो जाती है। सेनापति ने कहा है कि, "काम की कथान को कनाटरी दे सुनन लागी", और, "सेनापति काम भूप

सोवत सो जागत हैं।" इनमें प्रथम उदाहरण में वय: सन्धिकाल की बदलती हुई मानसिक भावनाओं का और द्वितीय में उस काल की मानस-शरीर का वर्णन है। मानसिक भावनाओं की अस्थिरता इस काल की प्रधान विशेषता है। इसका वर्णन अनेक कवियों ने किया है। गंग ने मानसिक स्थिति की तरलता और झलक को शीशी में रखे जल के समान बताया है।[1] सोमनाथ की दृष्टि में नायिका की स्थिति असंतुलित तुला जैसी है।[2] मतिराम की नायिका का मन अब गुड़ियों के खेल में न लगकर सांवरे के रंग देखने की ओर प्रवृत होने लगा है।[3] इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि वय: सन्धिकाल के वर्णन में कवियों की तीन भावनाएँ थीं (१) नायिका की भावनाओं में परिवर्तन एवं मानसिक स्थितियों की अस्थिरता (२) शारीरिक-परिवर्तन में बालपन और युवापन का मिश्रण। इन दोनों के स्पष्टीकरण के लिये कवियों ने सादृश्य-विधान द्वारा अप्रस्तुतों का उपयोग किया है। (३) इस काल की तीसरी भावना नायिका का अपने अंगों के प्रति जिज्ञासा प्रकट करना है, जिसका स्पष्ट रूप नव्य-यौवन में दीख पड़ता है।

नव्य-यौवन—इसमें नायिका बालपन से छूटकर यौवन काल में पदार्पण करती है। यौवन आगमन के चिह्न अंगों में दीख पड़ने लगते हैं। स्तनों की मुकुलित अवस्था, नयनों की चंचलता, मन्द मुस्कान और भावों का किञ्चित् स्फुरण होने लगता है।[4] यौवन के नवीन आगमन से शारीरिक परिवर्द्धन के साथ ही अनुभावों से सौन्दर्य की वृद्धि होने लगती है। वय: सन्धिकाल दो अवस्थाओं का मिलन स्थल है। इस काल में बालपन और युवापन दोनों ही

---

1 सीसी में सलिल जैसे, सुमन पराग तैसे,
सिसुता में झलकति जोवन की झाईं सी।
ब्र० सा० का नायिका भेद पृ० २३२

2 बीती लरिकाई न, झलक तरुनाई आई,
निरखैं सुहाई अंग औरैं औंप अति है।
तुला चल चक्र मन की सी दिन राति को,
उघटि बढ़ी है न संधि ठीक ठहरति है। वही पृ. २३२

3 कारन कौन भयो सजनी, यह खेल लगैं गुड़ियान को फीको।
काहे ते सांवरे अंग छबीलो, लगैं दिन द्वैक में नैननि नीको। पृ० २३४

4 दरोद्भिन्नस्तनं, किंचिच्चलाक्षं, मन्थरस्मितम्।
मनागपि स्फुरद्भावं नव्यं यौवनमुच्यते। उज्ज्वल नीलमणि।

भावनाओं की प्रबलता रहती है। मन कभी बाल-क्रीड़ाओं की ओर जाता है और कभी 'काम' केलि के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इसमें दोनों कालों की झलक रहती है। बिहारी ने इसी से इसकी तुलना 'तापता रंग' से की है।[1] नव्य-यौवन में शिशुता समाप्त प्रायः होती है। इस काल में शिशुत्व की भावना यौवन की तुलना में क्षीण हो जाती है। वयः सन्धिकाल में दोनों की समान स्थिति और नव्य-यौवन में बालपन की क्षीण स्थिति होती है। इसमें कुच कुछ उठने लगते हैं, अधरों में मधुरिमा आ जाती है, अंगों में ज्योति का आविर्भाव होने लगता है।[2]

व्यक्त यौवन––का स्वरूप शारीरिक विकास के आधार पर बताया जा सकता है। नाम से ही स्पष्ट है कि इस काल में यौवन व्यक्त हो जाता है। इसमें स्तनों की मुकुलित अवस्था में विकास हो जाता है। त्रिवली दीखने लगती है और अंग उज्ज्वल हो जाते हैं।[3] इन गुणों का समर्थन रूप गोस्वामी ने भी किया है। नव्य-यौवन और व्यक्त यौवन की मूल भिन्नता यौवन के आरम्भ और विकास की अवस्थाओं में है। नव्य-यौवन में शिशुताई की झलक बनी रहती है, व्यक्त-यौवन में इसका कोई स्थान नहीं है। इस काल में अंगों का उभार व्यक्त हो जाता है, नव्य-यौवन में उसका आरम्भ मात्र होता है। यथा :—

दौरि चली कुसुम-चरन सुकुमारताई, चरन चले हैं गरुवाई के पथन कों।
गरुवाई छतियां कों, छतियां ऊँचाई कों, ऊंचाई चोजरसमय बास अरथन कों।
कहैं 'हरिकेस' सिसुताई के चलाचले में, कहा कहौं चली चित लाजके सथन कों।

---

1 छुटी न शिशुता की झलक, जोबन झलक्यो अंग।
दीपति देह दुहुन मिलि, दिपति ताफता रंग। सतसई

2 (i) ए अलि ! जा बलि के अधरान में, आनि चढ़ी कछु माधुरई सी।
ज्यों 'पद्माकर' माधुरी त्यों कुच दोऊन की बढ़ती उनई सी।
ज्यों कुच त्योंही नितम्ब बढ़े कछु, ज्योंही नितम्ब त्यों चातुरईसी।
जानी न ऐसी चढ़ा चढ़ि में, केहि धों कटि बीच ही लूट लई सी।
ब्रज-साहित्य का नायिका भेद पृ० २२८

(ii) कौन रोग दुहु छतियन उकस्यो आय।
दुखि-दुखि उठत करेजवा लगि जनु जाय।। रस-रत्नाकर पृ० ११२

3 वक्षः प्रव्यक्त वक्षोजं मध्यं च सुवलित्रयम्।
उज्ज्वलानि तथाङ्गानि व्यक्ते स्फुरति यौवने। उज्ज्वल नीलमणि।

लाज चली आंखिनको, आंखि चली काननकों, कान चले चौंकत से चालेके कथनकों
ब्र० सा० ना० भेद २२६

इस छंद में नव्य यौवन और व्यक्त यौवन के सन्धिकाल की अवस्था का अंकन है। एक ओर 'सिसुताई' का प्रस्थान और दूसरी ओर यौवन में शारीरिक अंगों के विकास का चित्र प्रस्तुत हुआ है। यौवन-विकास के साथ अनुभावों या शारीरिक चेष्टाओं में भी स्पष्ट अन्तर आ जाता है। इन चेष्टाओं में विलासमयता दीख पड़ने लग जाती है। अंगों में चारुता और द्युति व्याप्त हो जाती है :—

'फरकन लागी आंख ढरकन कानन लौं,
हरकन लागी लाज पलकें सुचैनी की।
भर लाग्यौ गरन उरोजन में 'रघुनाथ'
राजी रोमराजी भांति कल अली सैनी की।
कटि लागी घटन, पटन लागी मुख-सोभा,
अटन सुवास लागी आस स्वांस पैनी की।
अंगन में द्युति चारु सोने सी जगन लागी,
एंड़िन लगन लागी बैनी मृगनैनी की॥

मानसिक विकास की दृष्टि से अपने अंगों के परिवर्तन एवं विशेष यौवन चेष्टाओं के रहस्य की अज्ञानता एवं सज्ञानता की दो स्थितियां होती हैं। यौवन के व्यक्त हो जाने पर भी यह अज्ञानता बनी रहती है। अज्ञानता का एक चित्र देखें :—

चलें संग हमारे न खेलिवे कों, कर कों छिए भौहें मरोरत हैं।
ए कहां रहें भाभी। बताइ दै तू, जो हमें लखि यों मुख मोरत हैं।
ब्र० सा० का ना० भेद।

ऐसे चित्रों में नायिका की अनभिज्ञता और भोलापन उसके सौन्दर्य को बढ़ा देता है। इन्हीं भावनाओं एवं अंगों का विकास पूर्ण यौवन काल में दीख पड़ता है।

पूर्ण यौवन में नितम्ब एवं स्तनों की पीनता, मध्य भाग की कृशता, रम्भा की आभा के समान उरुयुगल और शरीर की कान्ति में उज्ज्वलता आ जाती है।[1] इस काल में यौवन का पूर्ण विकास हो जाता है। सभी विशेषताएं

---

1 नितम्बो विपुलो मध्यं कृशमङ्ग परद्युति।
पीनौ कुचावुरुयुगं रम्भाभंपूर्णं यौवने। उ० नील मणि।

प्रकट हो जाती हैं।[1]

१. होन लागी कटि अब छटिकै छला सी,
  द्वैज चन्द की कला सी दिन दीपति बढ़ै लगी। वही पृ० २३०
२. गातन कैसे दुरायो है जात, प्रभात सों जोबन रूप उजेरो।
३. तंग होत आँगी, ज्यों-ज्यों उरज उतंग होत,
  प्रकटी अनंग काया-कंज पखियान में।.......
  कटि कृशताई औ नितम्ब पीनताई छाई,
  पाँय थिरताई चंचलाई, अँखियान मैं।

शारीरिक क्रियाओं में नवीनता और विलास का वैचित्र्य आ जाता है। इसकी ओर भी कवियों का ध्यान आकृष्ट हुआ था।

उपर्युक्त विचारों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वय क्रम से नायिका के विकास की ये चारों अवस्थाएं उसके शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तनों की सूचिका है। इनमें क्रमिक विकास का रूप दीख पड़ता है। अंगों की बदलती हुई परिस्थिति का सूक्ष्म अध्ययन इनके द्वारा उपस्थित होता है। विकास की इस क्रम-बद्धता में कवियों की दो दृष्टियां थीं :—

(१) शरीरगत–परिवर्तन।

(२) भावगत–परिवर्तन।

शरीरगत परिवर्तन में स्थूल एवं सूक्ष्म परिवतनों पर ध्यान दिया गया है। स्थूल-परिवर्तन का तात्पर्य अवयवों के विकास से लगाया जायगा। इसमें आकार एवं गठन की चर्चा होती है। अंगों की सुडौलता, समता, समानुपातिकता, सापेक्षता, संगति, सन्तुलन आदि के वर्णन द्वारा उसका आकर्षण बढ़ा दिया जाता है। इन सभी वर्णनों को नख-शिख के अन्तर्गत समेटा जा सकता है। नख-शिख में भी अंगों की आकारगत विशेषताओं आकर्षण एवं सौन्दर्य का वर्णन होता है। आकार के अतिरिक्त शरीर में अन्य गुणों के विकास से सौन्दर्य की वृद्धि होती है। इन गुणों में अभिरूपता, मार्दव, सौकुमार्य, उन्माद, शैथिल्य, सुरभि, गरूर आदि आते हैं। इन गुणों का सम्बन्ध शरीर से रहता है। ये स्वतः सम्भवी गुण है, जो यौवन काल में अपने आप रूपवती नायिकाओं में प्रकट हो जाते हैं। अतः इसे आंगिक सौन्दर्य के अन्तर्गत मानेंगे।

शरीर के सूक्ष्म गुणों में युवाकाल में आविर्भूत होने वाले गुणों की गणना होती है। ये आकार या अंगों में व्याप्त रहने वाले गुण हैं। इन गुणों

---

1 ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद पृ० २२६

की स्वतन्त्र मूर्त सत्ता न होकर अमूर्त सत्ता ही है परन्तु इन गुणों से सौन्दर्य बढ़ जाता है। इन्हें ही अपने मूलरूप में सौन्दर्य का वास्तविक अंग मानेंगे। रूप, छबि, ज्योति, उज्ज्वलता, मुख-कान्ति, मृदुता, आभिरूप्य सौकुमार्य आदि गुण इसके अन्तर्गत आयेंगे। साहित्य-शास्त्र में अयत्नज अलंकारों को शोभा का कारण माना है। ये अलंकार आंगिक सौन्दर्य को बढ़ाने वाले स्वाभाविक उपादान हैं। इन उपादानों से नायिका के आकर्षण की वृद्धि हो जाती है। इनका आविर्भाव स्वतः होता है। ये प्रयत्न साध्य नहीं हैं। इससे इन्हें 'अयत्नज-अलंकार' कहते हैं। अलंकार शोभा-विधायक धर्म है। इन्हीं शोभा-विधायक धर्मों से नायिका का रूप नायक के मन में रति भाव का संचार करने में समर्थ होता है। इन अलंकारों में शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य की गणना होती है।

'शोभा' रूप, यौवन, लालित्य, सुख-भोग आदि से सम्पन्न शरीर की सुन्दरता को कहते हैं। यौवन में इन गुणों का स्वाभाविक विकास होता है। इस शोभा को देखकर इसके उपभोग की कामना उत्पन्न हो जाती है। शोभा का तत्काल प्रभाव पड़ता है। शोभा युक्त रमणी का प्रत्यक्ष-दर्शन अनुराग उत्पन्न करने का प्रमुख साधन है। श्रीकृष्ण राधा की रूप शोभा देखकर ठगे से रह जाते हैं, "सूर श्याम देखत ही रीझै, नैन नैन मिलि परी ठगोरी।"

शोभा, काम-भावना से दीप्त होकर 'कान्ति' कही जाती है। इसमें स्मर-विलास से शारीरिक शोभा बढ़ जाती है। शोभा और कान्ति में अन्तर है। शोभा शारीरिक सौन्दर्य है, इसमें काम का विकार नहीं होता, परन्तु 'कान्ति' में स्मर-विलास अनिवार्य तत्व है। यथा—

१. लालन की लाली अँखियन में दिखाई देत,
अंतर अनन्तर ही प्रेम सो पची रही।
कुँवरि किसोरी मुख मोरी करै सखिन सों,
चोरी-चोरी चित्त गति रोरी सी रची रहे।[1]

२. विकसै अबला अंग में, काम कला की जोति।
चामी कर से गात की चमक चौगुनी होति।[2]

अत्यधिक मात्रा में बढ़ी हुई कान्ति ही 'दीप्ति' है। अर्थात् स्मर-विलास की शोभा जब स्पष्ट रूप के प्रकट होने लगे, तो वहाँ 'दीप्ति' होती है।

---

1 ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद। पृ. २२४। 'देव' कृत छंद।
2 रस-रत्नाकर पृ. २१६

दीपावली तन दुति निरखि दवकी सी दिखराति।
विविध जोति उजरी फिरति जरी बीजुरी जाति।[1]

सभी अवस्थाओं में रमणीय लगना 'माधुर्य' कहा जाता है। इसमें साधक या बाधक प्रत्येक परिस्थिति में सुन्दरता बनी रहती है।

'तिरछे चलि लहि बंकता, करि चंचलता मान।
अधिक मधुमयी बनति हैं, ललना की अंखियानी।

यहाँ मान में या नेत्रों की बंकता प्रत्येक दशा में आँखों का मधुमयी होना बताया है। 'औदार्य' प्रत्येक समय की विनीत अवस्था का द्योतक है। इसमें पति के अपराधों को देखकर भी नायिका के मन में रोष नहीं आता, अपितु प्रिय के सुख की कामना ही रहती है—

हमको तुम एक अनेक तुम्हें, उन ही के विवेक बनाइ बहौ।
इत चाह तिहारी विहारी, उतै सरसाइ कै नेह सदा निबहौ।
अब कीवौ 'मुबारक' सोई करौ, अनुराग लता जिन बोइ दहौ।
घनश्याम ! सुखी रहौ आनन्द सों तुम नीके रहौ, उनही के रहौ।[2]

आत्मश्लाघा से युक्त अचञ्चल स्वाभाविक मनोवृत्ति का नाम 'धैर्य' है। नायिका के धैर्य की भावना बनी रहती है। "नव प्रसून नावक बने, पावक मलय समीर। परम धीर अनुरागिनी ह्वै है नाहिं अधीर," प्राण पुष्प घातक बन जाय या मलय समीर अग्नि बन जाय, परन्तु अनुरागिनी अधीर नहीं होगी। निर्भरता का नाम 'प्रगल्भता' है। इसमें रति-क्रीड़ा के समय स्वयं भी उन्हीं व्यापारों में सहयोग देकर नायिका प्रियतम को वश में कर लेती है। यह काम भावना का उद्दीपक तत्व है। इससे शरीर की शोभा नहीं बढ़ती अपितु रति में तीव्रता आती है।

'केलि कला की तरंगन सों हठि मोहन लाल को ज्यौं ललचावति।
अंक में बीति गई रतियाँ हैं तऊ छतियाँ हिय छोड़ि न पावति।

रस रत्नाकर पृ. २२२

नायिका के उपर्युक्त सातों अलंकारों के सम्बन्ध में दो बातें प्रतीत होती हैं (१) शोभा, कान्ति आदि अलंकार स्वतः उत्पन्न होकर सुन्दरता के विकास में सहायक होते हैं। इनसे नायिका के अंगों में झलकने वाला विलास उसके रूप को आकर्षक बना देता है। वह अधिक रमणीय एवं सुन्दर प्रतीत होने

1 रस-रत्नाकर पृ. २२०
2 ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद पृ. ३८४ से

लगती है। इन चारों (शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य) का सम्बन्ध शरीर की चाक्षुप अनुभूति से है। अतः इन्हें शोभा-विधायक गुणों के अन्तर्गत मानेंगे।

(२) धैर्य और औदार्य मानसिक दशा का संकेत करते हैं। ये शरीर के शोभा-विधायक धर्म न होकर मानसिक प्रवृत्ति के सूचक धर्म हैं। इनका शरीर से सीधा सम्बन्ध नहीं है। प्रगल्भता क्रियात्मक गुण है। इस दृष्टि से शरीर के शोभा-साधक उपकरणों में आरम्भिक चार अलंकारों की गणना ही होगी। अन्य उपकरणों (औदार्य, धैर्य और प्रगल्भता) का सम्बन्ध आचरण से है। नायिका के ये आचरण नायक के मन में उसके प्रति लगाव उत्पन्न करते हैं। इससे नायक की भावनाएँ उद्दीप्त होती हैं। भावनाओं को उद्दीप्त करने के कारण इन्हें 'उद्दीपक गुण' कहा जा सकता है। इन सभी गुणों का सम्बन्ध शरीर से बना रहता है। शरीर के ये परिवर्तन भावों के परिवर्तित होने में पृष्ठभूमि का कार्य करते हैं। विकसित शारीरिक अवस्था मानसिक एवं भावनाओं के विलास में सहायक होती है। इससे इस परिवर्तन की आधार भूमि शारीरिक या आंगिक परिवर्तन है। आंगिक परिवर्तनों से उत्पन्न शोभा का वर्णन नख-शिख के अन्तर्गत हुआ है। नख-शिख वर्णन से ही शोभा की अनुभूति जाग्रत होती है, इससे इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

नख-शिख सौन्दर्य—इसका संकेत आंगिक सौन्दर्य के नाम से किया जा चुका है। सौन्दर्याभिव्यक्ति की यह प्रवृत्ति बहुत प्राचीन है। मानव का सौन्दर्य-लोलुप मन अंगों की ओर आकृष्ट होता है। वह अंगों की चाक्षुप प्रत्यक्ष से प्राप्त अनुभूतियों द्वारा तृप्त होता है, उनका रसास्वादन करता है और अपनी कलात्मक प्रतिभा से उसे प्रेषणीय बनाता है। इस प्रेषणीयता के लिये रूपात्मक जगत की सुखद वस्तुओं का चयन करता है। उसके चयन का क्षेत्र सम्पूर्ण मानवेतर जगत् है। इस जगत् से मानव सौन्दर्य की सापेक्षता में गृहीत वस्तुओं के आकार, गुणों और ऐन्द्रिय अनुभूतियों का तादात्म्य स्थापित होता है। यह तादात्म्य अभिव्यञ्जना की कुशलता से कलात्मक सौन्दर्य का विधान करता है। इसका मूल आलम्बन मानव ही होता है। मानवेतर जगत् का ग्रहण मानव की विशिष्टता देने में है, अर्थात् मानव के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में मानवेतर जगत् उपमान का कार्य करता है। मुख्यता मानव जगत् की है। इससे मानव को प्रत्येक दृष्टि बिन्दु से देखने एवं परखने की चेष्टा की गई है। इस चेष्टा में सौन्दर्य दृष्टि की प्रधानता है यह दृष्टि अपनी सूक्ष्मता के कारण अंग-प्रत्यंग की शोभा निरखने में सजग थी। अंग शोभा देखने की सजगता ने आत्मानुभव को प्रेषणीय बनाना चाहा। इसी के फलस्वरूप नख-शिख वर्णन की परम्परा का सूत्रपात हुआ।

नख-शिख वर्णन आंगिक सौन्दर्य का खण्ड-खण्ड रूप-चित्र है। इसमें विभिन्न अवयवों के अलग-अलग रूप-चित्रों से उन अवयवों में वर्तमान आकर्षण द्वारा सामूहिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक अंग की अपनी निजी शोभा है। यही शोभा सभी अवयवों की समष्टिगत एकता एवं प्रभाव से सामूहिक सौन्दर्य की अनुभूति कराती है। नख-शिख संज्ञा प्राप्त करने के लिये नख से आरम्भ कर शिख तक के सभी अंगों का वर्णन होना आवश्यक है। एक दो अंगों का वर्णन भी नख-शिख की सीमा में आ तो सकता है, परन्तु रूप का सर्वाङ्ग चित्र उसके द्वारा उपस्थित नहीं होता, वह उसका खण्ड-चित्र मात्र होगा और खण्ड चित्र पूर्ण को बनाने में असमर्थ होते हैं। अनेक खण्ड रूप चित्रों द्वारा अखण्ड सौन्दर्य की कल्पना सहज में ही हो जाती है। अतः नख-शिख में अवयव के अनेक खण्ड-खण्ड रूप-चित्रों की अभिव्यक्ति के माध्यम से सर्वाङ्ग का सामूहिक या समष्टिगत रूप-सौन्दर्य अभिव्यञ्जित होता है। इस दृष्टि से किसी अंग का वर्णन व्यष्टिगत सौन्दर्याभिव्यक्ति है और नख-शिख रूप सर्वाङ्ग का वर्णन समष्टिगत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। एक अंग वर्णन में उस अंग की विशेषताओं के निजत्व की एकांगिता होती है और नख-शिख वर्णन में सर्वाङ्ग की समष्टिगत सौन्दर्य चेतना होती है। 'नख-शिख' शब्द द्वारा सम्पूर्ण शरीर के सौन्दर्य का बोध होता है। इसके लिये दो प्रकार की शैली अपनाई गई है—

१. शिख-नख शैली।
२. नख-शिख शैली।

शिख-नख शैली में शिख से पद के नखों तक का वर्णन किया जाता है। इस वर्णन में मानव को आधार बनाकर उसके अंग-प्रत्यंग का वर्णन होता है। इस वर्णन के सामूहिक प्रभाव से उत्पन्न सौन्दर्य को मानव-सौन्दर्य की संज्ञा दी जाती है।

नख-शिख शैली में पैर के नख से आरम्भ कर सिर की चोटी तक का वर्णन किया जाता है। इस शैली में ईश्वरीय सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने की बात कही गयी है, परन्तु प्राप्त ग्रन्थों के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि 'नख-शिख में मानव के अंग-प्रत्यंग का वर्णन मिलता है। कुछ ही ग्रन्थों को 'शिख-नख' नाम दिया गया है।[1] सामान्य रूप में 'नख-शिख' द्वारा

---

1 'शिखनख'–केशवदास, नागरीदास, रस आनन्द, रसिक मनोहर, सुजान। सुखदेव मिश्र। शिख-नख-दर्पण–गोपालकृत। 'हनुमान-शिखनख'–सुमानकृत

ईश्वरीय अंग-प्रत्यंग का वर्णन होना चाहिये। इस ढंग के ग्रन्थ भी रीतिकाल में मिल जाते हैं।[1] अंग वर्णन में नख-शिख या शिख नख के अतिरिक्त अन्य नामों से भी अवयवों का वर्णन मिलता है।[2] कहीं-कहीं केवल एक ही अंग के ऊपर स्वतंत्र ग्रन्थों का निर्माण हुआ है।[3] इस प्रकार रीतिकाल में अवयवों का वर्णन एवं नाम के सम्बन्ध में निम्नलिखित धारणाएं कार्य करती हैं—

१. 'नख-शिख या 'शिख-नख' नाम से मानवीय या राधाकृष्ण जैसे ईश्वरीय आलम्बन के अंग-प्रत्यंग का वर्णन।

२. 'नख-शिखादि' के अतिरिक्त अन्य नामों से सर्वाङ्ग या अवयवों का वर्णन।

३. किसी अंग-विशेष के वर्णन में ग्रन्थों का स्वतंत्र सृजन।

इन तीनों पद्धतियों में 'शिख-नख' में मानवीय, 'नख-शिख में ईश्वरीय और अन्य नामों में मानवीय सौन्दर्य वर्णन की परम्परा थी परन्तु यह कोई निश्चित नियम नहीं था। इसीसे मानवीय अवयवों के वर्णन में भी 'नख-शिख' नाम दिया गया है। मानव के संदर्भ में इस नाम का समर्थन निम्नलिखित आधार पर किया जा सकता है।

---

1 'सीताराम नख-शिख' प्रेमसखी। जुगल नख-शिख–पंचमसिंह १९८२। नख-शिखराधाजू को–सूरतिमिश्र १७९४। राधिका मुख वर्णन शंकरदत्त १८३०। श्रीवृन्दावन, चन्द, शिख, ध्यान, मंजूप दामोदरदेव (१८६०–१८६४)। नख-शिख राधा जू को चन्दन राई (१८६४)। श्रीकृष्ण चन्द्र का नख-शिख–ग्वाल १८८४। राधा नख-शिख–गिरधर भट्ट १८८६। श्री रामचन्द्र का नख-शिख–रूपसहाय। जुगल नख-शिख–प्रतापसाहि। शारदा का नख-शिख–योगेन्द्र नारायण सिंह।

2 'राधिका–सुषमा' लोकनाथ चौबे (१७६०)। छबि रत्नम्–कालीदास त्रिवेदी (१७४९)। रस-विलास–देव १७६६। अंग-दर्पण-नबी 'सुन्दरी-तिलक'-पुरूषोत्तम शुक्ल। नायिका-रूप-दर्शन-शिवसहाय (लगभग १८८९) श्री राधाकृष्ण अंगों का सौन्दर्य वर्णन श्रीकृष्ण चैतन्यदेव १९२२। अंग चन्द्रिका-खूबदेव कुबेर (१९२०) श्यामाङ्गवयव भूषण–नवनीत १९४०। अंगादर्श-रंग नारायणपाल,

3 'अलक व तिल शतक' मुबारक १६ ०। नैनपचासा-मंडन १९१६। चरण चन्द्रिका-रामचन्द्र १८४०। श्री राधा मुख-षोडषी–गोविन्द १८५०। नख-शतक-हरिदास कायस्थ १८८९। श्री राधा मुख षोडषी, नयन-मंजरी, पयोधर पच्चीसी–गोविन्द गिल्ला भाई चन्द्रिका १९५३ वि.

१. इन ग्रन्थों के निर्माता कवियों द्वारा भी मानव अवयवों के वर्णन में 'नख-शिख' नाम ही दिया गया है, 'शिख-नख' नाम की महत्ता नही स्वीकार की जा सकी।

२ भक्तिकाल के राधा-कृष्ण या राम ईश्वरीय आलम्बन हैं। उनके अवयवों के वर्णन में 'नख-शिख' नाम देना उचित ही था। हो सकता है कि बाद में इसी नाम को देने की परिपाटी चल पड़ी हो और कवि ने मानव और ईश्वरीय आलम्बन के भेदों से मुक्त होकर इस नाम को अपना लिया हो। नाम चाहे कोई भी क्यों न हो, इसका मूल उद्देश्य अवयवों का आकर्षक वर्णन करना था। इस वर्णन की सम्पूर्णता में उसके सौन्दर्य का प्रस्फुटन हो जाता है। सौन्दर्य का यह प्रस्फुटित रूप आस्वादन और तृप्ति का साधन बनता है, आनन्दानुभव को मूल स्रोत है और ऐन्द्रिय एवं लौकिक जीवन की चरम साधना है। इस साधना की सिद्धि का माध्यम अवयवों का प्रियतामूलक और सुरुचि पूर्ण वर्णन है। इस वर्णन में निम्नलिखित धारणाएं एवं दृष्टिकोण कार्यशील थे—

१. आकार वर्णन—चाक्षुष दृष्टिकोण।

२. रूप—लावण्यादि का वर्णन और उसका प्रभाव।

३. ऐन्द्रिय अनुभूतियों का वर्णन।

आकार वर्णन—'नख-शिख' वर्णन में नारी का सौन्दर्य प्रस्तुत करते हुए उन अंगों की बनावट का ध्यान रखा जाता है। अंगों का उचित संयोजन प्रिय लगता है बनावट की दृष्टि से शरीर के चार गुण सापेक्षता, समता, संगति और सन्तुलन होते हैं। सापेक्षता अवयवों की सम्पूर्णता की भूमिका में उचित विन्यास कहा जायगा। यह अंगों का ऐसा संयोजन है, जिससे 'रूप' का आविर्भाव होता है। शरीर का प्रत्येक अंग निरपेक्ष और असम्बद्ध न होकर सापेक्ष और सम्बद्ध होता है। अर्थात् अंगों के खण्ड रूप चित्र सर्वाङ्ग में अपना निश्चित और सुव्यवस्थित स्थान रखते हैं। यह सुव्यवस्था ही अन्य अंगों के साथ विन्यास की दृष्टि से 'सापेक्षता' है। 'समता' अंगों का पारस्परिक अनुपात व्यक्त करती है। किसी अवयव की तुलना में दूसरा अंग बनावट आकारादि की दृष्टि से देखा जाता है। प्रत्येक अंग का बड़ापन या छोटापन एक दूसरे अंग के संदर्भ में ही देखा जाता है। उदाहरणार्थ शरीर की लम्बाई चौड़ाई के अनुसार ही आंख, नाक, कान आदि अंग होने चाहिए। यदि लम्बे-चौड़े शरीर में आंखें बहुत छोटी हों, तो समता का अभाव माना जायगा। 'संगति' द्वारा 'रूप' में विरोध का शमन होता है। इससे अनेकता में एकता उत्पन्न होती है। 'संतुलन'

में अनेक तत्व एक योजना में आबद्ध होकर एक दूसरे को क्षति न पहुँचाते हुए सौन्दर्योत्कर्ष के कारण होते हैं। इसमें प्रत्येक अवयव अपने प्रधान या सर्वाङ्ग के अन्तर्गत उसकी रक्षा और संवर्द्धन करता है। इन चारों गुणों की महत्ता सम्पूर्ण की दृष्टि से है। यह अंगों के **पारस्परिक संदर्भ** को व्यक्त करता है। बनावट की दृष्टि से अंगों का यह समष्टिगत गुण है, व्यष्टिगत गुणों में अंगों का अलग-अलग वर्णन होता है। वर्णन की यह दृष्टि मध्यकालीन साहित्य में व्यापक थी। कवियों ने इस दृष्टि से नख-शिख के शताधिक ग्रन्थों का निर्माण किया है।

अंग वर्णन की व्यष्टिगत दृष्टि—मध्यकालीन ग्रन्थों में अंग-प्रत्यंग के वर्णन की परम्परा प्रचलित थी। प्रत्येक कवि प्रसंगतः या स्वतन्त्र रूप से अवयव का वर्णन करता था। रीतिवद्ध कवियों ने अंग वर्णन को प्रधानता दी थी। इस वर्णन में अंगों के आकार, प्रकार, सुडौलता, सुढरता आदि की चर्चा होती थी। बनावट की दृष्टि से इसका विचार प्रधान कविकर्म था। सभी कवियों ने इस पर अपने भाव व्यक्त किये है। यह अभिव्यक्ति दो दृष्टियों से की गई प्रतीत होती है। (१) काम सहायक अंगों की बनावट आदि का वर्णन और (२) अन्य अंगों का वर्णन। इस वर्णन में अंग के गुणों आकार आदि पर ध्यान केन्द्रित रहता है। अंगों में स्त्रियों के अंग को ही चर्चा का माध्यम बनाया गया है। ऐसा वर्णन शृंगार के अवसर पर हुआ है। इससे स्त्रियों के बाह्य रूपाकार की ही सौन्दर्याभिव्यक्ति हुई है, आन्तरिक शील आदि गुणों का वर्णन नहीं हो सका है। उनका यह बाह्य रूप वर्णन निम्नलिखित रूपों में किया गया है:—

१. दीर्घ अंग—केश, अंगुली, नयन, ग्रीवा, शरीर, गाल, हाथ।
२. लघु अंग—दशन, कुच, ललाट, नाभि, कान, पैर।
३. भरे हुए अंग—कपोल, नितम्ब, जंघा, कलाई, पयोधर।
४. पतले अंग—नाक, कटि, पेट, अधर।

उपर्युक्त अंगों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि काम सहायक अंग एवं अन्य अंगों का वर्णन आकार की दृष्टि से हुआ है। इनमें काम सहायक अंग रति-भाव को उद्‌बुद्ध करने में प्रमुख है। ऐसे अंगों में मुख, अधर, कपोल, स्तनादि के वर्णन का विस्तार अधिक हुआ है। इन अंगों के भरेपन और उभार आदि के प्रति कवियों की दृष्टि सदैव सजग थी। ऐसे अंगों के वर्णन में उनके मन की रति-भावना जागरूक रहती थी। इसी से इसका वर्णन मादक, मोहक और आकर्षक बन गया है। इसकी प्रधान विशेषता मांसलता हैं। इस मांसलता में रूप की एक कड़ी ज्वाला का आभास मिल जाता है इसमें कवि की

अनुभूतियाँ मिलकर इसे सचेतन बना देती हैं। यह अनुभव दो रूपों में प्रकट हुआ है: —

(१) स्पार्शिक सुखानुभूति।

(२) चाक्षुष सुखानुभूति।

स्पार्शिक सुखानुभूति—इसमें स्पर्श से उत्पन्न होने वाले गुणों का वर्णन है। इन गुणों में कोमलता, मृदुलता, चिकनापन, मार्दव, सौकुमार्यादि की गणना होगी। विश्लेषण करने से ऐसा लगता है कि अंगों के स्पर्श से दो प्रकार की अनुभूति होती है:—

१. त्वचा का आत्मिक गुण।

२. ताप से सम्बन्धित गुण।

इन दोनों में से मार्दव, सौकुमार्य आदि त्वचा के गुण हैं और शीतलता उष्णतादि द्वारा शारीरिक स्पर्श-जन्य ताप का अनुभव होता है। सम्पूर्ण शरीर की शीतलता आनन्द दायक होती है। जांघ आदि के वर्णन में शीतलता का यही गुण देखा गया है। इसी से जंघों की उपमा केले के स्वाभाविक शीतल खम्भों से दी गई है। इस प्रकार के उपमानों का उद्देश्य स्पर्श से उत्पन्न सुख की अनुभूति कराना है। ऐसे उपमान अपने उद्देश्य को वहन करने में समर्थ हैं। ऋतु के अनुकूल शरीर की स्पर्श सुखदता एवं अनुभूति में अन्तर बताया गया है। ग्रीष्म ऋतु के शीतल अंग शीत ऋतु में उष्णता का अनुभव कराते हैं। स्तनों एवं वक्ष का स्पर्श, आलिंगनादि से उष्णता की अनुभूति का वर्णन है। रीतिकालीन कवियों ने बाला के सम्पर्क से ही शीतलता के नष्ट हो जाने की बात कही है।[1] बाला के उष्ण अंगों के साथ अन्य भी बहुत से पदार्थों का

---

1 (i) 'लाल बलवीर जू के पाला को कसाला कहा,
आय-आय लागत नवीन उर बाला है।
पृ० २३५ ब्रज भाषा साहित्य का ऋतु सौन्दर्य

(ii) मदन मसाला है, बिसाला जे दुसाला आला,
पाला सम लागैं, बाला बिन सीत काला है। वही पृ. १३५

(iii) 'लाल बलवीर' व्यापै हिम की न पीर बीर,
प्रेम रनधीर पिएँ, रूप-रस प्याला है।
देखि छवि आला, बाला होत है निहाला,
संग राजै प्रतिपाला, राधे छैल नन्द लाला है। २३४ वही

(iv) निपट रंगीले लाला सिसिर के सीत भीत,
अंग लावैं लाड़िलीकों, अतिहि भमकि कै। २३३ वही

सेवन करके शीतलता को भगाने की चेष्टा की जाती है। नारी के अंग ही शीतलता या उष्णता प्रदान करने वाले बन जाते हैं, उन अंगों की स्पर्श सुखदता बढ़ जाती है और वे हमारी भावनाओं की तृप्ति के साधन बन जाते हैं। नारी-अंग के ये गुण पुरुष के मन में ललक और भोग की भावना उत्पन्न करते हैं। आकर्षण बढ़ाते है और रूप के आमंत्रित करने वाले भाव या गुण को उत्पन्न करते हैं। ताप का अनुभव कराने वाले इन गुणों के अतिरिक्त स्पर्श जन्य अन्य अनेक गुणों की चर्चा हुई है। इनमें मार्दव या सौकुमार्य का संकेत ऊपर किया जा चुका है। यहाँ उसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

सौकुमार्य—मार्दव अथवा सुकुमारता कोमल वस्तु के भी स्पर्श की असहनीयता को कहते हैं।[1] नारी के मृदुल अंग संसार में प्रसिद्ध कोमल वस्तु के स्पर्श को सहने में भी असमर्थ होते हैं। अंगों की यह कोमलता जन्म-जात होती है, जिसे अनुलेपनादि के सतत प्रयोग से स्थिर रखने का प्रयास होता है। यह कोमलता सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाली होती है। इसके तीन भेद उत्तम मध्यम और कनिष्ट होते हैं। उत्तम सुकुमारता कोमलतम वस्तुओं के संस्पर्श की असहनीयता से आती है। इसमें गुलाब आदि पुष्पों के स्पर्श को असहनीय बताया जाता है। बिहारी ने इसी प्रकार की मृदुता का वर्णन किया है।[2] मध्यम सुकुमारता अपेक्षाकृत अधिक भारी पदार्थों के धारण की असहनीयता है। ऐसे पदार्थों में वस्त्रादि के धारण करने के भार से शरीर के रक्तिम हो जाने की चर्चा है अथवा कुसुमहारादि के भार से लंक के लचक आने का वर्णन होता है।[3] धूप लगने से अथवा उसमें चलने पर स्वेद-कणों का आ जाना 'अधम सुकुमारता' को व्यक्त करता है। इसमें भी असहनीयता का भाव है, परन्तु भार से उत्पन्न असहनीयता न होकर ताप के स्पर्श से उत्पन्न असहनीयता है। इन

---

1 मार्दवं कोमलस्यापि संस्पर्शासहतोच्यते।
उत्तमं मध्यमं प्रोक्तं कनिष्ठं चेतितत्रिधाः।
उज्ज्वल नील मणि उद्दीपन प्रकरण छंद ३५ पृ० २७५

2 मैं बरजी कै बार तूं, इत कत लेत करौंट।
पंखुरी लगै गुलाब की, परिहैं गात खरौंट। सतसई

(ii) झिझकति हिय गुलाब की झवा झवैंयत पाँय।
छाले परिवे के डरनि सकै न गात छुवाय।

3 पानि के भार न संभारत न गात-लंक लचि-लचि जाति
कच-भारन के हलके। द्विजदेव पृ० ३५० रीति काव्य संग्रह।

तीनों प्रकार की गात्र सम्बन्धी असहनीयता से सुकुमारता का ज्ञान होता है। इस गुण से सम्बन्धित नायिका रति का उत्तम आधार बनती है।

नायिका की यह सुकुमारता दो आधारों को लेकर चलती है। १. मन की सुकुमारता २. शारीरिक। सुकुमारता मन की सुकुमारता मुग्धावस्था में अधिक दीख पड़ती है। इस अवस्था में विपरीत भाव की आशंका मात्र भी कष्टकारक हो जाती है।[1] वय के विकास के साथ पिय के सम्पर्क का भय क्रमशः कम होता चला जाता है। मन की कोमलता भावनाओं के प्रौढ़त्व में बदल जाती है, परन्तु शारीरिक कोमलता इतनी शीघ्रता से परिवर्तित नहीं होती। यह कोमलता आकर्षण को बढ़ाने में समर्थ होती है। कवियों का ध्यान शरीर की इस कोमलता की ओर अधिक गया है।

शारीरिक-कोमलता--स्पर्श और असहनीयता उत्तम सुकुमारता को बताने वाली है। असहनीयता का अनुभव कराने वाले पदार्थ दो प्रकार के हो सकते हैं—

(१) अमूर्त पदार्थ
(२) मूर्त-पदार्थ

अमूर्त पदार्थों में रूप, छवि, शोभा, पानिप आदि के स्पर्श को न सहन कर सकने का वर्णन है। इसमें किसी प्रकार का भार शरीर पर नहीं पड़ता। केवल तत्वों की भावात्मक स्थिति होती है। ऐसे अमूर्त या भाव (Abstract) पदार्थों से उत्पन्न असहनीयता कोमलता की चरम उत्तम कोटि को व्यक्त करती है। इस प्रकार का वर्णन रीतिकालीन साहित्य में अधिक मिलता है। इन तत्वों की भौतिक सत्ता न होते हुए भी इनके प्रभाव जन्य प्रतिक्रिया का वर्णन किया गया है। दृष्टिभार की वास्तविक सत्ता नहीं है परन्तु पिय की दृष्टि का स्पर्श करने की अक्षमता नायिका की कोमलता बताने वाली है।[2]

मूर्त पदार्थों के सम्पर्क से कोमलता की अभिव्यक्ति करने में अनेक कवियों ने अपनी अभिव्यञ्जनात्मक निपुणता का परिचय दिया है। इससे

---

1 आवन को नाम सुनि सावन कियो है नैना, आवन कहै,
सु कैसे आइ जाई छीजिए। बरबस बस करिबे को मेरो बस नहीं,
ऐसी बेस कहो कान्ह ! कैसे बस कीजिये।

2 (i) नवला मुरि वंठनि चितै, यह मन होति विचार।
कोमल मुख सहि ना सकत, पिय **चितवनि को भार**। रस-प्र.-रसलीन।
(ii) क्यों वा तन सुकुमारि तनि, देखत पैयत नीठि।
बीठि परति यों तरफरति, मानो लागी दीठि। अंग-दर्पण॥

कोमलता की जो व्यञ्जना होती है, वह अभिधेय न होकर लक्षणा या व्यञ्जना द्वारा व्यञ्जित है। ऐसे वर्णनों का कलात्मक सौन्दर्य उच्चकोटिक होता है। ऐसे ही सौन्दर्य अथवा अभिव्यञ्जनात्मक निपुणता के कारण कवियों का शिल्प प्रशंसनीय बनता है। कोमलता की यह अभिव्यञ्जना **स्पर्श की असह-नीयता** से व्यञ्जित हुई है। ऐसे पदार्थों में गुलाब की पखुड़ियां, चूड़ियों का स्पर्श,[1] दृष्टि का स्पर्श और उष्णता के स्पर्श का वर्णन है।[2]

भार की असहनीयता से भी कोमलता का ज्ञान होता है। रीतिकालीन नायिका कोमलतम वस्तुओं तक के भार को सहन करने में अपने को असमर्थ पाती है। जावक-भार से उसके पैर बोझिल हो जाते हैं "जावक के भार पग धरत धरा पै मंद, गंधभार कुचन परी हैं छुटि अलकैं।" बरुनि के भार से दृग अधखुले हो जाते हैं। दृष्टिभार की असहनीयता से नायिका मुख फेर लेती है। इस असहनीयता की संभावना से कोमलता को व्यक्त किया गया है। बिछुओं के भार से रंग सा चूने लगता है। अंग राग के भार के डर से उसका लगाना ही छोड़ दिया गया है।[3] पग की लालिमा में तद्रूप हो गया महावर का रंग ज्ञात नहीं हो पाता, परन्तु इसके भार से नायिका को इसका बोध हो जाता है।[4] कच और कुच के भार से लंक लच जाती है।

भार की यह असहनीयता मूर्त एवं अमूर्त दोनों ही प्रकार के पदार्थों से व्यञ्जित है। शारीरिक सुकुमारता के साथ भावों की सुकुमारता का संकेत किया गया है। इस प्रकार का वर्णन शरीर की मृदुता बढ़ाकर नायिका के सौन्दर्य को बढ़ा देते हैं। कोमल और मृदुल वस्तुओं के स्पर्श से भावनाओं के विकास का पूर्ण अवसर मिलता है। नायिका के अंग के इस गुण से उसके व्यक्तित्व का आकर्षण बढ़ता है। व्यक्तित्व को सुन्दर और आकर्षक बनाने

---

1 वै अंगुरी के छुवैं सिसकैं, कर बार सी पातरी जो मैं चढ़ाऊं।
छोड़िहौं गाँव बबा की सौं, मैं पर चूरी न ह्यां पहिरावन आऊं।
रीति का. सं. पृ. २९१

2 यह सोनो सो अंग सुहाग भरो, कहौ कैसे के आग के आंच सहै।
रीति का सं. पृ. ३९९ मंडन

3 चरन धरै न भूमि विहरै तहाँई जहाँ,
फूले फूलि फूलनि बिछायो परजंक है।
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगनि मैं,
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है। सतसई-मतिराम,

4 आपु कह्यौ अरी दाहिने दै मोहि, जानि परै पग वाम है भारी। दास

वाले इन स्पार्शिक गुणों के अतिरिक्त चाक्षुप सुखानुभूति का वर्णन भी हुआ है।

चाक्षुष सुखानुभूति—अंगों को देखकर नेत्रों के सुख की अनुभूति कराने वाले शारीरिक गुणों से चाक्षुप सुखानुभूति होती है। शरीर का यह गुण 'रूप' है। रूप देखने से मन खिंच जाता है और आंखों को सुख मिलता है। सुडौल, सुढर रूप आकर्षक होता है। शरीर की मधुरता का सम्बन्ध भी रूप से ही होता है। अनिर्वचनीय रूप ही माधुर्य नाम से जाना जाता है।[1] यह रूप दो प्रकार का हो सकता है :—

१. अनिर्वचनीय रूप
२. वाच्य-रूप

वर्णन कर सकने योग्य गुणशाली रूप अनिर्वचनीय होता है। इसकी अनुभूति तो होती है, परन्तु वह अकथ्य बना रहता है। अंगों को देखकर अनुभव होता है कि उसमें छवि रूप में अनिर्वचनीय 'कुछ' है जो आंखों को सुख देता है। यह रूप-लावण्य, छवि, ज्योति, चमक आदि अनेक रूपों में प्रकट होता है। इन सभी प्रकारों का अस्तित्व है, जो अंगों में ही रहता है। उससे अलग होकर उसकी सत्ता नहीं रह पाती है और उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। शरीर में व्याप्त उसके सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाला यह ऐसा स्वाभाविक तत्व है, जो युवाकाल में अपने-आप ही आविर्भूत हो जाता है। यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहने वाला गुण है। इस गुण का कथन अंग-ज्योति, दीप्ति, शोभा आदि द्वारा किया गया है। इस गुण की इयत्ता नहीं होती। इसे सभी कवियों ने स्वीकार किया है।[2]

चाक्षुप अनुभूति में रूप का दूसरा गुण उसकी **नित-नवीनता** है। छबि की इस नवीनता के कारण विहारी की नायिका का चित्र संसार के चतुर चितेरे भी नहीं खींच पाते हैं।[3] भक्तिकाल में इसी नवीनता से छबि स्थिर नहीं रह पाती है, इससे गोपियों का मन उनसे पहचान नहीं मानता:—

---

1 रूपं किमप्यनिर्वाच्यं तनोमाधुर्यमुच्यते। उज्ज्वल नीलमणि पृ. २७५

2 सोभा सिन्धु न अन्त रही री—सूरसागर
(ii) कुम्भनदास प्रभु सोभग, सींवा, गिरधर घर सिरमोर।
(iii) कृष्णदास प्रभु गोवर्धन धर, सुभग सींव अभिराम।
(iv) जो कोऊ कोटि कलप लगि जीवै, रसना कोटिक पावै।
तऊ रुचिर वदनारविन्द की शोभा कहत न आवे। हित-हरि वंश।

3 लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।—विहारी

स्याम सों काहे की पहिचानि।
निमिष-निमिष वह रूप न वह छवि, रति कीजै जेहि आनि।

छवि की ऐसी कल्पना कम मिलती है। इससे रूप का उत्कर्ष होता है। इस छवि के वर्णन में दो दृष्टिकोण दीख पड़ता है।

(१) गत्यात्मक छवि वर्णन।
(२) स्थिर छवि-वर्णन।

गत्यात्मक छवि वर्णन में ज्योति, अंग दीप्ति आदि की गतिशीलता का बोध होता है। यह बोध लक्षणा या व्यञ्जना व्यापार द्वारा हो पाता है। इसके लिये प्रयुक्त वाक्याशों में छवि का चू पड़ना, लावण्य का उफान, जगर-मगर ज्योति, जुन्हाई की धार सी दौड़ पड़ना, तरंग का उठना आदि शब्दावलियों का प्रयोग कवियों ने किया है।[1] इन वाक्यांशों के प्रयोग द्वारा रूप की अनिर्वचनीयता को मूर्तरूप देने की चेष्टा की गई है। इससे उत्पन्न होने वाले बिम्ब-विधान द्वारा प्रस्तुत का सौन्दर्य बढ़ जाता है और रूप की अतिशयता की अनुभूति होने लगती है। रूप का यह अनिर्वचनीय पक्ष है। इसका एक ऐसा पक्ष भी होता है, जिसका प्रत्यक्ष बोध होता रहता है, यह उसका कथ्य पक्ष है।

रूप की वाच्यता—अंगों में व्याप्त रूप-लावण्य के कथन के लिये कवियों ने रंग का सहारा लिया है। इन रंगों में श्वेत, श्याम और लाल रंगों का कथन है। शरीर के अनेक अंगों में ये गुण वर्तमान रहते हैं और इन्हीं से इनकी महत्ता एवं सौन्दर्य बढ़ पाती है। रसलीन ने एक दोहे में नेत्रों के रंग एवं उसके प्रभाव को व्यक्त किया है।[2] शरीर के अन्य अंगों में भी रंग का यह आकर्षक वैचित्र्य दीख पड़ेगा। इस दृष्टि से रंगों की विशेषता से युक्त निम्नलिखित अंगों का वर्णन विशेष रूप से होता है।

१. श्वेतरंग युक्त अंग--चर्म, दांत और हाथ। यहां सफेदी का अर्थ चर्म और हाथ के संदर्भ में गोराई से है। गोरी बाँहें आकर्षक होती हैं।

---

[1] अंग-अंग तरंग उठै द्युति की, परिहैं मनौ रूप अबै धर च्वै।
(ii) बगर-बगर अरु डगर-डगर वरु, जगर-मगर चार्यो ओर द्युति ह्वै रही।
(iii) अंग-अंग उछलित रूप छटा, कोटि मदन उपजत तन शोभा—गो. दा.
(iv) भीतर भौन ते बाहिर लौं, द्विजदेव जुन्हाई की धार सी धावति।

[2] अमिय हलाहल मद भरे, श्वेत, श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इकबार।—रसलीन

२. श्याम रंग युक्त अंग–आंख, बरौनियां, भौंह, केश ।

३. लाल रंग वाले अंग–ओंठ, कपोल, नाखूनों की लालिमा ।

वर्ण के गुण से युक्त इन अंगों में सहज सौन्दर्य दीख पड़ता है । रक्तिम अधरों एवं कपोलों की शोभा बरबस ही ध्यान को आकृष्ट कर लेती है । इससे सौन्दर्य का मादक एवं मोहक रूप उपस्थित होता है इस रूप के प्रभाव की अभिव्यक्ति कवियों ने की है ।

रूप का प्रभाव व्यापक होता है । इनसे चल-अचल सभी मुग्ध हो जाते हैं । गोपियां श्रीकृष्ण के सौन्दर्य को निरखकर देह एवं गृह की सुधि भूल जाती हैं । इस आत्म निस्मृति द्वारा तन्मयता का भाव व्यक्त होता है । प्रेम की तीव्र अनुभूति में इस प्रकार की आत्मलीनता दीख पड़ती है । ऐसा वर्णन मध्यकालीन कवियों ने बहुत अधिक किया है। जड़-तत्वों में इस रूप से चेतनता आ जाती है । मोहन की त्रिभंगी मूर्ति देखकर यमुना भी 'थिर' हो जाती है, वायु का चलना रुक जाता है, खग मृग सभी आकर्षित हो जाते हैं । इस प्रकार अखिल विश्व को प्रभावित करने वाले रूप की कल्पना इन कवियों ने की है । रूपाकार के अन्य गुणों में 'आभिरूप्य' का कथन हुआ है ।

आभिरूप्य– सौन्दर्य के उपकारक उद्दीपक गुणों में आभिरूप्य शरीर का गुण है । जब कोई वस्तु आत्मीय गुणों के उत्कर्ष से निकट स्थित अन्य वस्तु को अपनी उत्कर्षता में आत्मसात् कर ले, तो उसे आभिरूप्य कहते हैं ।

यदात्मीय गुणोत्कर्षैर्वस्त्वन्यन्निकट स्थितम् ।
सारूप्यं नयति प्राज्ञैराभिरूप्यं तदुच्यते ।

उज्ज्वल नील मणि । उद्दीपन प्रकरण ।

इस गुण में रंग या भावनाओं का तादरूप्य वर्णित होता है । यह गुण 'तद्गुण' अलंकार जैसा है । इस अलंकार में न्यून गुण वाली वस्तु दूसरी उत्कर्ष गुण वाली वस्तु के सम्पर्क से उस गुण को ग्रहण कर लेती है ।[1] इसमें अधिक गुण वाली वस्तु की विशेषता वर्णित होती है । दोनों वस्तुएँ अलग-अलग गुण वाली होती हैं, परन्तु एक वस्तु अपनी विशेषता के कारण दूसरी वस्तु के गुण को अपने में मिला लेती है । आभिरूप्य में दोनों वस्तुओं का भिन्न गुण होना आवश्यक नहीं है । दोनों वस्तुएँ एक ही रंग या गुण की हो

---

१ स्वगुणं त्यक्त्वा अगुणस्व समीपगम् ।
तस्यैव गुणमादत्ते यद्वस्तु स्यात् स तद्गुणः ।
अलंकार कौस्तुभ-कर्णपूर–अष्टम किरण का० ३१३

सकती हैं, परन्तु एक वस्तु दूसरी वस्तु में मिलकर एक रूप हो जाती है। इस गुण के द्वारा अंग वर्णन में नायिका के शरीर के रंगों आदि की चर्चा होती है। ऐसा वर्णन विशेषतया रीतिकालीन साहित्य में अधिक मिलता है। भक्ति साहित्य में भी इस प्रकार का वर्णन है परन्तु उसमें शारीरिक पक्ष की प्रबलता न होकर मानसिक पक्ष की प्रबलता है। इस दृष्टि से 'अभिरूप्य' की दो आधार भूमियाँ हो जाती हैं—

(१) मानसिक भावनात्मक ताद्रूप्य।

(२) शारीरिक गुणगत ताद्रूप्य।

भावनात्मक ताद्रूप्य में आलम्बन या आश्रय दूसरे के ध्यान में लीन होकर अपने अस्तित्व को अपने प्रिय में मिला देता है। वह प्रिय रूप हो जाता है, उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रिय के व्यक्तित्व में विलीनीकरण हो जाता है। विद्यापति और सूर की राधा रात-दिन श्रीकृष्ण का स्मरण करती हुई कृष्ण रूप हो जाती है। कृष्ण रूप होकर राधा की स्मृतियाँ उसे आन्दोलित कर देती हैं और वह पुनः राधा रूप में आ जाती है। इस प्रकार व्यक्तित्व की दोलायमान तद्रूपता में वह काठ के मध्य में पड़े ऐसे कीट के समान हो जाती है जिसके दोनों सिरों पर अग्नि जल रही हो।[1] सूर की राधा मोहन के रंग में रम जाती है।[2] देव ने राधाकृष्ण दोनों को एक दूसरे के प्रेम में कृष्ण और राधा मय बना दिया है—

दोउन को रूप गुन दोउ बरनत फिरें,
घर ना थिरात रीति नेह को नई नई।
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधा मन मोहि-मोहि मोहन मई-मई। देव

---

[1] अनुखन माधव माधव रटतई, सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबधाई।
माधव से जब पुनि ताईं राधा, राधा सँय जब माधव।
दारुन पेम तबहि नहि छूटत बाढ़त बिरह क बाधा।
दुहुँ दिसि दारु दहन जइसे दगदह, आकुल कीट परान।
ऐसन वल्लभ हेरि सुधामुखी कवि विद्यापति भान। विद्यापति पदावली।

[2] राधा-माधव भेंट भई।
माधव राधा के रंग राँचे, राधा माधव रंग रई। सूर सागर।

शारीरिक गुणगत ताद्रूप्य में एक के गुण से दूसरा अभिभूत हो जाता है। बिहारी की नायिका के पांव और महावरी के रंग की समता से नाइन एड़ी को ही बार-बार मलने लगती है।[1] गोपी कृष्ण के सांवरे रंग के स्पर्श से सांवरी हो जाती है। उसकी 'गुराई' श्यामता में मिल जाती है। उसे भय है कि उसकी गुराई रह नहीं पायेगी "छैल छबीले छुओगे जो मोहि, तो गातन मेरे गोराई न रैहें।"

इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि आभिरूप्य का तात्पर्य शारीरिक गुण अथवा शरीर के रंग से है। इसमें दूसरी वस्तु को अपने गुण में मिलाकर एक रूप कर देने की भावना रहती है। यह एकरूपता मानसिक भावों से अथवा शारीरिक गुणों से होती है, इसका वर्णन मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में अधिक है। इन सभी गुणों को कायिक गुण के अन्तर्गत मानेंगे। ये गुण शरीर से सम्बन्धित हैं तथा आलम्बन के व्यक्तित्व की शोभा बढ़ाने में समर्थ होते हैं। इनमें आकार की महत्ता इस रूप में है कि सौन्दर्य का मूल आधार यही है। आकार में अंगों के बनावट का स्थूल रूप और छवि, उज्ज्वलता, कान्ति आदि का सूक्ष्म रूप रहता है। इन दोनों के सम्मिलित वर्णन में रूप की वास्तविकता की अनुभूति होती है। केवल आकार और अंग-दीप्ति ही सौन्दर्य के आदर्श रूप को व्यक्त नहीं करते। इसी से शारीरिक अन्य गुणों की विशिष्टता भी आवश्यक प्रतीत हुई। इन गुणों में स्पर्श या दृश्य अनुभूतियों के शारीरिक आधार का वर्णन हुआ है। इनमें शरीर की मृदुलता, कोमलता, आभिरूप्य, सुकुमारता आदि के महत्व को स्पर्शानुभूति के रूप में स्वीकार किया गया है। चाक्षुष अनुभूतियों की सुखदता के लिये रंग की उज्ज्वलता और शरीर की गोराई आदि से नेत्र-सुख की कल्पना की गई। शरीर के विशिष्ट अंग में एक विशेष रंग की चमक आकर्षक मानी गई। जैसे अधर कपोल आदि की लालिमा, केश, भौंह, बरौनियों आदि की श्यामता सौन्दर्य साधक हो गयी। बालों बरौनियों आदि की सघनता में रूप लोभी मन उलझने लगा। भरावदार, पुष्ट अंगों में सौन्दर्य का स्रोत दिखाई पड़ा। वय की उठान के साथ भावनाओं का विकास रसिक मन को उद्दीप्त करने लगा। सहज हास युक्त मुख-मण्डल, शैथिल्य सूचक अंगड़ाई, तारुण्य, नेत्रों की उन्मादक प्रवृत्ति अंगों की ताजगी एवं टटकापन, रूप, शील, प्रेम, कुल, तेज, चातुर्य आदि निमंत्रण देने लगे।

---

1 पाँय महावर देन को, नाइन बैठी आय।
फिरि-फिरि जानि महावरी, एड़ी, मीड़ति जाय।

स्वभाव का अलवेलापन, उन्मत्त यौवन, तारुण्य दीप्ति में कवियों का मन खोने लगा। अंगों के स्थूल एवं सूक्ष्म रूप में मन इतना उलझा कि इसी को कवियों ने 'मुक्ति' मान लिया : रति-रंग में डूबे लोगों का जीवन सार्थक होने लगा। इसकी प्रेरणा नायिका के ऐसे रूप सौन्दर्य वर्णन से मिलती थी जो अननुभूत, अश्रुतपूर्व, अनिर्वचनीय और आनन्दमय था। उसके शरीर के अनास्वादित रस में कविगण इतने डूबने लगे कि वहीं तक उनका संसार सीमित हो गया। इन सबका सम्बन्ध शारीरिक गुण से है। ये गुण ही उद्दीपक बनकर रसिक हृदय को रिझाने लगे। शरीर के उद्दीपक गुणों में ऐन्द्रिय आकर्षण उत्पन्न करने वाले गुण, अंग-प्रत्यंग वर्णन की मोहकता, रूप लावण्यादि की चर्चा हो सकती। है इन सभी से युक्त गुण कायिक गुणों के अन्तर्गत आते हैं। इसके अतिरिक्त मानसिक एवं वाचिक गुणों से भी सौन्दर्य की वृद्धि मानी जा सकती है।

मानसिक गुणों से तात्पर्य मन में उत्पन्न होने वाली भावनाओं से है। जिसका प्रत्यक्ष रूप आंगिक चेष्टाओं या अनुभावों द्वारा दीख पड़ता है। वाचिक गुणों में मधुर वचनों की श्रुति-सुखदता है। वचन की मधुरता, उसका लालित्य सुखद होता है। इससे उत्पन्न वचनों की ध्वनि से नायक का मन तृप्ति का अनुभव करता है और नायिका के सौन्दर्य की ओर आकर्षित हो जाता है। अतः कायिक, मानसिक और वाचिक गुणों से युक्त नायिका रति भाव की वास्तविक आलम्बन बनती है। ये गुण नायिका के शरीर से सम्बन्धित होने के कारण सौन्दर्य को बढ़ाने वाले उपकरण हैं। इन आत्मगत उपकरणों में अभी तक गुण का विवेचन किया गया, परन्तु केवल गुण ही रस को उद्दीप्त नहीं करते, अपितु नायिका की चेष्टाएँ भी महत्वपूर्ण होती हैं।

चेष्टागत सौन्दर्य –

आलम्बन के आत्म-परक सौन्दर्य साधक उपकरण के अन्तर्गत चेष्टा मानसिक भावों की बाह्य अभिव्यक्ति है। आलम्बन की प्रत्येक क्रिया का मूल प्रेरक मन होता है। मन ही वस्तु के प्रत्यक्ष या स्मृति दर्शन से भावों के आन्दोलित होने का कारण है। विभिन्न दृश्यों या रूपों को देखकर मानसिक आलोड़न-विलोड़न या प्रियता-क्षोभ आदि भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। ये भावनाएँ उत्पन्न होकर नहीं रह जातीं, अपितु इनकी बाह्य-अभिव्यक्ति भी होती है। इस अभिव्यक्ति के अभाव में मानसिक कुण्ठाओं का जन्म होता है। इससे बचने के लिये मन विराम चाहता है। भावों की चेष्टापरक इस अभिव्यक्ति का कारण मन का तनाव दूर कर देने वाली विराम की यही अभिलाषा है। यह अभिलाषा दो रूपों में प्रकट होती हैं।

१. विकर्षक चेष्टाओं द्वारा।

२. आकर्षक चेष्टाओं द्वारा।

इन दोनों चेष्टाओं में प्रस्तुत प्रसंग की सीमा के अन्तर्गत केवल आकर्षक चेष्टाएँ ही आती हैं। ये चेष्टाएँ भावों के स्पन्दन से शारीरिक विकार या विकास की क्रियाएँ हैं। इनका मूल सम्बन्ध शृङ्गार भाव से है। यह शृङ्गार-भाव शीलगत गुणों के अन्तर्गत आभिजात्य का सूचक होता है। इससे कामुकता का बोध न होकर मानसिक भावों की स्वस्थ अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति का तात्पर्य युग की प्रचलित सम्मान्य मर्यादाओं एवं परम्पराओं के अनुकूल भावों का प्रकाशन है। प्रकाशन का यह ढंग संयमित होने पर कुल-ललनाओं के सौन्दर्य का उपकरण और उनके रूप का उत्कर्षक होता है। यह उत्कर्ष चेष्टाओं पर निर्भर है।

चेष्टाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं (१) संयोग की अवस्था में रति भाव को उद्बुद्ध करने वाली आह्लाद मूलक चेष्टाएँ (२) वियोग में दुःख मूलक चेष्टाएँ। यहाँ पर केवल आह्लाद मूलक चेष्टाओं से ही अपना अभिप्राय सिद्ध होता है। शालीनता से उत्पन्न होने वाली ये चेष्टाएँ विशेष आकर्षक हो जाती हैं। इनको दो वर्गों में विभाजित करेंगे—

(१) विशेष चेष्टाएँ
(२) सामान्य चेष्टाएँ

विशेष चेष्टाओं में अनुभावों की गणना होगी। अनुभाव भाव-संसूचनात्मक शारीरिक विकार हैं।[1] इन विकारों की उत्पत्ति के पश्चात् सत्व सूचक आंगिक संचालनों को अनुभाव कहते हैं अर्थात् चित्त में आविर्भूत भावों का अनुमान कराने वाली वाह्य शारीरिक क्रियाएँ अनुभाव कही जाती हैं। इन क्रियाओं को देखकर मन में उत्पन्न होने वाली रत्यादि भावनाओं का बोध दर्शक को होता है। साहित्य दर्पणकार ने इसका समर्थन किया है कि आलम्बन या उद्दीपनादि कारणों से हृदय में जाग्रत रति भावना को प्रकाशित करने वाली चेष्टाएँ अनुभाव हैं।[2] अनुभावों के सात्विक, कायिक, मानसिक और आहार्य ये चार भेद होते हैं। इन भेदों में कायिक और मानसिक अनुभाव आलम्बन के

---

1 अनुभावो विकारस्तु भाव संसूचनात्मकः।

2 "उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्य रूपः सोऽनुभावः"—साहित्य दर्पण

सौन्दर्य को बढ़ाने वाले होते हैं। इन्हीं अनुभावों से आश्रय की भावना उद्दीप्त होती है। अतः ये अनुभाव सौन्दर्य के उत्कर्षक होने से साधक चेष्टाओं के अन्तर्गत आयेंगे। इन्हीं दोनों का विचार होगा।

कायिक अनुभाव—चेष्टामूलक इन अनुभावों का सम्बन्ध कायिक क्रियाओं से है। इनमें मुसकान, चितवन, कटाक्षपात, अंग-संचालन, पद-निक्षेप, अल्हड़ता गति आदि द्वारा उत्पन्न चेष्टाओं के सौन्दर्य से रतिभाव का प्रकाशन होता है। मध्यकाल में मुसकान वर्णन में अनेक विशेषणों का प्रयोग हुआ है। मृदु लजीली, मीठी, हुलास भरी, फीकी, कुटिल, शुभ आदि अनेक प्रकार के मुसकान का वर्णन है। इसमें अधरों का विकास और कपोलों में दीप्ति आ जाती है। सहज और स्वाभाविक मुस्कान मोहक शक्ति है। इस मोहकता से नायिका का आकर्षण बढ़ता है। यथा:—

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाय।

संयोग के अवसर पर मुसकान उद्दीपक बन जाता है। इसके प्रभाव उत्पन्न करने वाली शक्ति का कथन हुआ है। इसके प्रयुक्त विशेषण दो प्रकार के हो सकते हैं (१) क्रियामूलक विशेषणों में लजीली हुलास भरी आदि हैं (२) गुणमूलक विशेषण में मृदुता, मिठास, शुभ्रतादि का वर्णन है। इस मुसकान का सम्बन्ध चितवन और कटाक्षपात से बना रहता है।

कवियों ने मुसकान के संग भ्रू-निक्षेपादि का वर्णन भी किया है। चितवन की यह चेष्टा नायिका के सौन्दर्य को बढ़ाने वाली होती है। तीखी, कटीली, लजीली चंचल आदि विशेषणों से आंखों के मार करने वाले प्रभाव की अभिव्यक्ति होती है इस दृष्टि से चितवन के दो भेद हो सकते हैं—

(१) मादक प्रभाव उत्पन्न करने वाली चितवन में नेत्रों की रसालता, अर्द्धोन्मीलित दशा, मतवालापन, आदि होता है।

(२) तीक्ष्णता युक्त चितवन बंक, घातक, दांव न चूकने वाली और पैनी होती है। इन दोनों प्रकार के चितवनों से व्यक्तित्व में आकर्षण उत्पन्न हो जाता है।

चितवन के अतिरिक्त नेत्रों की तन्द्रिल अवस्था विशेष मुद्रा की सूचिका है। यह मादक, मोहक और आकर्षक होती है। उनींदी आंखें बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं। तन्द्रा का वर्णन प्रायः दो अवसरों पर हो सकता है (१) मन में मादक भावों के उत्पन्न होने पर अथवा रति-भुक्ता हो जाने के उपरान्त

सुरत-सुख से आप्लावित होने की अवस्था में (२) आलस्य, निद्रादि के अवसर पर। इन दोनों ही अवस्थाओं का वर्णन काव्य में मिलता है।[1]

अंगों के संचालन गति, पद, निपेक्षादि से हृदयगत भावों का ज्ञान होता है। इन भावों को कायिक चेष्टाओं द्वारा व्यक्त करके नायिका का रूप मोहक बन जाता है।[2] ये सभी चेष्टाएँ कायिक अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं। गिनाये गये इन चेष्टाओं के अतिरिक्त अन्य भी कायिक चेष्टाएं हो सकती हैं। इन सभी चेष्टाओं का मूल उद्देश्य मोहकता बढ़ाना है। इस मोहकता से ही आलम्बन का सौन्दर्य बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ चेष्टायें मानसिक भावों को प्रकाशित करती है। इन चेष्टाओं को मानसिक अनुभाव कहते हैं।

मानसिक अनुभाव—अन्तःकरण की भावना के अनुसार मन में उठने वाली तरंगे हास, परिहास, आमोद-प्रमोदादि के रूप में प्रकट होती रहती हैं। यह भी एक प्रकार की चेष्टा ही है, जो मानसिक भावों का प्रकाशन करती है। इसमें स्वर-माधुर्य, शालीनताजन्य लज्जा, निषेध, चंचलता, हास-परिहास छेड़-छाड़, वचन'वैदग्ध्य आदि की गणना हो सकती है। इनमें स्वर-माधुर्य वाचिक चेष्टा है। इससे प्रेम भाव की सघनता और सान्द्रता का ज्ञान होता है। मीठे वचनों में अलौकिक आनन्द रहता है।

निषेध स्वीकृति मूलक वाह्य अस्वीकृति है। इसमें वचन एवं सिर संचालन के द्वारा अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति नायिकाएँ करती हैं। स्वीकृति पूर्ण इस निषेध में माधुर्य होता है। इस अस्वीकृति के बाद अभिलाष को व्यक्त करने का उचित अवसर माना जाता है। यह मानसिक भाव का सूचक होता है। इस निषेध में स्वीकार की भावना के कारण नायिका के प्रति मन का आकर्षण बढ़ जाता है। हाँ मूलक निषेध से मोहकता उत्पन्न होती है, नायिका की अभिलाषा व्यक्त होती है, और नायक के मन में नायिका के सौन्दर्य पान करने की ललक उत्पन्न हो जाती है। यह एक शालीनता की

---

1 रतनारी हो थारी आंखड़ियाँ।
प्रेम छकी रसबस अलसानी, जानि कमल की पांखुड़िया।
बनी ठनी जी पृ० १६६ मध्व का० हि० कवियि० से।

2 (i) नैन नचाइ कही मुसकाइ, लला फिर आइयो खेलन होली। पद्माकर।
(ii) भौंहनि त्रासति, मुख नटति, आंखिन सों लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति कर ईंची, आगे आवति जाति। बिहारी

भावना है। इस भावना द्वारा नायिका के मन में स्थिर लज्जा का ज्ञान होता है।

लज्जा शालीनता की स्पष्ट स्थिति है। शालीनता मानसिक भावों का सम्पृक्त रूप है। इससे नारी का आकर्षण बढ़ता है और नायक के मन में रति भाव के उद्दीप्त होने का अवसर मिल जाता है। नारी की आयु के अनुसार इस शालीनता में अन्तर आता रहता है। वय: सन्धिकाल में इसका विकास आरम्भ हो जाता है और युवाकाल में इसका पूर्ण रूप दीख पड़ता है। इसका सम्बन्ध यौन–भावना से होने के कारण यह रति मूलक चेष्टा है। वय: सन्धिकाल की ऋतुमती नायिकाओं में लज्जा विशेष रूप से देखने को मिल जाती है। इसके द्वारा काम की भावना नियन्त्रित रहती है। यह नारी के स्वभाव का अनिवार्य तत्व है। इसका वास्तविक विकास स्वकीया नायिका में ही देखा जा सकता है। इससे उसका सौन्दर्य बढ़ जाता है।[1] इसका आभास मुख की अरुणिमा से होता है। समाज के विधि-निषेधों के कारण यह संस्कार बन गया है, जो पुरुष के समक्ष होते ही आरक्तिम मुख द्वारा व्यक्त हो जाता है। इसके चार लक्षण है—

(१) नेत्रों का नत हो जाना (२) मुख की अरुणिमा (३) घूँघट आदि द्वारा मुख को ढक लेना (४) वचन कार्पण्य। इन चारों लक्षणों से नायिका की शालीनता और लज्जामूलक चेष्टाओं का ज्ञान होता है। यह चेष्टा स्त्रियों की सुन्दरता के लिये आभूषणों का काम करती है। इससे उनकी आकर्षण शक्ति बढ़ती है।

अन्य चेष्टाओं में हास-परिहास और छेड़-छाड़ रतिभाव को उद्दीप्त करते हैं। प्रगल्भ नायिकाओं में छेड़छाड़ की यह प्रवृत्ति दीख पड़ती है।[2]

---

1 कनक वदन सुढार सुन्दरि सकुचि मुख मुसक्याइ।
स्यामा प्यारी नैन रोचैं अति विशाल चलाइ। सूरसागर।

2 लागि प्रेम डोरि खोरि, सांकरी ह्वै कढ़ी आई.
नेह सों निहोरि जोरि आली मनमानती।
उतते उताल 'देव' आये नन्दलाल, इत
सोंहे भई बाल, नवलाल सुख सानती।
कान्ह कह्यो टेरिकै कहां ते आई को हो तुम,
लागति हमारे जान कोई पहिचानती।
प्यारी कह्यो फेरि मुख हरिजू चलेइ जाहु,
हमैं तुम जानत, तुम्हें हूं हम जानती। देव

इसका समुचित वर्णन मध्यकालीन साहित्य में हैं। इससे प्रेम की सान्द्रता प्रकट होती है। रह:केलि में माधुर्य बढ़ जाता है, वचन भंगिमा से वक्ता का गूढ़ अभिप्राय प्रकट होता है। प्रेम के अतिशय का विश्वास उत्पन्न होता है। इसीसे व्यंग्य वचनों का प्रयोग भी उद्दीपक ही होता है—

ऐसी करी करतूति बलाय त्यों नीकी, बड़ाई लही जग जाते।
आई नई तरुनाई तिहारी ही, ऐसे छके चितवौ दिन रातैं।
लीजिए दान हों दीजिए जान तिहारी सबै हम जानति घातैं।
जानौं हमें जनि वै बनिता, जिनसों तुम ऐसी करी वलि बातैं।

मतिराम

मानसिक भावों को व्यक्त करने वाली ये विशेष चेष्टाएं हैं। इनकी गणना अनुभवों में होती है। इनमें कायिक और मानसिक अनुभावों का संकेत किया गया। इनके अतिरिक्त भावों को उद्दीप्त करने वाली कुछ अन्य सामान्य चेष्टाएं हैं, जिन्हें नायिका के अलंकार रूप में मानते हैं।

सत्व से उत्पन्न नायिका के अनेक अलंकारों का वर्णन हुआ है। इन अलंकारों की संख्या बीस या अठाइस मानी गई है। साहित्य दर्पणकार अठ्ठाइस के पक्ष में है[1] धनञ्जय ने बीस अलंकारों को स्वीकार किया है।[2] रसतरंगिणीकार सभी गात्रज अलंकारों को 'हाव' के अन्तर्गत मान लेता है।[3] मतिराम और देव ने भी भानुदत्त का ही अनुसरण किया है। देव ने दश हावों का समर्थन किया है।[4] विश्वनाथ द्वारा बताये गये अन्य अतिरिक्त अलंकारों का नाम मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि है। इन सभी अलंकारों को तीन वर्गों में बांटा गया है।

१. अंगज
२. अयत्नज
३. स्वभावज

इन तीनों में अयत्नज अलंकार शरीर के ऐसे विशेष गुण हैं जो स्वत: ही उत्पन्न हो जाते है। इनमें चेष्टागत व्यापार की प्रवृत्ति कम दीख पड़ती है। इससे ये शोभा विधायक अलंकार ही हैं, चेष्टा नहीं है। इनका वर्णन गुणों के

---

1 यौवने सत्वजास्तासाष्टाविंशतिसंख्या—साहित्य दर्पण ३।८९
2 यौवने सत्वजा: स्त्रीणामलंकारास्तु विंशति: ।—दशरूपक २/८९
3 निर्णय सागर काव्यमाला-पंचमो गुच्छक:—पृ० १५८
4 'यहि विधि दश विधि हाव कवि बरनत मत प्राचीन। देव

अन्तर्गत किया जा चुका है। अंगज और स्वभावज में चेष्टा वर्तमान रहती है। इनका संकेत कर देना समीचीन है।

अंगज अलंकार—नायिका की शोभा बढ़ाने वाले आंगिक विकारों को अंगज अलंकार कहते हैं। यह तीन रूपों में प्रकट होता है। इन्हें भाव, हाव, हेला कहते हैं।

निर्विकार चित में उत्पन्न होने वाली विकृति को 'भाव' कहते हैं यह विकृति वाणी, मुख, अंग, अभिनय आदि के द्वारा प्रकट होती है। यह मानसिक विकार है। भृकुटि या नेत्रादि के विलक्षण व्यापारों से संभोग की इच्छा को प्रकाशित करने वाले भाव ईषत् लक्षित होकर 'हाव' कहे जाते हैं। रति-काल में यह नायिका की स्वाभाविक भाव-भंगि है। भाव मानसिक व्यापार है और हाव क्रियाओं द्वारा स्पष्ट हो जाने वाला व्यापार है। यह भ्रू-निक्षेपादि द्वारा प्रकट होता है। हाव ही सुव्यक्त होकर 'हेला' हो जाता है।

सौन्दर्यपरक दृष्टि से देखने पर ज्ञात हो जाता है कि भाव, हाव, और हेला में क्रियाओं के उत्तरोत्तर विकास का एक क्रम है। ये तीनों ही क्रियाएँ मन के काम विषयक भावना की अभिव्यक्ति करती हैं। 'भाव' मानसिक अभिव्यक्ति और 'हाव' तथा 'हेला' कायिक अभिव्यक्ति है। इन चेष्टाओं से एक ओर जहाँ नायिका की आकर्षण एवं मोहकता बढ़ती है, वहीं दूसरी ओर नायक के मन में रति-भाव का आविर्भाव और उसका विकास होता है। उद्‌बुद्ध रति भावना के कारण नायिका अपनी इन चेष्टाओं के साथ और अधिक सुन्दर बन जाती है। अतः ये चेष्टाएँ सुन्दरता को बढ़ाने वाली क्रियाओं में हैं।

इन आंगिक चेष्टाओं के अतिरिक्त **स्वभावज अलंकारों** की शोभा नायिका के व्यक्तित्व के आकर्षण को बढ़ाने वाली होती है। अंगज और अयत्नज अलंकारों से स्वभावज का प्रमुख अन्तर यह है कि आरम्भ के दो अलंकार पुरुषों में भी पाये जाते हैं। इनसे पुरुष, किशोर या तरुण, के सौन्दर्य एवं आकर्षण की वृद्धि होती है, परन्तु स्वभावज अलंकारों की क्रियाओं का सौन्दर्य केवल स्त्री में ही मिल सकता है। इससे इन अलंकारों द्वारा स्त्री-शोभा का ही विकास होता है।

इन अलंकारों में लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिंचित्, विभ्रम, ललित, मोट्टायित कुट्टमित, विहृत, मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, केलि की गणना होती है। इन अलंकारों की विभिन्न चेष्टाओं को देख कर ऐसा ज्ञात होता है कि इनसे मानसिक विचारों का विकास

होता है। यह विकास विभिन्न चेष्टाओं से व्यक्त हो जाता है। ये चेष्टाएँ निम्नलिखित ढंग से समझाई जा सकती हैं :—

(१) त्वरामूलक चेष्टा में 'विभ्रम' का नाम लेंगे।
(२) अनुकरण मूलक में लीला।
(३) प्रसाधन मूलक चेष्टा में विच्छित्ति, ललित और विक्षेप।
(४) अभिव्यक्तिमूलक चेष्टा में कुट्टमित, विब्बोक, विहृत, हसित, चकित।
(५) मानसिक विकास से सम्बन्धित अलंकारों में विलास, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुतूहल, मौग्ध्य।
(६) काममूलक चेष्टा—तपन, केलि।

इस वर्गीकरण में विभिन्न चेष्टाओं की मानसिक स्थिति का ध्यान रखा गया है। प्रत्येक चेष्टा में किसी न किसी भाव की प्रधानता है। उदाहरणार्थ 'विभ्रम' में प्रियमिलन की जल्दबाजी है। इससे इसे त्वरामूलक चेष्टा माना गया। विलासादि में मानसिक प्रसन्नता से मन का विकास हो जाता है यही विकास चेष्टाओं द्वारा प्रकट होता है। इससे इन अलंकारों को मानसिक विकास से सम्बन्धित अलंकार माना गया। यह वर्गीकरण विषय को सरल करने के लिये किया गया; परन्तु इनका मूल उद्देश्य नायिका की चेष्टाओं से उत्पन्न मोहकता का बोध कराना ही है इसी दृष्टि से इनका अध्ययन होगा।

उपर्युक्त विचारों के आधार पर इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि अनुभावमूलक और अलंकार मूलक दोनों ही प्रकार की चेष्टाओं से हृद्गत भावनाओं का प्रकाशन होता है। यह प्रकाशन इतना आकर्षक और मोहक होता है कि इन्हीं चेष्टाओं से आलम्बन के सौन्दर्य की वृद्धि हो जाती है। अतः सौन्दर्य के साधक उपकरणों में इन चेष्टाओं का बड़ा महत्व है। इसमें कुछ चेष्टाएँ पुरुषों से सम्बन्धित, कुछ केवल स्त्रियों से सम्बन्धित और कुछ स्त्री-पुरुष दोनों से सम्बन्धित होती हैं। इन दोनों के सम्मिलित रूप से ही मानव सौन्दर्य की पूर्णता की कल्पना की जा सकती है। यह सम्पूर्ण चेष्टा एवं गुण गत सौन्दर्य आत्मपरक उपकरण है, जो बाह्य सौन्दर्य साधक उपकरणों से मिलकर आलम्बन के रूप सौन्दर्य को बढ़ाने में समर्थ होता है।

सौन्दर्य-साधक बाह्य-उपकरण

सौन्दर्य की वृद्धि करने वालों प्रसाधनों में आत्मगत उपकरणों का

संकेत हो चुका है। इसके अन्तर्गत नायक अथवा नायिका के गुण और उनकी चेष्टाओं का वर्णन हुआ है। गुण शारीरिक अथवा मानसिक धर्म है और चेष्टाओं से मनोगत भावनाओं का स्फुरण होता है। इन दोनों तत्वों का सीधा सम्बन्ध आलम्बन से होता है। इस कारण इन्हें आत्मगत सौन्दर्य-साधक उपकरण कहते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के उपकरणों का वर्णन मिलता है। ये उपकरण आलम्बन के गुण अथवा चेष्टाओं से सौन्दर्य वृद्धि के साधक नहीं होते, अपितु बाहरी साधनों द्वारा रूप का आकर्षण बढ़ाते हैं। ऐसे साधनों को वाह्य उपकरण की संज्ञा दी जाती है।

सौन्दर्य को बढ़ाने वाले आलम्बन के शरीर से भिन्न अन्य प्रसाधनों को बाह्य सौन्दर्य साधक उपकरण मानते हैं। इन उपकरणों की दो कोटियाँ हो जाती हैं:—

(१) प्रसाधनगत उपकरण।
(२) तटस्थ–उपकरण–

प्रसाधनगत उपकरण

आलम्बन से भिन्न रूप की उत्कर्षक वस्तुएं प्रसाधन के अन्तर्गत आती हैं। इन प्रसाधनों का शरीर से अलग स्वतंत्र अस्तित्व होता है। अपनी इस स्वतंत्र सत्ता में इनका निजी महत्व है। आत्मगत और प्रसाधनगत उपकरणों में मूल अन्तर यही है कि आत्मगत उपकरण आलम्बन से अलग होकर स्वतंत्र अस्तित्व वाला नहीं हो सकता है, जबकि प्रसाधनगत उपकरणों का स्वतंत्र अस्तित्व ही होता है। इनकी महत्ता उपयोग मूलक है। ऐसे प्रसाधनों को दो श्रेणियों में बांट सकते हैं।

(१) लगाये जाने वाले उपकरण।
(२) धारण किये जाने वाले उपकरण।

इन दोनों को ही षोडश शृंगार के अन्तर्गत मानते हैं।

षोडश-शृंगार—शरीर पर लगाये जाने वाले सौन्दर्य-साधक उपकरणों में उबटन मंजन, मिस्सी, स्नान, केश-विन्यास, मांग-भरना अंजन, महावर, बिन्दी, तिल, मेंहदी, सुगन्धित द्रव्य, और पान रचाने की गणना होती है। धारण किये जाने वाले उपकरण वस्त्र, आभूषण, माल्य हैं। इन दोनों की सोलह संख्या होने से इन्हें षोडश शृंगार के अन्तर्गत माना जाता है। विभिन्न शास्त्रकारों के मत से इनके नामों में कुछ अन्तर मिलता है। वल्लभ देव ने मज्जन, चीर, हार, तिलक, अञ्जन, कुण्डल, नासामोती, केश रचना, कञ्चुक

नूपुर, सुगंधि, मेखला, ताम्बूलादि का वर्णन किया है।[1] इस वर्णन में आभूषणों का नाम ही अधिक गिनाया गया है, श्रृंगार के सभी अंगों पर दृष्टि नहीं गई है। रूप गोस्वामी ने नासामोती पट वेणी, फूल, पद्महस्त, ताम्बूलादि का वर्णन किया है।[2] प्रामाणिक हिन्दी कोश में उपटन, मंजन, मिस्सी, स्नान, सुवसन, केश-विन्यास, मांग, अंजन, महावर, बिन्दी, ठोढ़ीपर तिल, मेंहदी, गन्ध द्रव्य, आभूषण फूल-माला और पान रचाने को षोडश-श्रृंगार कहा गया है।[3] केशवदास ने स्नान, अमलवास, जावक, केश-पास का सुधारना, अंगराग दर्पण, आभूषण, मुखवास, काजल, आदि का वर्णन किया है।[4] सरदार कवि ने इस ग्रन्थ की टीका में परम्परा का अनुसरण किया है। बलभद्र के मत से दंत धावन, उबटन, मञ्जन, तिलक आदि सोलह श्रृङ्गार हैं।[5] इन श्रृङ्गारों का विश्लेषण करने से ज्ञात हो जाता है कि इनका मुख्य उद्देश्य सौन्दर्य को

---

1 आदौ मञ्जनचीर हारतिलकं नेत्राञ्जनं कुण्डले।
नासा मौक्तिक केशपाश रचनासत्कञ्चुकं नूपुरौ।
सौगन्ध्यं कर कङ्कणं चरणयो रागो रणन्मेखला।
ताम्बूलं कर दर्पणं चतुरता श्रृङ्गारकाः षोडशाः। वल्लभदेव।

2 स्नाता नासाग्रजाग्रन्मणी रसित पटासूत्रिणि बद्धवेणिः।
सोत्तं सा चर्चिताङ्गी कुसुमितचिकुरा स्रग्विणी पद्महस्ता।
ताम्बूलास्योरु बिन्दुस्तवकित चिबुका कज्जलाक्षी सुचित्रा।
राधालक्तोज्ज्वलाङ्घ्रि स्फुरति तिलकिनी षोडशा कल्पनीयम्।
उज्ज्वलनीलमणि पृ. ७७ निर्णय सागर।

3 प्रामाणिक हिन्दी कोश-सभा-पृ० ४७ सं० १९९० वि०—रामचन्द्र वर्मा।

4 प्रथम सकल सुचि मंजन अमल बास, जावक सुदेश केशपासको सुधारिबो।
अंगराग भूषणविविध मुखवास राग, कज्जल कलित लोल लोचन निहारिबो।
बोलनि हंसनि, मृदुचातुरी चितौनी चारु, पलपल प्रति पतिव्रत प्रतिपारिबो।
केसोदास सविलास करहु कुंवरि राधे, इहिविधि सोरहश्रृङ्गारनि सिगारिबो
रसिकप्रियाछंद ४३, विश्वनाथप्रसाद द्वारा सम्पादित केशवग्रन्थावलीभाग १

5 कर दंत-धोवननुवटन अंग मंजन के अंग अंगुछान अंगुछाई है। करके तिलक मैन पाटीपार 'बलभद्र' भाल भली बन्दन की बिन्दुका बनाई है अंजन दै नैन देख दरप्पन चिबुक चिह्न अधर तम्बोरकी अधिक छबि छाई है। मेंहदी करन मंडि झाई दै महावर की सोलह सिंगार की मूलचतुराई है।
—पृ.२५९छंद१४ पूनाविश्वविद्यालय की हस्तलिखित प्रति।

बढ़ाना ही था। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये अंगों को अधिक से अधिक आकर्षक बनाने की चेष्टा की गई। यह चेष्टा संयोग के लिये अंगों के सजाने में दीख पड़ती है संयोग के प्रसंग पर विकर्षण उत्पन्न करने वाली दो बातें होती हैं (१) शरीर या मुख की मलीनता, गन्दगी, दुर्गन्धि आदि। (२) मुखादि अंगों का अनाकर्षक होना। सोलह शृंगार इन दोनों ही कमियों को दूर करने का साधन है। इनसे त्रुटियां दूर हो जाती हैं और मुख का आकर्षण बढ़ जाता है।

संयोग के अवसर पर आकर्षण का प्रथम और मुख्य अंग मुख है। मुख को ही देख कर भावनाएँ केन्द्रित होती हैं। मुख ही आमन्त्रित करता है। इससे मुख एवं अन्य ऊर्ध्वाङ्गों का आकर्षक होना आवश्यक माना गया। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये इन शृङ्गारों की कल्पना की गई। ऊर्ध्वाङ्गो का रुचि के अनुकूल बनाने एवं आकर्षण लाने के लिये इन शृङ्गारों का तीन रूपों में उपयोग किया गया है:—

(१) मुख को सुवासित करके मलीनता दूर करने वाले शृङ्गार साधनों में उबटन, स्नान, गन्ध-द्रव्य एवं पान रचना गिना जायगा, क्योंकि उबटनादि से शरीर में निखार आ जाता है।

(२) मुख एवं अन्य अनावृत्त अंगों को प्रसाधित करने के लिये मिस्सी केश-विन्यास, मांग, अंजन, महावर, विन्दी, तिल मेंहदी गन्ध द्रव्य, आदि का प्रयोग होता है।

(३) सम्पूर्ण अंगों की शोभा बढ़ाने वाले शृङ्गार में स्नान, मंजन, उबटन, बसन, आभूषण गन्ध द्रव्य फूलमाला की गणना हो सकती है। मेंहदी से हस्त एवं पग का आकर्षण बढ़ता है। इससे सर्वाङ्ग में सुखदता आ जाती है।

इन शृङ्गारों का व्यावहारिक दृष्टिकोण सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक है। प्रायः आलम्बन के सभी अंग वस्त्रादि से ढंके रहते हैं। इससे उन अंगों की अनावृत अवस्था की ओर दृष्टि नहीं जाने पाती। ढके हुए अंगों के प्रसाधित हुए बिना भी उनका आकर्षण बना रह सकता है। कभी-कभी तो ढंके अथवा अधखुले अंग कौतूहल एवं जिज्ञासा की वृद्धि ही करते हैं। ऐसे अंगों का आकर्षण बड़ा तीव्र होता है इसी कारण जयशंकर प्रसाद का मन 'कामायनी' के अधखुले अंगों की आकर्षण शक्ति में उलझ जाता है। उन्हें वे अंग 'बिजली' के फूल जैसे प्रतीत होते हैं।[३] खुले हुए अंगों में मुख, अन्य ऊर्ध्वाङ्ग तथा

३　प्रसाद-कामायनी।

हाथ और पग हैं। इससे इन अंगों को सजाने और आकर्षक बनाने की भावना का विकास हो गया होगा। इसका क्रियात्मक पक्ष प्रसाधन सामग्री और आभूषणों के धारण करने में दीख पड़ता है। लोक व्यवहार में इन्हीं अंगों के आभूषणों की संख्या अधिक है। यह प्रवृत्ति निरर्थक नहीं मानी जा सकती है इसका मनोवैज्ञानिक कारण अपने प्रसाधित रूप के आकर्षण का प्रदर्शन करना ही है। इन खुले अंगों में हाथ-पग में मेंहदी रचाना आज भी मान्य है। मुख तो सम्पूर्ण शृङ्गार का केन्द्र स्थल ही है। इसी से मुख के प्रसाधनों की संख्या सबसे अधिक है। उबटन स्नानादि से सम्पूर्ण शरीर की कोमलता और स्वच्छता बढ़ती है। इस आधार पर यह निर्णय हो जाता है कि ये प्रसाधन अपने आप में स्वयं साध्य नहीं है, अपितु शरीर के आकर्षण को बढ़ाने में साधन के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। व्यक्ति के नैसर्गिग-सौन्दर्य के रहने पर ही ये प्रसाधन आकर्षण के उत्कर्ष में सहायक हो सकते हैं। इसके अभाव में उनकी महत्व हीनता उसी प्रकार स्पष्ट हो जाती है जैसे शव पर लेप किया गया चन्दनादि। अतः इन प्रसाधनों की शोभा स्वयं में नहीं है, अपितु उचित आलम्बन को प्राप्त कर लेने पर ये शोभा के विधायक हो जाते हैं। प्रसाधन सहज सौन्दर्य को बढ़ाने वाले होते हैं। इन प्रसाधनों के अभाव में भी सहज सौन्दर्य का अपना आकर्षण तो रहता ही है। संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के सौन्दर्य एवं प्रसाधनों का वर्णन अधिक मिलता है। यहाँ प्रसाधनों का निम्नलिखित प्रकार से वर्णन मिलता है :—

(१) नैसर्गिक शोभा से युक्त रमणी में कोई भी प्रसाधन रम्य हो जाता है।

(२) नायिका की इस शोभा से प्रसाधनों में भी एक कान्ति आ जाती है।

(३) ये प्रसाधन सहज सौन्दर्य को विकृत कर देने वाले होते हैं।

(४) ये सौन्दर्य के उपकारक भी हो जाते हैं।

आभूषणों से सहज सौन्दर्य की वृद्धि ही अधिक होती है। पार्वती-परिणय में कहा गया है कि 'लोक में यह प्रसिद्ध है कि भूषण अंगों को शोभित करते हैं परन्तु यहाँ अंग ही भूषणों की सुषमा को उत्पन्न करते हैं।[1] कालिदास ने सहज-सौन्दर्य को प्रत्येक दशा में प्रकाशमान बताया है।[2] भवभूति ने मालती

---

1 अङ्गभूषणनिकरो भूषयतीत्येव लौकिको वादः। अङ्गानि भूषणानां कामपि सुषमामजीजनमैंस्तस्याः—पार्वती परिणय पृ ३६

2 अभिज्ञान–शाकुन्तम्

के सौन्दर्य को भी इसी प्रकार का बताया है।[1] नागानन्द की नायिका अपनी कोमलता और ममृणता के कारण स्तन के भार को भी खेद उत्पन्न करने वाली जानती है, पाद-युगल का भार-वहन करने में समर्थ नहीं हो पाती। अतः नूपुर और हार जैसे प्रसाधनों को धारण करने पर भी यह सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि वह उस भार को सहन कर सकती है या नहीं। इस नाटक का नायक नायिका से कहता है कि तुम व्यर्थ में अंगों में भूषणों को केवल क्लेश का अनुभव करने के लिये धारण करती हो अन्यथा तुम्हारे अंग स्वतः ही भूषण हैं[2] भाष के विचार से स्वभाव से रमणीय सौन्दर्य को ये प्रसाधन और भी अधिक रमणीय बना देते हैं।[3] यहां सहज सौन्दर्य की महत्ता स्वीकार की गई है। मण्डन रमणीयता में योग देते हैं, परन्तु आलम्बन के सौन्दर्ययुक्त होने पर ही उनकी उपादेयता सम्भव है। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में प्रियम्वदा शकुन्तला से कहती है कि आश्रम में सुगमता से प्राप्त होने वाले प्रसाधनों से उसका सौन्दर्य विकृत ही होता है।[4] इस स्थल पर **नागरिक-सौन्दर्य प्रसाधनों** की महत्ता आश्रम सुलभ प्रसाधनों की अपेक्षा अधिक स्वीकार की गई है। इससे सहज सौन्दर्य का उत्कर्ष होता है, परन्तु आश्रम में प्राप्त सौन्दर्य प्रसाधन सहज सौन्दर्य को विकसित नहीं करते हैं। 'विप्रकार्यंते' का अर्थ सौन्दर्य को मुखरित न होने देने से हैं, उसे बिगाड़ने से नहीं है। यह बात दूसरी है कि नागरिक अलंकारों के अभाव में शोभा बढ़ नहीं पाती है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में प्रसाधनों द्वारा सौन्दर्य-वृद्धि को स्वीकार किया गया है, यद्यपि कहीं-कहीं सहज-सौन्दर्य की महत्ता भी स्वीकार की गई है। कालिदास ने सौन्दर्य की उपयोगिता पर भी ध्यान दिया है। उन्होंने सौन्दर्य को प्रिय के सौभाग्य देने वाला माना है[5] शृङ्गार की सफलता भी इसी में है कि प्रिय उसे

---

[1] मालती माधवम् ६।१।६१ भवभूति।

[2] खेदायस्तनभार एव किमु ते मध्यस्य हारोऽपरः।
श्रीमत्यूरुयुगं नितम्बभरतः काञ्चानया किं पुनः।
शक्तिपादयुगस्य नोरुयुगलं वोढुं कुतो नूपुरौ।
स्वाङ्गै रेव विभूषितासि वहसि क्लेशाय किं मण्डनम्।
नागानन्द। ३।३७ हर्ष।

[3] स्वभावरमणियानि मण्डितानि प्रति रमणीय: भवन्ति। भास ना. च. ४७

[4] आभरणोचितं रूपमाश्रमलब्धैः प्रसाधनैर्विप्रकार्यंते।
कालिदास-ग्रन्थावली-पृ-४८ द्वितीय खण्ड

[5] प्रियेषु सौभाग्यफलाहि चारुता। ५।१ कुमार-सम्भवम्।

स्निग्ध दृष्टि से देखे[1] इसीसे प्रिय के आगमन पर किया गया मण्डन अधिक महत्वपूर्ण होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेष-रचना के मूल में आकर्षण की यही प्रवृत्ति कार्यशील रहती है। सहज सौन्दर्य के साथ ही प्रसाधन प्रिय को रिझाने की क्षमता धारण करते हैं।

शृङ्गार-प्रसाधनों की व्यावहारिक उपयोगिता को हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन कवियों ने भी स्वीकार किया है। गंग कवि ने राधा का शृङ्गार कृष्ण के लिये ही बताया है।[2] पद्माकर की नायिका का शृङ्गार करते हुए सखी श्याम के पसन्द का ध्यान रखती है।[3] शृङ्गार की यह उपयोगिता प्रिय को ध्यान में रख कर वर्णित की गई है। अन्य स्थलों पर दो भिन्न दृष्टियाँ दीख पड़ती हैं। प्रथम दृष्टि में प्रसाधनों द्वारा रूप के सवाई बढ़ जाने की चर्चा है, परन्तु इसका भी अन्ततोगत्वा उद्देश्य प्रिय को रिझाना ही है। दास कवि का मत है कि विमलगात में आभरण रूप को बढ़ा देते है।[4] बिहारी ने सहज सौन्दर्य को ही अधिक महत्व दिया है। उनके विचार से आभूषण तो सहज सौन्दर्य में वैसे ही दीख पड़ते हैं, जैसे दर्पण में लगा हुआ मोरचा। अतः आभूषणों के द्वारा ही सौन्दर्य-वृद्धि का विचार इनको पसन्द नहीं है।

इन आभूषणों और वस्त्रों के धारण से दो बातों का ज्ञान होता है। प्रथम आत्म प्रदर्शन की भोग-मूलक भावना और दूसरे अंगों के आकर्षक प्रदर्शन से रति भाव का संचार करना। अपने वैभव एवं ऐश्वर्य की विज्ञप्ति की ओर भी ध्यान रहा है। यह भाव मुख्यतः रीतिकाल में दीख पड़ता है, परन्तु भक्ति-काल में भी सूर की गोपी बड़े अभिमान के साथ कहती हैं कि मैं आज जितने आभूषण पहन कर आई हूं, घर पर इससे दूने आभरण हैं।[5] ये मूल्यवान प्रसाधन नायक को आकर्षित करते हैं, तथा नायिकाएँ इसी के माध्यम से मानसिक उल्लास एवं राग की अभिव्यक्ति करती हैं। इनके द्वारा आभूषणों के प्रति मोह और समृद्धि की स्थिति का ज्ञान होता है। अतः सौन्दर्य के ये

---

1 आत्मानमालोक्य च शोभामानमादर्शं विम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोक फलो हि वेषः। कु. सु. ७।२२

2 श्री नन्दलाल गोपाल के कारण, कीन्हें शृंगार जो राधे बनाई।
सुन्दरी तिलक ६।६८७ गंग।

3 त्यों पद्माकर या विधि और हूं साजि शृंगार जो श्याम की भावै।

4 लागत विमल गात रूपन के आभरण।
बढ़ि जात रूप जातरूप में सवाई है। दास—शृंगार-निर्णय पृ ६.

5 जितनी पहिरि आज हम आई घर है याते दूनो। सूरसागर पद १५४१

प्रसाधन सामाजिक स्थिति की वैभव सम्पन्नता और जन-सामान्य में इनकी अप्राप्तता का बोध कराते हैं। इन प्रसाधनों का उद्देश्य रूप विन्यास द्वारा सौन्दर्य को बढ़ाना और प्रिय को रिझाना है।

तटस्थ-सौन्दर्य—

मानव की प्रमुख प्रवृत्ति सौन्दर्य मूलक है। वह जड़ चेतन सभी वस्तुओं में इसी सौन्दर्य को पा लेने का अभिलाषी है। उसकी सौन्दर्य मूलक यह भावना सम्पूर्ण जगत को अपना अधिष्ठान बनाती हैं। अपनी इसी वृत्ति द्वारा वह स्वयं इसका अनुभव करके दूसरों के लिये भी प्रेषणीय बनाता है। चेतन जगत् के अतिरिक्त जड़ पदार्थों में सुन्दरता देखने का कारण मनुष्य की रागात्मकता है। प्रत्येक वस्तु यदि किसी को सुन्दर दीखती है, तो उसका कारण उसका मानव-सापेक्ष होना है। मानव अपनी भावनाओं का आरोप करके वस्तु में सुन्दरता का सायुज्य उत्पन्न कर देता है। यदि वह वस्तु मानव भावनाओं की कोमल परिधि में नहीं आती, तो ऐसी स्थिति में उसमें सुन्दरता का आभास नहीं हो पाता है अपितु वह वस्तु उसे 'उदासीन' प्रतीत होता है। उदासीनता का अर्थ उस वस्तु की अपने आप में एक रूपता है। वह वस्तु जैसी है, वैसी ही रहेगी। मानव के आकर्षण अथवा विकर्षण का साधन नहीं बन सकती है। ऐसी स्थिति में वस्तु का तटस्थ रूप मानव की अनुभूति के क्षेत्र में नहीं आ सकेगा। मानव-सापेक्ष होकर ही उसमें चेतनता और सुन्दरता आ जाती है। अतः सिद्ध होता है कि प्रकृतिगत या प्राकृतिक पदार्थों की सुन्दरता तभी होगी, जब उसमें मानव भावनों का योग हो जाय।

प्रकृति-गत पदार्थों के **मानव-सापेक्ष** होने के साथ उसका **निसर्ग सिद्ध** सौन्दर्य भी होता है। बसन्तकालीन पुष्प गन्धों से युक्त मलयानिल का प्रवाह, ग्रीष्म की प्रचण्डता, चन्द्र की शीतलता तारक-खचित आकाश, कल-निनादिनी सरिताएँ उत्तुंग पर्वत-शिखर, पक्षियों, के मधुर कलरव, प्रकृति का रूप, वृक्ष वाटिकादि सभी में सौन्दर्य लक्षित होता रहता है। इन पदार्थों के सौन्दर्य का आन्तरिक महत्व होता है। सुवासित मन्द-मन्थर गति से प्रवाहित होने वाला वायु किस को आकर्षित नहीं कर लेगा। कोयल की कूक को सुन कौन रसिक आनन्दित नहीं होगा, पपीहे की पुकार में अपने 'पी' की स्मृति किस प्रोषित पतिका को न हो सकेगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रकृति के उपकरणों में हृदय को आवर्जित कर लेने की एक महान् शक्ति है। इस शक्ति का ज्ञान संवेदनशील हृदय को होता है। वह अपनी संवेदनशीलता की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के अनुसार ही प्रकृति में सौन्दर्य अथवा विकर्षक प्रवृत्ति को पाता है। यदि प्रकृति के पदार्थ उसके लिये अनुकूल हैं, तो वे सौन्दर्य वृत्ति के विधायक

होने के साथ भावनाओं को प्रियता की ओर मोड़ देने में सहायक होंगे और प्रतिकूल होने पर प्रकृति या तो भावनाओं को दुःख मूलक बना देगी या पुनः उसके प्रति विकर्षण उत्पन्न कर देगी। इस दृष्टि से प्रकृति उद्दीपक हो जाती है।

उज्ज्वल नीलमणिकार ने इन उद्दीपक गुणों का संकेत किया है। उन्होंने बताया है कि गुण, चेष्टा, अलंकृति और तटस्थ ये चार उद्दीपक गुण हैं। इनसे आलम्बन की शोभा बढ़ती है, इससे इनकी गणना सौन्दर्य के उपकरणों में से है। इन चारों में तीन का सम्बन्ध नायक अथवा नायिका से साक्षात् रूप में बना रहता है। रूप लावण्य और चेष्टा नायक या नायिका के शरीरादि से सबन्धित सौन्दर्य के उपकरण हैं। प्रसाधन शरीर का भाग न होने पर भी सुन्दरता बढ़ाने में मुख्य है। इससे छिपी शोभा विकसित होती है। प्रकृति, दूती आदि द्वारा भावनाओं में सौन्दर्य की अभिवृद्धि शरीर से सम्बन्धित कारण न होकर बाह्य कारण है। इससे इसे तटस्थ सौन्दर्य की संज्ञा प्राप्त है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वन-उपवनादि की शोभा से मन प्रभावित होता है, वह सौन्दर्य की ओर ललकता है और उसके उपभोग की कामना प्रकट करता है। संस्कृत का एक प्रसिद्ध श्लोक देखें:—

> यः कौमारहरः स एवहि वरस्ता एव चैत्रक्षपाः।
> ते चोन्मीलित मालती सुरभयः प्रौढ़ाः कदम्बानिलाः।
> सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापार लीलाविधौ।
> रेवा रोधसि वेतसी तरुतले चेतः समुत्कण्ठते। का० प्र०

इस तटस्थ सौन्दर्य का वर्णन कवियों ने मुख्यतः निम्नलिखित दृष्टि-कोणों से किया है:—

१. मानव भावनाओं की सापेक्षता में।
२. मानव सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिये अप्रस्तुत विधान में।
३. यथातथ्य रूप में।

मानव भावनाओं की सापेक्षता में—प्रकृति का सौन्दर्य प्रतिक्षण बदलता रहता है। यह मानव निरपेक्ष होकर अपने दिव्य एवं यथातथ्य रूप में प्रकट हो जाता है, परन्तु मानव भावों की सापेक्षता से उसमें विद्रूपता अथवा आकर्षण का अनुभव होने लगता है। प्रकृति स्वयं तो दुःख सुखादि भावों का अनुभव नहीं करती, परन्तु हमारी भावनाओं के आरोप से वह ऐसा करती हुई सी प्रतीत होती है। इस प्रकार का वर्णन मानव-भावनाओं की सापेक्षता से ही माना

जायगा। हम प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर अपनी एक धारणा बना लेते हैं और काव्य सृजन के अवसर पर उन्हीं मानस-प्रतिबिम्बों का सहारा लेते हैं।

दूसरी बात यह है कि मानव सौन्दर्य का मुख्य आधार प्रकृति ही है। मानव प्रकृति से रस का संग्रह करता है और उसी से उसके सौन्दर्य को रूप मिलता है। इसका यह कारण है कि मानव सौन्दर्य की एक सीमा होती है, जहाँ पहुँच कर उसके सौन्दर्य का उतार आरम्भ हो जाता है, परन्तु प्रकृति सौन्दर्य में शाश्वतता रहती है। यह सौन्दर्य सदैव आनन्द दायक ही होता है। मानव की मानसिक स्थिति की विपरीतता में इस प्राकृतिक सौन्दर्य की विद्रूपता प्रकट होने लग जाती है। सूर की गोपियों ने इसी से कालिंदी को काली देखा है, पपीहा उन्हें दुख दाई प्रतीत होता है और हरे-भरे मधुवन को देख कर उन्हें आश्चर्य होता है।[1] यहाँ न तो कालिंदी काली हो गई है और न पपीहा दुःख देने वाला ही हो गया है, परन्तु मानव भावों की सापेक्षता में ऐसा प्रतीत होने लगा है। यह बात दूसरी है कि गोपियाँ अपने दुःख का प्रतिबिम्ब उसमें पाकर उसके काली होने के हेतु की कल्पना कर लेती है। इससे स्पष्ट है कि मानव सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में प्रकृति का महत् योग है। अनुभूतिकर्ता मानव के कारण ही यह चराचर जगत् सुन्दर प्रतीत होता है और इस सुन्दरता से मानव इतना अभिभूत हो उठता है कि अपने शारीरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये प्रकृति को अप्रस्तुत रूप में ग्रहण करता है।

प्रकृति-सौन्दर्य मानव भावनाओं की सापेक्षता में न आवे तो ऐसी स्थिति में उसका आलम्बन गत रूप ही प्रस्तुत होगा। परन्तु मानव–साक्षेप होकर वही उद्दीपक हो जाता है। प्रकृति स्वयं सुख या दुःख का अनुभव नहीं करती। उसका अस्तित्व तो एक रस है उसे मानव की अपेक्षा भी नहीं रहती, परन्तु मानव अपनी शोभा और सौन्दर्य को बढ़ाने में प्रकृति की सहायता लेता है। इसी दृष्टि से मानवीय सौन्दर्य में प्राकृतिक सौन्दर्य का महत्वपूर्ण स्थान है। यह मानव सौन्दर्य का पोषक है। प्रकृति का रूप पक्ष उसका

---

१. (i) देखियत कालिंदी अति कारी। सूरसागर

(ii) हों तो मोहन की विरह जरीरे तूँ कत जारत।
रे पंछी तूँ पापी पपीहा पिउ-पिउ कत अधिरात पुकारत।
सूरसागर

(iii) मधुवन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे। सूरसागर

वास्तविक आधार है, जिसे ग्रहण कर मानव अपनी भावनाओं के अनुकूल उसे ढाल लेता है। इस दृष्टि से प्रकृति सौन्दर्य दो बातों पर निर्भर है—

(१) प्रकृति का आत्मपरक गुण–यह उसका रूपपक्ष है, जिसमें स्पर्श और दृश्य आदि की मानव इन्द्रिय सुखदता रहती है। यह मूल आधार है।

(२) प्रकृति के विभिन्न गुणों को ग्रहण करने की रागात्मक अनुभूति। प्रकृति का यह भोग-पक्ष है अर्थात् यह पक्ष प्रकृति की मानव जीवन गत उपयोगिता का आधार स्तम्भ है। इसमें कलाकार का संवेग संकुल-हृदय विभिन्न परिस्थितियों आदि से सम्पन्न होकर प्रकृति के पूर्वानुभूत प्रस्तुत संदर्भ को कल्पना द्वारा अप्रस्तुत रूप में लाकर अनेक मार्मिक छवियों का अंकन करता है। इस प्रकार अप्रस्तुत रूप में लाये गये प्राकृतिक उपकरणों को मानव-भावनाओं के योग से सुन्दर बनाकर वस्तु की प्रस्तुति (Presentation) आकर्षक बिम्ब विधान द्वारा की जाती है। इसमें पूर्व अनुभव, उसका सौन्दर्य परक कल्पनात्मक रूप और प्रत्यक्ष अनुभूति इन तीनों का योग रहता है। इनमें प्रकृति का मूक सहयोग मानव भाव एवं चेतना के अनुकूल ही परिवर्तित होता रहता है। यदि प्रकृति मे निज का सौन्दर्य न हो, तो वह आकर्षण का साधन ही नहीं बन सकती है उसका यह अपनत्व अपनी आकर्षण की प्रबलता के कारण मानव-मन को बरबस अपनी ओर खींच लेता है। ऐसी स्थिति में जब मानव के विचार एवं भावनाएं उस प्रकृति से सम्बद्ध हो जाती हैं तो प्रकृति की सौन्दर्य परक आत्मलीनता सुन्दर दीख पड़ती है। सच तो यह है कि हमारा 'स्वत्व' इतना प्रबल होता है कि प्रकृति के आत्मपरक रूप की यथार्थता बहुत कम दीखती है। वह हमारी अन्तर्दशा एवं मनोवृत्तियों के अनुकूल कभी सुन्दर और प्रिय तथा कभी असुन्दर कुरूप या विपरीत दुखद भावों की जनक बन जाती है। यदि ऐसा न होता तो रास के समय सुखद रूप में वर्णित वही यमुना, कुंज, चांदनी आदि कृष्ण के वियोग में काली, प्रतिकूल और साँपिन सी प्रतीत नहीं होती।[1] इससे स्पष्ट होता है कि प्रकृति के निसर्गगत सौन्दर्य में तो कोई अन्तर नहीं आता, परन्तु मानव मन की संवेदनशीलता के अनुकूल या प्रतिकूल होने पर हमारी स्वयं की सौन्दर्यानुभूति प्रकृति में तदनुकूल भावनाओं का बिम्ब पा लेती है। मानव की प्रकृति-सम्बद्ध ये भावनाएं निम्नलिखित रूप में प्रकट होती है—

---

1 'पिया बिनु साँपिन काली राति।
कबहुँक जामिनी होति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति।' सूरसागर

(१) प्रकृति की अनन्तता, विशालता और व्यापकता से उसके महत् रूप का अनुभव एवं वर्णन।

(२) प्रकृति की संवेदनात्मक अनुभूति से युक्त उसका ऐन्द्रिय रूप। यही रूप मध्यकालीन साहित्य में ग्राह्य है।

प्रकृति का यह संवेदनात्मक रूप अनुकूलवेदनीयता और प्रतिकूल वेदनीयता से दो प्रकार का हो जाता है। प्रकृति की रमणीयता हमारी संवेदनाओं से प्रतिबिम्बित होकर समक्ष आती है। जब प्रकृति में हमारे भावों का सुखद प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो प्रकृति सुन्दर, सहायक और सहचारिणी के रूप में दीख पड़ती है। उसकी रमणीयता हमारे भावों के अनुसार ही परिवर्तित होती रहती है परन्तु मन के क्षुब्ध या दुखी रहने से प्रकृति भी उदास दीख पड़ती है। प्रकृति सुख और दुःख दोनों ही अवस्थाओं में भावों को उद्दीप्त करती है। अन्तर यही है कि सुख को या संयोग की अवस्था में प्रकृति हमें रमणीय लगती है, हमारे भावों में सौन्दर्य-भोग की उद्भावना करती है, और उससे हमें सुन्दरता की अनुभूति होती है। इस दृष्टि से वह उद्दीपक हो जाती है, परन्तु वियोग की अवस्था में वही प्रकृति दुःखदायिनी हो जाती है। इस प्रकृति को समझने एवं अपने सौन्दर्य वृत्ति को स्पष्ट करने के लिये मानव उसकी सुन्दरता का चयन करता है उसके गुणों का विश्लेषण करता है और उन्हीं गुणों को मानव अंगों या क्रियाओं आदि का उत्कर्ष दिखाने के लिये उपमान रूप में ग्रहण करता है। प्रकृति के इस रूप का ग्रहण अप्रस्तुत योजना के अन्तर्गत आता है।

अप्रस्तुत रूप में प्रकृति के ग्रहण करने की भावना का एक क्रमबद्ध विकास है। आरम्भिक युग में प्रकृति के प्रति मानव की भय मिश्रित श्रद्धा की भावना थी। यहाँ प्रकृति के उदात्त रूप की महत्ता थी, क्रमशः प्रकृति के सतत साहचर्य से यह श्रद्धामूलक भावना सामाजिक चेतना में बदलने लगी। मानव अपने चतुर्दिक बिखरे हुए प्रकृति के विभिन्न अंगों को अपने सचेतन सम्बन्धों के समान ही सहचर, साथी, समसुख-दुख भोगी समझने लगा। उससे निकटता बढ़ने लगी, उसमें उसे सौन्दर्य दीख पड़ा और उसकी यह सौन्दर्य-चेतना इतनी बढ़ी कि अपनी प्रत्येक सौन्दर्याभिव्यक्ति के लिये उसे प्रकृति का सहारा लेना पड़ा। वह अपने कोमल साथी को देखकर उसकी कोमलता का वर्णन करना चाहता था, परन्तु वह असहाय था। अतः प्रकृति ही आगे बढ़ी और पुष्पों की कोमलता उसकी कल्पना में बिखेर गई। वह उसका स्पार्शिक अनुभव करने लगा। उसने पाया कि प्रकृति तो बड़ी ही कोमल, सहृदय, आकर्षक और रूप-

वती है। चाक्षुप अनुभव से प्रकृति की रम्यता और उसके वर्णों की रमणीयता का रहस्य खुल गया। उसे अपने सौन्दर्य-चेतना को व्यक्त करने का एक सबल आधार मिल गया। उसकी वाणी जहाँ भी मानवीय सौन्दर्य के वर्णन में रुकती जान पड़ी, वहीं उसने तत्काल प्रकृति को उपमान बनाया और अपनी भावनाओं को सन्तुष्ट किया। हिन्दी के कवियों ने मानव की प्रत्येक स्थिति में प्रकृति का अवलम्ब लिया है। संयोग-वियोग में पेड़, पौदे, पक्षी, पशु उपस्थित रहने लगे। धीरे-धीरे उपमान रूप में इनकी गणना होने लगी। नायक नायिका के सौन्दर्य को व्यक्त करने में इन कवियों ने अपनी सूक्ष्म कल्पना शक्ति का परिचय दिया। नायिका के रंग के लिये चम्पा, केतकी, कान्ति के लिये जुन्हाई, किरण-कतार, मुख के लिये कमल, नेत्र के लिये खंजन, मीन, मृगज, चकोर कमल आदि; अधर के लिये बन्धूक, मूंगा आदि; दांतों के लिये कुन्द-कली; नासिका के लिये शुक, बाहों के लिये मृणाल-नाल; वक्ष के लिये चक्रवाक, श्रीफल, घट, पर्वत आदि, उरु के लिये कदली-खम्भ, नाभि के लिये कुण्ड, लालिमा के लिये ईंगुर आदि उपमानों का प्रयोग करके कवियों ने इन पदार्थों के सौन्दय-परक भाव की ही अभिव्यञ्जना की है। प्रकृति के अधिकांश उपमानों द्वारा नारी-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही हुई है, कहीं-कहीं इन्हीं उपमानों से पुरुष के सौन्दर्य को भी अभिव्यक्त किया गया है। मानव-बुद्धि प्रकृति से सौन्दर्य का चयन करती है, कलाकार का मानस इसका अनुभावन करता है। वह अपनी ग्राहिका शक्ति द्वारा उस प्रकृति-सौन्दर्य को संवेदना में बांधकर उसकी प्रत्यक्षानुभूति कराता है।

प्रकृति में भाव पक्ष की प्रधानता होने से वह मानव-सापेक्ष बनती है, परन्तु उसके 'रूप' पक्ष की अवहेलना नहीं की जा सकती है। रूप सौन्दर्य का आधार है और इस रूप की महत्ता तभी मानी जायगी, जब उसे मानव-सौन्दर्य चेतना की स्वीकृति प्राप्त हो जाय। प्रकृति का रूप-पक्ष मानव की भाव-प्रक्रिया और अनुभूतियों का सम्बल पाकर सौन्दर्य का साधन बन जाता है। इससे प्रकृति का रूप पक्ष और मानव की अनुभूतियां इन दोनों का युगपत् महत्व है। इन अनुभूतियों के अभाव में प्रकृति के उपमान रूप की अप्रस्तुत योजना सफल नहीं हो पाती है। उसकी सफलता मानव के ऊपर निर्भर है, उसका रूप मानव-भावों के अनुकूल बनता बिगड़ता है, उसका सौन्दर्य अचिर है, शाश्वत है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि इस सौन्दर्य का अनुभव करने वाला संवेदनशील हृदय हो। ऐसे सहृदय के सम्पर्क से प्रकृति का सौन्दर्य खुल जाता है और उसकी रमणीयता शत-शत रूपों में विश्व में फैल जाती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि मानव के रूप सौन्दर्य की निर्भरता अनेक बातों पर रहती है। यह सौन्दर्य स्वयं में साध्य नहीं है, अपितु यह अपने हृदय की तृप्ति अथवा प्रिय के रिझाने का एक साधन है। यह तृप्ति तभी सम्भव है जब व्यक्ति स्वयं अपने रूप पर रीझ जाय, परन्तु स्वयं रीझकर रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा कर देना सामाजिक उपयोगिता नहीं रखता। इसके लिये दूसरों का रीझना आवश्यक है। इससे सौन्दर्य की उपभोग मूलक भावना को प्रश्रय मिलता है, रूप का आकर्षण बढ़ता है और अपने प्रिय के मन पर रूप-सौन्दर्य का प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव के लिये रूपाकार का नैसर्गिक-सौन्दर्य प्रसाधक साधनों से कई गुना बढ़ जाता है। प्रसाधन सौन्दर्य को प्रस्फुटित करते हैं, उसे रमणीय बनाते हैं। इन प्रसाधनों के साथ व्यक्तिगत गुण, चेष्टा आदि से रूप की मोहकता बढ़ जाती है। आलम्बन की इस मोहकता, रूपाकर्षण और सौन्दयानुभूति से आश्रय इतना प्रभावित होता है कि उसकी भावनाएँ आलम्बन के रूप-सौन्दर्य-जन्य अपनी अनुभूतियों को दूसरों के लिये प्रेषणीय बनाने की अभिलाषा से प्रकृति के कोमल, सुखद, मधुर आकर्षक और सुन्दरतम पदार्थों का संग्रह उपमान रूप में कर लेती हैं। यही संग्रह अभिव्यञ्जनात्मक शिल्प का स्पर्श पाकर अप्रस्तुत विधान के रूप में तटस्थ सौन्दर्य का कारण बन जाता है। अतः रूप–सौन्दर्य की मोहकता और आकर्षण व्यक्ति आलम्बन के गुण और चेष्टाओं पर निर्भर है। गुण और चेष्टाओं के अभाव में सौन्दर्य का अनुभव नहीं हो पाता। नैसर्गिक गुणों के रहने पर प्रसाधन गत उपकरण उस सौन्दर्य को बढ़ा देते हैं और प्राकृतिक सौन्दर्य से मानव–सौन्दर्य को स्थिति और सत्ता मिल जाती है। इन्हीं सौन्दर्योत्कर्षक तत्वों के आधार पर आगे के अध्यायों में रूप सौन्दर्य का विश्लेषण किया जायगा।

भक्ति-काल में रूप-सौन्दर्य

(१) भक्ति-मूलक प्रवृत्ति के कारण
(२) राम के रस-अधिष्ठाता न होने के कारण।
(३) मधुर-रस के अधिष्ठाता रूप में श्रीकृष्ण।
(४) (अ) सौन्दर्य के गुण-परक उपादान
(क) सूक्ष्म गुण
(ख) स्थूल गुण
(आ) चेष्टापरक सौन्दर्य
(क) विशेष चेष्टा
(ख) सामान्य चेष्टा
(इ) प्रसाधनगत सौन्दर्य
(क) धारण किये जाने वाले प्रसाधन
(ख) लगाये जाने वाले प्रसाधन
(ग) अन्य उपकरण
(ई) तटस्थ सौन्दर्य
(५) निष्कर्ष।

भक्ति-काल में रूप-सौन्दर्य

प्रत्येक रचना अपने युग की प्रवृत्तियों और रचनाकार की मनोवृत्ति के अनुसार अपना रूप ग्रहण करती है। उसका वर्ण्य-विषय युग की सापेक्षता में रचनाकार की आत्मानुभूति से संचालित होती है। वह युग के विचार-प्रकाश में प्राचीन परम्पराओं से अनुप्राणित होता हुआ अपनी विशेष प्रवृत्ति और अनुभूति के कारण समकालीनों से भिन्न अस्तित्व रखता है। उसका यह अस्तित्व रचना को रूप और दिशा देता है; रचना का रूप, उसका वर्ण्य-विषय आदि व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण भिन्न होता हुआ भी युग की सर्वांङ्गीण और व्यापक भावनाओं का प्रतिबिम्ब है। युग का यह प्रतिबिम्ब प्रत्येक साहित्य के प्रत्येक काल की रचना में दीख पड़ता है। भक्ति काल में युग भावनाओं की यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। यह प्रवृत्ति प्राचीन एवं निकट अतीत की साहित्यिक पृष्ठभूमि का अवलम्ब लेकर प्रचलित विचारों एवं भावनाओं में फलती एवं विकसित होती आई है। इस विकास के दो प्रमुख कारण माने जा सकते हैं—

१. मनोवैज्ञानिक कारण।
२. समसामयिक प्रवृत्ति मूलक कारण।

मनोवैज्ञानिक कारण—आलोच्य काल की भक्ति के विकास मूलक प्रवृत्तियों का परिवर्तन एक दिन की घटना नहीं है। यह वर्षों से चली आती हुई विचारधारा का एक सशक्त, अनुभूति पूर्ण और सुव्यवस्थित स्वरूप है। भक्तिकाल के पूर्व की साहित्यिक अव्यवस्था और भावनाओं की अस्थिरता से इस कथन की सत्यता प्रकट हो जाती है। इस काल के पहले की घटनाओं एवं राजनैतिक आक्रमणों से धार्मिक अस्थिरता आ गई थी। सगुण के प्रति अनास्था के भाव का उदय होना स्वाभाविक था। बौद्ध धर्म की क्षीणावस्था अपनी अन्तिम सीमाओं में प्रदर्शन के चमत्कार का सम्बल लेकर नाश के कगार पर स्थित किसी सबल धार्मिक आन्दोलन के एक धक्के की बाट देख रही थी। दूसरी ओर नाथपंथी, और ज्ञान-मार्गियों का प्रबल वेग अपने प्रवाह में सबको बहा ले जाना चाहता था। इस प्रकार दो धार्मिक विचार धाराएँ सगुण भक्ति के पूर्व कार्य कर रही थीं।

इनमें बौद्ध धर्म की उपासना पद्धति को युग प्रवृत्तियों में ढाल कर उसे व्यावहारिक, आकर्षक एवं मोहक रूप दे दिया गया था। तंत्र सम्प्रदाय में

मोहन, वशीकरण का प्रावल्य बढ़ा। भैरवी चक्र-साधना ने नारी-विलास को प्रश्रय दिया, 'महा सुख' की कल्पना यथार्थ जीवन की साकारता पाने लगी। प्रवृत्ति मूलक यह धर्म-पद्धति जन-सामान्य का ध्यान सांसारिक अनुरक्ति की ओर आकृष्ट करने लगी। भोग और धर्म दोनों वृत्तियों की तृप्ति का अपूर्व अवसर मिल गया। धर्म के क्षेत्र में मन को आकर्षित कर लेने वाली भावनाएँ सजगता पर थी। साधकों का ध्यान रूप के आकर्षण और चमत्कार पर केन्द्रित होने लगा। पूर्व वर्णित कृष्ण के विकास से भी यही पता चलता है कि उनमें इन गुणों की प्रतिष्ठा पहले ही हो चुकी थी। अतः यह कहा जा सकता है कि सामयिक सन्दर्भ में इनकी और भी उपयोगिता जान पड़ने के कारण कृष्ण भक्तों ने उनका रूप प्रस्तुत किया। इन्होंने लोगों की प्रवृत्ति एवं राग मूलक भावनाओं को पहचान कर उनकी मानसिक भाव भूमि के अनुकूल ही उपासना पद्धति के लिये सुन्दर, ललित शोभा आदि गुणों से सम्पन्न ऐसा आराध्य प्रस्तुत किया, जिसके रूप-सौन्दर्य, चेष्टाओं, क्रियाओं आदि में दैनिक जीवन की अनुभूति मय प्रवृत्ति मूलकता दीख पड़ी। उनका आलम्बन सौन्दर्य का अतुलित पुञ्ज था, आकर्षण का केन्द्र था तथा लावण्य एवं छवि धारा को प्रवाहित करने वाला था। ऐसे सौन्दर्य पुञ्ज आलम्बन कृष्ण को प्रस्तुत करने में भक्तिकालीन कवियों ने अवसर एवं मानसिक अन्तश्चेतना का पूरा-पूरा लाभ उठाया। यही कारण था कि इन कवियों द्वारा वर्णित कृष्ण के रूप-सौन्दर्य-वर्णन जैसा सौन्दर्य अन्य स्थलों पर प्राप्त नहीं होता।

कृष्ण परक साहित्य की रचना का दूसरा प्रेरक कारण ज्ञान मार्गियों की साधना पद्धति थी। इस साधना में अलोक सामान्य चमत्कार का वर्णन होता था। नाड़ियों एवं चक्रों का वर्णन लोगों के लिये अग्राह्य था; उलट-बासियों की बौद्धिक गुत्थियाँ सुलझाये नहीं सुलझती थीं। 'गगन-मण्डल के' 'शून्य-महल' में पिया की 'अरूप झाँकी' पकड़ में नहीं आ पाती थी। अरूप और वायवीय 'तेज' मन को स्थिर नहीं कर पाता था। यही कारण था कि साधकों का मन अरूप में बहुत काल तक टिक न सका। भौतिक नाम-रूप जगत का प्राणी ऐसे आराध्य को ढूँढने लगा, जिसका रूप और नाम साधकों जैसा ही हो, जिसके कार्य उन्हीं जैसे हों और जो उन जैसा ही सुख-दुःख का अनुभव करने वाला हो। लोगों की इस प्रवृत्ति को कृष्ण भक्तों ने पहचाना और उसे अपनी भावनाओं के अनुकूल पाकर उनकी उस पिपासा को श्रीकृष्ण की रूप माधुरी की धाराधार वर्षा करके शान्त किया, सगुण के प्रति आस्था और ललक की इस भावना को मोड़ देने का सफल प्रयास किया और इस

प्रयास की प्रेरणा वैष्णव आचार्यों एवं बंगाली भक्तों ने इन कवियों को दी। इस प्रकार श्रीकृष्ण के इस रूप की स्थापना में समसामयिक प्रवृत्तियां भी कार्य कर रही थीं।

समसामयिक प्रवृत्तियाँ—जगद्गुरु शंकराचार्य का ब्रह्म-निरूपण और मायावाद सामान्य लोगों के लिये अग्राह्य बना रहा। समाज शक्ति, शील और सौन्दर्य युक्त ऐसे मानव-वपु-धारी भगवान को देखना चाहता था, जिसमें उन्हीं की भावनाएँ विकास पा रही हों। ऐसे भगवान की स्थापना के लिये रामानुजाचार्य प्रयत्नशील हो चुके थे, निम्बार्काचार्य ने राधाकृष्ण की सम्मिलित उपासना पर बल दिया था, मध्वाचार्य का द्वैतवाद नवधाभक्ति का समर्थक बना। भक्ति के इन प्रकारों में सख्य-भाव और आत्मनिवेदन रूप कान्तासक्ति ने शृङ्गारिक भावनाओं और रति-वर्णन को प्रश्रय दिया। सख्य-भाव से भक्त भगवान के गूढ़तम और एकान्त लीलाओं में भी सहचर या सहचरी रूप में उपस्थित रहने लगा; उन लीलाओं का संयोजक बना, राधा के रूप या नख-शिखादि का वर्णन करके कृष्ण के मन में प्रेम-भाव को जागृत किया, राधा से अभिसार कराया, खण्डिता प्रसंगों की चर्चा की। इन सब प्रसंगों में गोपी-भाव की प्रतिष्ठा हुई। भक्त नित्य-विहार में गोपीभाव से सम्मिलित होने की आकांक्षा करने लगे। इस आकांक्षा का बहुमुखी विकास श्री वल्लभाचार्य के माधुर्य या वात्सल्य रति विषयक साधना से हुआ। चैतन्य ने अनुराग और रूप का आस्वादन 'राधाभाव' से किया। उन्हीं के पद चिन्हों पर चलकर अनेक भक्त व्यावहारिक जीवन में राधा रूप में श्रीकृष्ण के प्रेम-सौन्दर्य का आस्वादन करने लगे। इससे मधुर रस की स्थापना हुई। "उज्जवल नील-मणि" और 'भक्तिरसामृत सिन्धु' में मधुर या उज्ज्वल रस का पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया गया। सम्पूर्ण उत्तरी भारत में मधुराभक्ति का प्रचार हो गया। सहजिया पंथ की प्रेममूलक परकीया-भावना से समाज की रसिक-प्रवृति मेल खाती थी। इस भावना का ग्रहण मधुरा-भक्ति में कर लिया गया। इसकी सम्पूर्णता के लिये ब्रह्म वैवर्त्य पुराणकार ने श्रीकृष्ण के साथ राधा का आविर्भाव किया। उन्हें कृष्ण की चिर सहचरी माना। इन दोनों के साहचर्य में जिस युगल-स्वरूप की स्थापना हुई, वह अपने सम्पूर्ण माधुर्य, सौन्दर्य, रूप आदि में अश्रुत पूर्व और अतुलनीय था। युगल रूप के रूप सौन्दर्य की यह अनुपमता कालान्तर में साहित्य की मूल भावना के रूप में विकसित हुई। इस सौन्दर्य पुञ्ज की प्राप्ति के लिये प्रियतम के रूप में श्रीकृष्ण की मान्यता बढ़ी; प्रिया रूप में अपने को प्रस्तुत करने की कामना जागृत हुई; प्रेम का निवेदन किया गया और प्रेम की यही अनुभूति मधुर रस के रूप में समक्ष आई।

मधुर–रस में रागानुगा–भक्ति का प्रचार अधिक मादक और मोहक था। इसमें आकर्षण की प्रबलता के कारण लोगों को उसमें अपनी ही अनुरक्ति दीख पड़ने लगी। गौड़ीय सम्प्रदाय के मधुर भाव में रागात्मकता अधिक थी। इसी मधुरता का गान जयदेव विद्यापति और चंडीदास ने किया। जयदेव का गीत गोविन्द 'विहार–वर्णन' से ही प्रारम्भ होता है, "हरिरिह विहरति सरस वसन्ते' विद्यापति राधा-रूप की असीमता में वह जाते हैं। राधा के नाना रूप चित्रों का इतना सरस, मधुर और हृदय आवर्जक चित्र अन्यत्र नहीं मिलेगा। इन्होंने श्रीकृष्ण सम्बन्धी शृङ्गार रसपूर्ण साहित्य का सृजन किया। वैष्णव रसशास्त्र के व्याख्याता सनातन रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी आदि के ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके थे। इन ग्रन्थों की नवीन चेतना और विठ्ठलनाथ जी की सेवा-पद्धति से अष्टछाप के कवियों ने राधा-कृष्ण का सौन्दर्य परक रूप उपस्थित करके शृङ्गार का रस-राजत्व स्थापित कर दिया। इस रस के आलम्बन रूप में राधा–कृष्ण का आधार लिया गया। श्रीकृष्ण रसेश्वर और राधा रसेश्वरी बन गईं। आराध्य के इस रूप की लहर सम्पूर्ण उत्तरी भारत में प्रवाहित हो गई थी। गुजरात में नरसी मेहता से लेकर बंगाल में चैतन्य और चंडीदास तक इसका प्रवाह फैल गया। राधा कृष्ण की मधुरता एवं सौन्दर्य ने अनेक कवियों को आकृष्ट किया। गौड़ीय सम्प्रदाय के गदाधरभट्ट, सूरदास मदनमोहन, माधुरीदास, ललित किशोरी, ललित माधुरी; निम्बार्क सम्प्रदाय के श्रीभट्ट, हरिव्यास, परशुराम, रूपरसिक जी, वृन्दावन जी, रसिक गोविन्द; टट्टी सम्प्रदाय के विठ्ठल विपुल सहचरिशरण, ललित मोहिनी, रसिक विहारी, भगवत रसिक; राधावल्लभ सम्प्रदाय के हित हरिवंश, सेवक, ध्रुवदास, हरिराम व्यास, और वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप के कवियों ने राधा कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन अनेक विधाओं में किया। सम्प्रदाय मुक्त कवियों में मीरा, आलम, शेख आदि की रचनाएँ भी कृष्ण-माधुरी का गान करने लगीं। इस प्रकार सम्पूर्ण युग चेतना ही श्रीकृष्ण को शृङ्गार का अधिष्ठाता मानकर चलने लगी। उन्हीं के रूप सौन्दर्य, मान, अभिसार, नख–शिख, रति–क्रीड़ा आदि अनेक विध मधुर शृङ्गार-परक चेष्टाओं का वर्णन हुआ। यहां यह प्रश्न उठता है कि श्रीकृष्ण ही मधुर रस के अधिष्ठाता क्यों हुए, राम क्यों नहीं हुए। इस प्रश्न का संक्षिप्त समाधान अपेक्षित है।

राम के रस अधिष्ठाता न होने के कारण:—

भगवान के तीन गुण शक्ति, शील और सौन्दर्य होते है। इन्हीं तीनों गुणों के अन्तर्गत उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को समेट लेने की चेष्टा की जाती है। यह व्यक्तित्व दो प्रमुख रूपों में साहित्य-ग्रन्थों में वर्णित है।

(१) व्यक्तित्व का लोक रक्षक रूप।

(२) व्यक्तित्व का लोक-रंजक रूप।

लोक रक्षक रूप में लोक कल्याण की भावना रहती है। समाज की सत्ता और स्थिति बनाये रखने के लिये मंगलमय कार्यों और आदर्शपरक चरित्र की उद्भावना करनी पड़ती है। यह चरित्र अपने दैनिक व्यवहारों एवं क्रियाओं से ऐसे नियम और आदर्श स्थापित कर देता है, जिनका अनुसरण करने से दूसरों के हित पर आघात नही पहुँचता उसके कार्य व्यापारों में अवरोध उपस्थित नहीं होता और समाज के प्रत्येक मानव के स्वतंत्र विकास को बल प्राप्त होता है। ऐसे मार्ग-दर्शक चरित्र के प्रति जनसाधारण लोक जीवन श्रद्धा से अवनत हो जाता है, उसको पूजनीय मानता है और अपनी विनत भावों की पुष्पाञ्जलि को उसके महत् चरण पर चढ़ाकर असीम आत्म–तृप्ति का अनुभव करता है। भगवान का श्रद्धास्पद यह प्रेरक रूप साधक की चंचल प्रवृतियों को मर्यादित कर देती हैं। वह उसके समक्ष आत्म-लघुता की भावना से युक्त होकर उसकी महानता से सदा दूरी का अनुभव करता है। उसके गूढ़ व्यक्तिगत जीवन की चर्चा सीमा का अतिक्रमण मानता है। वह उसका सहचर बनकर उसके संग नहीं रह सकता। उसकी महत्ता की तुलना में अपनी लघुता के कारण उसकी दास्य-भक्ति की भावना ही समक्ष आती है अन्य कोई भावना नहीं। यदि दूसरी भावना को प्रश्रय दिया जाय, तो मर्यादा के कारण बनी हुई सीमा रेखा का उल्लंघन हो जायगा। इसीसे ऐसे शीलयुक्त आराध्य के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेना कठिन माना जाता है। इस तादात्म्य के अभाव में मानव का हृदय पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हो पाता, उसकी भावनाएँ अपने आप में ही रह जाती है। वह केवल दास्य-भक्ति सम्बन्धी विचारों को ही एक विशेष सीमा तक निवेदन के रूप में प्रस्तुत कर सकता है। निवेदन के ऐसे स्थलों पर बनाई गई लक्ष्मण-रेखा साधक को नियन्त्रित करती है। वह डरते-डरते केवल उद्धार सम्बन्धी प्रार्थनाएँ ही कर पाता है, अन्य किसी प्रकार का विचार ही उसके मन में नहीं आता। ऐसे स्थलों पर आराध्य की तारक-शक्ति की प्रशंसा की जाती है, उसकी महत्ता का गुणगान होता है, और उसके शील परक गुणों के समक्ष आत्म-विस्मय का भाव व्यक्त किया जाता है। इस भाव की गहनता से साध्य का चारित्रिक मनोबल, शील और शक्ति, उसके कर्म का सौन्दर्य आदि सभी उदात्त रूप में वर्णित होते हैं। इस उदात्तता के समक्ष साधक की भावनाएँ सेवक–सेव्य के रूप में आती हैं। भक्तिकाल में ऐसा उदात्त रूप 'राम' का था।

राम के चरित्र में भगवान के दो गुणों शक्ति और शील का वर्णन है। सौन्दर्य वर्णन का पूर्ण विकास नहीं है। इसके कई कारण हैं।

(१) राम-साहित्य में राम के अवतार का मुख्य कारण दुष्टों का नाश करके धर्म की पुनः स्थापना करना है। धर्म संस्थापनार्थ अवतरित भगवान में शक्ति की ही प्रबलता होनी चाहिए। इसके अभाव में दुष्टों का दलन नहीं हो पाता। शक्ति के समक्ष दुष्टों की उद्दण्डता स्वतः भी दब जाती है। इस शक्ति के स्पष्टीकरण के लिये प्रस्तुत की गई अन्तर्कथाओं में भी ऐसी चर्चाएं होती हैं, जिनसे उनकी-आराध्य की-शक्ति मूलक प्रवृतियां ही लक्षित हों।

(२) लोक कल्याणकारी भगवान दूसरों के हित में ही लगा रहता है। उसकी व्यक्तिगत समस्याएं और चिन्ताएं बहुत महत्वपूर्ण नहीं होती हैं। इसी से वह पारिवारिक जीवन तक में भी लोक मंगल का ध्यान रखता है। राम का राज्य त्याग और पत्नी सीता का वनवास उनके इसी लोकमंगल की साधना है।

(३) लोक मंगलकारी अवतार का चरित्र बहुत ऊंचा होता है। शील अनुकरणीय माना जाता है। उसके जीवन में सब कुछ लोक संस्थापनार्थ होता है। इसलिए शीलपरक किसी प्रकार की चपलता वर्ण्य-विषय नहीं बन पाती। यह चपलता शृङ्गार-वर्णन के प्रसंग पर ही देखी जा सकती है। शृङ्गार की पूर्ण रसात्मकता के लिये रूप-सौन्दर्य, रति-क्रीड़ा, चेष्टाओं आदि का वर्णन होता है। यदि इस प्रकार का वर्णन कर दिया जाय तो आराध्य का शील अनुकरणीय नहीं रह जायगा, उसका चरित्र सामान्य रसिक प्राणियों जैसा हो जायगा। अतः राम जैसे आराध्य के जीवन में न तो शृङ्गार के लिये कोई स्थान है और न शृङ्गार साधक अन्य उपकरणों के लिये। शरीर के रूप लावण्य या नख-शिख में विभिन्न अवयवों का आकार-प्रकार आदि वर्णन तो कल्पना की वस्तु है। दाम्पत्य रति का कामोत्तेजक वर्णन राम के चरित्र में स्पृहणीय नहीं माना जा सकता था। इसी से राम के जीवन में रूप-सौन्दर्य वर्णन का प्रायः अभाव है।

(४) राम मर्यादावादी थे। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मर्यादा की स्थापना उनके चरित्र का ध्येय था। इस मर्यादा के लिए व्यक्तिगत जीवन तक को उत्सर्ग कर देने में भी उनके मन में कभी विचार-विभ्रम उत्पन्न नहीं हुआ। बाल्मीकि रामायण, उत्तर रामचरित्र और रामचरित मानस के अनेक प्रसंगों से यह बात स्पष्ट हो जायगी। राम द्वारा विमाता की आज्ञा का पालन, भरत के लिये राज्य छोड़कर आत्म-स्वार्थ का विसर्जन, एक सामान्य व्यक्ति के कहने

से अपनी धर्म पत्नी सीता का निष्कासन आदि प्रसंग इसी मर्यादा की पुष्टता को व्यक्त करते हैं। ऐसे मर्यादावादी व्यक्ति के लिये 'रूप' का महत्व ही क्या होगा ? जो चरित्र शृङ्गार और सौन्दर्य के प्रमुख आलम्बन नारी तक की चिन्ता नहीं करता, जो भौतिक सुख-भोग से उपराम ग्रहण कर लेता है, जिनकी इन्द्रियाँ विषयों से विरत हैं, जो धर्म के अतिरिक्त कुछ जानता ही नहीं, ऐसे चरित्र के जीवन में रूप-सौन्दर्य की समुचित कल्पना दुराशा मात्र ही है।

(५) मध्यकाल के पूर्व प्राप्त राम साहित्य में शृङ्गारिक परम्परा का अभाव है। राम सम्बन्धी प्रत्येक ग्रन्थ का रचनाकार इतना सजग था कि उसने शृंगार रस को महत्व नहीं दिया। उत्तर रामचरित्र में शृङ्गार से पुष्ट करुण रस है, परन्तु वहाँ भी रूप-सौन्दर्य न होकर पूर्व स्मृतियों से उत्पन्न अनुभूतियों का ही वर्णन है। ऐसी स्थिति में राम के जिस अलौकिक चरित्र की स्थापना हो चुकी थी, उसके विपरीत जाकर मर्यादा का उल्लंघन करने का साहस कैसे किया जा सकता था।

(६) राम के प्रति साधकों की भक्ति सेवक-सेव्य भाव की थी। सेवक अपने सेव्य का शृङ्गार वर्णन करने का अधिकार नहीं रखता। फिर राम की सीता जैसी पत्नी का शृङ्गार वर्णन बड़े साहस का कार्य था। शालीनता के वातावरण में पली हुई अपनी सामान्य भावनाओं की अभिव्यक्ति में भी जिस सीता के मन में संकोच हो, वह अनुभाव मूलक और सौन्दर्यवर्द्धक शृङ्गार चेष्टाओं का आचरण कैसे कर सकती थी। चेष्टाओं के आकर्षण के अभाव में रूप की मोहकता के वर्णन का प्रश्न ही नही उठता। अंग-वर्णन, उसके बनावट का विश्लेषण, उसका मोहक और उद्दीपक प्रदर्शन, चेष्टाओं द्वारा शृङ्गार मूलक अभिमत का प्रकाशन आदि बातें ऐसे चरित्र के जीवन में महत्व नहीं रखतीं। यदि भूल से या अनजान में कवि की सहृदयता के कारण ऐसे प्रसंगों का अवतरण हो भी जाता है, तो कवि की मर्यादित प्रवृत्ति उसे आगे बढ़ने से रोक लेती है। उसकी अन्तश्चेतना का नियन्त्रण ऐसे वर्णनों में बाधक हो जाता है। यह शृङ्गार की पूर्ण निष्पत्ति करने के पूर्व ही चेतन होकर आराध्य की विराटता और उदात्तता का संकेत कर देता है। फल यह होता है कि पूर्णरस-निष्पत्ति न होकर रसाभास मात्र होकर रह जाता है। राम-साहित्य में रूप-सौन्दर्य वर्णन और शृङ्गार-विवेचन के क्रमिक विकास के न होने का यही कारण है, अन्यथा राम के जीवन में ऐसे अवसरों की कमी नहीं है, जहाँ पहुँचकर कवि को शृङ्गार एवं रूप-सौन्दर्य वर्णन का प्रसंग न प्राप्त हो सकता था।

राम के चरित्र में रूप सौन्दर्य वर्णन के अनेक प्रसंग आ सकते थे। आरम्भ में बाल रूप 'सूर' के समान मोहक बनाने का प्रयास किया जा सकता

था, यद्यपि उस बाल रूप का सूर के कृष्ण के समान उन्मुक्त और स्वच्छन्द वातावरण नही बन पाता। राम राजपुत्र थे, कृष्ण गोप:पुत्र थे। दोनों की स्थिति और मर्यादा में अन्तर था। कृष्ण अपने घर की चहारदीवारी के परे प्रकृति के खुले प्रांगण में अपनी मधुरता, अपना रूप, अपनी मोहकता को बिखेर सकते थे, सखाओं से क्रीड़ा कर सकते थे, गोपियों के आकर्षण का केन्द्र बन सकते थे, अपने रूपाकर्षण से सबको मुग्ध कर सकते थे, छेड़-छाड़, हास परिहास से वातावरण को मृदुल, मोहक और मादक बना सकते थे और ये सारे कार्य उन्होंने किये भी, परन्तु राम का राजपुत्रत्व इसमें बाधक बना हुआ था। तुलसी ने 'कवितावली' में एक-दो स्थलों पर ऐसा वर्णन किया भी[1] है परन्तु वह बलपूर्वक जोड़ा हुआ लगता है, क्योंकि राजमर्यादा में पला बालक है अन्य लड़कों के साथ सरयू के तट, चौराहों, बाजारों में डोलता फिरे, इसे तार्किक बुद्धि स्वीकार नहीं कर पाती। राम की पारिवारिक स्थिति के संदर्भ में यह वर्णन बाल्य-चापल्य मात्र है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्णभक्त कवियों के समक्ष ऐसे नियन्त्रण का कोई प्रश्न ही नहीं था। श्रीकृष्ण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्मुक्त थे। एक मुक्त विहग की भाँति उनकी उड़ान भी निर्द्वन्द्व होकर चलती रहती थी। इसीसे वे इसके आलम्बन बने। वात्सल्य और शृङ्गारादि सभी क्षेत्रों में उनका मादक रूप एक समान है। राम-काव्य में अवसर थे, परन्तु वर्णन का अभाव है। यदि कहीं वर्णन है भी तो वह मर्यादित है। यथा:-

'सुन्दरता मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहु बदन बखानी।"

यहां गौरी या सीता के सौन्दर्य वर्णन में कवि की लेखनी रुक जाती है। सच भी है जिस रूप को देख कर राम का सहज पुनीत मन भी क्षुभित हो जाता है, वह सौन्दर्य वर्णन की परिधि में नहीं आ सकता है। तुलसी इस अलौकिक सौन्दर्य के साथ उसकी सहजता का ध्यान भी रखते हैं "सहज मनोहरमूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ।" वे सरलता से अपनी बात कह देते हैं कि सीता के सृजन में-

"जनु बिरंचि सबनिज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगट देखाई।
सुन्दरता कह सुन्दर करई। छविगृह दीप-शिखा जनु बरई॥"

इस वर्णन में दीपशिखा सी सीता की चम्पकद्युति साकार हो जाती है। इसीसे कविको कोई उपमा ही नहीं मिलती, "सब उपमा कवि रहे जुठारी।........पुनः

---

[1] लरिका संग खेलतडोलत हैं, सरयूतट चौहट, हाट, हिये--'कवितावली'

"जो छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथै पानि पंकज निज भारू।
एहि विधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत सब, कहहिं सीय समतूल"

इन सभी उद्धरणों से स्पष्ट है कि सीता के सौन्दर्य-वर्णन में चित्र योजना का नितान्त अभाव है। रूप' के समुचित प्रभाव के लिये चित्र-विधान की परम्परा मान्य रही है परन्तु इस स्थल पर तुलसी ने रूप-चित्र उपस्थित न करके केवल कथन द्वारा उसका वर्णन किया है। कोरे कथन में रसात्मकता का अभाव होता है। यही कारण कि तुलसी के इस रूप-वर्णन में हृदय रम नहीं पाता। कवि का प्रयास उसके बौद्धिक उड़ान में खो जाता है और मर्यादा का नियन्त्रण रूप का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में बाधा उपस्थित कर देता है।

राम के शृङ्गार और उनके रूप सौन्दर्य की मोहकता का वर्णन जनकपुर तथा वन-मार्ग आदि प्रसंगों पर हो सकता था और हुआ भी, परन्तु रसकी शुद्ध भूमि पर नहीं। राम का देवत्व अपनी 'उदातता' से साथ इन कवियों के मस्तिष्क में सदा बना रहा। फल यह हुआ कि रूप का आकर्षण 'सौन्दर्य' के आश्रय के प्रति न होकर 'उदात्त' के आश्रय के प्रति हुआ। इससे श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य जैसी मादकता राम-काव्य में नहीं आ सकी। 'बरवै-रामायण' में सीता की सखियाँ राम के रूप का परिहास सीता के रूप की तुलना में करती हुई कहती हैं "गरब करहु रघुनन्दन, जनि जीय माँहि। देखहु आपनी मूरति सिय की छाँह।" इस बरवै में रूप-वर्णन का एक आभास मात्र है। इससे बिम्ब-विधान नहीं होता। इसके अभाव में यह उत्तम काव्य की कोटि में नहीं आता।

वन-मार्ग में सीता की अनुभाव-परक चेष्टाएं ग्राम बन्धुओं के माध्यम से प्रकट हुई है, साक्षात् रूप में राम के समक्ष नहीं आती हैं क्योंकि सीता राम की प्रियतमा अथवा प्रेमिका की भाव-सघनता के संग वर्णित न की जा कर एक दासी की आत्म-समर्पण की भावना से आप्लावित होती हुई प्रस्तुत की गई हैं। सीता के लिये 'राम' 'नाथ' हैं। ऐसे 'नाथ' जिनके समक्ष अपनी कोई अभिलाषा नहीं, कोई रुचि नहीं और कोई व्यक्तित्व नहीं। यहाँ सेव्य राम में अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विलय आत्मार्पण तो है, परन्तु लौकिक दृष्टि से शृङ्गार रस का साधक नहीं है। अतः रस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि

राम-काव्य में साधकों की दास्य-भक्ति परक भावना के कारण शृङ्गार रस का सर्वाङ्गीण स्फुरण नही हो पाता। शृङ्गार रस की पूर्ण निष्पत्ति के अभाव में उस रस के साधक उपकरणों का वर्णन सम्भव नहीं हो पाता। आलम्बन के उद्दीपक गुण और चेष्टाओं को अवरुद्ध करने में मर्यादा नियन्त्रण का कार्य करती है। रूप सौन्दर्य, नख-शिख आदि का वर्णन दास्य-भक्ति की दृष्टि से निरर्थक और अनधिकार चेष्टा है। आयु एवं विकसित होती हुई भावनाओं का ताल-मेल बैठाना अनावश्यक माना जाता है। वयः सन्धिकाल की विभिन्न चेष्टाएं और युवावस्था के अनुभाव काम संकेत की परिधि में आते हैं। नायिका भेद और विभिन्न नायिकाओं की क्रियाओं, चेष्टाओं, आदि का वर्णन कामुकता का प्रदर्शन माना जाता है। रमणी का रूप निन्द्य, अनाकर्षक, हाड़-मांस का बाह्य-संयोजन कहा गया है। उस रूप की अग्राह्यता की प्रतिष्ठा की गई। उसे 'नरक' में ले जाने का साधन माना गया। उसे ताड़ना के योग्य माना गया। विचार करने की बात है कि जिस राम-साहित्य में नारी और उसके रूप की यह दशा थी, शृङ्गार के उद्दीपक जिस आलम्बन के अस्तित्व की स्वीकार की भावना पर ही कुठाराघात किया गया था, ऐसे राम-साहित्य का सृजनकर्ता कवि नारी या पुरुष के रूप–सौन्दर्य का वर्णन क्यों करता? उसकी उपयोगिता क्या होती? रूप–सौन्दर्य तो रीझने या रिझाने के लिये होता है। इस रीझ की उपभोग मूलक भावना सर्वविदित ही है। उपभोग का आकर्षण शारीरिक होने से काम-प्रधान हो जाता है। 'काम' राम-काव्य की दृष्टि में गर्हणीय है और काम की साधक नारी त्याज्य है। अतः राम-काव्य में रूप-सौन्दर्य के संचित-कोष नारी की मधुरिमा, मोहकता, लावण्य, छवि आदि के वर्णन का प्रश्न ही नहीं उठता। इस वर्णन के अभाव में शृङ्गार की महत्ता राम काव्य में नहीं हो सकी। वहां कवि राम की शक्ति और शील वर्णन की इयत्ता में ही बंधा रहा। इससे उसका आराध्य अनुकरणीय और आदर्श रूप वाला होगया उसके दुष्ट-दलन जैसे कार्यों में कर्म–सौन्दर्य और उत्साह नामक भाव तो मिल जाता है, परन्तु वह रति-भाव का आश्रय नहीं बन सका। रति-स्थायी भाव के वर्णन की महत्ता और प्रमुखता न रहने से शृङ्गार रस का पूर्ण स्फुरण नहीं हो सका। शृङ्गार ही रसराज माना जाता है। राम के जीवन में इस रस को उचित स्थान नहीं मिला। इससे वे इस रस के अधिष्ठाता रूप में ग्राह्य नहीं हुए। इनकी तुलना में श्रीकृष्ण के समक्ष इस प्रकार की सीमा रेखाएं नहीं थीं। इसीसे उनकी मान्यता रस के अधिष्ठाता के रूप में हुई। राम की तुलना में श्रीकृष्ण के रस अधिष्ठातृ रूप के कारणों पर विचार कर लेना समीचीन होगा।

मधुर रस-अधिष्ठाता के रूप में श्रीकृष्ण—

राम और श्रीकृष्ण के जीवन के मूल दृष्टिकोण में प्रमुख अन्तर यह है कि राम ने लोक मर्यादा के लिये नारी का त्याग किया और श्रीकृष्ण ने आत्म-मर्यादा के लिये नारी को ग्रहण किया। नारी के इस त्याग और ग्रहण में ही दोनों के चरित्र का विकास होता है। राम की मर्यादा में लोक-संग्रह है और कृष्ण की मर्यादा में आत्म-संग्रह है। राम की दृष्टि में समष्टि चेतना है और कृष्ण की दृष्टि में आत्मचेतना। इसी आत्म-चेतना के कारण श्रीकृष्ण के चरित्र का आरम्भ उस विन्दु से है, जहाँ राम के चरित्र की समाप्ति हो जाती है अर्थात् राम-मर्यादा को स्थापित करके जीवन के उद्देश्य को पूर्ण कर लेते हैं और कृष्ण उसी मर्यादा को तोड़कर जीवन को आरम्भ करते हैं। राम के जीवन में नियन्त्रण है, सीमा है, कृष्ण का जीवन स्वच्छन्द और असीम है। राम के जीवन का आरम्भिक कार्य-क्षेत्र अयोध्या के राजमहल हैं और श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण ब्रज प्रान्त। इससे श्रीकृष्ण का चरित्र उन्मुक्त और रस पूर्ण बन गया। उनकी इसी रसवत्ता के कारण उन्हें शृङ्गार रस के अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार किया गया। इस रूप में यह स्वाभाविक था कि उनके रूप सौन्दर्य का वर्णन प्रत्येक अवसर एवं प्रसंग पर किया जाता। श्रीकृष्ण के चरित्र में सौन्दर्यानुभूति की इस व्यापकता के कारण कवियों ने इसका पूरा-पूरा लाभ उठाया और उन्हें ऐसे रूप में प्रस्तुत किया कि वे सौन्दर्य के एक मात्र प्रतिष्ठाता बन गये।

श्रीकृष्ण सोलह कला-पूर्ण अवतार हैं। वे लीला पुरुष हैं उनकी लीला के लिये ही सम्पूर्ण ब्रज का विस्तार है। इस लीला में आकर्षण है, माधुर्य है। इसी माधुर्य का रसास्वादन उनकी ब्रजलीला का चरम ध्येय है। अपनी सुन्दरता की अखिल मोहकता के कारण उन्हें इस ध्येय की प्राप्ति हो जाती है। उनके चरित्र-प्रसंग में केवल श्रीकृष्ण ही नहीं, अपितु गोपियों को भी सौन्दर्य की अनुभूति और उपभोग के पर्याप्त अवसर मिल जाते हैं अर्थात् आलम्बन और आश्रय दोनों ही सौन्दर्य के आगार हैं उन्हें सौन्दर्यानुभूति होती है और दोनों ही एक दूसरे के रूप गुण की परख करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण कृष्ण काव्य ही सरस और मधुर बन जाता है। इस काव्य के मधुर होने के अन्य भी अनेक कारण हैं :—

(१) कृष्ण-काव्य में वात्सल्य-रस की प्रतिष्ठा की गई है। बाल-रूप में श्रीकृष्ण की अनेक क्रीड़ाओं का वर्णन है। उनकी रूप-माधुरी सदा से सबको आकर्षित करती थी। उनके अंग में लावण्य है। उनकी आँख, दाँत,

मुख, छवि आदि को देखकर यशोदा फूली नहीं समाती है। कृष्ण का धूल-धूसरित रूप, उनका रेंगना, मीठे वचन, कुञ्चित घुँघराले केशराशि, कंठ-माल, वघ-नख, मक्खन लगा मुख आदि इतने रूप-चित्र हैं कि बाल रूप का अनुपम सौन्दर्य प्रकट हो जाता है उनकी 'सुन्दरताई' का वर्णन हो ही नहीं पाता है। प्रसाधनों आदि में कुलही, लटकती हुई लटुरिया, नील, श्वेत और लालमणियों की लटकन आदि से शोभा बढ़ जाती है। इस शोभा का वर्णन दो दृष्टिकोणों से किया गया है :—

(क) यशोदा की दृष्टि से 'लाला रूप' में श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन।

(ख) गोपियों और कवि की दृष्टि में कौमार, पौगण्ड और किशोर रूप का वर्णन।

इन दोनों ही दृष्टिकोणों में श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन ही अधिक मिलेगा। कहीं पर किसी भी प्रसंग में श्रीकृष्ण का सौन्दर्य ही वर्णित हैं।

(२) श्रीकृष्ण का क्रीड़ा-क्षेत्र विस्तृत था। उनके जीवन में ऋतु और उत्सवों के अनेक अवसर थे। प्रकृति, यमुना, वन, कुंज, बंशीवट आदि अनेक स्थल थे। कदम और करील के कुञ्जों में विहार-क्रीड़ा का आमन्त्रण था। ऐसे मादक एवं उद्दीपक वातावरण को पाकर कौन रूप-रसिक इसकी उपेक्षा कर सकेगा।

(३) श्रीकृष्ण की मुरली का नाद-सौन्दर्य उनकी रसिकता का द्योतक था। मुरली के माध्यम से गोपियों का नाम लेकर उनका आह्वान उनके रूप-प्रेमी हृदय का द्योतक था। ऐसे प्रसंगों पर रूप-वर्णन और रूप के आस्वादन का संकेत है।

(४) श्रीकृष्ण के जीवन में मर्यादा की जटिलता नहीं थी। वे स्वच्छन्द थे और उनकी क्रियाओं में भी यही स्वच्छन्दता वर्तमान थी। राम का जीवन मर्यादा के बन्धनों में जकड़ा हुआ था। वह न तो कृष्ण के समान घूम सकते थे और न अन्य किसी नारी से छेड़-छाड़ ही कर सकते थे। रूप का वर्णन, उसकी प्रशंसा, उसका आकर्षण सब कुछ राम के लिये त्याज्य था। एक वाक्य में यह कह सकते हैं कि राम के जीवन में शृङ्गार के रस-राजत्व को स्थापित करने की न तो क्षमता थी और न साहित्यिक परम्परा ही। कृष्ण का अवतार ही इसीलिये हुआ था कि गोप-ललनाओं की दाम्पत्य-रति विषयक भावनाओं की तृप्ति के लिये अपनी सम्पूर्ण मोहकता और सौन्दर्य ब्रज की वीथियों में बिखेर दें। इसी कारण शृंङ्गार के आश्रय श्रीकृष्ण बने, राम नहीं।

(५) राम और कृष्ण में प्रकृति का एक अन्तर और है। राम आरम्भ से ही गभीर थे। उनकी यह गंभीरता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई पड़ती है। उनका व्यक्तित्व अनुभवों से पुष्ट लगता है। वनगमन के अवसर पर लक्ष्मण और सीता से की गई उनकी वार्ता उनके अनुभव की गुरुता और महत्व को व्यक्त करती है। उनका प्रत्येक कदम सुविचारित था। उनका दार्शनिक विवेचन प्रौढ़ मस्तिष्क की उपज थी। ऐसे राम के जीवन में गंभीरता हो सकती थी, चपलता नहीं। अतः रूप-सौन्दर्य के वर्णन का प्रश्न ही नहीं उठता है। बिना आकर्षण के सात्विक रति भाव का आविर्भाव नहीं होता। रति के अभाव में व्यक्ति रस का अधिष्ठाता नहीं बन सकता और न शृंङ्गार का आश्रय ही। इसी से राम शृंङ्गार के आश्रय नहीं बन सके। वह गौरव श्रीकृष्ण को प्राप्त हुआ।

(६) श्रीकृष्ण का जीवन आरम्भ से ही चपल था। उनकी 'लरकाई' सब कहीं दीख पड़ती है। वे नटखट, शरारती, उद्दण्ड, चोर, चपल, रसिक और लँगराई करने वाले हैं। इन सबका उद्देश्य दूसरों को दुःख देना नहीं था, अपितु उन्हें प्रसन्न करना था। लोग उनकी इन क्रियाओं से रीझते थे। उनका उद्दीपन होता था। इसी से गोपियां चाहती थीं कि कृष्ण उनसे छेड़-छाड़ करे। उलाहना तो एक दिखावा था। बालकों की चपलता स्त्रियों के लिये मोहक होती ही है। श्रीकृष्ण के दुहरे व्यक्तित्व से गोपियां और भी अधिक प्रभावित होती थीं। वे यशोदा के समक्ष बालक और गोपियों के समक्ष एक रसिक किशोर थे। उनकी यही रसिकता उन्हें रस का अधिष्ठाता बनाती थी। यहां एक उदाहरण पर्याप्त होगा :—

"जबहिं सरोज धर्‌यौ श्री फल पर, तब जसुमति तहँ आई।
तत छन रुदन करत मन मोहन, मन में बुधि उपजाई।
देखो ढीठ देत नहिं माता, राख्यो गेंद चुराई।" सूरसागर

इस उदाहरण में श्रीकृष्ण का बाल एवं तरुण रूप दोनों एक साथ वर्णित है। उनकी चतुराई प्रशंसनीय है। अवसर के अनुकूल बात को बना लेने की क्षमता है। वे यशोदा के समक्ष बाल-चपलता का प्रदर्शन करते हैं। यशोदा इस भोलेपन पर न्योछावर हो जाती रही होगी; परन्तु गोपी के लिये उनका यह रूप उद्दीपक रहा होगा। राम के जीवन में कोई कवि ऐसे रूप-चित्रण की कल्पना भी नहीं कर सकता था। चपलता के प्रति आकर्षण नारी की एक स्वाभाविक कमजोरी है। इस दृष्टि से कृष्ण की लँगराई' उनका आकर्षक गुण बन गया था। यह गुण रति-भाव को उद्बुद्ध करने में पूर्ण समर्थ

था । अतः नारी विचारों एवं प्रकृति के सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर शृङ्गार रस के आश्रय और अधिष्ठाता श्रीकृष्ण ही हो सकते थे, राम नहीं ।

ब्रज में होली, झूला, रास, गोवर्धन-पूजन आदि प्रसंगों पर भावनाओं की अभिव्यक्ति की खुली छूट है । ऐसे अवसरों पर छेड़छाड़ या हास-परिहास के पर्याप्त कारण उपस्थित हो जाते हैं । होली में एक दूसरे पर रंग डालना, मुख-मोड़कर अनिच्छा प्रकट करना आदि अनुभावों का चित्रण अच्छा हुआ है रस को उद्दीप्त करने वाले ऐसे प्रसंगों का राम के जीवन में सर्वथा अभाव था ।

विद्यापति, जयदेव और चंडीदास ने राधाकृष्ण के शृङ्गार-रूप का पर्याप्त वर्णन कर दिया था । पृष्ठभूमि तैयार थी, उसको विकसित करना मात्र शेष था । इसमें भक्त कवियों ने योग दिया और रीतिकालीन कवियों ने उसका विकास किया । सारांश रूप में कहा जा सकता है कि कृष्ण काव्य की परम्परा परिस्थिति आदि सभी उनके रस के अधिष्ठाता होने के पक्ष में थी परन्तु राम-काव्य की पृष्ठभूमि इस रूप में नहीं थी । वाल्मिकीय और आध्यात्म्य रामायण में उनके आलोक-सामान्य स्वरूप की चर्चा हुई थी । भक्तिकाल के रामकाव्य में ये दोनों ग्रन्थ उसके प्रमुख उपजीव्य थे । इन दोनों में से किसी में भी रामरूप का रस-दृष्टि से ऐसा वर्णन नहीं था कि उनको शृङ्गार का अधिष्ठाता होने में सहायता मिलती । फल यह हुआ कि राम काव्य आदर्शोन्मुख हो गया और कृष्ण-काव्य अपनी सम्पूर्ण सुन्दरता और आकर्षण के साथ ग्राह्य होने लगा । इसी से श्रीकृष्ण को शृङ्गार रस का अधिष्ठाता मानकर उनके रूप-सौन्दर्य का अनुपम और अतुलनीय चित्र सम्पूर्ण मध्यकालीन कृष्ण काव्य में अंकित किया गया । इसी रूप-सौन्दर्य का वर्णन इस अध्याय में किया गया है ।

सौन्दर्य के गुण-परक उपादान—

सौन्दर्य की आध्यात्मिक चेतना क्रमशः भौतिक चिन्तन में परिवर्तित हो गई । ब्रह्म के सौन्दर्य-निरूपन में 'ज्योति' को सारे विश्व के सौन्दर्य का मूल स्रोत माना गया था, परन्तु परवर्ती साहित्य में सौन्दर्य के ऐन्द्रिय रूप की प्रधानता होती चली गई और इस वर्णन का आलम्बन मानव अथवा मानव के रूप में ईश्वर होने लगा । ऐसे आलम्बन का चित्र भौतिक दृष्टि से होने के कारण मानवीय सम्बन्धों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है । इन सम्बन्धों में अपत्य-स्नेह और कान्ता-प्रेम की महत्ता ही सर्वोपरि रही है । दोनों में रति-भावना है, जिसे वात्सल्य रति और दाम्पत्य-रति की संज्ञा प्रदान की गई है । शृङ्गार का प्रधान आलम्बन स्त्री-रूप का सौन्दर्य है । यों तो पुरुष-सौन्दर्य को

भी वर्णन का आधार बनाया गया है, परन्तु स्त्री-सौन्दर्य की प्रधानता है। दोनों का सौन्दर्य मिलकर मानवीय सौन्दर्य की पूर्णता का आभास कराते हैं। इस सौन्दर्य के वर्णन में कवियों की दो दृष्टियां काम करती रही हैं (१) मानवीय सौन्दर्य में पुरुष की अपेक्षा स्त्री के रूप-सौन्दर्य के चित्रण में अधिक रुचि का प्रदर्शन (२) इस सौन्दर्य के स्पष्टीकरण के लिए प्रकृतिगत सौन्दर्य का ग्रहण। प्रकृति का सौन्दर्य मानव के लिए आदर्श का कार्य करता रहा है। मानवीय रूप-सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए रूप में स्थित कतिपय गुणों की अवस्थिति मानी जा सकती है। ये गुण दो प्रकार के हो सकते हैं (१) भौतिक स्थूल गुण (२) सूक्ष्म एवं प्रभावोत्पादक गुण।

(१) **भौतिक स्थूल गुण**—स्थूल गुण आकारादि की स्थूलता को व्यक्त करता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' शब्द के अन्तर्गत इसे समेट लिया है। शरीर के प्रत्येक अंग का औचित्य शरीर को सुन्दर बना देता है। पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से यही औचित्य वस्तु की सापेक्षता, संगति, सन्तुलन, समता और सानुपातता में है। इस आधार पर वस्तु का सौन्दर्य अंग-प्रत्यंग के सुश्लिष्ट यथोचित सन्निवेश पर निर्भर करता है। नख-शिख का सौन्दर्य इसी धारणा की पुष्टि करता है। इसमें अंगों के गठन, आकार, मृदुता, कोमलता आदि गुणों का निरूपण होता है। शरीर की समग्रता का निर्माण अंगों से ही होता है। अतः अंगों का सुन्दर होना आवश्यक है, क्योंकि कुरूप अंगों की समग्रता से सौन्दर्य व्युत्पन्न नहीं हो सकता। नख-शिख में अंगों के ग्रहण का दूसरा कारण यह है कि नाम-रूपात्मक जगत का भौतिक प्राणी स्थूल आकार को ग्रहण करके ही सौन्दर्य का स्वरूप निरूपित कर सकता है। इस स्थूलता के प्रति कवियों का मोह था। इसी कारण अप्रस्तुत-योजना में भी उसकी कल्पना नितान्त वायवीय न होकर स्थूल जगत का आधार लेती थी।

इस स्थूल जगत के चित्रण में नारी-सौन्दर्य के प्रति विशेष आग्रह दीख पड़ता है। इस आग्रह में पुरुष कवियों की आकर्षण-मूलक प्रवृत्ति कार्य करती है। वह नारी के मांसल सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होकर उसके अंग-प्रत्यंग के वर्णन में रुचि व्यक्त करता है। इसी कारण भारतीय नख-शिख वर्णन-परम्परा के प्रति कवियों का आग्रह रहा है। इस वर्णन में अंगों के सुश्लिष्ट सन्धिबन्धयुक्त सन्निवेश की महत्ता है।

(२) **अप्रस्तुतों की स्थूलता**—भारतीय कवियों ने सौन्दर्य की कल्पना में मानवीय धरातल का आधार लेकर उसे अलौकिकता प्रदान की है। उसका अप्रस्तुत-विधान मानव-कृत न होकर ईश्वर या प्रकृति-कृत है। सौन्दर्य सम्बन्धी उसकी उच्च दृष्टि प्राकृतिक उपकरणों के संयोग में अतिमानवीय तत्वों की

खोज कर लेती है। वह चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, कल्प-वृक्ष, अमृत, सुधा, जुन्हाई, देवता, कमलनाल आदि के माध्यम से स्वर्गीय तत्वों को ढूँढ लेता है। सौन्दर्य की समग्रता के लिए उमा, रमा, उर्वशी, लक्ष्मी आदि को अप्रस्तुत बनाता है। इनके माध्यम से भौतिक सौन्दर्य को व्यञ्जित करता है। प्रकृति को अपना आधार बनाता है और उसकी पूर्णता से अपनी पूर्णता को प्राप्त करना चाहता है। इन वस्तुओं के समुच्चय में स्त्री-सौन्दर्य विषयक उसकी धारणा स्पष्ट हो जाती है।

(१) **सूक्ष्म-तत्व**—सौन्दर्य निरूपण के सूक्ष्म तत्वों का आकार नहीं होता परन्तु उसमें निहित शक्ति की प्रभावोत्पादकता अपरिहार्य है। नारी का मांसल सौन्दर्य कामोद्दीपक गुणों से संयुक्त है। जो नारी जिस मात्रा में इन्द्रियों को क्षुभित करती है, उसका सौन्दर्य उतना ही अधिक है। अभिनव गुप्त ने नारी की वीर्य-विक्षोभन शक्ति को ही उसके रूप की कसौटी स्वीकार किया है। इस प्रकार इनके सौन्दर्य-चिन्तन में काम-रस को प्रधानता दी गई है और इसी आधार पर सौन्दर्य का निर्धारण किया गया है।

(२) सौन्दर्य का दूसरा सूक्ष्म गुण लावण्य' है। लावण्य मोती की आभ्यन्तर छाया की तरलता की भाँति अंगों में चमकने वाला गुण विशेष है। अपने आप में प्रकाशित होने वाले इस गुण से शोभा की वृद्धि हो जाती है। मध्यकालीन कवियों ने सौन्दर्य-निरूपण में श्रीकृष्ण को 'लावण्य–निधि' माना है।

(३) 'माधुर्य' की गणना सौन्दर्य के अन्य गुणों में है। सभी अवस्थाओं में रमणीयता को धारण करना 'माधुर्य' कहा जाता है। जो वास्तव में सुन्दर हैं, वे प्रत्येक अवस्था में रमणीय लगते हैं। विपरीत परिस्थिति में भी यह सौन्दर्य घटता नहीं। संस्कृत कवियों में कालिदास की सूक्ष्म सौन्दर्य चेतना इस गुण की ओर बार-बार आकृष्ट होती रही है। उन्होंने बताया है कि जटा धारण कर लेने पर भी पार्वती का सौन्दर्य वैसा ही बना रहा, जैसा वेणी धारण करने पर बना रहता है। "यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवम-भूत्तदानम्।" यह सौन्दर्य किसी अवस्था में विकार-ग्रस्त न होने से अलौकिक कहा जायगा।

(४) बाह्य प्रसाधनों के अभाव में सौन्दर्य का भासित होना उसके 'स्वनिर्भरत्व' गुण को व्यक्त करता है। जो सौन्दर्य प्रसाधक उपकरणों की अपेक्षा नहीं करता, वह अपने आप में पूर्ण माना जाता है। ऐसा पूर्ण सौन्दर्य आत्म-निर्भर रहता है। सुरूपवान् के लिए इन बाहरी वस्तुओं की कोई आवश्यकता भी नहीं रहती।

(५) रमणीय रूप की प्रधान विशेषता प्रतिक्षण की नवीनता है। रूप की महत्ता इसी में है कि वह प्रतिक्षण, बार-बार दर्शक के हृदय को आकर्षित एवं आवर्जित कर ले। भावक उसे सदा नये रूप में देखे। वह सौन्दर्य पकड़ में न आ सके, उसे रूपाकार या रंगादि में बांधा न जा सके। ऐसा रूप सदा स्पृहणीह माना जायगा। श्रीकृष्ण का रूप इसी प्रकार का था। प्रतिक्षण की इस नवीनता और परिवर्तन-शीलता के कारण उस रूप से 'रति' नहीं की जा सकती। गोपी कहती है कि "स्याम सों काहे की पहिचानि। निमिष-निमिष वह रूप न वह छवि, रति कीजै जेहि आनि।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्य की स्थूल एवं सूक्ष्म विशेषताओं की ओर कवियों का ध्यान गया है। आकार, विन्यासादि स्थूलता के बोधक हैं और नवीनता, आत्म-निर्भरता, लावण्य, रमणीयता आदि से सौन्दर्य के सूक्ष्म गुणों का ज्ञान होता है। इन गुणों से संयुक्त होकर सौन्दर्य पूर्ण हो जाता है। अतः सौन्दर्य विवेचन में ये गुण उसके प्रधान तत्व होंगे। इन सभी गुणों का प्रादुर्भाव युवा काल में होता है। इससे युवा काल के गुणों में इनका आधार लिया जायगा। इसे वय-सौन्दर्य के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा रहा है।

वय-सौन्दर्य—सौन्दर्य के दो विभाग 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' किये जा चुके हैं। इनमें स्थूल सौन्दर्य भौतिक उपादानों या आधारों को लेकर चलने वाला होता है। सूक्ष्म सौन्दर्य में शोभा, कान्ति जैसे तत्वों का ग्रहण होता है। इन तत्वों के ग्रहण से मानव-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की जाती है। मानव का यह सौन्दर्य वय-क्रम की दृष्टि से उसकी अवस्था पर निर्भर रहता है। बाल्यावस्था का सौन्दर्य, बालक की चपलता, क्रीड़ा आदि में व्यक्त होता है, किशोरावस्था में अंगों के विकास, गठन, शोभा आदि से इस सौन्दर्य की प्रतीति होती है और प्रौढ़ावस्था में यही सौन्दर्य गंभीरता और गुरुता आदि के द्वारा प्रकट होता है। भक्तिकालीन रचना में बाल और किशोर अवस्था से सौन्दर्य का ही वर्णन है।

भक्त कवियों ने अवस्था की दृष्टि से आलम्बन के रूप-सौन्दर्य, क्रिया चेष्टाओं आदि के क्रमिक परिवर्तन का वर्णन किया है। मानव की इन अवस्थाओं में पुरुष एवं नारी दोनों के सौन्दर्य का वर्णन हो सका है। पुरुष रूप में श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का अंकन जन्मकाल से आरम्भ कर दिया गया था। राधा-वल्लभी सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने राधा बाल-वर्णन को भी काव्य में उचित स्थान दिया है। राधा और कृष्ण दोनों की चेष्टाओं और शृङ्गारिक प्रवृत्तियों में इनकी दृष्टि रमी है। ऐसे ही प्रसंगों पर उनकी अवस्थाओं का

संकेत मिल जाता है। गोपी द्वारा श्रीकृष्ण की 'अचगरी' का उलाहन देने पर यशोदा कहती है कि मेरा कुंवर तो अभी पांच ही वरस का है और अभी भी रोकर दूध मांगता है। अतः वह इन बातों को कैसे जानता होगा।[1] एक अन्य स्थल पर ऐसे ही प्रसंग में श्रीकृष्ण को दस वर्ष का बताया गया है।[2] गारुड़ि-प्रसंग पर उनकी आठ वरस की अवस्था का कथन है, "आठ बरस को कुंवर कन्हैया, कहा कहति तुम ताही।[3] इस अवस्था में ही उनकी बुद्धि विकसित हो चुकी थी। यशोदा भी इस विकास पर आश्चर्य प्रकट करती है।[4] ऐसे ही स्थल पर राधा को सात बरस का बताया गया है।[5] इस सभी उद्धरणों से प्रकट हो जाता है कि श्रीकृष्ण की शृङ्गार लीलाओं का आरम्भ उनकी पोगण्डावस्था से हो जाता है। यह पांच वर्ष से लेकर दस वर्ष की अवस्था है। यहाँ कवि की दृष्टि में श्रीकृष्ण के दोहरे व्यक्तित्व की कल्पना की गई है। वे यशोदा के समक्ष बाल भाव से और गोपियों के समक्ष तरुण-भाव से आते हैं। गोपियां उनकी इस लीला को जानती हैं और उन्हें तंत्र-मंत्र का ज्ञाता समझती हैं।[6]

श्रीकृष्ण के किशोर वय में उनकी शोभा अधिक वर्णित है। इस वय में युवतियों को मोह लेने वाले गुणों का विकास होता है। इसके लिए उनका द्वादश वर्ष की अवस्था का वर्णन अनेक पदों में मिल जाता है।

गये स्याम तेहि ग्वालिन के घर।..................................

तब भए स्याम बरस द्वादस के रिझै लई जुवति ता छवि पर।

सूरसागर पद ६१६

---

1 कहां मेरे कुंवर पांच ही बरस के रोई अजहूं सु पै पान मांगे।
तूं कहां ढीठ जोवन प्रमत्त सुन्दरी, फिरति इठलाति गोपाल आगे।
सूरसागर। पद ६२५

2 मेरो हरि कहं दसहि बरस को, तुम री जोबन मद उमदानी।
लाज नहीं आवति इन लंगरनि, कैसे धौं कहि आवति बानी।
सूरसागर। पद २१०८

3 सूरसागर। पद १३७१

4 आठ बरस को कुंवर-कन्हैया इतनी बुद्धि कहां ते पायो।
माता लै दोहनी कर दीन्हीं, तव हरि हँसत दुहन को धायो। सू. १२८५

5 भई बरस सात की, सुभ घरी जात की, प्यारी दौउ भ्रात की, बची भारी।
सूरसागर १३१७

6 हरि जानत हैं तंत्र-मंत्र सीख्यो कछु टोना।
बन में तरुन कन्हाई, घरहिं आवत ह्वै छौना।

युगल-शोभा या युगल-केलि में राधा और कृष्ण दोनों की अवस्था बारह वर्ष की बताई गई है।[1] इसी अवस्था में समागन और अनुराग का पूर्ण और सफल कथन हो सका है। राधा की इस अवस्था का सूर ने स्वतन्त्र रूप से वर्णन किया है।[2] इस कथन में द्वादस बरस को 'भारि' विशेषण से व्यक्त किया गया है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि यही अवस्था विशेष गुरुत्व और महत्ता की होती है। इसे शास्त्रीय दृष्टि से वय: सन्धि की अवस्था मानते हैं।

शृङ्गार की विकसित होती हुई भावनाओं का यह प्रथम काल है। इसी से कवियों ने पूर्ण तन्मयता के साथ इस काल के रूप-सौन्दर्य एवं लावण्यादि का सफल चित्रण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन कवियों की दृष्टि में वय: सन्धि के सुख की बहुत महत्ता है। गोपियाँ इसी भाव को व्यक्त करती हैं।[3] नारी के वय-सौन्दर्य की दृष्टि से इसे युवाकाल में मानते हैं, जिसके चार विभाग वय: सन्धि, नव्य-यौवन, व्यक्त यौवन और पूर्ण-यौवन किये गये हैं। भक्त-कवियों की दृष्टि में केवल वय: सन्धि और नव्य-यौवन काल की शोभा ही अधिक रमणीय प्रतीत होती है। राधा के रूप-सौन्दर्य के अंकन में इसी काल पर दृष्टि केन्द्रित रही है। अन्य गोपियों की अवस्था विभिन्न कालों की थी।

राधा की अवस्था के इस काल का यह संकेत उसके लिये प्रयुक्त विशेषणों द्वारा कराया गया है। वयस की उठान, थोड़े दिनन की राधा, भोली, छोटे दिनन की राधा का चित्र प्रस्तुत किया गया।[4] इन विशेषणों से उसके वय: सन्धि काल की ही व्यञ्जना होती है। यहाँ वयो मुग्धा और नवल-

---

1 (i) द्वादश कान्ह द्वादसी आपुन, वह निसि वह हरि राधा जोग।
वह रसकी झलकनि, वह महिमा, वह मुसुकनि, वैसो संयोग। सू. २६४८
(ii) जैसो स्याम नारि यह तैसी, सुन्दर जोरी सोहै।
वह द्वादस वहऊ दश द्वै की, ब्रज जुवतिनि मन मोहै। पद २४२१

2 अंग-अंग अवलोकि सोभा मनहि देखि विचारि।
सूर मुख पट देति काहे न, बरस द्वादश भारि। २३३१ सूरसागर

3 वैस-सन्धि सुख तज्यो सूर हरि, गये मधुपुरी माँहि। सूरसागर ४४६६

4 तुम्हें कोऊ टेरत है जू कान्ह।
भोरी सी गोरी थोड़े दिनन्ह की, वारी वैस उठान। सूरसागर।
(ii) उठत वैस को इहै दाँव री। पद ३२१५
(iii) जुवति इक जमुना जल को आई।
सहज सिंगार उठत जोबन तन विधि निज हाथ बनाई। पद २०६५

अनंगा नायिका का सौन्दर्य वर्णित है। नई और थोड़े दिनों की राधा में चतुराई आगई है।[1] उसकी चेष्टाओं में आकर्षण उत्पन्न हो गया है। एक गोपी कहती है कि तुम राधा को थोड़े दिनों की मत समझो। उसके अंग-अंग में चतुराई भरी हुई है, उसे पूर्ण ज्ञान है और वह बुद्धि की मोटी नहीं है। इसी से वह सखियों से भी 'चतुराई' करने लग जाती है। राधा की यह चतुराई उसके वयः सन्धिकाल से ही आरम्भ हो जाती है। यही काल विकसित होकर नव्य-यौवन में परिवर्तित हो जाता है।

भक्त कवियों ने राधा-कृष्ण-केलि के अनेक प्रसंगों पर नवल' और 'नवेली' शब्द का प्रयोग किया है। इसीके साथ किशोर और किशोरी शब्द के प्रयोग से युवाकाल की आरम्भिक अवस्था का ज्ञान होता है। 'किशोरी राधा' के नये अंग की नई सुषमा है।[2] अंग में सोलह शृङ्गार से शोभा बहुत बढ़ जाती है। ऐसी राधा रसिक गोपाल को अच्छी लगती है।[3] वर 'कोक गुन' में प्रवीन एवं सब-रस में सुन्दर है।[4] किशोर अवस्था तारुण्य की अवस्था है। इसे अनेक कवियों ने 'नवल' शब्द के द्वारा व्यक्त किया है। नवल किशोर और नवल किशोरी का प्रयोग युगल स्वरूप के लिये किया गया है :—

१. तोहि किन रुठव सिखई प्यारी।
नवल बैस नव नागरि स्यामा, वै नागर गिरधारी। सूरसागर

२. नयो नेह नयो गेह नयो रस, नवल कुँवरि वृषभानु किशोरी।
सूरदास प्रभु नवरस विलसत, नवल राधिका जोबन भोरी। सू०

---

[1] (i) सूर स्याम प्रभु प्यारी राधा, चतुर दिननि की छोटी। पद २५७८
(ii) सुनरी राधा अबहि नई।
बानैं कहा बनावती मों सो हमहूँ तै तूँ चतुर भई। पद २३६०
(iii) तुम जानति राधा है छोटी।
चतुराई अंग-अंग भरी है, पूरन ज्ञान न बुधि की मोटी। पद २५१६

[2] सुन्दरता की रासि किसोरी, नव सत साज सिंगार सुभग तन।
कुम्भनदास-अष्टछाप-परिचय पृ० ११३ पद ४१

[3] राधा रसिक गोपालहि भावै।
सब गुन निपुन, नवल अंग सुन्दर, प्रेम मुदित कोकिल स्वर गावैं।

[4] सब रस सुन्दरी नवल किसोरी, कोक कला गुन पाढ़ी।
परमानन्द दास—अष्ट० परि० पृ० १९७ पद ७०

विश्लेपण करने से ज्ञान होता है कि इस 'नवल' शब्द का प्रयोग या तो केवल राधा के लिये अथवा राधाकृष्ण दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस नवीन जोड़ी के सभी साधक अंगों में भी यही नवीनता दीख पड़ती है। इससे हृदय के उल्लास का बोध होता है। युगल स्वरूप के लिये प्रयुक्त इस शब्द में वय की नवीनता का अर्थ व्यक्त होता है—

१. (i) आजु निकुंज मंजु में खेलत नवल किसोर नवीन किसोरी।
हित चौरासी पद ७

(ii) नवल नागरि नवनागर किशोर मिली,
कुंज कोमल कमल दलनि सिज्जा रची। पद ५०, वही

२. नवल घनश्याम नवल वर राधिका,
नवल नव कुंज नव केलि ठानी।
नवल कुसुमावली नवल सिज्या रची,
नवल कोकिल कीरभृंग गानी।[1]

उपर्युक्त उदाहरणों में युगल स्वरूप की नवीनता के प्रति आग्रह है। इस शब्द के द्वारा यह ध्वनित होता है कि राधा और कृष्ण दोनों की अवस्था अभी कम है।

श्रीकृष्ण और राधा की अवस्था की नवीनता का कथन व्यष्टि रूप में भी हुआ है। राधा के नवल वयस को शृङ्गारस का प्रमुख आधार माना है। यही सम्पूर्ण रस साधना की मुख्य अवस्था है और "चढ़त वंस का यही दाँव हैं।" राधा की इस अवस्था का वर्णन अनेक कवियों ने अनेक स्थलों पर किया है।[2] शृंगार रस की उत्तम अभिव्यक्ति के लिये नायक-नायिका दोनों का समान वय होना आवश्यक है। अवस्था की अत्यधिक भिन्नता रस में बाधक हो जाती है। इसलिये कवियों ने श्रीकृष्ण की नवीनता या नवल वयस का प्रतिपादन दो रूपों में किया है (१) बाल्यभाव में भी गोपियों के समक्ष तारुण्य आचरण का प्रदर्शन। इसमें श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व के दो पहलू स्पष्ट होते हैं। (२) उनके नवीन 'वयस' का शब्दतः कथन।

---

1 राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य पृ० २५८

2 नयौ नेह नयौ गेह नयौ रस, नवल कुंवरि वृषभानु किसोरी।............
सूरदास प्रभु नवरस बिलसत, नवल राधिका जोवन भोरी। सूरसाग
(ii) नवल नवेली अलवेली सुकुमारी जू की,
रूप पिय प्राननि को सहज अहारु री। ध्रुवदास

श्री कृष्ण की यह नई अवस्था सबके आकर्षण की केन्द्र थी। गोपियों की भावनाओं को उद्दीप्त करने का प्रधान कारण थी। इसीसे इस अवस्था के वर्णन में कवियों का विशेष आग्रह दीख पड़ता है—

१. देखो मेरे भाग्य की सुभ घड़ी।
नवल रूप किसोर मूरति, कंठ लै भुजधरी।[1]

२. नवल रंगीले लाल रस में रसीले अति,
छवि सों छबीले दोऊ उर धुर लागे हैं।[2]

३. विहरत नवल रसिक राधा संग।
रचित कुसुम सयनीय भामिनी, कमल विमल हरि भृंग।[3]

उपर्युक्त विचारों से अवस्था की नवीनता के प्रति तीन प्रकार की दृष्टियाँ व्यक्त होती हैं—

(१) युवावस्था के विभिन्न विकसित होते हुए आंगिक परिवर्तनों का सूक्ष्म और विभेदक वर्णन शास्त्रीय दृष्टि से भक्त कवियों ने नहीं किया है। अतः नारी अवस्था के चारों भेद–वयः सन्धि, नव्य, व्यक्त और पूर्ण यौवन का अलग-अलग ज्ञान नहीं हो पाता है। इन अवस्थाओं का एक क्षीण आभास मात्र हो जाता है। पुरुष वर्णन में वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों की दृष्टि राधा वर्णन की अपेक्षा अधिक रमी है। इसीसे इन कवियों के वर्णन में श्रीकृष्ण के बाल, पौगण्ड और किशोर तीनों ही अवस्थाओं का सम्पूर्ण सार संगृहीत हो जाता है। विभिन्न अवस्थाओं में सौन्दर्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने की सफल चेष्टा की गई है। यही कारण है कि श्रीकृष्ण का रूप-सौन्दर्य अष्टछाप के कवियों में आकर्षक बन गया है। इस वर्णन की तुलना में राधा का सौन्दर्य उनकी विभिन्न अवस्थाओं के सम्पूर्ण विश्लेषण के साथ सम्भव नहीं हो सका है। राधा के लावण्यादि के वर्णन में उसकी कृष्णपरक उपयोगिता का ध्यान बराबर बना रहा। इसके विपरीत राधावल्लभी सम्प्रदाय में राधा के रूप-सौन्दर्य की प्रधानता है और कृष्ण का रूप आनुषंगिक रूप में अथवा राधा के साहचर्य के कारण वर्णित है। सौन्दर्यसम्पन्ना राधा के अभिन्न कृष्ण की शोभा भी अवर्णनीय ही होनी चाहिये। अतः युगल स्वरूप के सौन्दर्य वर्णन में कवियों ने दोनों की विशेषताओं का उल्लेख समान स्तर पर किया है।

---

[1] सूर सागर

[2] रस मुक्तावली-पृ० १४६ ध्रुवदास

[3] हरिराम व्यास–'व्यास-वाणी' उत्तरार्द्ध पद सं० २७४ पृ० ३८०

(२) अवस्थापरक सौन्दर्य की व्यञ्जना न होकर उसका अभिधा से कथन है। ऐसे स्थलों पर शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण न करते हुए हृदय की तन्मयता के आधार पर अवस्था आदि का संकेत है। यह संकेत साक्षात् कथन द्वारा हुआ है। कवि या तो स्पष्ट रूप से अवस्था को बता देता है या 'नवल' शब्द के विशेषण से इसे प्रकट करता है। राधा और कृष्ण व्यष्टि रूप से 'नवल' हैं और समष्टि रूप में भी उन दोनों की अवस्था, उनका केलि, शृंगार, सखियाँ, निकुंज आदि में यही नवलता वर्तमान है। इस शब्द द्वारा उनके तारुण्य आगमन का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। इस तारुण्य में अंगों के सूक्ष्म गुणों रूप लावण्यादि का वर्णन होता है।

(३) विशेषणों के प्रयोग से राधा और कृष्ण की अवस्था का संकेत किया गया है। भक्त कवियों ने प्रायः तीन प्रकार की विभिन्न अवस्थाओं का संकेत विशेषणों द्वारा किया है। दिनन की थोड़ी, वैस की उठान, वारी वैस, उठत जोवन आदि शब्दों से वयः सन्धिकाल का संकेत मिलता है। नायिका भेद की दृष्टि से वयोमुग्धा और नवल अनंगा नायिका के रूपादि का चित्रण मिलता है। 'नवल' शब्द से किशोरावस्था और किशोर व किशोरी शब्द द्वारा युवावस्था के आरम्भिक काल का वर्णन किया गया है। अवस्था के इस निर्धारण के उपरान्त नायक अथवा नायिका के रूप-सौन्दर्यादि का वर्णन होता है। इस रूपादि का उत्कर्ष वयः सन्धिकाल से आरम्भ होकर तारुण्य में अपना चरम विकास पा लेता है। गुणों में रूप-लावण्य, रूप की नवीनता, छबि एवं ज्योति आदि द्वारा रूप-सौन्दर्य स्फुरित होता है। अतः इन्हीं गुणों के आधार पर रूपोत्कर्ष को व्यक्त किया जायगा।

रूप-लावण्य – क्षण-क्षण में नवीनता को धारण करने वाला रूप रमणीय कहा जाता है। रमणीयता की छवि परिवर्तित होती रहती है। इस परिवर्तन में सौन्दर्य निहित रहता है। इसी कारण रूप पकड़ में नहीं आ पाता। किसी विशेष क्षण में अनुभव में आया हुआ रूप उस क्षण तो अपना एक निश्चित और स्थिर प्रभाव उत्पन्न करता है, परन्तु दूसरे ही क्षण नवीनता के कारण वह अग्राह्य हो जाता है। इसी से रूप आकर्षक होता है और हमारी पूर्ण तृप्ति का साधन नहीं बन पाता। इस रूप में अंगों में वर्तमान तरलता ही लावण्य का मूल है।[1] छबि, अंग दीप्ति, शोभा, ज्योति आदि इसके आवश्यक अंग हैं। बोलचाल की भाषा में रूप, सौन्दर्य का समानार्थक माना गया है,

---

[1] मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्यं तदिहोच्यते। उद्दीपन प्रकरण २६

परन्तु तात्विक दृष्टि से रूप में आकार की महत्ता होती है, सौन्दर्य उस आकार के समुचित विन्यास से उत्पन्न होने वाला उसी में स्थित कान्ति को व्यक्त करता है। रूप में आकार की शोभा प्रतिभासित होती है, सौन्दर्य अंगों के विन्यास से उत्पन्न होता है और लावण्य अंगों का एक ऐसा बहुमूल्य तत्व है, जो उसी प्रकार उसके महत्व को बढ़ा देता है, जैसे मोती में वर्तमान आब मोती के मूल्य की वृद्धि कर देता है। रूप के प्रसंग में प्रतिभासित शब्द महत्वपूर्ण है। इसका यह तात्पर्य होगा कि वस्तु में आभूषण की स्थिति न होते हुए भी उसके धारण करने से उत्पन्न शोभा का आभास होता है, परन्तु लावण्य में तरलता या आब की स्थिति का आभास मात्र ही नहीं होता, अपितु उसकी स्थिति भी होती है। रूप और लावण्य के तत्व एवं गुणों में अनस्तित्व या अस्तित्व का भेद होता है। रूप में आकार है, भूषण नहीं है, परन्तु अंग शोभा भूषण धारण वत् प्रतीत होता है, लावण्य में तरलत्व और आब दोनों की स्थिति है। इस दृष्टि से लावण्य का आन्तरिक मूल्य अधिक है और रूप का आभास जन्य मूल्य ही है। रूप और लावण्य के द्वारा अंगों में हृदय को आवर्जित कर लेने का गुण उत्पन्न हो जाता है, आलम्बन में एक अनोखापन आ जाता है, उसमें आकर्षण की एक ऐसी दिव्यता उत्पन्न हो जाती है कि आश्रय उसे देखकर मंत्र मुग्ध हो जाता है, उसे आन्तरिक तृप्ति का अनुभव होता है। इसी से भक्ति काल के साधक भक्त कवियों ने अपने आलम्बन के रूप और लावण्य के चित्रण में पूर्ण तन्मयता प्रदर्शित की है। यह निम्नलिखित रूपों में व्यक्त हुआ है—

नवीनता—भक्त कवियों के अपने आलम्बन के रूप-लावण्य में रमणीयता को प्रथम तत्व स्वीकार किया है। उनके आलम्बन की शोभा प्रतिक्षण बढ़ती ही रहती है। उसमें स्थिरता नहीं है।[1] बालकृष्ण के वर्णन में लावण्य के

---

[1] (i) सखी री सुन्दरता को अंग।
छिन-छिन माँहि परत छबि औरे,कमल नयन के अंग।"
अष्टछाप-परिचय सूर १२८५

(ii) गोवर्धन धारी नित नवरंग। कृष्णदास विद्या-विभाग कांकरोली—
सं. २०१९ सं. व्रजभूषण शर्मा।

(iii) कृष्णदास बलि-बलि अंग-अंग पर,
प्रति छिनु नवरंग नन्दकुँवर की। कृष्णदास पद १५

(iv) कृष्ण दास प्रभु नवरंग गिरधर, बोलत बचन रसाल। पद ३०

(v) गिरधर नवरंग रंग मगे, रग मगी पाग केसर रंगे।

साथ कल्पना की नवीनता भी दर्शनीय है। हँसते हुए कृष्ण का रूप कमल पर जमी हुई विद्युत् की रेखा के समान हैं, या विधु में उजारी बिजली तुल्य है। दाँतों की उज्ज्वलता को सुन्दरता के मन्दिर में जगमग करती हुई रतन-ज्योति की उपमा प्राप्त हुई है। ग्रालम्बन के रूप की नवीनता के साथ कल्पना की यह नवीनता उस रूप की कलात्मक ग्रभिव्यञ्जना में समर्थ हो सकी है। प्रतिक्षण वृद्धिगत होता हुग्रा यह रूप पकड़ में नहीं ग्रा पाता। गोपियाँ जब तक श्रीकृष्ण के रूप को ग्रात्मसात् करने में तन्मय होती हैं, तब तक वह रूप कुछ ग्रौर ही हो जाता है ग्रौर उनके पहचान में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। सूर ने कहा है कि गोपियाँ श्रीकृष्ण से पहचान नहीं मानती हैं, क्योंकि निमिष-निमिष में वह रूप, वह छबि परिवर्तित हो जाती है।[1] रमणीय रूप की ऐसी कल्पना दुष्प्राप्य है। एक ग्रोर रूप का ग्रसीम होना ग्रौर दूसरी ग्रोर लोभ का ग्रतृप्त रह जाना—इन दोनों के द्वारा सौन्दर्य की ग्रतिशयता ग्रौर परिवर्तनशील की सफल व्यञ्जना हो सकी है। इस सौन्दर्य के समक्ष कवि की उन्मुक्त कल्पना भी पंगु पड़ जाती है। नित्य-नूतन ग्रौर लावण्य की निधि श्रीकृष्ण की शोभा बरबस ग्राकृष्ट कर लेती है। उसे देखकर ग्रनुराग उत्पन्न होता है 'मोहन बदन विलोकत ग्रँखियन उपजत है ग्रनुराग।" उसकी शोभा ग्रौर ग्रपना सामर्थ्य देख उसके रूप-लावण्य के वर्णन में कवि को लज्जा का ग्रनुभव होने लगता है। 'सुभग साँवरे गात की मैं सोभा कहत लजाऊँ।"

नवीनता का यह ग्राग्रह सभी भक्त कवियों में दीख पड़ता है। कुम्भन दास ने श्रीकृष्ण को ग्रपरिमित सौन्दर्य की निधि माना है। उनके वर्णन में श्रीकृष्ण का लावण्य ग्रनुपल नवीन, विलक्षण ग्रौर विकासमान है। कवि प्रत्येक ग्रंग की नूतन कान्ति ग्रौर उसकी परिमिति की इयत्ता व्यक्त करने में ग्रपने

(vi) नवकुंज बैठे ग्राली री ग्राजु।
नव बसन को बागे पहने, नव कुसुमनि को साजु।
नव मोहन ग्ररु नवल राधिका, नव गोपी गावत गाजु।
कृष्ण दास प्रभु की सोभा पर वारौं ग्रति रति राजु। पद १०२

[1] स्याम सों काहे की पहिचानि।
निमिष-निमिष वह रूप न वह छबि रति कीजै जेहि ग्रानि।
इत लोभी उत रूप परम-निधि, कोउ न रहत मिति-मानि।
सूरसागर (सभा) पद २४७०

को असमर्थ पाता है।[1] चत्रभुज दास का अतृप्त मन रूप सुधा-पान की ओर उन्मुख होकर शरण में रहने की अभिलाषा भी व्यक्त करता है।[2] श्रीकृष्ण का रूप आज और कल और, प्रतिदिन और प्रतिपल भी और ही और हो जाता है। छवि की तरंगें उठती रहती हैं, जिससे सम्पूर्ण विश्व मोहित हो जाता है। ऐसे भुवन-मोहन आराध्य की शोभा पर भला कौन ऐसा है, जो अपना सब कुछ वार न दे। लावण्य के निधि ऐसे श्रीकृष्ण को देख छीत स्वामी की गोपिका अपनी सुधि भूल जाती है। मन्द मुसकान का जादू चल जाता है।[3] परमानन्द दास की दृष्टि राधा की प्रत्येक वस्तु की नवीनता की ओर गई है।[4] इस प्रकार नवीनता के प्रति रुचि अधिकांश भक्त कवियों में है। छवि और ज्योति से पुष्ट होकर यह नवीनता सौन्दर्य की ओर बढ़ा देती है।

छवि और ज्योति—क्षण-क्षण की इस रमणीयता के साथ लावण्य का दूसरा प्रमुख तत्व छवि का अंगों से प्रस्फुटित होना है। जैसे किसी प्रकाश पुञ्ज से प्रकाश की किरणें फूटती रहती हैं, उसी प्रकार रूप-लावण्य से युक्त अंगों से छबि की ज्योति खिलती रहती है। इसमें पुष्पों की ताजगी और किरणों की उज्ज्वलता इन दोनों का युगपत् बोध होता रहता है। अंगों में वर्तमान छवि लावण्य निधि हो जाती है। जैसे ध्वनि में प्रयुक्त शब्दों से एक प्रतीयमान अर्थ

---

1 छिनु-छिनु बानिक औरहि और।
जब देखों तब नौतन सखी री, दृष्ट जू रहति न ठौर।
कहा करों परिमिति नहिं पावन, बहुत करी चित दौर।
कुम्भन दास प्रभु सौभग सीवां, गिरधर धर सिर मौर।

2 आज और काल्हि और, दिन प्रति और-और,
देखिये रसिक गिरिराज धरन।
छिन प्रति छिन नव छवि, बरनै सो कौन कवि,
नितही सिंगार बागे बरन-बरन।
सोभा-सिन्धु अंग-अंग मोहित अनंग, छवि की तरंग विस्व को मन हरन।
चत्रभुज प्रभू गिरधर को सरूप सुधा, पीजै जीजै रहिये सदा ही सरन।
अष्टछाप परिचय पृ. २८४

3 अरी हौं स्याम रूप लुभानी।··· ····
मो तन मुरि के जब मुसकाने, तब हौं छाकि रही।
छीत स्वामी गिरधर की चितवनि, जाति न कछू कही।

4 नवरंग कंचुकी तन गाढ़ी।
नवरंग सुरंग चूनरी ओढ़े, चन्द्रवधू सी ठाढ़ी। अष्टछाप-परि० पृ. १९७

उस कथन की शोभा में वृद्धि करता रहता है, उसी प्रकार छवि द्वारा आलम्बन के लावण्य में एक गुरुत्व एवं आकर्षण की हृदय-ग्राही गम्भीरता आ जाती है। भक्तिकालीन कवियों ने इसका संकेत कटाक्ष का तरंग, अंग-रंग-छवि, जगमग ज्योति, उच्छलित छवि, दीप सा जलना जैसे वाक्यांशों से किया है। कुछ उदाहरण दर्शनीय है।

१. रूप-जल में तरंग उठे कटाछनि के,
अंग-अंग भौरनि की अति गहराई है।
नैननि की प्रतिविम्ब पर्यो है कपोलनि में,
तेई भये मीन तहां ऐसी उर आई है।
अरुन कमल मुसुकानि मानों फवि रही,
थिरकनि वेसरि के मोती की सुहाई है।
भयो है मुदित सखी लाल को मराल मन,
जीवन जुगल ध्रुव एक ठांव पाई है। ध्रुव दास

२. रच्यौ स्याम जमुना जल पर रास।
संग राधिका अंग-रंग छबि,नव गुन रूप-निवास।
व्यास वाणी पद २४३

३. कौन मेरे आंगन ह्वै जू गयो।
जगमग ज्योति बदन की माई, सपनों से जु भयो।
अष्ट० परि० : पृ० १९४ परमानन्द दास

४. कहा कहौं मोहन मुख सोभा।
बदन इन्दु लोचन चकोर मेरे, पिवत किरन रस रूप लोभा।
अंग-अंग उछलित रूप छटा, कोटि मदन उपजत तन गोभा।
गोविन्द प्रभु देखे विवश भई प्यारी, चपल कटाक्ष लग्यौ हृदै चोभा।
अष्ट० परि० पृ० २५४

५. कंचन के वरन चरन मृदु प्यारी जू के,
जावक सुरंग-रंग मनहि हरत है।
हित ध्रुव रही फवि सुमिलिजै हरि छवि,
नूपुर रतन खचे दीप से बरत है।
रीझि-रीझि सुन्दर करनि पर पट धरैं,
आरसी सी लिये लाल देखिबौ करत है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि छवि-वर्णन में सर्वाङ्ग

का चित्रण और अंग-प्रत्यंग का अलग-अलग चित्रण मिलता है। जगमग ज्योति के कथन द्वारा अंग से निकलने वाली आभा का संकेत किया गया है। वास्तविक लावण्य वहीं है, जहां आभा शरीर में न समाकर उछल पड़ती हो। इस अंग छवि के साथ आभूषणों की एक अलग ज्योति ही होती है, जिसमें अंग की शोभा मिलकर रूप में निखार ला देती है। ब्रह्म कवि का छवि वर्णन सद्यः स्नाता को आधार बनाकर प्रकट हुआ है। भीने दुकूल में दीप-शिखा सी प्रतिभासित नायिका का सौन्दर्य अनुभव का विषय है।[1]

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण शाखा के भक्तिकालीन कवियों ने रूप-लावण्य के वर्णन में छवि और रूप की नवीनता को लावण्य का अनिवार्य तत्व स्वीकार किया है। रूप के वर्णन में नवीनता के तीन कारण लक्षित होते हैं। प्रथम रूप के आतिशय्य की कल्पना, द्वितीय कवियों का अपना दृष्टिकोण और तृतीय आलम्बन के प्रति असीम तन्मयता का भाव। इन तीनों के ही कारण आलम्बन सर्वाधिक सुन्दर बनकर समक्ष आता है। अंग-प्रत्यंग के साथ संश्लिष्ट रूप का चित्रण अनेक विध रूपों में आलम्बन की क्षण-क्षण की नवीनता का प्रतिपादन करता है। प्रत्यंग से फूटती हुई छवि हर बार एक नई चेतना व भाव उत्पन्न करती है। उसका ताजापन या टटकापन बना रहता है। इन कवियों की यह सौन्दर्य चेतना स्वानुभूति के आत्म तत्व से प्रेरित है। इसी से इनके रूप-चित्रों में इतनी सचाई, सूक्ष्मता और ताजगी वर्तमान है। और उनको आलम्बन के रूप में सुन्दरता की सीमा है। इस सीमा का ध्यान सभी कवियों ने रखा है।

सौन्दर्य-सीमा—रूपाकंन में सूरदास की तमन्यता अद्वितीय है। बाल-कृष्ण के वर्णन में छवि की दिव्यता के साथ अपरिसीम सौन्दर्य भी है। सौन्दर्य के प्रति इसी आकर्षण के कारण श्रीकृष्ण की प्रत्येक लीला सौन्दर्याभिमुखी है। सूरसागर की कथा को रूप आच्छादित कर लेता है। रूप का यह वर्णन दो प्रकार का है। (१) सौन्दर्य की अतिशयता में कवि स्वयं मुग्ध होता है दूसरा गोपियों के माध्यम से रूपासक्त चित्र प्रस्तुत करता है। इसमें पहले प्रकार के चित्रण में रूप-सीमा, सौभग-सीमा, सुन्दरता की हद आदि शब्दावली के प्रयोग से कवि अकथनीयता का संकेत कर देता है। कृष्ण की शोभा का वर्णन नहीं

---

1 ब्रह्म भनै नन्दलाल विलोकति, लागि रही तट लागि मृषा सी।
भीनैं दुकूल में झाई झलमलै, देह दिपे दुति दीप सिषा सी।
अकबरी दरबार के हिन्दी कवि पृ० १७७

कर पाता[1] क्योंकि उनका अंग-अंग अनूप है ।[2] वे सुन्दरता के सागर है "देखो भाई सुन्दरता को सागर ।"[3] वे अनन्त शोभा से युक्त हैं ।[4] यह शोभा नन्द भवन में पूर्ण होकर ब्रज की वीथियों में प्रवाहित होने लगती है। सूर के इस कथन में रूप-सौन्दर्य की अतिशयता और असीमता की अभिव्यञ्जना हुई है। ब्रज की वीथियों में शोभा के बहने से यह अभिप्राय है कि नन्द-सुवन की अनन्त छवि ब्रज में सभी कहीं तरंगित हो रही है। इस अनन्तता के प्रति अन्य भी कई कवियों की रुचि दीख पड़ती है। कुम्भन दास, गोविन्द स्वामी, हित हरिवंशादि की दृष्टि इधर गई है। कुम्भन दास के श्रीकृष्ण अपरमित सौन्दर्य के निधि है। प्रतिक्षण की नवीनता के साथ उनका "सौभग सीवां" रूप उन्हें शोभा में सिर-मौर बना देता है।[5] कृष्णदास के कृष्ण की अभिरामता परम रमणीय है।[6] गोविन्द स्वामी के इस वर्णन का प्रमुख गुण यह है कि रूप-सौन्दर्य की सीमा केवल कथन से अभिधेय मात्र नहीं है, अपितु प्रसाधन सामग्रियों के प्रयोग से अभिवर्द्धित होती रहती है।

अरी यह सुन्दरता को हद ।
कुण्डल-लोल कपोल विराजत, विलगित भ्रुव ज्योति उनमद ।
विद्रुम अधर दशन दार्यो दुति, दुलरी कंठ हार उर बिसद ।
गोविन्द प्रभु बन ते ब्रज आवत, मानहुँ मदन गजराज धरत मद ।।
अष्टछाप-परिचय पृ० २५५

---

1 सोभा कहत कहै नहि आवै ।
अंचवत अति आतुर लोचनपुट, मन न तृप्ति को पावै । सूरसागर १०९६

2 सजनि निरखि हरि को रूप ।
मनसि, वचसि विचारि देखो, अंग-अंग अनूप । सूरसागर २४४०

3 सूरसागर (सभा)

4 'शोभा सिन्धु न अन्त रही री ।
नन्द-भवन भरि पूरी उमंग चली, ब्रजकी वियिनि फिरति बही री ।'सूरसागर

5 (i) छिनु-छिनु बानिक औरहि और ।
जब देखौं तब नौतन सखी री, दृष्टि जू रहति न ठौर ।
कहा करौं परिमित नहीं पावत, बहुत करी चित दौर ।
कुम्भन दास प्रभु सौभग-सींवा, गिरधर धर सिरमौर ।।
(ii) कुम्भन दास दम्पति सौभग सींवां जोड़ी भली बनी एक सारी ।
नव नागरी मनोहर राधे नवल लाल गोवर्धन धारी ।
पृ० १४३ अष्टछाप पदावली

6 कृष्णदास प्रभु गोवर्धन धर, सुभग सींग अभिराम । अष्टछाप परिचय २३५

इस पद में प्रयुक्त शब्द 'अरी' में एक साथ कई प्रवृत्तियों की सम्पृक्त भाव शवलता है। आश्चर्य मिश्रित औत्सुक्य के साथ रूप-सौन्दर्य की प्रशंसात्मक अभिव्यञ्जना हुई है। कवि मानों उस सौन्दर्य की सीमा को व्यक्त करने में अपने को पूर्णतया असमर्थ पाकर भीतर ही भीतर उस अनन्तता का अनुभव करता है, भावताएं अपनी अभिव्यक्ति पाने के लिये प्रवल भाव-प्रवाह के सहज उद्रेक में वह जाती हैं और कवि कह उठता है 'अरी, यह सुन्दरता को हद।' ऐसा लगता है मानो उसकी सम्पूर्ण कलात्मक अभिव्यक्ति की शक्ति इस एक ही पद में आकर स्थिर हो गई है। यही कारण है कि कृष्णदास को श्रीकृष्ण की प्रत्येक वस्तु मोहक प्रतीत होने लगती है।[1] राधा वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने रूप सौन्दर्य की सीमा का कथन राधा को आलम्बन बना कर किया है। हित हरिवंश ने कहा है कि करोड़ों वर्ष तक जीवित रहकर भी राधा के सौन्दर्य का वर्णन नहीं किया जा सकता है। उनके रूप का सहज माधुर्य अतुलनीय है। इसी से उसकी समता किसी अन्य से नहीं की जा सकती है।[2]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल के कवियों ने सौन्दर्य की अनन्तता के वर्णन का आधार राधा और कृष्ण दोनों को ही बनाया है। यद्यपि इन दोनों के आलम्बन बनने के पूर्व कवियों के हृदय में कोई विभाजक रेखा नहीं थी, फिर भी राधा वल्लभी सम्प्रदाय के कवियों में हित-हरिवंश, दामोदर दास, हरिराम व्यास ध्रुवदास आदि कवियों ने राधा को ही प्रमुखता प्रदान की है। इन सभी कवियो के वर्णन की दो प्रणालियां रही है (१) सर्वाङ्ग वर्णन

---

[1] हरि मोहन को मोहन बानिक।
मोहन रूप-मनोहर मूरति, मोहन मोहे अचानक।
मोहन बरुहा चंद सिर भूषण, मोहन नैन सलोल।
मोहन तिलक भाल मन मोहन, मोहन चारु कपोल।
मोहन श्रवण मनोहर कुण्डल, मृदु मोहन के बोल।
कृष्णदास गिरधरन मनोहर, नख-सिख प्रेमकलोल।

अष्टछाप परिचय पृ० २२६

[2] देखो भाई सुन्दरता को सीवां।
ब्रज जन तरुनि कदम्ब नागरी, निरखि करति अघ ग्रीवा।
जो कोऊ कोटि कलप लगि जीवै, रसना कोटिक पावै।
तऊ रुचिर बदनारविन्द की शोभा कहत न आवै।
देवलोक भू लोक रसातल सुनि सब कवि कुल डरिए।
सहज माधुरी अंग-अंग की कहि कासों पट तरिए। हित हरिवंश

में लावण्य निधि का संकेत करते हुए रूप की अनन्तता का वर्णन अभिधा या व्यंग्यात्मक पद्धति पर करना। (२) अंग-प्रत्यंग के वर्णन या रूप की गहन आसक्ति द्वारा सौन्दर्य की असीमता का संकेत करना। यहीं पर उपमानों की व्यर्थता का संकेत भी किन्हीं स्थलों पर कर दिया जाता है। ऐसे रूप के प्रभाव की भी व्यञ्जना हुई है।

रूप का प्रभाव—अनन्त सौन्दर्य के निधि श्रीकृष्ण के रूप का लावण्य असीम है। उसकी असीमता का संकेत 'सोभग-सीवां" के प्रयोग द्वारा किया गया है। इसे देखकर गोपियां अपनी सुधि भूल जाती हैं, उनका मन 'रूप के भंवर' में उलझ जाता है। राधा का सौन्दर्य भी अतुलनीय है। वह तो अपने आप ही छलकता रहता है। राधा उसे छिपा नहीं पाती। छिपाने में उसे कठिनाई प्रतीत होती है "परी है कठिन अति नवल किसोरी जू को, छिन-छिन नई छबि कहां लौ छिपावहीं।[1] उनके इस अप्रतिम रूप-लावण्य में मन पूर्णतः लीन हो जाता है। 'छिन-छिन' में परिवर्तित होती हुई रूप की इस नवीनता में अंग शोभा स्वयं प्रकट हो जाती है। अंग ही रूप सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना स्वयं पुकार-पुकार कर कर देते हैं। आलम्बन के ऐसे मोहक रूप को देखकर सभी का मन आसक्त हो जाता है उसका प्रभाव अनन्त सुख का दाता सिद्ध होता है यह प्रभाव भक्तकालीन कवियों की रचनाओं में दो रूपों में है।

(१) रूप के प्रति आसक्ति का मानसिक भाव।
(२) आश्रय के विभिन्न अनुभावों का चित्रण।

रूपासक्ति के लिये आलम्बन का सौन्दर्य-निधि होना आवश्यक है। आलम्बन का अपरिमित सौन्दर्य ही आश्रय को आकृष्ट कर सकता है। यह आकर्षण एक ओर आलम्बन के रूप के उत्कर्ष को बताता है और दूसरी ओर आश्रय की अनेक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करता है। ये अनुभावगत क्रियाएं आसक्ति के कारण ही प्रकट हो जाती हैं। यह आसक्ति अनेक रूपों में स्पष्ट होती है:—

(क) उत्कृष्ट सौन्दर्य-रस का पान करने की अभिलाषा एवं औत्सुक्य प्रायः आश्रय के मन में उत्पन्न होता है। भक्ति-काल में रूप के प्रति यह औत्सुक्य रूप-पान के ललक के रूप में प्रकट होता है। गोपियां सखियों को भी कृष्ण का रूप देखने की प्रेरणा देती हैं "सखी री, नन्दनन्दन देखु," 'देखुरी नन्दनन्दन ओर,' 'सांवरो मन मोहन माई' आदि पदों में औत्सुक्य का यही

---

1 हित-शृङ्गार-ध्रुवदास।

भाव व्यक्त किया गया है।[1] इन उक्तियों द्वारा रूप की अतिशयता व्यञ्जित की गई है। श्रीकृष्ण के रूप का पान कर गोपियाँ अपने मनोगत भावों को दूसरी सखियों के संग मिलकर आनन्द का उपकरण बना लेती है। नन्दनन्दन की ओर देखने की प्रेरणा देती हुई गोपी की औत्सुक्य भावना स्वयं प्रकट हो जाती है। इससे रूप की उत्कृष्टता और उसके प्रति आसक्ति तथा प्रशंसात्मक भाव अभिव्यक्त होता है।

(ख) रूपासक्ति का दूसरा प्रभाव **आत्म-विस्मृति** के रूप में प्रकट हो जाता है। श्रीकृष्ण के आकर्षक श्याम अंग को निरख कर गोपियों को आत्म सुधि नहीं रह जाती है उनका मन वहीं उलझ जाता है प्रायः सभी भक्त कवियों ने इस प्रकार का वर्णन किया है। छीत स्वामी ने 'अरी हौं स्याम रूप लुभानी'[2] कह कर श्रीकृष्ण की मोहिनी को व्यक्त किया है। श्रीकृष्ण के 'बदन की ओप' का वर्णन नहीं किया जा सकता है। उस शोभा को देखकर गोपी की गति ही कुछ और हो जाती है। ऐसा लगता है मानो काले नाग ने उसे डस लिया हो[3]। वह अपनी मुग्धावस्था के कारण कुसुम-कली का बीनना छोड़कर वहीं उलझ जाती है।[4] उलाहना देने को आई हुई गोपी की आत्म-विस्मृति का भाव चत्रभुजदास ने सशक्त शब्दों में व्यक्त किया है। वह श्रीकृष्ण को सम्मुख देखकर इतनी प्रभावित होती है कि उलाहना देना भूलकर चित्र लिखी सी बन जाती है।[5] नन्ददास ने लोकमर्यादा और रूप-लोभ इन दोनों के मध्य में पड़ी गोपी की संशयावस्था और आत्म-विस्मृति का भाव कलात्मक ढंग से अंकित किया है। पनघट पर गई गोपी की सुधि बिसर जाती है, नेत्रों से अश्रु-जल प्रवाहित होने लगता है। लोक-लजा का सम्पृक्त भाव उसे विवश

---

1 सूर सागर—सूरदास।

2 अष्टछाप—परिचय पृ० २२६

3 मूरति साँवरी सी तन—मन माँहि बसी।
देखति ही मति और भई मानो काले नाग डसी।

4 लाड़िले लाल तेरे देखति द्रगनि लुभानी।
कुसुम कली हौं बीनन आई, सघनलता अरुमानी।
अष्ट—परिचय से

5 भूल्यो उलाहनों को दैबो।
सनमुख दृष्टि परी नन्दनन्दन, चकितहि परति चितैबो।
चित्र लिखी सी ठाढ़ी ग्वालिन, को समुझै समुझैबो। 'चत्रभुजदास'

कर देता है।[1] कुम्भनदास की गोपी अपना पट पटवार भी बिसर जाती है। उसकी एक मात्र यही आकांक्षा रहती है कि वह नेत्र भर कर नन्द कुमार को देख ले।[2] वह विवश हो जाती है।

(ग) विवशता का यह भाव रूप की अतिशयता से उत्पन्न होता है। आश्रय का मन आलम्बन के रूप को देखकर जितना ही आसक्त होगा, उसी मात्रा में वह परवश होकर आलम्बन की ओर खिंच जायगा। गोपी इसी परवशता के कारण अपने नेत्रों पर नियन्त्रण नहीं रख पाती। ये नेत्र सदा लगे ही रहते हैं।[3] गोवर्धनधर के जिस अंग पर पड़ जाते हैं, वही रह जाते हैं।[4] उसकी टकटकी बंध जाती है। नख–शिख तक लाल गिरधर के रूप को देखकर वह उसी में बह जाते हैं।[5] नेत्रों को ऐसी बान पड़ गई है कि रूप को देखे विना घड़ी पल भी युग के समान प्रतीत होने लगता है 'नैननि ऐसी बान पड़ी। बिनु देखे गिरधरन लाल मुख जुगभर गनत घरी।' इस विवशता के कारण विना कार्य के भी बार-बार पनघट पर चला माना गोपियों का स्वभाव बन गया है। रूप की आसक्ति के कारण वह कृष्णदरस को वहीं अटक जाती है, लोक-लज्जा को तिलाञ्जलि दे देती है और रूप-सुधा के पान में लीन हो

---

1 जल को गई सुधि बिसराई, नेह भरिलाई, परी है ए चटपटी दरस की। इत मोहन गांस उत गुरुजन त्रास, चित्रसों लिखी ठाढ़ी नाऊं धरत सखि अरसफी। टूटे हार, फाटे चीर, नैननि बहत नीर, पनघट भई भीर सुधि न कलस की। नन्ददास ग्र० पृ० ३५२।८०

2 नैन भरि देखौं नन्दकुमार।
तादिन तें सब भूलि गई हौं, बिसरयो पन पटवार।
अष्ट छाप परिचय १०७ पृ० कुम्भनदास

3 अब कहा करौं मेरी आली री अंखियन लागंई रहत।
अष्ट० परि० पृ० २५५ पद ४२

4 रूप देखि नैननि पलक लागै नहीं।
गोवर्धन धर अंग-अंग प्रति, जहां ही परत रहत तहीं–तहीं।
कुम्भनदास-कांकरोली पृ० ६५ पद २३२

5 नैननि टकटली लागिरही।
नख-सिख अंग लाल गिरधर के देखत रूप वही।
अ० परि० पृ० १०७। पद १३ कुम्भनदास

जाती है।[1] रूप-मदिरा में छककर रूप-सुधा-निधि मनमोहन के रूप-रस को नयनों में संचित कर लेना रूप एवं लावण्य की उत्तमता को व्यक्त करता है। ऐसे उत्तम रूप सम्पन्न श्रीकृष्ण के अंग-प्रत्यंग की शोभा निरखकर तरुणियाँ उसमें अपने को भूल जाती हैं। तरुनि निरखि हरि प्रति अंग। कोऊ निरखि नख इन्दु भूली कोऊ चरण जुग-रंग।"[2]

(घ) ऐसे रूप का पान करके भी उनका मन तृप्त नहीं होने पाता। अतृप्ति के इस भावसे रूप के प्रति गहन आसक्ति की व्यञ्जना हो जाती है। श्रीकृष्ण के मुख के सौन्दर्य को बार-बार देख कर भी मन अघा नहीं पाता है। 'हरि मुख निरखि-निरखि न अघात। विरहातुर उठि अपने ग्रह ते आई सब अल सात।"[3] इस रूप को देखकर कोई भी तृप्त नहीं हो पाता। रूप की उत्तमता का यही लक्षण है कि बार-बार देखकर भी मन अतृप्त ही बना रहता है।

कमल मुख देखत कौन अघाई।
सुनिहि सखी लोचन अलि मेरे, मुदित रहे अरुझाई।

रूप की सहज आसक्ति के साथ सौन्दर्य-प्रसाधनों से युक्त श्रीकृष्ण की शोभा मन को आकृष्ट करने वाली हो जाती है। पनघट प्रसंग पर ऐसे अनेक आकर्षक चित्र अंकित किये गये हैं। इन चित्रों में कृष्ण और गोपी दोनों के ही प्रसाधित सौन्दर्य का आकर्षण व्यक्त किया गया है।[4] इस चित्र में मन की

---

1 ग्वालिन कृष्ण दास को अटकी।
बार-बार पनघट चली आवति, सिर जमुना जल मटकी।
मन-मोहन को रूप सुधानिधि, पीवत प्रेम रस गटकी।
कृष्णदास धनि धन्य राधिका, लोक-लाज धर पटकी।

2 सूरसागर (सभा) १२५२।६.

3 गोविन्दस्वामी ११२। पद २४०

4 (क) जमुना जल भरन गई, देखत जिय सकुच भई,
पनघट पर देख्यो आजु नन्द को दुलारो।
सुन्दर स्याम तन सुदेश नटवर पिय तरुन वेश,
मल्ल काछ पीतवसन कनक वर टिपारो।
चंदन की खौर और अरगजा अंग-अंग, फब्यो
लकुट लिये कर-कमल लागत अति प्यारो।
अष्ट० परि० पद २०५

परिवर्तित होती हुई दशा और रूप के प्रभाव का वर्णन है। रूप की यह प्रभावोत्पादकता प्रसाधनों से और भी बढ़ जाती है। सहज लावण्य के साथ आभूषण, सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग, सुरुचिपूर्ण नटवर वेश, एवं साज-सज्जा आदि रूपोत्कर्षक तत्वों द्वारा आसक्ति बढ़ जाती है। यह आसक्ति भक्तिकाल में दो रूपों में व्यक्त हुई है:—

(१) आश्रय या आलम्बन की एक दूसरे के प्रति आसक्ति।

(२) गोपी भाव से भक्त के मन की आसक्ति।

राधा-कृष्ण या गोपी कृष्ण की पारस्परिक आसक्ति एवं मुग्धता का सफल चित्र अनेक कवियों ने अंकित किया है। सूर ने प्रथम मिलन का हृदय-ग्राही वर्णन प्रस्तुत किया है। यहां राधा और कृष्ण दोनों आश्रय एवं आलम्बन बन जाते हैं। श्रीकृष्ण राधा के रूप ठगोरी में उलझकर रह जाते हैं।[1] छीत स्वामी के पद में श्याम सुन्दर की मोहिनी और उनका मुड़कर मुसकाना जादू का प्रभाव उत्पन्न करता है:—

१. भई भेंट अचानक आई।
हौं अपने गृह तें चली जमुना, वे उततें चले चारन गाई।
निरखत रूप ठगोरी लागी, उतको डगर अलि चल्यौ न जाई।
छीत स्वामी गिरधरन कृपा करि, मो तन चितए मुरि मुसिकाई।
अष्ट० पदावली २१६

(ख) गोकुल की पनिहारी पनिया भरन चली,
बड़े-बड़े नैन तामें खुभि रह्यो कजरा।
पहिरें कुसुम्भी सारी अंग-अंग छबि भारी,
गोरी-गोरी बहियन तामें मोतिन को गजरा।
सखि संग लिये जात, हँसि-हँसि करत बात,
तनहू की सुधि भूली सीस धरे गगरा।
नन्ददास बलिहारी, बीच मिलें गिरधारी,
नैनिन की सैननि में भूलि गई डगरा।
न० ग्र० पृ० ३५३/पद ८३

1 खेलन हरि निकसे व्रज खोरी।
गये स्याम रवि-तनया के तट अंग लसति चंदन की खोरी।........
औचक ही देखी तहँ राधा नैन विशाल भाल दिये रोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे नैन-नैन मिलि परी ठगोरी। सूरसागर

छीत स्वामी और सूरदास में मूल अन्तर यह है कि सूरदास में राधा आलम्बन और कृष्ण आश्रय बनते हैं परन्तु छीत स्वामी में गोपी आश्रय और श्रीकृष्ण आलम्बन हैं। फिर भी दोनों पक्षों की आसक्ति एवं रूप का प्रभाव समान स्तर पर एक है। परमानन्द दास ने दोनों को ही आश्रय और आलम्बन बना दिया है। उनकी दृष्टि में प्रथम स्नेह बड़ा कठिन होता है। प्रथम दर्शन में ही रूप की गहन आसक्ति और सौन्दर्य के समक्ष आत्म-विस्मरण आदि प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति हुई है।[1] इसी आसक्ति के कारण विपरीत व्यापार करके भी गोपी को ध्यान नहीं रहता "देखो री माई कैसी ग्वालिन उलटी रई मथनिया विलोवे।"[2]

आश्रय-आलम्बन की इस रूपासक्ति के अतिरिक्त कवियों ने स्वयं भी अपनी आसक्ति की भावना को गोपी-भाव के रूप में व्यक्त की है। ऐसे वर्णनों में श्रीकृष्ण को लावण्य-निधि बताते हुए उनके रूप के प्रभाव की व्यञ्जना की है। उनके अनूप नख-शिख को बार-बार देखकर भी मन तृप्त नहीं हो पाता।[3] सकल काम-प्रद इस रूप से तृप्ति हो भी कैसे सकती है। भक्त भगवान के रूप का पान उनकी मुद्राओं से करता है। वह युगल-छवि का पान पावस ऋतु में करने की आकांक्षा व्यक्त करता है—"भीजत कब देखौं इन नैना। दुलहिन जू की सुरंग चूनरी, मोहन को उपरैना। स्यामा-स्याम कदम्ब तर ठाढे, जतन कियो कछु मैं ना। कुम्भन दास प्रभु गोवर्धन धर, जुरि आई जल सैना।" इस पद में भक्त की भगवान के प्रति आसक्ति के साथ कलात्मक सौन्दर्य भी वर्तमान है। 'गोवर्धन-धर' द्वारा पौराणिक सौन्दर्य, वस्त्रादि के कथन से प्रसाधनगत सौन्दर्य और रंग वैभव का कथन भी हो सका है। रूप के इस निधि को देखने के लिये गोपियाँ अपनी अन्तर्दशा को व्यक्त कर देती है। वे प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य माध्यम से भी श्रीकृष्ण की शोभा देख लेती है। इससे सामाजिक मान्यता एवं नियमों के पालन से मर्यादा की रक्षा भी हो जाती है।

---

1 प्रथम स्नेह कठिन मेरो माई।
दृष्टि परी वृषभानु नंदिनी, अरुझै नैन निरवारै न जाई।........
चारो नैन मिलै जब सनमुख, नन्दनन्दन को रुचि उपजाई।
परमानन्द दास उहि नागरि, नागर सों मनसा अरुझाई।

2 अष्ट० परि० २५५ पद ४२

3 कमल मुख देखत त्रिपती न होई।
इह सुख कहा सुहागिन जानै, रही निसा भरि सोई। परमानन्द दास

रूपासक्ति में तन्मय होकर गोपियाँ मर्यादा की रक्षा करने के हेतु बहाने से श्रीकृष्ण को देखती हैं। स्पष्टतः श्रीकृष्ण की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखने पर लोक बन्धन का कड़ा नियन्त्रण रहता है। इससे दृष्टि बचाकर रूप का पान आसक्ति का ही सूचक है। श्रीकृष्ण दास की गोपी के नेत्रों में श्रीकृष्ण की छवि छा जाती है। उसे सर्वत्र उनकी माधुरी मूरति ही दीख पड़ती है।[1] कौन उस रूप को देखकर अघा सकता है। कमल मुख को देखकर लोचन अलि उसी में उलझ जाते हैं। "कमल मुख देखत कौन अघाई। सुनिहि सखी लोचन अलि मेरे, मुदित रहे अरुझाई।" नेत्र कृष्ण की मधुरिमा में चिपक जाते हैं। गोपी बिना देखे रह ही नहीं पाती है। रूप-लावण्य में आसक्त उसका मन घर जाते हुए शरीर का साथ नहीं देना चाहता, नेत्र अनियन्त्रित हो जाते हैं। वह मुड़-मुड़कर देख लेती है। नारी-सुलभ लज्जा, संकोच, आसक्ति, दर्शनोत्कण्ठा आदि अनेक भाव एक साथ उदित हो जाते हैं। देखने के लिये बहाना ढूँड़ने का माध्यम भी मिल जाता है। आँचल को बार-बार गिराने और समेटने में समय और अवसर दोनों ही मिल जाते हैं, रूप दर्शन के लिये इन अनुभावों या चेष्टाओं द्वारा आन्तरिक भावों की सफल अभिव्यक्ति के साथ सौन्दर्य की उत्तमता का संकेत भी मिलता है। एक पग आगे बढ़ना, पुनः रुकना, मुडकर शोभा को देखने लग जाने आदि चेष्टाओं में रूप की अतिशयता और लावण्य की आकर्षकता इन दोनों की पुष्टि हो जाती है।[2]

चत्रभुज दास की रूप पिपासा भी इसी प्रकार की है। कृष्ण का रूप देखे बिना पल युग के समान बीतता है। "नैननि ऐसी ए बान परी। बिनु देखे गिरधरन लाल मुख जुगभर गनत घरी।"[3] उस अपार शोभा के सिन्धु श्रीकृष्ण

---

1 नैना मेरे निरखि छवि भूले।
छवि छाई चंचल दृगनि में, मतवारे भये भूले।
जित देखौ तित माधुरी मूरति, कालिंदी के कूले।
कृष्णदास की जीवनी प्यारी, सदा रहौं दिन दूले।
संगीत अष्टछाप से संगीत कार्यालय-हाथरस

2 चली जाति उत गेह को, मुरि-मुरि देखति इत।
कबहू की इहि मिस ठाढ़ी ह्वै, लावल्याहि सुधारति,
कबहू औढ़ति आँचरु बनाई ढिग जित-तित।.......
कृष्णदास प्रभु के रूप गुन मन अरुझ्यौ,
तातै सुरझि न सकति, सकति अकति हित।

3 संगीत-अष्टछाप से।

को देखकर तन मन सभी कुछ आतुर हो जाता है ।[1] रूप का आकर्षण व उसे देखने की उत्सुकता से मन का मन्थन होने लगता है । वह किसी प्रकार श्रीकृष्ण के रूप लावण्य को देखती ही रहना चाहती है । इसके लिये अपनी मणि माला को तोड़ कर आंगन में बिखरा देती है और उसे बीनने के बहाने कृष्ण के रूप का पान करती है:—

मणि-माला आंगन मैं लै-लै तोरि डारि बगरावै ।
बीनन मिस मोहन अवलोकत, यों ही पहर बितावै । 'चत्रभुज दास'

अनुभावों के इन चित्रणों में मुग्धा-नायिका की सरल चेष्टाओं के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और आलम्बन के रूप का आधिक्य व्यञ्जित है । सामाजिक मर्यादा से ईषद् ज्ञान युक्त होकर गोपन की प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हो जाना आलम्बन के रूप-लावण्य की आसक्ति की स्वीकृति ही है इससे मनोगत भावों की अभिव्यक्ति के साथ ही चेष्टागत सौन्दर्य का अप्रतिभ रूप दीख पड़ता है । इन क्रियाओं द्वारा आलम्बन के रूप और लावण्य की अनन्तता, असीमता और हृदयावर्जकता का बोध होता है । यह बोध ही अनुभवों की आधार शिला पर रस का उद्रेक करते हुए उसे भावना जगत् की वस्तु बना देता है । कवि की महत्ता भी इसी में है कि वह अनुभूति के धरातल पर भावों की तन्मयता में अपनी सुधि-बुधि भूल जाय । भक्त कवियों में इस गुण की प्रबलता के कारण ही उनके आलम्बन का रूप-लावण्य इस जगत् की वस्तुओं के समान ग्राह्य होते हुए भी अपनी अनन्तता और असीमता में लोकोत्तर एवं दिव्य है और यही उनके वर्णन की सफलता है । इन गुणों के साथ शारीरिक सुकुमाता से व्यक्ति की महत्ता और अधिक बढ़ जाती है ।

सुकुमारता— सिद्धान्त-निरूपण करते हुए यह बताया जा चुका है कि विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का अपने विषयों से अनुकूल, सुखद और प्रिय सम्पर्क स्थापित होने पर उत्पन्न होने वाली अनुभूतियां कोमल और आनन्दप्रद प्रतीत होती हैं । यह अनुभूति जितनी प्रिय होगी, उस विषय में उतनी ही कोमलता का अनुभव होगा । विभिन्न इन्द्रियों के विषय रूप, रस, स्पर्श, श्रवण और घ्राण हैं । इनमें शारीरिक कोमलता का अनुभव रूप एवं स्पर्श से होता है । स्पार्शिक सुख से रूप का आकर्षण बढ़ता है । शरीर की शोभा बढ़ाने वाले

---

[1] सुन्दर स्याम कमल दल-लोचन, सोभा सिन्धु अपार ।
ता तिन तैं आतुर भये भगतन चितवत बारम्बार ।
संगीत अष्टछाप—चत्रभुज दास ।

गुणों में सौकुमार्य की गणना होती है। यह आलम्बन में स्थित उसके रूप का उत्कर्षक गुण है। सुकुमारता नारी शरीर की एक आकर्षक विशेषता है। यही कारण है कि कलावादी, नायिका–भेद लिखने वाले कवियों ने सौकुमार्यादि का विशेष वर्णन किया है।

इस सुकुमारता का उद्‌भव दो कारणों से होता है। प्रथम अभिजात कुल में उत्पन्न होने के कारण स्वाभाविक सुकुमारता और द्वितीय अनुलेपनादि सौन्दर्य प्रसाधनों से प्राप्त की जाने वाली सुकुमारता। यह सुकुमारता शरीर का एक गुण है जिसमें कोमल वस्तुओं का स्पर्श भी असहनीय माना जाता है।[1] इस असहनीयता में स्पार्शिक सुख की अनुभूति सुखद होती है। यदि यही अनुभूति दुःखद हो जाय तो स्पर्श का सुख न रह जायगा अपितु कठोरता का अनुभव होगा। इसी कारण सुन्दर व्यक्तित्व की कल्पना में नायक-नायिका या आराध्य और आराध्या की मृदुता का वर्णन किया जाता रहा है। भक्तिकालीन कवियों की आत्मलीनता अपने आलम्बन के वर्णन में इस प्रकार की कलात्मक अभिव्यक्ति करने की ओर उन्मुख न हो सकी। फिर भी कहीं–कहीं ऐसा वर्णन मिल जाता है।

भक्त कवियों में ध्रुवदास की राधा का सौकुमार्य उच्च कोटिक है। वह केवल कोमल वस्तुओं के मूर्त रूप को ही सहन नहीं कर पाती है, अपितु अमूर्त का भार भी उसके लिये असहनीय हो जाता है यही कारण है। कि प्रिय के निरखने से उस पर पड़ने वाले दृष्टि के भार को सहन करने में भी वह अपने को असमर्थ पाती है। 'डीठिहू को भार जनि देखत न डीठि भरि, ऐसी सुकुमारी नैन प्रान हूँ ते प्यारी है।"[2] इस उदाहरण में वस्तु को स्थूलता का भार न होते हुए भी सूक्ष्मतत्वों द्वारा भार की असहनीयता का वर्णन करके शारीरिक मृदुता की व्यञ्जना की गई है। ध्रुवदास ने अपने अन्य ग्रन्थ 'मनि–शृङ्गार' में राधा के सौकुमार्य का वर्णन करके उसके रूप की अतिशयता की व्यञ्जना की है। 'रस-हीरावली' में यही भाव व्यक्त किया गया है। छवि भी 'कुँवरि' की सुकुमारता को छूने में संकोच करती है।[3] इनमें व्यञ्जना की कलात्मकता होते हुए भी ऊहात्मक वर्णन है। इस वर्णन की यथार्थता

---

[1] मार्दवं कोमलस्यापि संस्पर्शासहतोच्यते।
उज्ज्वल नीलमणि-उद्दीपन प्रकरण ३५। निर्णय सागर सन् १९३२

[2] शृङ्गार सत–छंद ४७ ध्रुवदास।

[3] छुव न सकत अंग मृदुताई। अति सुकुमार कुंवरि तन माई।
रस–हीरावली छंद ६४ ध्रुवदास।

वास्तविक जगत् में नहीं देखी जाती है। यह कल्पना जगत् की वस्तु है फिर भी इससे मृदुता-युक्त सौन्दर्य की अतिशयता का बोध होता है। इस दृष्टि से कवि की सफलता असन्दिग्ध है।

सुकुमारता का वर्णन व्यञ्जना की इस प्रणाली के अतिरिक्त अभिधा के स्वशब्द कथन द्वारा भी किया गया है। हरिराम व्यास ने कहा है कि राधा के सभी अंग कोमल है,[1] परन्तु उनके इस कथन में किसी प्रकार का कोई बिम्ब उपस्थित नहीं होता। अतः यह केवल शुष्क वर्णन मात्र ही रह जाता है। इसमें काव्यगत वक्रोक्ति का पूर्णतः अभाव है। ऐसे वर्णनों द्वारा कवि के मन की तृप्ति भले ही हो जाय, परन्तु इससे वास्तविक सौन्दर्य व्यञ्जित नहीं होता है। अतः कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन साहित्य में सुकुमारता की व्यञ्जना कम हुई है, फिर भी जितना है, वह अपने आप में पूर्ण है। इसकी गणना भी रूप-लावण्यादि के समान सूक्ष्म गुणों में होती है। इन सूक्ष्म गुणों के अतिरिक्त स्थूल गुणों द्वारा भी शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि होती है।

स्थूल-तत्व—सौन्दर्य के विधायक उपकरणों में आत्मगत और बाह्य-तत्वों की चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है। वहाँ बताया गया है कि आत्मगत उपकरणों के अन्तर्गत आश्रय-आलम्बन के गुणों और चेष्टाओं की गणना होती है तथा बाह्य उपकरणों में अलंकृत (बाह्य-प्रसाधन) और तटस्थ वस्तुओं का सहयोग रहता है। आत्म-गत गुण के दो भेद स्थूल और सूक्ष्म बताये गये हैं। सूक्ष्म गुणों में रूप, लावण्य, छवि, शोभा, कान्ति, दीप्ति आदि अनेक गुणों की चर्चा हो चुकी है। इन सभी गुणों में अमूर्त तत्वों की महत्ता रहती है। इससे ये गुण आकार में रहकर भी आकार से भिन्न अस्तित्व रखते हैं। आकार के अवलम्बन के बिना इनका अस्तित्व सम्भव नहीं। इसीसे इनकी गणना आत्मगत सूक्ष्म गुणों के अन्तर्गत की गई है।

स्थूल गुणों में आकार की महत्ता रहती है। विभिन्न अंगों के समुचित विन्यास से उत्पन्न होने वाले सौन्दर्य की चर्चा इसके अन्तर्गत की जाती है। अंगों की बनावट, उनके समानुपात आदि से शारीरिक आकर्षक बढ़ जाता है। यही आकर्षक सर्वाङ्ग के समष्टिगत सौन्दर्य को बढ़ाने में सहायक होता है। इसी से अंग-प्रत्यंग वर्णन की परम्परा साहित्य में सदा से रही है। इसे नख शिख—वर्णन के नाम से जाना जाता है।

नख—शिख में पैर के नख से आरम्भ करके शिख तक के सभी अंगों के वर्णन की परम्परा रही है। वीर्य—विक्षोभन शक्ति से सम्पन्न काम सहायक

---

[1] सर्वं अंग कोमल उरज कठोर—व्यास पृ० २८२

अंगों का वर्णन अपेक्षाकृत विशेष तन्मयता के साथ किया गया है। इसी से स्तन, नितम्ब, उरु–युगल आदि अंगों के वर्णन में कवियों ने अपनी प्रतिभा और कल्पना का पूर्ण उपयोग किया है। यही कारण है कि इन अंगों का उन्मादक चित्र स्थान–स्थान पर अनेक शृङ्गारिक प्रसंगों पर प्रस्तुत किया गया है। यहां भक्तिकाल के पूर्व नख-शिख की संक्षिप्त परम्परा देते हुए इस काल के नख–शिख का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया जायगा।

नख-शिख की पूर्व-परम्परा—नारी-शृङ्गार का वर्णन अपनी प्राचीनता के लिये प्रसिद्ध है। आरम्भ से ही कलाकार नारी के अंगों को आकर्षक रूप में प्रस्तुत करता रहा है। धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार के साहित्यों में ऐसी प्रवृत्ति दीख पड़ती है। वेद और शतपथ ब्राह्मण[1] में अंगों का वर्णन है रामायण प्रसाधन सामग्रियों की चर्चा करता है। 'महाभारत' में नारी-अंगों का सूक्ष्म विश्लेषण प्राप्त होता है। उर्वशी के सौन्दर्य का मोहक वर्णन 'महाभारत' में है। वहां भृकुटी, कटाक्ष, कान्ति, स्तनों की पुष्टता, त्रिवली, क्षीण-कटि आदि का वर्णन है। आभूषणों में मेखला आदि का वर्णन और वस्त्रों के आकर्षण की अभिव्यक्ति है।

संस्कृत कवियों और नाटककारों में सभी ने नारी-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अंग-प्रत्यंग के आधार पर की है। भास, अश्वघोष, हर्ष, भवभूति, कालिदास भर्तृहरि आदि ने नख-शिख परम्परा को प्रसंगतः बल दिया। इनकी दृष्टि स्थूलता की इयत्ता तक ही सीमित न रहकर नायिका के विभिन्न अंगों की सूक्ष्म और आकर्षक चेष्टाओं तक आगे बढ़ी। इसीसे नेत्रों के चांचल्य, पग-गति, मुस्कान, भृकुटि-भंगिमा आदि का सजीव रूप-चित्र प्रस्तुत किया गया। अपभ्रंश काव्यों के जैन कवि भी रमणी रूप-सौन्दर्य के समक्ष मुग्ध होकर अंग-प्रत्यंग के विश्लेषण में प्रवृत्त हो गये।

संस्कृत के इस पृष्ठभूमि के साथ हिन्दी का वीरगाथा-कालीन साहित्य भी नारी के शृङ्गार-परक रूप-सौन्दर्य की ओर अधिक प्रवृत्त हुआ। सभी 'रासो' ग्रन्थों के मूल में नारी का रूप-सौन्दर्य ही कार्य करता रहा। वहां पर नख-शिख की क्षीण होती हुई परम्परा का पुनः सूत्रपात हो गया। भक्तिकालीन साहित्य के सूफी शाखा के कवियों के काव्य का आधार नायिका का नख-शिख वर्णन रहा है। उसकी कथावस्तु की गति का मूल कारण नायिका का सौन्दर्य-चित्रण ही है। सभी सूफी कवियों ने रूप-चित्रण में नख-शिख का

---

1 शतपथ ब्राह्मण १/३/५/१६

वर्णन किया है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के प्रति समान रुचि दीख पड़ती है। सुन्दरतम उपमानों के संचय से यह कार्य सम्पन्न किया गया है। इस नख-शिख में भौतिक रूप-सौन्दर्य के साथ आध्यात्मिक संकेत भी मिल जाता है।

ज्ञान की शुष्क प्रधानता वाले हिन्दी काव्य की ज्ञान मार्गी शाखा के कवियों की दृष्टि से भी नख-शिख का वर्णन उपेक्षित नहीं रहा। प्रियतम की सौन्दर्य कल्पना संत-साहित्य में आकर्षक बन पड़ी है। भगवान के रूप का तेज-पुञ्ज भक्तों को आकर्षित करता है। विभिन्न अंगों का उतना वर्णन नहीं है, जितना उस रूप से उत्पन्न होने वाले प्रभाव का चित्रण है। नख-शिख की महत्ता संत कवियों की दृष्टि में पहले के काव्यों में वर्णित नख-शिख के समान नहीं थी। उसका भोग-परक वर्णन न होकर वैराग्यपरक वर्णन किया गया है। वस्तु की स्थिति होते हुए भी वर्णन में दृष्टिकोण का स्पष्ट अन्तर था। फिर भी अंग वर्णन की परिपाटी का पूर्ण लोप नहीं हो सका और इसकी क्षीण पड़ती हुई धारा को पुनः प्रवाहित करने के लिये भक्तिकालीन कवियों की सगुण चेतना अग्रसर हुई।

मर्यादावादी राम-भक्ति साहित्य का दाम्पत्य-रति रूप-वर्णन के लिये नख-शिख की अपेक्षा करने लगा। भक्त तुलसी का रूप-वर्णन से सम्बन्धित नख-शिख अपनी प्राचीन मान्यताओं का नवीन रूप में पुनरुद्धार है। रामचरित मानस में धनुष यज्ञ के प्रसंग पर पुरुष रूप–वर्णन में श्रीराम के नख-शिख का आकर्षक वर्णन है। इस वर्णन में पुरुष के पौरुष और वीरत्व के साथ सौन्दर्य का वर्णन है।[1] सीता के नख-शिख वर्णन के अनेक स्थल हैं। वियोग के अवसर पर तो उपमानों का संग्रह प्रस्तुत कर दिया गया है। कहीं–कहीं राम का सौन्दर्य वर्णन ऐहिक न होकर आध्यात्मिक हो जाता है। ऐसे स्थलों पर वर्णित रूप 'उदात्त' की परिधि में आ जाता है।[2] इन वर्णनों में सौन्दर्य का ऐसा महान् स्वरूप दीख पड़ता है कि इसकी कल्पना द्वारा ही अपनी लघुता का ज्ञान होने लग जाता है। आलम्बन के विशाल और अलौकिक सौन्दर्य के समक्ष लघुता का बोध उस आलम्बन के वर्णन को उदात्त कोटि में ले जाता है। भक्त कवियों की इन पृष्ठ भूमियों पर ही कृष्ण-भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। इसके पूर्व सौन्दर्य का खण्ड चित्र शताब्दियों से वर्णन का विषय बनता चला आ रहा था। अनुकूल पृष्ठभूमि से इन कवियों को अपने लिए एक सम्बल प्राप्त हो गया

---

1 रामचरित मानस बालकाण्ड।

2 रामचरित मानस लंकाकाण्ड।

और उन्होंने श्रीकृष्ण के रूप की एक ऐसी अछूती कल्पना की कि उनका आराध्य सौन्दर्य की अन्तिम सीमा हो गया। भक्ति की वल्गा ने उनकी कल्पना तुरंगिनी को नख-शिख की अश्लीलता तक पहुँचने की छूट नहीं दी। इससे रूप-वर्णन की मर्यादा अनियन्त्रित नहीं होने पाई। जहां कहीं अंगों का सांगोपांग वर्णन अभीष्ट था, वहां कवि रूपकातिशयोक्ति के प्रयोग द्वारा मर्यादा की रक्षा करते हुए सौन्दर्य का अनिंद्य रूप प्रस्तुत करने में विचार-संशय में नहीं पड़ा और आलम्बन का ऐसा रूप चित्र प्रस्तुत किया, जिसके सौन्दर्य की समता अन्य किसी काल से साहित्य में उपलब्ध नहीं होती। यह रूप-चित्र नख-शिख का आधार लेकर प्रस्तुत हुआ है।

नख-शिख वर्णन के मूल में कवि की सौन्दर्य चेतना कार्य करती है। कवि किसी पात्र के रूप से प्रभावित होकर अपने मनोगत भाव को वाणी देना चाहता है। वाणी देने के इसी प्रयास में वह अपने आलम्बन को अधिकाधिक सुन्दर रूप में प्रस्तुत करता है। इसके लिये उसे काव्य-परम्परा की एक विशेष शैली का आलम्बन लेना पड़ता है। वह इसी आधार पर आलम्बन के रूप और आकार की विशेषताओं का वर्णन करता है। यह वर्णन ही नख-शिख के नाम से प्रचलित है।

नख-शिख के इस वर्णन में उसकी कवि दृष्टि और काल्पनिक सचेतनता सदैव जागरूक रहती है। वह शरीर के विभिन्न अंगों को वर्ण्य-विषय बनाकर अप्रस्तुत योजना द्वारा अपने मन की सौन्दर्य विषयक चेतना की अभिव्यक्ति करता है। यह अभिव्यक्ति तीन प्रकार से होती है (१) परम्परा पालनार्थ नख-शिख का उपगानों के माध्यम से वस्तु-परिगणन प्रणाली पर वर्णन (२) चमत्कारिक वर्णन में रूपकातिशयोक्ति या दृष्टिकूट वाली शैली अपनाई गई है। इसमें भाव-प्रवणता न होकर बौद्धिक चमत्कार का प्रदर्शन होता है। इससे इसमें सौन्दर्य का रूप-चित्र उपस्थित नहीं होता, अपितु रूप का शुष्क कथन मात्र ही रह जाता है (३) रूप का भाव-प्रवण बिम्बात्मक चित्र मन में आकर्षण और प्रियता के भाव को जाग्रत करता है। ऐसे वर्णनों द्वारा आलम्बन के रूप एवं व्यक्तित्व में निखार आ जाता है। वह दर्शक के हृदय एवं मन को अपनी ओर खींच लेने में समर्थ हो जाता है। प्रायः रूप का यही वर्णन मन में 'रति' का संचार करने में समर्थ होता है। इसीसे रस-सिद्ध कवि के वर्णन का झुकाव इसी ओर अपेक्षाकृत अधिक रहता है। इन तीनों प्रणालियों का आधार लेकर कवियों ने अपनी मानसिक सौन्दर्य चेतना की अभिव्यक्ति दो ढंग से की है—

(१) अंग-प्रत्यंग का व्यष्टिगत वर्णन—इस वर्णन के अन्तर्गत प्रत्येक अंग की स्वतः संभवी छवि और आभूषणों के माध्यम से बढ़ जाने वाली छवि का वर्णन होता है परन्तु नख-शिख का सामान्य अर्थ विभिन्न अंगों के रूप, आकार विस्तार आदि का वर्णन करना माना जाता है।

(२) सर्वाङ्ग का समष्टिगत रूप—इसमें किसी अंग विशेष का व्यक्तिगत कथन न होकर पूरे अंग का सामूहिक वर्णन होता है। ऐसा वर्णन प्रायः अंगों के आकार विस्तार आदि का नहीं होता, अपितु अंगों में वर्तमान शोभा का होता है। शोभा की इस अभिव्यक्ति में शारीरिक सूक्ष्म सौन्दर्य विधायक तत्वों की चर्चा की जाती है। आकार में वर्तमान रहकर आकार से भिन्न इनकी अलग सत्ता नहीं रहती है। इससे अमूर्त तत्वों में इनकी गणना की जाती है। शरीर के सर्वाङ्ग वर्णन में ये तत्व लावण्य, छवि आदि के रूप में स्पष्ट होते हैं। सात्विक भावों को भी सौन्दर्य-विधायक गुणों में माना जा सकता है, क्योंकि इनका उद्‌भव यौवन में सत्व से होता है और इनसे मुखादि में एक चमक आ जाती है। इससे नायक अथवा नायिका का सौन्दर्य तो बढ़ता ही है, आश्रय के मन में ऐसे सौन्दर्य को निरखने में पूर्ण आत्म-तृप्ति का अनुभव भी होता है।

सर्वाङ्ग के सौन्दर्य कथन में कवियों का भाव प्रवण भक्त हृदय सदैव स्पष्ट होता रहा है। इन कवियों ने मन की भावनाओं को अपने आराध्य के स्वरूप कथन में व्यक्त किया है। इससे उनका आराध्य 'रूप की राशि' 'लावण्य का सदन', 'रूप-निधि' छवि को तरंगित करने वाला और आश्रय को पूर्णतः प्रभावित करने वाला बन जाता है।[1] ऐसे रूप-राशि के समक्ष

---

[1] (i) राधे तूं रूप की राशि।
मदन मृग, हँसि सुबस कीन्हौं रची भौंहनि पासि,
हँसन दामिनि, दसन बीज पंगति, मधुर ईषद् हास।
नन्द नन्दन रसिक रिझवत, सुरत रंग-विलास।
कृष्णदास पद ४० विद्या-विभाग कांकरौली,

(ii) तेरे रूप सम और नहीं खेंचो हठि रेखी।
अंग-अंग लावण्य सदन सखि, भ्रू विलास त्रिभुवन श्री सेखी।
तादिन ते कछु और विमल छवि, जादिन ते गिरधर पिय देखी।
कृष्णदास।

(iii) कृष्णदास स्वामिनी रूप निधि,
गिरधर पिय लिये जीति भौंह छद। पद ४६ कृष्णदास

सौन्दर्य का देवता कामदेव भी मन में लज्जित हो जाता है। अतः राधा और कृष्ण दोनों में ही सौन्दर्य अपनी सीमा पा लेता है। इस अवर्णनीय सौन्दर्य में स्वाभाविकता और उसकी गरिमा बनी रहती है। अंग-अंग की सहज माधुरी और वदनारविन्द की शोभा का वर्णन नहीं हो पाता है।[1] राधा अपने सहज शृङ्गार एवं भृकुटि भंगिमा से मदन को भी जीत लेती है।[2] ध्रुवदास के वर्णन में रूप की सीमा और छवि की नवीनता के संयुक्त प्रभाव से भी मन तृप्त नहीं होता है और कामदेव माधुरी छवि तरंग को देखकर लज्जित हो जाता है।[3] इन सभी वर्णनों की शृङ्गार परक भावना के कारण इस रूप चित्र में पूर्ण उल्लास एवं आनन्द दीख पड़ता है।

सर्वाङ्ग वर्णन में अंगों की इस सूक्ष्मता के साथ उसके स्थूल गुणों का भी वर्णन हुआ है। यह वर्णन दो प्रकार से किया गया दीख पड़ता है। (१) रूपकातिशयोक्ति द्वारा (२) वस्तु-परिगणन प्रणाली द्वारा।

(iv) छवि-तरंग अगनित सरिता ज्यों,
जलनिधि लोचन तृपति न माति। पद १५६ कृष्णदास

(v) अंग-अंग की छवि कहति न आवै,
मनसिज मनहि लजानों। पद ५६ ॥

(vi) कहा कहो मोहन मुख शोभा।
कहि न जाय मुख परी ठगोरी,
रूप देखि मेरा मन लोभा। पद १८३ ॥

1 देखो माई सुन्दरता को सींवा।
ब्रज नव तरुनि कदम्ब नागरी, निरखि करति अध ग्रीवां। हित-चोरासी

2 हित चौरासी पद ६७

3 कोटि-कोटि रसना जो रोम-रोम प्रति होइ,
प्यारी जू के रूप को न प्रमाण कह्यौ जात है।
अतिहि अगाध सिन्धु पार नहि पावै कोई,
थोड़ी बुद्धि सीप माँहि कैसे के समात है।
छिन-छिन नई-नई माधुरी तरंग रंग,
देखे नख-चन्द्रिकन चन्द्र हूं लजात है।
हित ध्रुव अंग-अंग बरसत रस-स्वाति,
नैना पियै चातक तो कहूं न अघात है।

रूपकातिशयोक्ति में उपमेय का उपमान में अध्यवसान हो जाता है। ऐसे वर्णन में उपमान के प्रयोगों द्वारा ही उपमेय का संकेत मिल जाता है। इस प्रणाली में रूप के वर्णन से दो उद्देश्यों की सिद्धि होती है। प्रथम रूप शरीर के विभिन्न अंगों की सुन्दरता का स्थूल आकार या गुण-परक ज्ञान होता है और द्वितीय इस स्थूलता में भी अश्लीलत्व नहीं आ पाता है। इससे सामाजिक मर्यादा की रक्षा भी हो जाती है तथा भक्त और भगवान के बीच सीमा का उल्लंघन भी नहीं होने पाता।

रूपकातिशयोक्ति का यह वर्णन भक्त कवियों द्वारा तीन प्रसंगों पर किया गया है (१) दान-प्रसंग पर (२) मान प्रसंग पर दूती के कथन में, (३) रूप-वर्णन के अवसर पर नायक द्वारा नायिका का सौन्दर्य-चित्रण। इन तीनों ही प्रसंगों पर सर्वाङ्ग-वर्णन की रुचि रही है।

दान-प्रसंग पर एक बार अभिधेय रूप में अपने मनोगत भाव को स्पष्ट करके पुनः रूपकातिशयोक्ति द्वारा अंग-वर्णन किया गया है:—

१. जोबन दान लेहुँगो तुम सों।
जाके बल तुम बदत न काहुहि, कहा दुरावति हमसों।
कंचन-कलस महारस भारे, हमहूँ नेक चखावहु।
सूर सुनहु करि भार मरति कत हमहिं न मोल दिखावहु।

इस उद्धरण में "कंचन-कलस" द्वारा स्तनों का संकेत किया है, जो अभिधेय रूप से स्पष्ट नहीं है, अपितु इस प्रयोग से स्तनों की व्यञ्जना होती है।

(२) राधा द्वारा मान किये जाने पर दूती के कथन में अंगों का आकर्षक वर्णन हुआ है। उपमानों द्वारा उपमेय रूप राधा के विभिन्न अंगों के सौन्दर्य की व्यञ्जना करके श्रीकृष्ण के मन में राधा के प्रति अनुराग उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है तथा सौन्दर्य के आकर्षण द्वारा दोनों के मन में मिलने की एक भूमिका तैयार कर दी जाती है।[1]

(३) नायक या सखी द्वारा राधा के रूप-वर्णन पर भी यही प्रकृति लक्षित होती है। इस अवसर पर राधा के उपमानों की अवहेलना करके उन

---

[1] अद्भुत एक अनुपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरवर गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर शुक पिक मृगमद काग।

उपमानों के माध्यम से ही शरीर के विभिन्न उपमेय या प्रस्तुत की व्यञ्जना की गई है।[1] व्यासजी ने भी इस प्रकार की पद्धति का अनुसरण किया है:—

(क) चन्द्र बिम्ब पर वारिज फूले।
तापर फनि के सिर पर मनि गन, तर मधुकर मधु-मंद मिलि फूले।
तहाँ मीन कच्छप सुक खेलत, बसिहि देखि न भये विकूले।
विद्रुम दार्‌यो मैं पिक बोलत, केसर नख-पद नारि गरूले।
व्यास-वाणी पद ७०

व्यास के इस कथन में सहजता, अकृत्रिमता आदि पर विशेष बल दिया है। सूर के शब्दों में 'सहज रूप की रासि' राधिका के तन पर भूषण अधिक शोभित हो रहा है। ऐसे राधा के रूपांकन में किसी प्रकार की वर्णन पद्धति अपनाई जाय, उस सौन्दर्य में कोई व्यवधान नहीं पड़ने पाता।

(ख) अतिशयोक्ति मूलक उपर्युक्त रूप-चित्र के अतिरिक्त सर्वाङ्ग का चित्र प्रस्तुत करने के लिये कवियों ने वस्तु-परिगणन प्रणाली में नख-शिख का वर्णन किया है। ऐसा वर्णन विशेषतः दरबारी कवियों द्वारा किया गया है। यहाँ पर केवल एक उदाहरण दिया जायगा।

केस पर शेप दृग चलन पर खंजरी, भौंह पर धनुष धरि सुरति सारों।
दसन पर दामिनी कण्ठ पर कोकिला, अधर पर बिम्ब रहि-रहि सम्हारों।
जंघ पर कदली कटि छीन पर केहरी, कुचन पर मेघ महामंड हारों।
ज्योति पर ज्योति छवि अंग पर गंग श्री राधिका नखन पर चन्द्र वारों।
(अकबरी दरबार के हिन्दी कवि पृ० १७६)

इस वर्णन में परम्परा पालन का आग्रह अधिक होने से उपमानों का आधार लेकर उपमेयों के गुणों का संकेत किया गया है। ऐसे वर्णनों में बिम्बात्मक चित्र का अभाव होने के कारण भाव-प्रवणता नहीं आ पाती है। इसे उपमेय और उपमान का संग्रह कहना अधिक उपयुक्त कहा जा सकता है। यही

1 राधा तेरे रूप की अधिकाइ।
ससि उर घटत, हेम पावक परि, चम्पक कुसुम रहे कुम्हिलाइ।
इभ लूटत, अरु अरुन पंक भये, विधिना आन बनाइ।
कद्रुज बैठि पाताल दुरै रहि, खगपति हरि वाहन भये जाइ।
हंस दुर्‌यो, सर दुर्‌यो, सरोरुह, गज मृग चलै पराई।
सूरदास विचारि देखि मन, तोर रसन पिक रही लजाई।
सूरसागर पृ० ५१३

कारण है कि सौन्दर्य का बिम्ब-विधायी चित्र उपस्थित नहीं हो पाता है। फिर भी कवि की सौन्दर्य-परक दृष्टि का ज्ञान हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राधा-कृष्ण के सौन्दर्य चित्रण में लीला क्रम के बीच अवसर मिलते ही भक्तिकालीन कवियों ने सर्वाङ्ग या अंग-विशेष का पूर्ण या खण्ड चित्र उपस्थित किया है। अंगों के आकार, गुणादि के अनुरूप अप्रस्तुतों के विधान द्वारा नख-शिख का वर्णन किया गया है। यह वर्णन वस्तु परिगणन रूप, रूपकातिशयोक्ति रूप और भाव-प्रवण रूप में हुआ है। इन तीनों में दो का विश्लेषण ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है। तीसरे प्रकार, भाव-प्रवण रूप में बिम्ब-विधायिनी प्रतिभा द्वारा अंग-वर्णन में मोहक एवं रमणीय चित्र प्रस्तुत कर देना सूरदास जैसे रस-सिद्ध कवि का ही सामर्थ्य है :

भुजा पकरि ठाढ़े हरि कीन्हें।
बाँह मरोरि जाहुगे कैसे, मैं तुम नीके चीन्हें। सूरसागर

इस उदाहरण में राधा द्वारा बाँह पकड़ लिये जाने पर पारस्परिक प्रेम पूर्ण नोक-झोंक का सुखद और आकर्षक चित्र प्रस्तुत हो सका है। इस चित्र में केवल बाँह और भुजा का सामान्य कथन मात्र है, फिर भी इससे निर्मित चित्र आकर्षक है। ऐसे चित्रों के अतिरिक्त अंगों के खण्ड-चित्र या उनके व्यक्तिगत विशेषताओं आदि का कथन कवियों द्वारा किया गया है। इसमें प्रत्येक अंग का अलग-अलग वर्णन अप्रस्तुतों के माध्यम से किया जाता है। अंग की शोभा का निरूपण करने वाली इन दो पद्धतियों-सर्वाङ्ग वर्णन और अंगों का अलग-अलग वर्णन-के अतिरिक्त सौन्दर्य प्रसाधक उपकरणों द्वारा बढ़े हुए सौन्दर्य का भी वर्णन भक्त कवियों ने किया है। इन प्रसाधनों में आभूषणों और गन्धद्रव्यों का प्रयोग उपयोगिता मूलक दृष्टिकोण से किया गया है। इनके दो उद्देश्य दीख पड़ते हैं (१) सौन्दर्य की अभिवृद्धि करना और (२) प्रिय को रिझाना। इसी से इनके प्रयोगों में सदैव इस बात का ध्यान रखा जाता है कि शरीर अधिक से अधिक आकर्षक प्रतीत होने लगे। इस प्रकार स्वतः सम्भवी सौन्दर्य और आभूषणों के माध्यम से बढ़ जाने वाले सौन्दर्य का महत्व है। अभी तक स्वतः सम्भवी सौन्दर्य का निरूपण किया गया। आभूषणों से बढ़े हुए सौन्दर्य का भी वर्णन मिलता है।

शोभा-विधायक तत्व के रूप में आभूषण—

शरीर पर धारण किये जाने वाले शोभा-विधायक उपकरणों को अलंकार के नाम से जानते हैं। इन अलंकारों के धारण करने के दो उद्देश्य

दीख पड़ते हैं (१) ऐश्वर्य और वैभव का प्रदर्शन (२) शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि। इनमें अलंकारों का प्रयोग विशेषतः सौन्दर्य और आकर्षण को बढ़ाने के लिये ही किया जाता है। लोक-व्यवहार को देखकर भी इस धारणा की पुष्टि होती है। भक्तिकालीन साहित्य में आभूषणों को शोभा-विधायक सामग्री के रूप में ग्रहण करके उससे उत्कर्ष को प्राप्त सौन्दर्य द्वारा प्रिय को रिझाने का प्रथम उद्देश्य था। यह कार्य दो प्रकार से सिद्ध किया गया है।

(१) स्वयं अपना शृंगार करके प्रिय को रिझाने की चेष्टा की गई है। यथाः--

"युवति अंग सिंगार सिंगारति।
वेनी गूँथी माँग मोतिन की, सीसफूल सिर धारति। सूरसागर २११६

(२) श्रीकृष्ण द्वारा शृंगार किया जाना और उसे देखकर स्वयं प्रसन्न होने की भावना व्यक्त की गई है। यथा--

'मोहन-मोहिनी अंग सिंगारति।
बेनी ललित-ललित कर गूँथत, सुन्दर माँग सँवारति।
नख-सिख सहज सिंगार भाव सौं, जावक चरननि सोहत।
सूर स्याम तिय अंग सँवारति, निरखि आपु मन मोहति।।
सूरसागर पद ३२४६

इन दोनों ही उदाहरणों द्वारा प्रसाधनों के माध्यम से रूपोत्कर्ष की अभिव्यक्ति की गई है। दूसरे उदाहरण की अन्तिम पंक्ति 'निरखि आपु मन मोहति" द्वारा सौन्दर्य की उपयोगिता परक उद्देश्य की सिद्धि हो सकी है। प्रिय द्वारा शृंगार किये जाने पर प्रेम की गहनता और प्रेम-गर्व की भावना पुष्ट होती है। इसमें आभूषणों द्वारा बढ़ जाने वाले सौन्दर्य का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है। सोलह शृंगार के अन्तर्गत इन आभूषणों को शोभा-विधायक तत्व के रूप में अन्य अंगों के अप्रस्तुत विधानों के साथ लाकर इनसे उत्पन्न होने वाली अनोखी दीप्ति का आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया गया है।[1]

आभूषणों के माध्यम से सहज-सौन्दर्य बढ़ जाता है। सूर ने इस विचार

---

[1] आजु तेरी अधिक छवि बनी नागरी।
माँग मोतिन छटा, बदन पर कच लटा, नील-पट घन घटा, रूप-रंग आगरी।
कृष्णदास पदावली से

का समर्थन किया है।[1] केवल एक हार के कथन मात्र से अन्य-अंगों में धारण किये जाने वाले आभूषणों से अभिवृद्धि को प्राप्त शोभा का संकेत मिलता है।[2] कृष्णदास ने आभूषणों से बढ़े हुए सौन्दर्य के पुञ्ज बाल-कृष्ण का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है।[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषणों के माध्यम से अपने सौन्दर्य को बढ़ाने की चेष्टा करते थे। इसका उपयोगिता मूलक उद्देश्य सन्देह से परे है। आभूषणों के इस उद्देश्य की पूर्ति के साथ अंगों के सहज सौन्दर्य के वर्णन की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। अतः इन दोनों के सम्मिलित वर्णन द्वारा रूप का आकर्षण बड़ा तीव्र हो जाता है और नख-शिख वर्णन में अनोखापन आ जाता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन कृष्ण काव्य के कवियों ने नख-शिख वर्णन की प्राचीन परम्परा का अपने ढंग से उपयोग किया है। उनके इस वर्णन का स्वतन्त्र विकास न हो सका, अपितु प्रासंगिक रूप में ही आराध्य के सौन्दर्य-वर्णन में इस पद्धति का अनुसरण किया गया। यह वर्णन रीतिकालीन कवियों के वर्णन की भाँति शास्त्रीय-सिद्धान्तों में बंधा हुआ न होकर भक्त कवियों के मुक्त हृदय की भावनाओं के अप्रतिहत प्रवाह के रूप में है। प्रेम से प्लावित इन कवियों द्वारा वर्णित शारीरिक सौन्दर्य स्पृहा का कारण बन गया। इन्होंने राधा-कृष्ण के अनिद्य सौन्दर्य के वर्णन में अपनी उर्वर कल्पना शक्ति का पूर्ण उपयोग किया। इनके निश्चित विचार और संस्कार बड़े प्रबल थे। इसी कारण इस युग में नख-शिख वर्णन को स्वतन्त्र परम्परा का विकास न हो सका। इन भक्त कवियों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इन्होंने रूप की नवीनता, आतिशय्य और ज्योति सम्पन्नता नख-शिख वर्णन के माध्यम से ही व्यक्त कर दी है। इस वर्णन के द्वारा अपनी आत्म-तुष्टि और आराध्य का मोहक चित्र बन पड़ा है। इसी से इनका आलम्बन लावण्य-निधि बनकर समक्ष आता है। इनकी चलाई हुई इसी परिपाटी का अवलम्ब होकर रीतिकालीन कवियों ने स्वतन्त्र रूप में नख-शिख वर्णन की

---

1 सहज-रूप की राशि राधिका, भूषण अधिक विराजै। सूरसागर पद २०६३ (सभा)

2 एक हार मोहि कहा दिखरावति।
नख-शिख लौं अंग-अंग निहारहु, ये सब कतहि दुरावति।
सूरसागर पद २१५८

3 अष्टछाप-परिचय पृ० २२७ सं० प्रभुदयाल मित्तल।

परम्परा का विकास किया। इन्होंने भक्ति-काल में प्रस्तुत की गई सामग्री का यथेष्ठ उपयोग किया। यह सभी वर्णन आलम्बन के गुण से सम्बन्वित है। यह गुण शारीरिक अथवा मानसिक रहा है। इन गुणों के संग मोहक चेष्टाओं द्वारा व्यक्तित्व का आकर्षण और बढ़ जाता है। इससे गुण चेष्टा से युक्त होकर आलम्बन की मोहकता बढ़ाने में समर्थ होते हैं।

चेष्टागत सौन्दर्य—

आलम्बन के सौन्दर्य-साधक जिन तत्वों की चर्चा की गई है, उनमें चेष्टा आत्म परक उपकरण है। यह आलम्बन के आश्रित रहकर रूप-सौन्दर्य की अभिवृद्धि में सहायक होता है। चेष्टा अथवा अनुभावों से हीन रूप सात्विक रति का संचार करने में समर्थ नहीं होता। चेष्टाओं से भावना उद्दीप्त होती है, रूप का आकर्षण बढ़ता है और उसकी हृदय आवर्जक शक्ति का विकास होता है। चेष्टाएँ उद्दीपक एवं मोहक होती हैं। इनके अभाव में सौन्दर्य निर्जीव और शव-तुल्य हो जाता है, उसकी सजीवता रस की आधार भूमि पर चेष्टाओं के ऊपर ही निर्भर रहती है। इन चेष्टाओं से व्यक्तित्व में आकर्षण आ जाता है रूप निखर जाता है, उसकी मोहकता बढ़ जाती है। आश्रय का मन आलम्बन की चेष्टाओं पर रीझकर उसकी ओर ललकने लग जाता है। चेष्टाओं की यही सार्थकता है। इन चेष्टाओं के दो वर्ग हो सकते हैं (१) आलम्बन की चेष्टाएँ (२) आश्रय की चेष्टाएँ।

आलम्बन और आश्रय की चेष्टाएँ हाव, भाव, हेला और अनुभाव कही जाती हैं। इन सबकी गणना कायिक चेष्टाओं के अन्तर्गत हो सकती है, यद्यपि ये मानसिक प्रवृत्तियों की वाहिका होती हैं। इन चेष्टाओं से युवा काल की शोभा बढ़ती है। इससे इन्हें युवा काल के शोभा-विधायक गुण मान सकते हैं। इनके दो विभेद किये जा सकते हैं—

(१) सामान्य चेष्टाएँ—इनके अन्तर्गत 'अलंकारों' की गणना होगी।

(२) विशेष चेष्टाएँ—इन चेष्टाओं में आंगिक संचालन आदि का महत्व बना रहता है। सम्पूर्ण अनुभावों की गणना इसी के अन्तर्गत होती है। इनके अन्तर्गत मुख-विकास, मुसकान, भ्रू-भंगिमा, चितवन, हस्तपदादि का अर्थ-पूर्ण संचालन आदि अनेक चेष्टाओं का समाहार होता है। क्रमशः इन दोनों प्रकार की चेष्टाओं का भक्तिकालीन साहित्य में निरूपण होगा।

(क) विशेष चेष्टाएँ—आलम्बन की अनुभावगत चेष्टाओं को विशेष चेष्टा के अन्तर्गत माना गया है। भक्ति काल में इन चेष्टाओं का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि इनसे दो अभिप्रायों की सिद्धि हुई है:—

(१) आन्तरिक भाव का प्रकाशन।

(२) अभीप्सित प्रभावोत्पादन।

आन्तरिक भावों के प्रकाशन में सभी अनुभाव सहायक हैं। इसमें मुख्य रूप से नारी की चेष्टाओं का वर्णन होता है, परन्तु भक्ति काल में पुरुष रूप श्रीकृष्ण की विभिन्न चेष्टाओं का मोहक वर्णन हो सका है। अपनी इस मोहकता के कारण ही इन चेष्टाओं की प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती है और आलम्बन की आन्तरिक भावनाओं का अनुकूल प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार इन चेष्टाओं का प्रभावमूलक वर्णन ही अधिक हुआ है। इन चेष्टाओं में मुसकान, चितवन आदि की गणना होती है।

मुसकान—भक्तिकाल में मुसकान के वर्णन में दो प्रकार की प्रवृत्ति लक्षित होती है। प्रथम केवल मुसकान का वर्णन (२) मुसकान के संग चितवन का संयोग। दोनों ही प्रकार का वर्णन लगभग सभी कवियों में मिल जाता है। विभिन्न अवसरों पर प्रकाशित इस मुसकान को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

१. सामान्य मुसकान वर्णन में श्रीकृष्ण पक्ष में वय की दृष्टि से दो प्रवृत्ति लक्षित होती हैं। (क) प्रथम बाल्यकाल की सरल और स्वाभाविक मुसकान जो अन्तर उल्लास की अभिव्यक्ति करती है। इसके लिए हँसति, विहँसति, किलकत आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस हँसी में किसी प्रकार की काम मूलक भावना नहीं है। अपितु स्वाभाविक मुसकान की सहजता वर्तमान है यथा:—

१. किलकि हँसति राजति द्वै दतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत।

सूरदास, अष्टछाप-परिचय पृ० १५५

२. अँगुठा गहि कमल-पानि, मेलत मुख माँही।
   अपनो प्रतिबिंब देखि, पुनि-पुनि मुसुकाँहीं।

परमानन्ददास—अष्ट० परि० पृ० १८३

इन उदाहरणों में बाल्यकाल की सहज चेष्टा है, किसी प्रकार की भाव-भंगिमा नहीं है।

(ख) किशोर वय की मुसकान में अर्थवत्ता रहती है। कविगण सहज रूप में इस मुसकान का संकेत करते हैं। ऐसे वर्णन में मुसकान का प्रभाव कपोलों के विकास पर भी दिखाया गया है:—

१. कछु मुसकात दसन छवि सुन्दर हँसत कपोल लोल भ्रू भ्रामहिं।

अष्टछाप पदावली पृ० ४५

२. मृदु मुसकान बंक ग्रवलोकनि, डगमग चलनि सहज ही सुढारै।

ग्रष्टछाप परिचय पृ० १८३

द्वितीय उदाहरण में मुसकान के संग वंक ग्रवलोकनि से उसकी महत्ता और वढ़ जाती है। ऐसे मुसकान से सौन्दर्य का वोध एवं सौन्दर्य सृष्टि भी हो जाती है।

२. **भेद भरी मुसकान**--श्रीकृष्ण ग्रौर गोपियों की भेद भरी मुसकान का संकेत ग्रनेक स्थलों पर हुग्रा है। वहुधा ऐसा शृङ्गार वर्णन प्रसंग पर ही हो सका है। क्रिया-विदग्धा या वचन-विदग्धा नायिका की क्रियाग्रों में मुसकान का यह रहस्य छिपा रहता है, जो एक विशेष ग्रर्थ या भाव का वाहक है। वहुधा ऐसी नायिकाएँ ग्रपने भावों को ग्रभिव्यक्त करके मुसकरा उठती है। राधा का एक चित्र देखें:—

१. तव राधा इक भाव वतावनि।
   मुख मुसुकाइ सकुचि पुनि मह्जहि, चली ग्रलक सुरभावति।....
   टेरि कह्यो मेरे घर जैहौ मैं जमुना तैं ग्रावति।
   तव सुख पाइ चले हरि घर कौं, हरि प्रियतमहिं मनावति।[1]
२. लहरिया मेरो भीजैगो, वह देखो ग्रावत है मेह.........
   गोविन्द प्रभु पिय हँसि कहै तो वढ़ि है ग्रधिक सनेह।

इन दोनों ही उदाहरणों में वचन-विदग्धा के कथनों में रस-रहस्य की भावना है, जो प्रसंग की ग्रनुकूलता में मुसकान से प्रकट हो जाती है। क्रिया-विदग्धा की क्रियाग्रों को देखकर परस्पर मुसकान की यह चेष्टा रस-भेद को व्यक्त करने वाली है।[2] इसे केवल राधा कृष्ण ही समझ पाते हैं। ग्रन्य लोगों के लिए यह एक रहस्य ही वना रहता है।

कृष्ण की रसिक चेष्टाग्रों में इस मुसकान की वड़ी महत्ता है। यशोदा के सामने वालक कृष्ण गोपियों के समक्ष तरुण वन जाते हैं। इसे यशोदा नहीं जान पाती, परन्तु कृष्ण एवं गोपी की यह मुसकान एक दूसरे के भावों की वाहिका वन जाती है।

---

1 सूरसागर पद २६४२ (सभा)

2 स्याम ग्रचानक ग्राय गये री।.........
   ग्रापु हँसे उत पाग मसकि के, हरि ग्रन्तरयामी जान लिये री।.........
   लैकर कमल ग्रधर परसायो, देखि हरखि पुनि हृदय धर्‌यो री।
   सूरदास (पृ० २६८ सूर निर्णय–द्वारकाप्रसाद पारीख)

१. रहि री ग्वालिन ! जोबन मदमाती।
मेरे छगन-मगन से लालहि, कत लै उछंग लगावति छाती।....
खेलन दै घर जाहु आपने, डोलति कहा इतौ इतराती।
उठि चली ग्वालि, लाल लागे रोवन, तब जसुमति लाई बहु भाँति।
'परमानन्द' ओट दै अंचल, फिरि आई नैननि मुसिकाती।[1]

(३) आनन्द सम्मोहिता की मुसकान उसके तृप्ति के भाव को व्यक्त करता है।[2] ऐसे प्रसंगों पर सखियों द्वारा जान लिये जाने पर यही मुसकान लज्जा की वाहिका बन जाती है।[3] इस मुसकान में आत्म-सन्तोष का भाव बना रहता है और लज्जा ऐसे मुसकान की साधिका बन जाती है।

भेद भरी इस मुसकान से सौन्दर्य बढ़ जाता है। कहीं-कहीं भेद पूर्ण मुसकान गूढ़ अर्थ का व्यंजक बन जाती है। इससे चरित्र का शीलपरक अंग उभरता है। अनेक स्थलों पर श्रीकृष्ण की ऐसी मुसकान का वर्णन है। यथा—

१. तिय-वचन सुनि गर्व के पिय मन मुसुकाने। मैं अविगत अज अकल हौं यह मरम न जाने।[4] रास प्रसंग की इस मुसकान में श्रीकृष्ण का ऐसा ईश्वरत्व प्रकट है, जहाँ वे भक्त के अहंकार को बढ़ने नहीं देना चाहते। उनके मुख की मुसकान का यही अर्थ है। इस प्रकार की गूढ़ार्थ-व्यञ्जक हँसी का वर्णन अनेक स्थलों पर हुआ है। रास प्रसंग, दानलीला, झूलन प्रसंग और मथुरा प्रस्थान करते समय कई अवसरों पर ऐसी ही हँसी है—

१. अब घर जाहु दान मैं पायो, लेखा कियो न जाइ।
सूर श्याम हँसि-हँसि जुवतिनि सौं, ऐसी कहत बनाइ।
सूरसागर २२३२

यहाँ हँसना केवल भ्रम में डालने के कारण है। दान लेकर चले जाने को कहना स्पष्ट रूप में स्वार्थी प्रवृत्ति को व्यक्त करता है।

२. तनक हँसै, हरि मन जुवतिनि कौं, निठुर ठगौरी लाइ।
पद ३६१० सूरसागर।

---

1 अष्टछाप—परिचय पृ० १८२

2 अधर खुले पलक ललन मुख चितवत, मृदु मुसकात हँसि लेत जँभाई।
अष्ट० परि० पृ० २२८

3 'परमानन्द' प्रभु रमी निसा भरि, अब काहि लपटि हँसी मुख मोर।
अष्ट० परि० पृ० २०१

4 सूर सागर—पद १७१६

३. बिहँसि कह्यो हम तुम नहिं अन्तर, यह कहिकै उन ब्रज पठई।

पद ४६१० सूरसागर।

इन दोनों पदों के गूढ़ार्थ के समक्ष भोली गोपियां या राधा श्रीकृष्ण की हँसी का रहस्य समझने में असमर्थ होती हैं, परन्तु श्रीकृष्ण की यह हँसी उनके दोहरे व्यक्तित्व को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर देती है।

(४) कहीं-कहीं पर भक्त कवियों की हँसी में मोहकता का भाव स्पष्ट दीख पड़ता है। संयोग के अवसर पर ऐसी हँसी से शोभा बहुत अधिक बढ़ जाती है। श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य को देखकर 'नागरि' की हँसी में मन का समस्त उल्लास एवं प्रेम प्रकट हो जाता है—

१. नागरि यह सुनि कै मुसुकानि।
को जानै पिय महिमा तुम्हरी, नैननि चितै लजानी।
इक सुन्दर दूजे रति नागर, तीजे कोक-प्रवीन।
सूरदास प्रभु अब हीं तो तुम जसुमति-सुवन नवीन।[1]

कहीं कोई श्रीकृष्ण की हँसी देखकर इतनी मुग्ध हो जाती है कि उसकी पूर्व नियोजित सारी व्यवस्था ही भंग हो जाती है, वह ठगी सी रह जाती है। ऐसा लगता है मानो किसी ने उसके ऊपर जादू कर दिया हो। अन्त में उस मोहकता के समक्ष उसे अपना सब कुछ दान देना पड़ता है।[2] दान के प्रसंग पर यही मोहकता दीख पड़ती है। गोपी के दान देने से मना करने पर उसका आँचल पकड़कर श्रीकृष्ण की मधुर हँसी उसका मन चोर लेती है—

'कमल नैन' मुसकाय मंद हँसि, अँचर पकर्यो जब ही को।
'दास चत्रभुज' प्रभु गिरधर मन, चोर लियो सब ही को।[3]

(५) **छेड़-छाड़ की भावना**—श्रीकृष्ण के दान लीला के अवसर पर हँसी के कई अर्थ हैं। गूढ़ार्थ बोधक, भाव-व्यञ्जक और छेड़छाड़ की भावना दीख पड़ती है। पूर्वराग की अवस्था की यह हँसी विशेष महत्वपूर्ण है।

---

[1] सूर सागर पद २८२५

[2] हौं तकि लागि रही री माई।
जब गृहतें दधि लै कै निकस्यो, तब मैं बाँह गही री माई।
हँसि दीन्हों मेरो मुख चितयो, मीठी सी बात कही री माई।
ठगि जु रही चेटक सों लाग्यो, परि गई प्रीति सही री माई।
परमानंद सयानी ग्वालिनि, सर्वस दै निबही री माई।
अष्ट० परि० पृ० १६३

[3] अष्ट छाप-परिचय पृ० २८१

१. स्याम सुन्दर हँसि बूभत हैं,
कहियो मोल या दधि को री ग्वालिन।
गोविन्द प्रभु पीय प्यारी नेह जान्यो,.................
तब मुसिक्याय ठाढ़ी भई, सैना-बैनी करहिं सब ग्रालनि।[1]

२ अब हौं या ढोटा सों हारी।
गोरस लेत अटक जब कीनीं हँसत देत फिर गारी।
अष्ट० परि०–गोविन्दस्वामी पृ० २५१

शृंगार-चेष्टा के मूल में इस हँसी का महत्व बढ़ जाता है। विचारों के आदान-प्रदान का यह एक अच्छा साधन है।

हँसि ब्रजनाथ गह्यो कर पल्लव, जस भरि गगरी गिरन न पावै।
'परमानंद' ग्वालिनी सयानी', कमल नैन सों तन परसावै।[2]

(६) प्रभावमूलक व्यञ्जना—मुसकान के अपूर्व प्रभाव की व्यञ्जना इन कवियों ने की है :—

१. चले री जात, मुसिकाय मनोहर,
हँसि कही एक बात अटपटी री।
हौं सुनि श्रवनि भई री अति व्याकुल,
परी है हिरदै मेरे मन खटपटी री।
परमानंद प्रभु रूप विमोहो, नंदनंदन सों प्रीति है जटी री।[3]

२. नेक चितै मुसिक्याए जू हरि, मेरे प्रान चुराइ लये।
अब तो भई है चोंप मिलन की, बिसरे देह–सिंगार ठये।

(७) व्यंग्य मूलक मुसकान खण्डिता प्रसंग पर देखी जाती है। यह एक विकर्षक प्रसंग है। रति-चिन्हों से युक्त श्रीकृष्ण के शरीर को देखकर अनायास आई हुई हंसी में व्यंग्य का भाव लक्षित होता है।

लाल न आये री रैन गँवाई।
निशि भर क्षीण बोले तमचर खग, ग्वालिन तबहिं हँसि मुसकाई।
सूरदास

ग्वालिन की इस हँसी में कृष्ण के चरित्र की अर्थ पूर्ण व्यञ्जना हुई है। भ्रमरगीत प्रसंग में हँसी को कहीं-कहीं इसी प्रसंग में ग्रहण किया है।[4]

---

1 अष्ट छाप-परिचय पृ० २५०
2 वही–पृ० १९६
3 वही–पृ० १९८
4 सूर स्याम जब तुमहिं पठाये, तब नेकहुँ मुसुकाने। सूरसागर

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति साहित्य में श्रीकृष्ण और राधा आदि की मुसकान मुख्यतः आकर्षण उत्पन्न करके सौन्दर्य की मोहकता बढ़ाने वाली है। इससे रूप की आसक्ति उत्पन्न होती है और इसका तत्काल फल मिलता है। इसके अनेक रूपों में मुसकान के भेद, मोहकता, सहज-शृंगार, चेष्टा सम्पन्नता और प्रभाव मूलक मुसकान का उदाहरण दिया गया। यह मुसकान अपने मूल रूप में मोहक ही है और इससे रूप का आकर्षण बढ़ता है। यही मुसकान चितवन से संयुक्त होकर रूप-सौन्दर्य का महत्व बढ़ाने में सोने में सुहागे का कार्य करती है।

चितवन—आकर्षण को बढ़ाने वाले व्यापारों में चितवन महत्वपूर्ण है। इसका साधक अंग नेत्र है। नेत्रों के माध्यम से भावनाओं का प्रेषण होता है। मानसिक प्रवृत्ति के अनुकूल नेत्रों के चालन और उसकी स्थिति में अन्तर आता चला जाता है। नेत्र भावनाओं के वाहक होते हैं। मन में शृङ्गार भाव के जागृत होने पर नेत्रों में विकासमूलक अनोखापन आ जाता है। इससे नेत्र-व्यापार में मादकता आ जाती है। यही मादकता क्रियामूलक होकर अपने प्रिय के समक्ष चितवन के रूप में प्रत्यक्ष होती है। इससे रूप-दर्शन में तीव्रता के साथ खिंचाव पैदा हो जाता है और आश्रय आलम्बन दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति ललक और निकटता होती चली जाती है। यह क्रिया उद्दीपक है। इस कारण शृङ्गार काव्य में इसको समुचित स्थान मिला है। हिन्दी के भक्ति साहित्य में राधा-कृष्ण प्रकरण पर 'चितवन' द्वारा भावों की अभिव्यक्ति का वर्णन लगभग सभी कवियों ने किया है।

भक्तिकाल में वर्णित 'चितवन' के विश्लेषण से उसके द्वारा दो प्रकार की प्रवृत्ति लक्षित होती है:—

(१) संयोग में उद्दीपक रूप।

(२) खण्डिता प्रसंग में व्यंग्यात्मक रूप।

खण्डिता प्रसंग पर नायिका द्वारा अनवरत रूप से प्रियतम के मुख को देखते रहने का अर्थ हृदय की रति का बाह्य प्रकाशन नहीं है, अपितु रति-चिह्नों से युक्त प्रिय-मुख को देखकर उपहास के भाव को व्यक्त करना है। अनबोले रूप में लगातार देखते जाने से ऐसे प्रसंगों पर हृद्गत आक्रोश का भाव व्यक्त होता है, रति का संचार नहीं होता। यथा

(१) प्यारी चितै रही मुख पिय को।
अंजन अधर, कपोलन विन्दन, लाग्यौ काहु तिय को।
तुरत उठी दरपन कर लिन्हीं, देखो बदन सुधारो।

प्रात समय मुख देखि श्रागुनो, तब कहीं अनत सिधारो । सूरसागर ।

मौन-प्रतारणा युक्त यह चितवन अनेक वाक्य-वाणों की अपेक्षा अधिक बलशाली है । इसका अनुकूल प्रभाव होता है । कृष्ण का संकोच एवं नतमस्तक अपराध की स्वीकृति दे देते हैं । ऐसे प्रसंगों पर 'चितवन' या 'दर्शन' रति भाव को उद्‌बद्ध नहीं करते, अपितु श्री कृष्ण के बहुनायकत्व को प्रकट कर देते हैं । यहां पर इसी बात का ज्ञान करा देना उद्देश्य है।

(२) संयोग के अवसर पर चितवन मन में आनन्द का संचार करती है और रति को जगाती है । यह अपने विपरीत लिङ्गी को आकर्षित कर लेने का साधन है । इस चितवन के अनेक प्रभावों की अभिव्यक्ति की गई है :—

(क) **काममूलक**—श्रीकृष्ण की चितवन के समक्ष गोपी के कंचुकी के बन्द टूट जाते हैं ।[1] चितवन की मादकता से काम सहायक अंगों में स्फूर्ति आ जाती है । ऐसा वर्णन श्रीकृष्ण से कुछ समयोपरान्त मिलने के पश्चात् किया गया है ।

(ख) प्रतिक्रिया मूलक प्रभाव—श्रीकृष्ण या राधादि गोपियों के चितवन से आनन्द जन्य एक तीव्र प्रतिक्रिया होती है । इस प्रतिक्रिया का अनेक रूपों में वर्णन मिलता है :—

(१) लज्जा-त्याग—चितवन के समक्ष आत्म—विस्मृति की दशा हो जाती है । श्रीकृष्ण की चितवन से लज्जा की समाप्ति हो जाती है और घूंघट पट भूल जाता है ।[2]

(२) अभिलाषा का उद्भव—चितवन के प्रभाव से अनेक गोपियों के मन में अनेक प्रकार की अभिलाषा का उद्भव होता है । गोपियां कृष्ण की एक बांकी चितवन के लिये तरसती हैं । उन्हें कृष्ण की मुसकान में 'फगुआ' मिलने का सुख मिलता है ।[3] किसी को चितवन, चारु-चिन्तामणि[4] किसी के

---

1 'कृष्णदास' प्रभु हरि गोवर्धन धारी, लाल, चारु चितवनि तोरे कंचुकी के बंदवा । अष्ट० पदावली पृ० ५०

2 महाचित चोर्‌यो नैन की कोर ।
लाज गई घूंघट पट भूल्यो, जब चितयो यहि ओर ।....
देकर सैंन मैन सर मारी, नागर नन्दकिशोर ।
चत्रभुजदास–अष्ट छाप-परिचय पृ० २८६

3 यह फगुवा हम पावहीं हो चितवन मृदु मुसकान । सूरसागर पद ३५००

4 चितवनि चारु चतुर चितामनि, मृदु मधु भाषी बैना । परमानन्द सागर

लिये मोह लेने वाला मंत्र बन जाती है।[1]

चितवन के समक्ष गोपियां अपनी देह सुधि भूल जाती हैं। वे चित्रलिखी सी हो जाती हैं।[2] गोपियां अनुभव के क्षण से ही इसे 'जी' में बसा लेती हैं, 'चितवनि तेरी जीय बसी।'[3] वे अपने को भूल जाती है "सांवरो बदन देखि भुलानी। चले जात फिरि चितयो मो तन, तब ते संग लगानी।"[4] इसके समक्ष मन परवश हो जाता है। चितवन हठपूर्वक उनके मन को मोह लेती है।[5] गोपियां घर को जाती हुई मुड़-मुड़ कर कृष्ण को देखने लग जाती हैं। चितवन से रूप की आसक्ति बढ़ जाती है। प्रेम में वैचित्र्य आ जाता है। राधा के मन में तो मिलने के उपरान्त भी विश्वास नहीं आता और वह रंग में पगी हुई बार-बार कृष्ण को देखती है:—

(१) राधेहि मिलहिं प्रतीति न आवति।........
चितवति चकित रहति चित अन्तर, नैन निमेष न लावति। सूरदास।

चितवन का व्यापार परस्पर 'सैना-वैनी' के रूप में भी विकास पाता है। गोपियां संकेत से प्रेम-रहस्य को प्रकट कर देती हैं। कृष्ण के विशाल नेत्रों की चितवन को गोपियां उसी रूप में उन्हीं व्यापारों द्वारा स्पष्ट करके अपने असीम प्रेम की अभिव्यक्ति कर देती हैं।[6] कहीं परस्पर की सैना-बैनी में वस्तु को छिपाने का प्रयास किया जाता है।[7] इससे प्रस्तुत प्रसंग की मोहकता बढ़ जाती है। चितवन द्वारा रहस्य का उद्घाटन होता है। "बंक चितवनि चितै रसिक तन गुपत प्रीति को भेद जनायो।"[8]

---

1 चितवनि मोहन मंत्र भौंह जनु मन्मथ फांसी। नन्ददास-रासपंचाध्यायी।

2 चितवत आपुहि भई चितेरो।
मंदिर लिखत छांड़े हरि अक-बक, देखत हैं मुख तेरो।
चत्रभुजदास अष्ट० परि० पृ० २८७

3 अष्ट छाप-परिचय पृ० २८७ चत्रभुजदास

4 परमानन्द सागर

5 i, अरुन-विसाल बंक अवलोकनि, हठि मन हरत हमारे। परमानन्दसागर
ii, नेक चित्तै चलेरी लालन, सखी लैंजु गयो चितचोर।
गोविन्द स्वामी अष्ट० परि० पृ० २५५

6 अष्ट छाप-परिचय पृ० २५० गोविन्द स्वामी पद संख्या २१

7 अष्ट छाप-परिचय पृ० २५१ गोविन्द स्वामी पद संख्या २५

8 अष्ट० परि० पृ. २३७ पद ५६

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह निर्णय लिया जा सकता है कि चितवन प्रेम को बढ़ाकर परस्पर आकर्षण की भावना उत्पन्न करने वाला एक रति-मूलक व्यापार है। इसके द्वारा हृदय में अनेक प्रकार की भावनाएं जागृत होती हैं। प्रिय की ओर आकर्षण, रति का उद्भव, लज्जा-त्याग, आत्म-विस्मृति, स्तब्धता, टकटकी बंध जाना आदि इसके परिणाम है। चितवन के फल स्वरूप कई प्रतिचेष्टाएं होती हैं। मुड़-मुड़ कर देखना, रूप की आसक्ति, कुतूहल, प्रेम का प्रकाशन आदि चितवन-युक्त रूप की प्रतिक्रियाएं हैं। यह चितवन सम-व्यापार की जनक है अर्थात् चितवन व्यापार आलम्बन और आश्रय दोनों की तरफ से होता रहा है। परस्पर प्रीति-प्रदर्शन का यह एक विलक्षण व्यापार है। इस सम-व्यापार द्वारा सात्विक रति का उदय माना जाता है। नायक और नायिका दोनों ही पक्षों में इसका महत्व है, परन्तु नायिका के संदर्भ में लज्जा से संवलित होकर यह चितवन विलक्षण हो जाती है। इससे उत्पन्न नायिका की मोहक मुद्रा अदा-पूर्ण हो जाती है। उसका आकर्षण बढ़ जाता है और वह अधिक सुन्दरी प्रतीत होने लगती है।

लज्जा—लज्जा स्त्रियों का आभूषण है। चारीत्रिक उच्चता से उत्पन्न इसका प्रकाशन शील–संकोच के रूप में होता है। इसे कुलवती स्त्रियों का शृङ्गार मानते हैं। यह लज्जा सामान्य रूप से शृङ्गार से सम्बन्धित है। इसीसे शृङ्गार–प्रसंगों पर, इससे नायिका के सौन्दर्य की वृद्धि मानी जाती है। लज्जा के आधार पर ही मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा ये तीन भेद नायिकाओं के किये गये हैं। शृङ्गार–रस के प्रसंग पर इसकी गणना 'व्रीड़ा' संचारी भाव के नाम से होती है।

लज्जा के कुछ वाह्य-व्यञ्जक तत्व बताये गये हैं। झेंपना, सिर नीचा कर लेना, भूमि पर लकीर खींचने लग जाना, मुँह फेर लेना आदि इस प्रकार के व्यापारमूलक तत्व हैं। लज्जा के उदय होते ही मुख आरक्तिम हो जाता है। रक्त दौड़ने लगता है। इन सबका सम्बन्ध वय से है। भक्तिकाल में लज्जा का वर्णन अधिक हो सका है, क्योंकि इस काल में वय की सीमा किशोर अवस्था तक पुरुष पक्ष में और किशोरी या यौवनावस्था तक स्त्री पक्ष में थी। वय की इसी सीमा में लज्जा का सबसे अधिक प्रकाशन सम्भव हो पाता है। इससे मुख की आभा में अपूर्व वृद्धि हो जाती है और सौन्दर्य का विकास स्वतः हो जाता है। आंचल से मुख ढाक लेना, तिरछी चितवन से देखना आदि भी इसके अनुभावों में आते हैं। यह आंखों की ऐसी मूक भाषा है, जिसे रसिक हृदय ही समझ सकता है।

भक्तिकाल में लज्जा व्यापार का वर्णन दो अवसरों पर किया गया है।

(१) श्रीकृष्ण द्वारा अनावृत सौन्दर्य को देख लिये जाने पर।

(२) संयोग के अवसर पर।

(१) कुलवधू की शालीनता सदा से मोहक होती है। इस शालीनता की रक्षा के लिये वस्त्रों का आच्छादन आवश्यक है। स्नानादि के अवसर पर कभी-कभी उसका सम्पूर्ण शरीर अनावृत हो जाता है। ऐसी स्थिति में किसी द्वारा देख लिये जाने पर लज्जा का स्वाभाविक उदय मनोहर होता है। एक उदाहरण देखें :—

(१) न्हान को खोले कंचुकी के कसना।
सम्मुख ह्वै पिय झांकि झरोखनि, तब अंगुरी दीनी बिच दशना।
लज्जित तन कंपित ह्वै धाई, लीन्हें और बसना।
'कुम्भनदास' प्रभु गोवर्धन धर, तबहिं लाल लगे हैं हँसना।

इस उदाहरण में लज्जा का बड़ा अच्छा चित्र प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न अनुभावगत व्यापारों का रूप-चित्र हृदय आवर्जक है। यहां श्रीकृष्ण द्वारा अनावृत अंग को देख लेना विभाव का कार्य करता है, इससे सुप्त लज्जा उद्दीप्त हो जाती है। अंगुली को दांतों के बीच में दे देना, शरीर का कम्पित होना, दौड़ना और दूसरा वस्त्र ले लेना अनुभाव गत चेष्टाएं हैं, इन चेष्टाओं से संयुक्त होकर नायक श्रीकृष्ण की रुचि नायिका में बढ़ जाती है। 'तबहिं लाल लगे हंसना" के कथन से नायक के मन में नायिका की इस घबड़ाहट के कारण आनन्द का अनुभव होता है। वह मानो चिढ़ाने के लिये हँस देता है। सद्यः स्नाता का ऐसा वर्णन प्रायः होता है। विद्यापति की नायिका सरोवर से स्नान करके निकलते समय अपने दोनों स्तनों को ढक लेती है, क्योंकि गीले वस्त्र उसके अंगों से चिपक कर उसे अनावृत जैसा बना देते हैं।

(२) संयोग के अवसर पर लज्जा का प्रदर्शन आकर्षक बन जाता है। भक्त कवियों ने प्रायः तीन निम्नलिखित परिस्थितियों में इस लज्जा का स्वाभाविक उदय दिखाया है।

(क) गुरुजनों की उपस्थिति में प्रिय दर्शन से उत्पन्न लज्जा व संकोच।

(ख) पारस्परिक छेड़-छाड़ या वार्तालाप के अवसर पर लज्जा का प्रदर्शन।

(ग) रति के अवसर पर लज्जा।

गुरुजन सान्निध्य और लज्जा—स्त्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार उनमें अपने प्रेम के गोपन की भावना रहती है। यह भावना वय के

प्रारम्भिक काल में अधिक दीख पड़ती है, जो क्रमशः क्षीण होती चली जाती है। इसी कारण स्त्रियां दूसरों के समक्ष अपने प्रिय को भी देखकर संकुचित हो जाती हैं। इस संकोच की दो प्रवृत्ति दीख पड़ती हैं।

(१) बड़ों की मर्यादा रक्षा और अपनी गोपनीयता।

(२) लोक लज्जा और सामाजिक परम्पराओं का भय।

बड़ों की मर्यादा की रक्षा शालीनता से होती है। उनके समक्ष चपल आचरण करने से उच्छृङ्खलता बढ़ती है और उनकी मर्यादा नष्ट हो जाती है। इससे बड़ों के समक्ष प्रिय को देखकर मौन हो जाना या मस्तक का नय जाना इसी संकोच युक्त लज्जा के अनुभाव हैं। यथा—

स्याम अचानक आय गये री।
मैं बैठी गुरुजन बिच सजनी, देखत ही मेरे नैन नए री।[1]

यहाँ नेत्रों के नय जाने में लज्जा का मौन अभिनय आकर्षक है। इससे चपलता भी नहीं होने पाई और गुरुजनों की मर्यादा रक्षा भी हो गई। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।

समाज के समक्ष प्रेम का प्रदर्शन लज्जा का जनक होता है। स्त्रियां अपनी रहस्य लीला की चर्चा भी दूसरों के समक्ष करने में संकोच का अनुभव करती हैं। इसी से यदि प्रिय द्वारा इसे प्रकट कर दिया जाय, तो ऐसी स्थिति में उनके लज्जा से गड़ जाने का वर्णन मिलता है। प्यारी राधा लोक मर्यादा को समझने लगी है। इसी से वह श्याम से कहती है कि—

१. स्यामहि बोलि भयो ढिग प्यारी।
ऐसी बात प्रकट कहुँ कहियत, सखिन माँझ कत लाजनि मारी।
इक ऐसेहि उपहास करत सब, तापर तुम यह बात पसारी।....
लाजनि मारति हो कत हमको, हाहा करति जानि बलिहारी।[2]

इस अवतरण में लज्जा अनुभावों से प्रकट नहीं की गई है, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में समाज के सन्दर्भ में लज्जा का वर्णन नायिका के मुख से ही किया गया है। कथ्य मात्र से भी लज्जा का संकेत मिलता है।[3] यहाँ शालीनता के कथन से लोक-व्यवहार की भाव-भूमि पर संकोच का वर्णन है।

---

1 सूरसागर पद २४९७

2 सूरसागर पद २१७५

3 ब्रजबसि कोक बोल सहौं।
तुम बिन स्याम और नहिं जानौं, सकुचि न तुमहिं कहौं। सूरसागर २३०४

प्रिय को अचानक देखकर क्रिया-विदग्धा नायिकाओं के संकोच का वर्णन मिलता है। एक गोपी कृष्ण को देखकर मुस्कराती हुई इसी लज्जा का प्रदर्शन करती है, परन्तु दूसरे क्षण वस्तु-स्थिति का ध्यान आते ही क्रियाओं के द्वारा अपनी भावनाओं को कृष्ण तक प्रेषित कर देती है।[1] इस प्रकार की लज्जा का प्रदर्शन दूसरे की उपस्थिति में सम्भव होता है। लोक-लज्जा में सामाजिक नियमों के उल्लंघन एवं निन्दा के भय की प्रधानता रहती है, परन्तु पारस्परिक चर्चाओं आदि में लोक पक्ष सामने नहीं रहता। अतः एकान्त वार्तालापादि से उत्पन्न लज्जा स्त्रियों के सौन्दर्य का वास्तविक भूषण है।

पारस्परिक मनोविनोदादि में लज्जा—श्रीकृष्ण और गोपियों आदि के वार्तालाप या छेड़-छाड़ में लज्जा का समुचित प्रदर्शन होता है। ऐसा प्रायः तीन अवसरों पर हुआ है। दान-प्रसंग, पनघट प्रसंग और राधा-कृष्ण के आरम्भिक परिचय के समय यही संकोच जन्य लज्जा दीख पड़ती है।

दान-प्रसंग पर कृष्ण की छेड़-छाड़ बढ़ जाती है। वे दही का दान मांगते-मांगते यौवन दान मांगने लग जाते हैं। गोपियां उनकी इस अचगरी को सुनकर लाज से गड़ी जाती हैं। कृष्ण को तो 'गो-रस' चाहिये दूध-दही नहीं।[2] कोई प्रगल्भा गोपी श्रीकृष्ण के अनौचित्य का प्रतिपादन करती है और किसी को अपने यौवन का बड़ा अभिमान है। एक गोपी कहती है कि 'हमरो जोवन रूप आँखि इनकी गड़ि लागत।'[3] इस कथन में प्रेम की अभिव्यञ्जना एवं अपने रूप का गर्व दोनों ही बातें दीख पड़ती हैं। ऐसे प्रसंग पर संकोच का प्रदर्शन दांतों के बीच अंगुली देकर आपसी सैना-बैनी द्वारा और घूँघट के माध्यम से हुआ है। कहीं पर कृष्ण प्रेम में कोई सखी लोक-लाज संकोच सब कुछ छोड़कर कृष्ण की चेरी बन जाती है।[3]

---

1 तब राधा इक भाव बतावति।
मुखि मुसुकाइ सकुचि पुनि सहजहि, चली अलक मुरझावति।
एक सखी आवति जल लीन्हें, तासों कहति सुनावति।
टेरि कह्यो मेरे घर जैहो, मैं जमुना तें आवति। सूरसागर। सभा २६४२

2 अरी हम दान लेहैं, रस-गोरस को, यही हमारो काज।
हम दानी तिहुँ लोक के, चारो जुग में राज॥ अष्ट० परि० पृ० ११६

3 सूरसागर पद २०७६

4 लोक सकुच कुल कानि तजी,
जैसे नदी सिन्धु को धावै तैसे स्याम भजी। सूरसागर। वे० प्रेस पृ. २५६

पनघट प्रसंग पर कृष्ण की छेड़-छाड़ से संकोच भाव का उदय दिखाया है। सामान्य रूप से दूध दुहने जैसे प्रसंगों पर भी छेड़छाड़ की यही प्रवृत्ति दीख पड़ती है। वनमार्ग में स्त्रियों का संकोच वर्णित है। राधा कृष्ण के प्रथम परिचय पर राधा का लज्जित होना उसकी क्रीडा की भावना व्यक्त करती है—

'कनक बदन सुढार सुन्दरी सकुचि मुख मुसकाय।
स्यामा प्यारी नैन रांचै अति विशाल चलाय।[1]

वह संकोच पूर्वक कृष्ण का मुख देखती है। 'राधा सकुचि स्याम मुख हेरति। चन्द्रावली देख कै आवति, व्रज ही को प्रिय फेरति।"[2]

रति प्रसंग में लज्जा—लज्जा का वर्णन भक्त कवियों ने रति प्रसंग पर किया है। रति से सम्बन्धित तीन अवसरों पर लज्जा का वर्णन मिलता है।

(१) सामान्य रति प्रसंग पर।

(२) विपरीत रति प्रसंग पर।

(३) खण्डिता प्रसंग पर।

सामान्य रति प्रसंग पर लज्जा एक संचारी भाव के रूप में है। यह नव वय की स्वाभाविक चेष्टा के रूप में वर्णित है। आधुनिक काल में हरिश्चन्द्र का एक पद इसका उपयुक्त उदाहरण है।[3] ऐसे प्रसंगों पर राधा का संकोच रति रस का संवर्द्धन करने में पूर्ण सहायक होता है। विपरीत रति का वर्णन सूरदास ने एक स्थल पर अच्छा किया है। 'नागरी' विपरीत रति में संकोच सहित लिपट जाती है।[4] सखियों द्वारा रति-सुख प्रसंग को जान लिये जाने पर गोपन की प्रवृत्ति में संकोच दीख पड़ता है—

---

1 सूरसागर

2 सूरसागर पृष्ठ ३१३ वे० प्रेस।

3 प्यारी लाजन सकुची जात।
ज्यों-ज्यों रति प्रतिबिम्ब सामुहें आरसी माँह लखात।
कहत लाल यहि दूरि राखिये, बलकरि कर्षत गात।
'हरीचन्द्र' रस बढ़त अधिक अति, ज्यों-ज्यों तीय लजात।
भारतेन्दु ग्रन्थावली पृ० ४५८

4 सूर स्याम विपरीत बढ़ाई।
नागरि सकुचि रही लपटाई। पद २२९६ सूरसागर

मोहनलाल के रसमाती।
वधू गुपति गोपति कत मोसों, प्रथम नेह सकुचाती।
जै श्रीहित हरवंश वचन सुनि भामिनि भवन चली मुसुकाती।
हित चौरासी पृ० २६

रति प्रसंग के कुट्टमति अनुभाव' पर लज्जा का यही दृश्य मूर्तिमान हो जाता है। सूर की पैनी दृष्टि द्वारा व्रीडा का अच्छा चित्र प्रस्तुत किया गया है। रंग में फूले कृष्ण मुख का स्पर्श करते हैं और प्यारी लज्जा से संकुचित होती जाती है।

१. आजु रंग फूले कुँवरि कन्हाई।
मुख परसत सकुचत सुकुमारी, मनहि मन अति भावत।
तव प्यारी कर गहि मुख टारत, नेकहुँ लाज न आवत। सू. ३०७५

प्यारी के इस निषेध और वचनों द्वारा कृष्ण को झिड़क देने में रस का संवर्द्धन होता है और 'प्यारी' का आकर्षण बढ़ जाता है। नायक कृष्ण की प्रेम-विह्वलता दर्शनीय हो जाती है। वस्तुतः दाम्पत्य का सम्पूर्ण सुख ऐसी ही चेष्टाओं में वर्तमान रहता है।

नायिका के संकोच से ही इन कवियों की मानसिक तृप्ति नहीं हुई। अपितु नायक के संकोच का वर्णन एवं चित्र भी उपस्थित किया गया है। अपराधी मनोवृत्ति के कारण प्रायः नायक पक्ष में ऐसे संयोग का वर्णन मिलता है। नायक कृष्ण की रमणशील वृत्ति अन्य नायिका में आसक्त हो जाती है। वे रति-भोग के उपरान्त राधा के पास लौटते हैं, परन्तु उनके नेत्र नमित हैं, गति मन्थर है और दृष्टि मिलाने का साहस नहीं होता। उनकी इन अनुभावगत चेष्टाओं का वर्णन खण्डिता प्रसंग पर देखा जा सकता है।

१. बलि-बलि जाऊँ रसिक गिरधर प्रिय, नीके आए प्रात तमचुरके बोले।
इतो संकोच कौन कहो मानत, अधिक लजाय रहे बिन बोले।[1]

२. कौन के भोराये भोर आए हो भवन मेरे,
ऊँची दृष्टि क्यों न करो कौन ते लजाने हो।..............................
कृष्णदास प्रभु छोड़ो अटपटी रहे हो लाल,
आज हौं तुम्हें देखि नीके पहचाने हो।[2]

---

1 अष्टछाप पदावली—पृ० ६३ कृष्णदास का पद
2 ,, ,, ६७ ,,

इस उदाहरण में रेखाओं के स्वच्छन्द प्रयोगों द्वारा खण्डिता नायिका व रसिक नायक का अच्छा चित्र प्रस्तुत हुआ है।

उपर्युक्त विश्लेषण से प्रकट हो जाता है कि लज्जा स्त्रियों का प्रमुख आभूषण है, जो संयोग की अवस्था में रति-वर्द्धक चेष्टा के रूप में प्रकट होता है। प्रिय का प्रत्यक्ष-दर्शन, प्रिय सम्बन्धी रस-चर्चा अथवा प्रिय की स्मृति मात्र से इस लज्जा का उन्मेष होता है। इस लज्जा में सामाजिक नियमों की स्वीकृति वर्तमान रहती है। नव वय में इसका मधुर रूप देखने को मिलता है। यह रूप दो ढंग से अपना विकास प्राप्त करता है :--

(१) रति-मूलक आनन्दवर्द्धक चेष्टाओं के रूप में।

(२) अनुभाव के कथ्य मात्र से।

इन दोनों में रति मूलक आनन्द-वर्द्धक चेष्टाओं का महत्व रस की दृष्टि से अधिक है। इन चेष्टाओं के विभिन्न शारीरिक परिवर्तनों एवं अनुभावों का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया जा चुका है। संयोग के अवसर पर इन चेष्टाओं में निषेध से रस बढ़ता है, नायक की लालसा में वृद्धि होती है और नायिका आकर्षक प्रतीत होने लगती है।

"निषेध-परक-सौन्दर्य"--निषेध अस्वीकृति का बाहरी दिखावा है। इसके मूल में मानसिक स्वीकृति मूलक सम्मति होती है, परन्तु संयोग प्रसंग में स्पष्टत: अपनी स्वीकृति दे देना शालीनता के विपरीत है, सौन्दर्य एवं आकर्षण का बाधक है। मुग्धा की कमनीयता, उसका आकर्षण इसी 'निषेध' में छिपा रहता है। नायक की रुचि को बढ़ाने का यह एक अमोघ अस्त्र है, जिससे एक ओर नायिका के प्रति नायक ललकता है और दूसरी ओर संयोग सुख में सहजता और रस की सान्द्रता बढ़ जाती है। यही सान्द्रता और व्यक्तित्व का पूर्ण निलय संयोग का वास्तविक सुख है। अनुभावों से शून्य और स्वीकृति-गर्भ-निषेध से रहित नायिका का सौन्दर्य पूर्ण तन्मयता उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो पाता। यही कारण है कि प्रौढ़ा या प्रगल्भा की तुलना में मुग्धा का निषेधात्मक अनुभाव नायक के मन में रस-भाव का संचार करने में अधिक समर्थ होता है। इसी से संयोग के प्रसंग पर भक्त कवियों ने मुग्धा के निषेधात्मक सौन्दर्य को अपने काव्य का विषय बनाया है। रस का वास्तविक स्फुरण और उद्दीप्ति निषेध के माध्यम से ही सम्भव है।

संयोग के अवसर पर यह निषेध नायिका पक्ष का आभूषण बनता है। नायक-पक्ष में निषेध का वर्णन साहित्य में नहीं किया गया है, क्योंकि नायक

भोक्ता और नायिका भोग्या मानी जाती है। इस निषेध के दो रूप दीख पड़ती हैं।

(१) चेष्टा या अनुभावगत निषेध।

(२) वचनगत निषेध।

निषेध के इन दोनों रूपों में कोई प्रत्यक्ष विभाजक रेखा नहीं है। एक के संग दूसरे की स्थिति प्रायः बनी रहती है। वचनगत निषेध में सिर संचालन आदि आंगिक क्रियाओं का योग रहता ही है। अनुभावगत निषेध में अत्यधिक शालीनता मुग्धा को मौन रहने की प्रेरणा देती है। आंगिक चेष्टाओं के साथ वचन या वाणी का स्फुरण हो भी सकता है और नहीं भी होता है। कवियों ने प्रायः प्रत्येक स्थिति में इसका वर्णन किया है।

अनुभावगत निषेध—संयोग या रति-प्रसंग पर मुग्धा नायिकाएँ अपनी स्वीकृति-निषेध को आंगिक चेष्टाओं द्वारा व्यक्त कर देती हैं। यह निषेध छेड़-छाड़ के प्रसंग पर या रति-प्रसंग पर दीख पड़ता है—

अलक संवारन व्याज मैं, परस्यौ चहत कपोल।
मृदुल **करनि डारति झटकि**, रसमय कलह कलोल। ध्रुवदास

यहाँ कृष्ण द्वारा कपोल स्पर्श करने की इच्छा और नायिका की अनिच्छा व्यक्त की गई है। यह अनिच्छा आंगिक चेष्टा द्वारा स्पष्ट है। 'मृदुल करनि डारति झटकि" कोमल करों से प्रिय के हाथों को झटक देने में क्रोध की व्यञ्जना न होकर निषेध मूलक प्रेम की ही व्यञ्जना है। इससे रसमय कलह आकर्षित करने वाला बन जाता है और मूल भाव अधिक रसमय बन जाता है। यह निषेध स्वीकार की तुलना में अधिक आकर्षण उत्पन्न करता है।

राधा का निषेध भाव अपने अंग का दृष्टि स्पर्श भी नहीं करने देता है। कृष्ण जिस अंग को देखना चाहते हैं, राधा उसे छिपाकर इसी निषेधात्मक प्रवृत्ति को व्यक्त करती हैं—

जो अंग चाहत रसिक प्रिय, इन नैननि सों छ्वाई।
सो ठां सुन्दरि पहिले ही राखति बसन दुराई।

रस-रत्नावली पद ४० ध्रुवदास

बसन से अंगों को छिपा देना निषेध की अनुभावगत या चेष्टागत क्रिया है। इस प्रकार की चेष्टाएँ कई स्थलों पर दीख पड़ती है। कभी नेत्र मूँदने में, कभी अंगों के स्पर्श में यह निषेध दीख पड़ता है :—

१. मूँदि रहे पिय प्यारी लोचन।

मन हरखित मुख खिझत सखिन कहि चतुर चतुरई भाव। सूरसागर

यहां मुख से खीझने में अस्वीकार न होकर प्रेम का प्रदर्शन है, इसी से मन की प्रसन्नता व्यक्त की गई है। 'मन-हरखित' का यही रहस्य है। मुख से खीजना तो एक दिखावा मात्र है।

अंगों के स्पर्श करने में निषेध का भाव व्यक्त किया गया है। प्यारी संकोच करती हुई इसका निवारण करना चाहती है। कृष्ण के मुख को अपने हाथों से हटाती हुई इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं :—

कबहुँक कुच कर परस कठिन अति, तहां बदन परसावत।
मुख निरखति सकुचति सुकुमारी, मनहि मन अति भावत।
तब प्यारी कर गहि मुख टारत, नैंकु लाज नहिं आवत।

सूरसागर ३०७५

यहां मुख हटाने में लज्जा और निषेध के दोनों ही भाव लक्षित हो जाते हैं। यह निषेध करों द्वारा व्यक्त किया गया है। हरिराम व्यास ने ऐसे प्रसंग के उद्घाटन पर नेत्रों का सहारा लिया है।

"स्याम काम बस चोली खोलत, आतुर निसि के भोरे।
डाँडी छाड़ि करत परिरम्भन, चुम्बन देन निहोरें।
सैननि बरजति पियहिं किसोरी, दै कुच कोर अंकोरें।

वचन-निषेध—दैनिक जीवन की छेड़-छाड़ मूलक विभिन्न क्रियाओं में नायिका द्वारा वचन-निषेध आकर्षक हो जाता है। दान-प्रसंग पर इस प्रकार के निषेध का वर्णन प्रायः किया गया है। एक गोपी कहती है कि कृष्ण आज प्रातः काल से ही झगड़ा कर रहे हैं। वैसे तो मैं दही नहीं दे सकती, परन्तु वे छीन कर चाहे सम्पूर्ण दही ले लें। उसके इस वचन-निषेध में भी उसका मन कृष्ण में अटका रहता है और उसका पग आगे बढ़ता ही नहीं है।[1] इस पद्य में

---

[1] भोरहि ते कान्ह करत मों सो झगरो।
औरनि छाँडि परे हठ हमसों, दिन प्रति कलह करत नहिं डगरो।
अनबोहिनी तनक नहिं दैहों, ऐसे हि छीनि लेहु बरु सगरो।
अंचल खेंचि-खेंचि राखति हो, जान देहु अब होत है दगरो।
मुख चूमति हँसि कंठ लगावति आपुहि कहति न लाल अचगरो।
सूर सनेह ग्वारि मन अटक्यो, छाड़हु दियो परत नहिं पगरो।
परम मगन है रही चितै मुख, सबते भाग याहि को अगरो।

सूरसागर

'ऐसेहि छीनि लेहु वरु सगरो'' कहने से दही के छीन लिये जाने पर सुख की अनुभूति और तदर्थ स्वीकृति की पूर्ण व्यञ्जना है। कृष्ण द्वारा किये जाने वाले आलिंगन का गोपियाँ निवारण करना चाहती है। इस निषेध से उनके मिलन की इच्छा अधिक प्रबलता से व्यक्त हो जाती है। ऐसे दान के प्रसंगों पर निषेध के दिये गये कारणों से मन की अभिलाषा ही व्यक्त होती है। इस दृष्टि से निवारण तो इच्छा-पूर्ति का माध्यम है। इसमें कृत्रिमता अथवा बनावटी पन नहीं दीख पड़ता है, अपितु अन्तःकरण की सम्पूर्ण लयता के साथ गोपी के मन की समस्त चेतना कृष्ण का सुखानुभूति में अपने जीवन की सार्थकता पा लेती है। निषेध तो मिलन का एक बहाना मात्र है, जिसके अभाव में संयोग सुख में फीकापन आ जाता है।

दान-लीला प्रसंग पर गोपियाँ कृष्ण की क्रियाओं के अनौचित्य का प्रतिपादन करती हैं। उनका कथन है कि हमारे यौवन में इनकी आंख क्यों गड़ती है "हमरो जोवन रूप आँखि इनकी गड़ि लागत"। वे नाना प्रकार से कृष्ण की विनती करती हैं, उन्हें छोड़ देने को कहती हैं, परन्तु मन में सानिध्य-लाभ की लालसा बनी रहती है।[1] कृष्ण के अंग-स्पर्श करने पर मना करती हैं।[2] गोपियाँ चाहती हैं कि कृष्ण चले जांय, परन्तु उनका हाथ नहीं छोड़तीं। इस निवारण का अपना महत्व है।[3] वचन द्वारा इस निषेध में हृदय की

---

1 मटुकी लै जु उतार धरी।
इन मोहन मेरो अँचरा पकर्‌यो, तब हौं बहुत डरी।
मोहि को तुम गहि जू रह्यो हो, संग की गई सगरी।
पैंया लागि करत हौं बिनती, दुहुँ कर जोरि खरी।
परमानन्द प्रभु दधि बेचन की बिरियां जात टरी।
अष्ट० परि० पृ० १९२

2 (i) मोहन मनमथ मार, परसत कुच नीवी विहार।
वेपथु युत नेति-नेति वदति भामिनी।
(ii) वधू कपट हठि कोप कहत कल नेति-नेति मधु बोल। हित हरिवंश
(iii) स्याम काम-बस तोरि कंचुकी, कर जनि गहि कुच कोर।
स्यामा मुंच-मुंच कह, खण्डित गंव अधर की ओर॥
पृ० ३८५ पद २८० उत्तरार्द्ध

3 राधा सकुचि स्याम मुख हेरति,
जाहु-जाहु मुख ते कहि भापत, करते कर नहि छूटत।
सूरसागर। वे० प्रेस पृ० ३१३

सम्पूर्ण कोमलता अभिव्यक्त हो जाती है। छेड़-छाड़ के प्रसंगों पर इस प्रकार की निषेधात्मक उक्ति दीख पड़ती है। एक गोपी कृष्ण के अचगरी करने पर उसे मना करती हुई कहती है कि 'हे नन्द के लाल, इस प्रकार की बातें न करो, मेरा अंचल छोड़ दो, अन्यथा बहुत जंजाल में पड़ जावोगे। अभी तो तुम्हारी अवस्था भी नहीं आई है। 'तरुनई' तो आ जाने दो और मेरे उर से अपना हाथ उठालो, अन्यथा मोतियों की यह माला टूट जायगी:—

> ऐसे जनि बोलहु नन्दलाला।
> छाँड़ि देहु अँचरा मेरो नीके, जानत और सी बाला।
> बारम्बार मैं तुम्हँहि कहत हौं, परिहो बहु जंजाला।
> जोबन रूप देखि ललचानो, अबही तैं ये ख्याला।
> तरुनाई तन आवन दीजै, कत जिय होत बिहाला।
> सूर स्याम उरते कर टारहु, टूटै मोतिन माला।

इन पंक्तियों में निषेध का अनोखा सौन्दर्य है। निषेध और स्वीकृति इन दोनों का मिश्रित भाव भी कहीं-कहीं देखने को मिल जाता है। परमानन्द दास ने इसी प्रकार का चित्र प्रस्तुत किया है। उनके वर्णन में गोपी एक ओर बाँह पकड़ने से मना करती है और दूसरी ओर कदम्ब की छाया में बैठकर कृष्ण से वार्तालाप भी करना चाहती है। वह कहती है कि तुम बड़े व्यक्ति के पुत्र हो। अतः तुम्हारी बात को अस्वीकार भी तो नहीं कर सकती हूँ—

> न गहो कान्ह कोमल मेरी बहियाँ।
> सुन्दर स्याम छबीले ढोटा, हौं नहिं आऊँ या बन महियाँ।
> ब्रज बसि बास बड़े को ढोटा, करि न सकति तुम सौं फिर नहियाँ।
> परमानन्द प्रभु कहि निबहौ कछु, बैठहु नेकु कदम की छहियाँ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट हो गया कि शृङ्गार के संयोग पक्ष में निषेध का स्वीकारात्मक चमत्कार अनेक रूपों में वर्णित है। वचन-निषेध और क्रिया-निषेध द्वारा मन की झूठी अनिच्छा बताई गई है। इससे नायक का नायिका के प्रति आकर्षण बढ़ जाता है। वह अपनी चेष्टाओं के कारण मोहक प्रतीत होने लगती है। यह मोहकता रूप-सौन्दर्य का साधक बन जाता है। इसी से रस की सिद्धि होती है। अतः आकर्षण को बढ़ाकर मन में रति का संचार करने में इन चेष्टाओं की अनिवार्यता स्वीकार्य है। इन विशेष चेष्टाओं के साथ अलंकार मूलक सामान्य चेष्टाओं से भी रूप का आकर्षण बढ़ जाता है।

(ख) सामान्य-चेष्टा—चेष्टा द्वारा आलम्बन की सौन्दर्य-वृद्धि को

स्पष्ट करने के लिये उसे विशेष और सामान्य चेष्टाओं में विभाजित किया गया था। सामान्य-चेष्टा के अन्तर्गत अलंकारों का संकेत किया जा चुका है। यौवन में ये अलंकार नायिका के सौन्दर्य को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होते हैं। इनके कारण शरीर में मोहकता एवं आकर्षण का आविर्भाव होता है। इन अलंकारों की तीन कोटियां--अंगज, अयत्नज और स्वभावज-बताई गई हैं। इनमें अयत्नज अलंकार चेष्टापरक न होकर गुण-परक है, क्योंकि ये कृति-साध्य नहीं हैं, अपितु स्वतः ही गुणों के रूप में इनका उद्भव होता है। स्वभावज अलंकार स्वभाव सिद्ध होते हुए भी कृति की अपेक्षा रखते हैं। अंगज अलंकारों में भी शारीरिक व्यापार ही भावों के वहन किये जाने का प्रधान साधन बनता है। इससे केवल अंगज और स्वभावज अलंकारों को ही चेष्टा के अन्तर्गत मानेंगे। अंगज अलंकार के अन्तर्गत, हाव, भाव और हेला की गणना होती है। निर्विकार चित्त में उत्पन्न प्रथम काम-विकार की भाव' संज्ञा है। 'हाव' में यही भाव भृकुटि नेत्रादि के विलक्षण व्यापारों द्वारा प्रकट कर दिया जाता है। इन दोनों में हाव में शारीरिक-व्यापार की प्रधानता होती है और 'भाव' में मानसिक वृत्तियों में एक परिवर्तन आ जाता है। दोनों के एक-एक उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है :—

१. खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी। ....
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन-विशाल भाल दिये रोरी।........
सूर-स्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगोरी।

सूरसागर १२६०

२. राधा को मैं तबहि जानी।
अपने कर सों माँग सवारं, रचि-रचि बेनी बानी।
मुख भरि पान मुकुर लै देखति, तासों कहति अपानी।
लोचन आंजि सुधारति कर जनि, छांह निरखि मुसकानी।
बार-बार उरजनि अवलोकति, वा तें कौन सयानी।
सूरदास जैसी है राधा, तैसी मैं पहचानी।

सूरसागर २६७०

इन उदाहरणों में से प्रथम में श्रीकृष्ण के चित्त में राधा को देखकर रीझने का भाव उत्पन्न हो गया और दूसरे में राधा की विभिन्न चेष्टाएँ उसकी संभोगेच्छा को प्रकाशित कर देती हैं। इन चेष्टाओं में लोचनों को आंजना, उरज को देखना आदि काम मूलक चेष्टाएं हैं। यही चेष्टा सुव्यक्त होकर 'हेला' कही जाती है।

१. देखि सखी मोहन मन चोरत।
नैन कटाच्छ, बिलोकनि मधुरी, सुभग भृकुटि बिबि मोरत।
सूरसागर पद २४३२

स्पष्ट हो जाता है कि अंगज अलंकारों के द्वारा मोहकता बढ़ाने की चेष्टा की जाती है। इन अलंकारों से काम-मूलक विलास चेष्टाओं का ज्ञान हो जाता है।

स्वभावज अलंकारों में चेष्टापरक केवल दश अलंकारों की ही गणना की गई है। इन्हें उनकी चेष्टा की प्रवृत्ति के अनुसार अनेक भागों में बाँट दिया गया है।

त्वरा से युक्त चेष्टा में 'विभ्रम' की गणना होगी। इसमें प्रिय-आगमन के समाचार को सुनकर भूषणों का अन्य अंगों में पहन लेने की क्रिया सम्पन्न होती है।

निसिवन को जुवती सबधाई।
उलटे अंग अभूषन ठाई। सूरसागर १६०७

(२) विच्छित्ति,[1] और ललित[2] में प्रसाधन गत चेष्टा वर्तमान रहती है। अल्प रचना से शरीर शोभा का बढ़ जाना विच्छित्ति तथा संयोग के समय अंग-विन्यास आदि आंगिक चेष्टा से मोहकता को बढ़ा लेना 'ललित' कहा जाता है। यथा—

१. धनि वृषभानु-सुता बड़ भागिन।
कहा निहारति अंग-अंग छबि धन्य स्याम अनुरागिनि।
और तिया नख-सिख सिंगार सजि, तेरे सहज न पूरै।
रति-रंभा, उरवसी, रमा सी, तोहि निरखि मन झूरै।
सूरसागर ३०६२

इस उदाहरण में जिस सौन्दर्य को अन्य ललनाएँ प्रसाधनादि से प्राप्त करती हैं, उसे वृषभानुसुता सहज में ही उपलब्ध कर लेती है।

---

[1] आधौ मुख नीलाम्बर सों ढकि, बिथुरी अलकैं सोंहै।
एक दिसा मनु मकर चाँदनी, घन बिजुरी मन मोहै। सूरसागर २८०६

[2] मनो गिरवर ते आवति गंगा।................
गौर गात दुति बिमल बारि-बिधि कटि तट त्रिबली तरह तरंगा।
रोम राजि मनो जमुन मिलि अध, भँवर परत मानो भ्रू भंगा॥
सूरसागर ३०७२

(३) लीला के अन्तर्गत रम्य-वेश, क्रिया और प्रेमपूर्ण वचनों से पारस्परिक अनुकरण की प्रवृत्ति रहती है। इसमें नायक-नायिकाओं में नकल या अनुकरण की चेष्टा का वर्णन होता है।[1] इस अनुकरण के द्वारा प्रेम की प्रगाढ़ता का आभास मिल जाता है।

(४) अभिव्यक्ति मूलक चेष्टा में 'कुट्टमित' में निषेध का सौन्दर्य, 'विब्वोक' में गर्व और अभिमान के कारण प्रिय के अनादर से उत्पन्न प्रेम भाव की सान्द्रता और 'विहृत' में समय के अनुकूल अपने भावों को प्रकट न कर सकने के कारण लज्जागत सौन्दर्य होता है। यथा :—

(क) आजु रंग फूले कुँवर कन्हाई।
कबहुँक अधर दशन भर खण्डित, चाखत सुधा मिठाई।
कबहुँक कुच कर परस कठिन अति, तहाँ वदन परसावत।
मुख निरखति सकुचति सुकुमारी, मनहि मन अति भावत।
तब प्यारी कर गहि मुख टारति, नैंकु लाज नहिं आवत।
सूरदास प्रभु काम सिरोमणि, कोक-कला दिखरावत।
सूरसागर ३०७५

(ख) बरज्यौ नहिं मानत तुम नैकहुँ, उलभत-फिरत कान्ह घर ही घर।
मिस ही मिस देखत जु फिरत हौ, जुवतिनि-वदन कहौ काकैं बर।
सूरसागर २६६१

इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः कुट्टमित और विब्वोक के भाव को व्यक्त किया गया है।

विशेष प्रकार की चेष्टाओं से इन भावों की अभिव्यक्ति हो जाती है। 'विहृत' में अपने भावों की अभिव्यक्ति ही नहीं हो पाती है। प्रिय-मिलन के अवसर पर लज्जादि के कारण अभिलाषाएं अतृप्त ही रह जाती हैं।

१. कहत कछु नहिं आजु बनी।
हरि आयें हौं रही ठगी सी, जैसे चित्त धनी। सूरसागर

---

1 तिहारी लाल मुरली नेक बजाऊं।
जो जिय होति प्रीति कहिबे की, सो धरि अधर सुनाऊँ।
....
तुम बैठो हठ मान साजि कै, मैं गहि चरन मनाऊँ।
तुम राधे हो, मैं हौं माधो, ऐसी प्रीति जगाऊँ। सूरसागर २७५६

(५) विलास, किलकिञ्चत और मोट्टायित का सम्बन्ध प्रिय के संदर्भ में बना रहता है। 'विलास' प्रिय-दर्शनादि से उत्पन्न वैशिष्ट्य का बोधक है। यह शारीरिक चेष्टा या प्रेम के मधुर प्रदर्शन द्वारा व्यक्त होता है। भक्ति काल में स्त्री और पुरुष दोनों ही पक्षों में विलास की यह भावना व्यक्त की गई है।[1]

किलकिञ्चित् में विपरीत एवं भिन्न-भिन्न भावों की सबलता रहती है। इसमें प्रसन्नता, दुःख आदि अनेक भाव एक साथ व्यक्त किये जाते हैं। इन क्रियाओं से प्रेम के आधिक्य की व्यञ्जना होती है।[2] प्रिय वार्ता प्रसंग पर उसके प्रति अन्यमनस्कता दिखाना 'मोट्टायित' कहा जाता है।[3]

चेष्टापरक इन सभी अलंकारों से स्पष्ट है कि इनके मूल में प्रेमाधिक्य और संयोग सुख की भावना वर्तमान रहती है। इनसे शारीरिक आकर्षण एवं मोहकता की वृद्धि होती है। नायिका की इन अनुकूल चेष्टाओं से मन में उल्लास और प्रसन्नता होती है, नैसर्गिक शोभा में मादकता आती है और व्यक्तित्व का रूपाकर्षण बढ़ जाता है। अतः आलम्बन की गुणगत और चेष्टापरक विशेषताओं द्वारा उसके सौन्दर्य की वृद्धि होती है। इन चेष्टाओं आदि के साथ बाह्य-प्रसाधक उपकरणों से भी रूप का आकर्षण बढ़ जाता है।

---

1 सखियन बीच नागरी आवै।
छवि निरखत रिझ्यो नन्दनन्दन, प्यारी मनहिं रिझावै।
कबहुँक आगे, कबहुँक पीछे, नाना भाव बतावै।
राधा यह अनुमान करै, हरि मेरे चितहि चुरावै।
सूरसागर २०५८

(ii) गागरि नागरि लै पनघट तैं चली को आवै।
ग्रीवा डोलति, लोचन लोलति, हरिके चितहि चुरावै।
ठठकति चलै, मटकि मुख मोरै, बंकट भौंह चलावै।
सूरसागर २०५९

2 सोच पर्यो मन राधिका, कछु कहत न आवै।
कछु हरषै, कछु दुख करै, मन मोज बढ़ावै।
कबहुँ विचारत निठुर ह्वै, सखि ज्वाब बनावै। सूरसागर २६६२

3 मूँदि रहे पिय प्यारी लोचन।
अति हित बेनी उर परसाये, वेष्टित भुजा अमोचन।
मन हरषित मुख लिजति सखिन कहि चतुर चतुरई भाव।
सूर स्याम मन कामिन के फल, लूटत हैं इहि दांव।

प्रसाधनगत-सौन्दर्य:—

रूप और सौन्दर्य के अभिव्यक्ति पक्ष पर विचार करते हुए बताया जा चुका है कि सौन्दर्य साधक सम्पूर्ण उपकरणों की दो कोटियाँ हो जाती हैं। उन्हें आत्मगत और बाह्य उपकरणों के रूप में स्पष्ट किया जा चुका है। आत्मगत उपकरण के अन्तर्गत गुण और चेष्टा तथा बाह्य उपकरण में 'अलंकृति' एवं 'तटस्थ' साधनों की चर्चा की गई है।

पात्र के शरीर से भिन्न सौन्दर्य-साधक अन्य उपकरणों को बाह्य उपकरण की संज्ञा दी जाती है। ऐसे उपकरणों में प्रसाधनगत उपकरणों द्वारा सौन्दर्य में निखार आ जाता है और छिपा हुआ सौन्दर्य प्रकट और स्पष्ट हो जाता है। इसीसे प्रसाधन सामग्री द्वारा सौन्दर्य को बढ़ाने का प्रयास सदा से होता आया है। बाह्य उपकरणों के माध्यम से सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए प्रयोग में लाये गये शृङ्गार-प्रसाधनों की संख्या सोलह मानी गई है। उबटन, मंजन, मिस्सी, स्नान, सुवसन, केश-विन्यास, मांग-भरना, अंजन, महावर, बिन्दी, तिल लगाना, मेंहदी, गन्ध-द्रव्य, आभूषण, फूलमाला और पान रचाना। विश्लेषण करने से ज्ञात हो जाता है कि इन सभी उपकरणों को तीन कोटियों में बांटा जा सकता है:—

१. शरीर पर लगाये जाने वाले उपकरण-इन उपकरणों का स्वतंत्र अस्तित्व होता है। उबटन, मंजन, मिस्सी, मांग-भरना, अंजन, महावर, बिन्दी, तिल, मेंहदी और सुगन्धित द्रव्यों की गणना इसके अन्तर्गत होती है।

२. शरीर पर धारण किये जाने वाले उपकरण—इनके अन्तर्गत वस्त्र, धातु एवं रत्नों से निर्मित आभूषण और फूल मालादि का प्रयोग होता रहा है।

३. अन्य उपकरणों में स्नान, केश विन्यास और पान की गणना होगी। इनमें स्नान से शारीरिक निर्मलता और स्वच्छता आती है, केश-विन्यास से सजावट बढ़ती है और पान द्वारा मुख का सौन्दर्य वृद्धि पाता है।

उपर्युक्त सभी उपकरणों के सामूहिक प्रयोग से रूप खिल उठता है और व्यक्तित्व का आकर्षण बढ़ जाता है। यही कारण है कि इनके प्रयोग की परम्परा विशेषतः स्त्रियों में ही रही। पुरुषों ने इन सभी सोलह प्रसाधनों का प्रयोग नहीं किया है। पुरुष पक्ष में केवल उबटन, स्नान, वस्त्र, आभूषण, माल्यादि और पान का ही वर्णन मिलता है। शरीर की रक्षा और शोभा बढ़ाने वाले साधनों में धारण किये जाने वाले उपकरणों की महत्ता अधिक होती है। महत्ता के इस क्रम के आधार पर पहले इन्हीं का वर्णन किया जायगा:—

(क) धारण किये जाने वाले सौन्दर्य के उपकरण——इनमें वस्त्र आभूषण और फूल मालादि को स्थान मिला है। प्राप्ति के मूल स्रोत के आधार पर धारण किये जाने वाले सौन्दर्य-प्रसाधनों के तीन वर्ग हो सकते हैं (१) वस्त्रादि जिसका निर्माण मनुष्य द्वारा होता है। (२) खनिज पदार्थ अर्थात् धातुओं (स्वर्णादि) से बनाये जाने वाले आभूषण आदि (३) प्रकृति से प्राप्त होने वाले सौन्दर्य-साधक उपकरणों में फूलमाला आदि द्वारा आकर्षण को बढ़ाया जाता है। इन तीनों प्रकार के उपकरणों में वस्त्रों की प्राथमिकता सर्वमान्य है। अतः सबसे पहले इन्हीं का वर्णन किया गया है।

वस्त्र— वस्त्र मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इन वस्त्रों के प्रयोग में ऋतु, काल, स्थान एवं पद का ध्यान रखा जाता है। भक्तिकालीन वस्त्रों के वर्णन में कवियों की दो दृष्टियाँ हैं। (१) दैनिक प्रयोग के वस्त्र (२) विशेष ऋतु और पर्व या उत्सवादि पर प्रयोग में लाये जाने वाले वस्त्र। इन दोनों ही प्रकार के वस्त्रों की चर्चा भक्तिकालीन साहित्य में मनोयोगपूर्वक की गयी है। वस्त्रों में तनसुख, ताफता और खासा आदि वस्त्रों का वर्णन है, इन्हें अम्बर, चीर, पट, बसन आदि के नाम से वर्णित किया गया है। अवस्था और लिंग के अनुसार वस्त्रों में परिवर्तन होता रहा है।

बालकों का शृङ्गार कुलह, कुलही, पाग, पगा आदि से होता था। शरीर के अन्य अंगों में काछनी, चोलना, झगुली, पटुका, पिछौरा, पिताम्बर, बागा और सूथनादि धारण करते थे। श्री कृष्ण के पीत और नीले वस्त्र का वर्णन है। श्रीकृष्ण का पीताम्बर युक्त शरीर विशेष सुन्दर हो जाता है। धोती के स्थान पर काछनी का प्रयोग किया गया है। उपरैना और पिछौरा द्वारा ओढ़ने का काम लिया जाता था। पाग द्वारा सिर की शोभा बढ़ाते थे, "वलि कुंतल बलि पाग लटपटी" "लटपटी पाग पर जावक की छवि लाल।" कूलह और 'पनही' का प्रयोग होता था, 'पहिर पिताम्बर चरन पावरी, ब्रज वीथिन में जात।' पुरुषों के वस्त्रों में धोती और पिछौरा का वर्णन मिल जाता है, "यह कहि नन्द गए जमुना-तट लै धोती झारी विधि कर्मट।"

सूरसागर १०-४४

स्त्रियों के वस्त्रों में भक्त कवियों ने अवस्था का ध्यान रखा है। इस दृष्टि से इन वस्त्रों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। (१)बालिकाओं के वस्त्र (२) स्त्रियों के वस्त्र।

बालिकाओं के वस्त्र में शरीर के वर्ण का ध्यान रखा गया है। गोरे शरीर पर नील वसन और कटि में फरिया का वर्णन मिलता है "नील बसन

फरिया कटि बांधे वेरी रुचिर भाल भकभोरी।"[1] सूथन, नारावंद, ओढ़नी और चूनरी का वर्णन मिलता है।[2] ध्यान रहे कि इन कवियों ने सामान्यतया वयः प्राप्त बालिकाओं के वस्त्रों का ही ध्यान रखा है। किशोरी ललनाओं के प्रति इनकी अधिक रुचि रही है। इनके ओढ़ने वाले वस्त्रों में चूनरी का अधिक प्रयोग हुआ है।[3]

स्त्रियों के वस्त्रों का वर्णन और उससे उत्पन्न होने वाली शोभा को सभी भक्त कवियों ने प्रमुखता प्रदान की है। वस्त्रों के इस वर्णन में कवियों की दो दृष्टियाँ दीख पड़ती हैं:—

(१) वस्त्रों की सामग्री, बनावट, रंगादि की चर्चा।

(२) अवस्था और परिस्थिति के अनुसार वस्त्रों में परिवर्तन और उनकी आकर्षक योजना।

इन दोनों दृष्टियों में कवियों की प्रसाधक प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित हो जाती है। इस काल के प्रयोग किये जाने वाले वस्त्रों में दुकूल, बसन, अम्बर, परिधान, कापर, चीर, वस्त्र, पट आदि का व्यवहार किया गया है। सूती और रेशमी दोनों प्रकार के वस्त्रों की चर्चा है। वस्त्रों के रंग-साम्य और वैषम्य द्वारा गोरे बदन के रूप का आकर्षण बढ़ाया गया है। अवस्था के अनुकूल किशोरी और तरुणी के वस्त्रों की बनावट आदि में अन्तर ला दिया गया है। कहीं-कहीं दोनों के लिये समान वस्त्र का प्रयोग है। किशोरी राधा की चूनरी का वर्णन और स्त्रियों की चूनरी का वर्णन भी है। फिर भी दोनों के वस्त्रों में भिन्नता है।

स्त्रियों के प्रमुख वस्त्रों में लहंगा, साड़ी, कंचुकी और ओढ़नी आदि का वर्णन भक्त कवियों की रचनाओं में मिलता है। इन सभी वस्त्रों की सजावट का ध्यान सदा रखा गया है। ऐसे आकर्षक वस्त्रादि का उपयोगिता मूलक प्रयोग वर्णित किया गया है। इनका मूल उद्देश्य प्रिय को रिझाना था, "ले गोपाल हेतु कुसंभी कंचुकी रंगाय लई।"[4] वस्त्रों के रंग आदि का विशेष ध्यान रखा जाता था। सुरंग, पचरंग साड़ी, तन सुख की साड़ी, झूमक साड़ी, रेशम की साड़ी और पटोरी की चर्चा की गई है:—

---

[1] सूरसागर १०५७

[2] सूथन जंघन बांधि नारावंद,
फरिया दई फारि नवसारी। सूरसागर ७०८
आजु तेरी चूनरी अधिक बनी। परमानन्द ३७६

[3] (i) सुरख चुनरिया भिजोई मेरो, भीज्यो पिछौरा। चतुरभुज दास २५
(ii) नीलाम्बर, पाटम्बर सारी, सेत पीत 'चुनरी' अनारीद सूर० ७८४

[4] कृष्णदास पृ० ४४ अष्टछाप पदावली–सं० सोमनाथ

१. तैसिये सुरंग सारी पहिरे अंग । चतुर्भुज १२६
२. पगनि जेहरि, लाल लँहगा, अंग पचरंग सारी । सूर १०४६
३. चुनरी चोली बनी, चुनरी की सारी । चतुर्भुज दास ३६५
४. तन सुख सारी पहिरि झीनी । चतुर्भुज दास २०२
५. लँहगा लाल झूमकी सारी, कसूंभी बरन पिय हेत रंगाई ।
कुम्भन दास ३१६
६. अंग मरगजी 'पटोरी' राजति । सागर-वेंकटश्वर प्रेस १३३२

आंगी, अंगिया और कंचुकी को आकर्षक बनाने के लिये कटावदार, जड़ाऊ और रत्न जटित चोली का वर्णन है । कंचन के सूत से या रत्नों के धागे से बनी आंगी का वर्णन है ।[1] इसमें विभिन्न रंगों के प्रयोग से आकर्षण उत्पन्न किया गया है । नील आंगी के साथ लाल मांड़नि (तिकोना साज) का रंग-संयोग अच्छा बन बड़ा है, 'अंगियां नील माड़नी राती ।[2] गोविन्द स्वामी ने पीली माड़नि का महत्व वर्णित किया है । 'चंपक तन कंचुकी खुली, स्याम सुदेश सुढारी हो । मांडनि पिय पट पीत की ता ऊपर मोतिन हारी हो ।'[3] यहां चम्पक बरण तन के साथ आंगी और मोती के हार का रंग–वैषम्य रूप को और अधिक निखार कर आकर्षण का कारण बना देता है । कंचुकी पर कसीदा काढ़ कर उसका आकर्षण बढ़ाया गया है । "कंचुकी सोभित कसीदा सुंदर ।"[4]

विभिन्न अवसरों एवं पर्वों पर बठ-ठन कर सोलह-शृंगार से युक्त होली खेलने का वर्णन है । गोपियों की सुरंग सारी, कसी हुई कंचुकी, नेत्रों का काजल रूप का आकर्षण बढ़ा देता है ।

१. सारी पहिरि सुरंग, कसि कंचुकी, काजर दै-दै नैन ।
बनि-बनि निकसि-निकसि भई ठाढ़ी, सुनि माधव के बैन ।
सूरसागर २६८०
२. उतते सब सुन्दरि जुरि आईं, करि-करि अपनौ ठाठ । नन्ददास
३. सकल सिंगार कियौ ब्रजबनिता, नख-सिख लौं भल ठानि ।
सू० सा० २८६१

---

[1] देहों ब्रजनाथ हमारी आंगी ।........
सकल सूत कंचन के लागे, बीच रतनन की धागी । परमानन्द सागर २०१

[2] सूरसागर

[3] गोविन्द स्वामी पद १३५

[4] गोविन्द स्वामी पद ४२

४. आइ बनि-बनि सकल घोष की सुन्दरि,
तजि अभिमान चली वृन्दावन। कुंमनदास ७१

५. जुवती जन-समूह सोभित तहां पहिरे भूषन नाना भेस।
चतुर्भुजदास ७१

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वस्त्रों के कटावदार और रत्न जटित होने के मूल में इनका प्रयोग करने वालों की सौन्दर्य वृत्ति ही है। स्वर्ण के तार युक्त वस्त्रों का आकर्षण धारण करने वाली गोपियों में भी आकर्षण का विकास कर देता है। ऐसे वर्णनों में वैभव का प्रदर्शन भी होता है। वैभव सम्पन्न वस्त्रों का प्रयोग बहुधा होली या सावन के विभिन्न उत्सवों पर ही हुआ है। चत्रभुजदास द्वारा प्रस्तुत रूप-चित्रों में वैभव की यही सम्पन्नता दीख पड़ती है।[1] वस्त्रों के वैभव, डिजाइन रंग-साम्य और वैषम्य द्वारा व्यक्तित्व में भी आकर्षण उत्पन्न किया गया है। इनका उद्देश्य सामान्य 'रति' का उद्दीपन न होकर अपने आराध्य के रूप-सौन्दर्य को अधिक से अधिक रमणीय बनाना है। यही कारण है कि वस्त्रों के रंगादि का विशेष ध्यान रखा गया है।

रंग-सौन्दर्य—अवसर के अनुकूल वस्त्रों के रूप में अन्तर आ गया है। शृङ्गार करते समय तनसुख की साड़ी का प्रयोग हुआ है।[2] होली के अवसर पर वस्त्रों के रंगों में निरालापन आ जाता है। झूलन प्रसंग पर भी यही दृष्टिकोण दीख पड़ता है।

१. झूलन आई रंग हिंडोले।
पचरंग बरन कसुंभी सारी, कंचुकी सोधं बोरें। सू० सा० ३४५६

२. वाम भाग वृषभानु नन्दिनी, पहिरें कंसुभी सारी।
चत्रभुजदास पृ. (२९६–अष्ट० परिचय से)

३. स्याम अंग कंसुभी नई सारी। सू० ३४१७
४. सांवरे तन कंसुभी सारी। ,, २७८३

नन्ददास ने शृंगार प्रसाधन और रंगों के आकर्षण के साथ रूप-

---

1 चत्रभुजदास पृ. ४२/पद ७८

2 त्यों तो तरल तर्यौना कानें, अरु तनसुख की सारी। सूरसागर ४४३५
(ii) जुवती अंग सिंगार-संवारति।.............
छुद्रघंटिका कटि लहंगा रंग, तन तनसुख की सारी। सू. २११६

सौन्दर्य का वर्णन भी किया है।[1] चत्रभुजदास ने हिंडोला प्रसंग पर प्रकृति की पृष्ठभूमि में रंग-वैभव को दिखाया है।[2] झूलन के इस प्रसंग पर युगल रूप का चित्र एवं श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन मिलता है। ऐसे स्थलों पर रंगों द्वारा रूप-चित्रण और वातावरण का निर्माण हो सका है।[3] कवियों का सौन्दर्य-चित्र यहां पर दो रूपों में प्रकट हुआ है। (१) स्त्री का सौन्दर्य-चित्र (२) श्रीकृष्ण का सौन्दर्य चित्र।

श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करने में अनुरूप एवं प्रतिरूप वर्ण योजना की सहायता ली गई है। स्वर्ण दाम के अनुरूप रंग पीत काछनी और प्रतिरूप रंग नील वर्ण की सुन्दर योजना कृष्णदास ने की है।

कटि तट सोहति हेमनि दाम।
पीत काछ पर अधिक विराजत, न्याइ लजावत काम।
तैरे नील पट ओढ़ रसिक वर, अधिक विराजत जाम।

अष्ट० परि० पृ. २३५/८ कृष्णदास

चत्रभुजदास ने प्रतिरूप वर्ण-योजना द्वारा फहराते हुए नील पट पर लाल पाग का सौन्दर्य देखा है।[4] छीत स्वामी ने वेष-भूषा और प्रकृति-चित्रण में इसी रंग-योजना का सहारा लिया है।[5] कुम्भनदास जी ने अनुकूल वर्ण-योजना द्वारा श्याम और पीत रंगों की संगति बैठाई है।[6] कृष्णदास ने वर्णों

---

1 गोकुल की पनिहारी पनियां भरन चली,
बड़े-बड़े नयना तामें खुभि रह्यो कजरा।
पहिरे कुंसुभी सारी, अंग-अंग छविभारी,
गोरी-गोरी बहियन तामें मोतिन को गजरा।

2 छबीले लाल के संग ललना झूलत सुरंग हिंडोरे।
सोभित तन गोरे स्याम पीरो पटु कंसुभी सारी।
तैसिय हरित भूमि, तैसिये थोरी-थोरी बूंदें।

चत्रभुजदास–पृ. ७४ पद १२२ कांकरोली।

3 झूलत सुरंग हिंडोरें, मुकुटधर बैठे हैं नन्दलाल।
लाल काछनि कटिपर बांधे, उर सोभित बनमाल। अष्ट० परि० २२६/१४

4 आजु भाई पिताम्बर फहरात।
कुंडल लाल कपोल विराजत, लाल पाग फहरात। चत्रभुजदास ११२/२०५

5 छ० ४१/६२ कांकरोली

6 कंकन-कुनित चारु चल कुंडल, तन चंदन की खोरी।
माथे कनक बरन को टिपारो, ओढ़े पीत पिछौरी। कु० ७६/२०८

का कहीं-कहीं ध्वनि द्वारा निर्देश किया है।[1] इनके मन में रंगों का विशेष मोह दीख पड़ता है। गोपी या राधा के वस्त्रों के विभिन्न रंगों द्वारा प्रिय को रिझाने की चेष्टा की गई है—

लहंगा लाल झूमक की सारी, पचरंग सिर ओढ़नी बनाई।
नवरंग उर तन सुख की चोली, कसुंभी बरन पिय हेतु रंगाई।

कृष्णदास पृ. १६ कांकरौली।

ध्रुवदास ने गोरे शरीर पर हरी साड़ी द्वारा रूप को निखारने का प्रयास किया है। प्रसाधन के रूप में राधा की साड़ी, कंचुकी, वेनी आदि का वर्णन है। वस्त्र और आभूषण इन दोनों के युगपत् प्रयोग द्वारा राधा की रूप-माधुरी व्यक्त की गई है—

सारी हरी ने हर्यो मन लाल को, मोहिनी-सोहिनी के तन सोहे।
अंगिया लाल सुरंग बनी, लहि गातनि रंग खरो मन मोहे।

'शृंगार-सत' कवित्त १५४ ध्रुवदास

छीत स्वामी ने नील पट के बीच पीत कंचुकी के रंग-वैषम्य द्वारा आकर्षण उत्पन्न किया है।

"राधे रूप-निधान गुन आगरी नन्दनन्दन संग खेली।.....................
नील पट तन लसे पीत कंचुकी कसे, सकल अंग भुवननि रूप-रेली।....

गोपी या राधा और श्रीकृष्ण रूप में स्त्री और पुरुष दोनों के वस्त्रों का प्रसाधन रूप में समुचित प्रभाव उत्पन्न करने के लिये कवियों ने वस्त्रों के वर्णन में अपनी रंग-सम्बन्धी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है। स्त्रियों के वस्त्रों द्वारा रूप को आकर्षक बनाने का प्रयास अधिक किया गया है। सूरदास का रंग-विधान आकर्षक था। सारी के लिये लाल और पीले रंग का वर्णन है। चूनरी के अनेक रंग के होने का वर्णन है। 'नीलाम्बर पाटम्बर सारी, सेत पीत चुनरी अरुनाए।'[2] "पहिरे राती चूनरी, सेत उपरना सोहे हो।" पचरंग साड़ी का संकेत है। कुसुंभी रंग के अतिरिक्त नील, लाल, पीला आदि विभिन्न रंगों द्वारा आकर्षण उत्पन्न किया गया है। श्रीकृष्ण के नवरंगी स्वरूप का वर्णन है। 'आजु बनो नवरंग पियारो।"[3] "आजु बने नवरंग छबीले[4] अनेक रंगों से युक्त वस्त्रों का प्रयोग भी वर्णित है 'पहिरे वसन अनेक बरन तन, नील

---

1 अष्ट० परि० पृ० २२६ पद १
2 सूरसागर १४०२।
3 सूरसागर ३२६३।
4 सूरसागर २२६४

अरुन सित पीत-पट"[1], "नये वसन आभूषण पहिरत, अरुन सेत पाटम्बर कोरी'।[2] बहुरंगी चूनरो[3] और श्रीकृष्ण के पीत-पट की शोभा सभी कवियों को आकृष्ट करने में समर्थ रही है।[4] इसके अनेक रंग के होने का वर्णन है। चूनरी के गाढ़ेपन को व्यक्त करने के लिये चुह-चुही और डह-डही जैसे शब्दों का प्रयोग है।

कंचुकी और लहंगा के लाल, पीले और नीले रंग बताये गये हैं। कहीं-कहीं श्वेत अंगियाँ का वर्णन है।[5] पाग जावक रंग में रंगी गयी है। 'लटपटी पाग महावर पागी।' इन रंगों को चमत्कार पूर्ण बनाने के लिये प्रकृति से उपमानों को ग्रहण किया गया है। नीले, पीले और श्वेत रंगों के लिये बादल, दामिनि-स्वर्ण रेखा, बक-पंक्ति आदि का साम्य उपस्थित किया गया है। फूलों के रंगों में केसर, कुमकुमा और टेसू के रंग का संकेत है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाधन के रूप में प्रयुक्त वस्त्रों के धारण करने में अवस्था, परिस्थिति और पर्व आदि का विशेष ध्यान रखा गया है। विभिन्न अंगों में भिन्न-भिन्न वस्त्र धारण किये जाने की परम्परा थी। स्त्री, पुरुष बालक और बालिकाओं के वस्त्रों में भी भिन्नता और अवस्था के अनुसार उनकी सजावट और कटाव, कसीदाकारी आदि होता रहा है। कई वस्त्र स्त्री–पुरुष दोनों धारण करते थे। उपरैना ऐसा ही वस्त्र है। लहँगा का प्रयोग स्त्री और किशोरी कन्याएं भी करती थीं। किशोरी के प्रयुक्त वस्त्र के लिये 'फरिया' का प्रयोग हुआ है।[6] गोपी या राधा के वस्त्रों के रंगों का गाढ़ापन उनके व्यक्तित्व को निखार देता है। नील, पचरंग, कुंसुभी लाल, सतरंग आदि से गोरा रंग और अधिक खिल जाता है। पुरुष व बालकों के वस्त्रों में भी भिन्नता है। श्रीकृष्ण का पाग गोपियों को आकृष्ट कर लेता

---

[1] सूरसागर ३४८७।

[2] वही ३५२६

[3] चूही-चूही चूनरी बहुरंगना ३४४८।
(ii) रंग-रंग बहु भाँति के गोपिन पहिराए। ३६६०

[4] (i) भीजेगी पियरो पट आवत है मेहरा ३१६५
(ii) नील-पीत दुकूल स्यामल गोर अंग विकार। सूरसागर

[5] सूरसागर ३४४६

[6] नील वसन फरिया कटि बाँधे, वेनी रुचिर पीठ झकझोरी। सूरसागर

है।[1] उनकी श्याम लहरिया आकर्षक है।[2] अतः स्पष्ट हो जाता है कि रूप के आकर्षण में सिले या बिना सिले हुए वस्त्रों का महत्व है। इनके रंगों के साम्य या वैषम्य द्वारा व्यक्तित्व को आकर्षक बनाया जाता है। रूप-सौन्दर्य के वर्णन में वस्त्रों का प्रयोग अवस्था के अनुसार ही हुआ है। प्रसाधनों द्वारा रूप के प्रभाव की भी व्यञ्जना की गई है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के साथ प्रसाधनगत उपकरण, नख–शिख और अंग-विशेष का चित्रण हो सका है। कोमल, सुकुमार और आकर्षक व्यक्तित्व द्वारा सौन्दर्य का उत्कर्ष वर्णित है। यही कारण है कि श्रीकृष्ण के वीर-कर्म के उपरान्त तत्काल भक्तिकालीन कवि की दृष्टि में उनका कोमल और मधुर व्यक्तित्व उभर आता है और वह पीताम्बर धारी श्रीकृष्ण के आकर्षक रूप का वर्णन करने लग जाता है। उनका वीर-रूप अधिक काल तक भक्त कवियों को नहीं रमा पाता। ऐसे वीर और मधुर रूप का वर्णन लीला-सौन्दर्य के अंतर्गत माना जा सकता है, जिसमें विभिन्न लीलाओं के उपरान्त उनका प्रसाधित सौन्दर्य वर्णित है। ऐसे स्थलों पर वस्त्रों के साथ प्रसाधन रूप में आभूषणों के प्रयोग से सौन्दर्य बढ़ जाता है। अतः आभूषणों को प्रधान और मुख्य सौन्दर्य-प्रसाधक उपकरण माना जाता है। वस्त्रों के साथ आभूषणों का समुचित सहयोग सौन्दर्य को बढ़ा देता है। यही कारण है की भक्तिकालीन कवियों ने आभूषणों द्वारा सौन्दर्य वृद्धि का प्रयास किया है।

आभूषण—सौन्दर्य-साधक उपकरणों में आभूषणों का मोह सदा रहा है। इसकी गणना शरीर पर धारण किये जाने वाले सौन्दर्य-प्रसाधनों में होती है। धातु-रत्नों से निर्मित अलंकार शोभा बढ़ाने के पर्याप्त साधन हो जाते हैं। इनकी प्राप्ति के दो स्रोत होते हैं। (१) खनिज पदार्थों के रूप में जमीन से प्राप्त होने वाले धातु एवं रत्न (२) प्राणियों से प्राप्त होने वाले उपकरणों में मोती की गणना होती है। इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों के प्रयोग का वर्णन भक्ति कालीन साहित्य में मिलता है।

आभूषणों द्वारा व्यक्ति के सामाजिक स्तर और स्थिति का ज्ञान होता है। इससे उसकी आर्थिक स्थिति भी स्पष्ट हो जाती है। इसी से स्त्री और

---

1 ता दिन ते मोहि अधिक चटपटी।
जा दिन ते देखे इन नैननि, गिरधर बाँधे पाग लटपटी।
परमानन्द प्रभु रूप विमोही, या ढोटा सों प्रीति अति जटी।

2 आजु अति शोभित हैं नन्द लाल।
श्याम लहरिया की पाग बनी है, तैसाई पिछोरा लाल।
कृष्ण दास पृ० ११ पद ३० कौकरौली।

पुरुष दोनों ही आभूषण के प्रेमी रहे हैं। इन आभूषणों के धारण करने से दो प्रकार के उद्देश्यों की सिद्धि होती है (१) आभूषणों के धारण द्वारा अपने वैभव का प्रदर्शन और उससे आत्म-तुष्टि का भाव। (२) आभूषणों के माध्यम से रूप के आकर्षण को बढ़ाकर प्रिय को रिझाने का प्रयास। भक्तिकाल में इन दोनों उद्देश्यों का वर्णन मिलता है। इस काल के कविगण स्वयं भी आभूषणों के आधिक्य से युक्त अपने आराध्य के ऐश्वर्यपरक रूप को प्रस्तुत करके आत्मतृप्ति पाते हैं और गोपियों को भी सन्तोष होता है कि उनके पास आभूषणों की संख्या अधिक है।[1] सामाजिक वैभव का पूर्ण-प्रदर्शन अच्छी प्रकार से हो सका है। यही कारण है कि इन भक्त-कवियों ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण और उनकी अनन्त सहचरी श्रीराधा एवं गोपियों के सौन्दर्य को बढ़ाने तथा वैभव के प्रदर्शन हेतु आभूषणों की पूरी तालिका ही प्रस्तुत कर दी है। ये आभूषण स्वर्ण, मोती, माणिक, रत्न, लाल, आदि बहुमूल्य पदार्थों के बने हुए होते थे। इन बहुमूल्य पदार्थों को देखकर सहज में ही यह अनुमान हो जाता है कि आभूषणों की यह समृद्धि जन-सामान्य की नहीं हो सकती है। यह वर्णन एक ऐसे वर्ग का है, जिसके चारों ओर समृद्धि बिखरी पड़ी है। विभाजन की दृष्टि से पुरुष एवं स्त्रियों के अनेक आभूषणों में भिन्नता रही है।

आभूषणों से युक्त श्रीकृष्ण की जिस शोभा का वर्णन किया गया है, वह प्रायः उनके शिशु रूप या किशोर रूप का चित्र प्रस्तुत करता है। उनके प्रत्येक अंग में भिन्न-भिन्न आभूषण शोभा पाते हैं। सिर पर मुकुट माथे पर गजमोती, लटकन, कानों में दुर' और मकराकृत कुण्डल, गले में कठुला हँसुली, मोती की माला, बाहु में अंगद और केयूर, हाथ में चूरा और पहुँची कटि में क्षुद्रघंटिका और करधनी' पैरों में नूपुर पैंजनी[2] आदि द्वारा शारीरिक आकर्षण को बढ़ाया गया है।

---

[1] जितनों पहिरि आजु हम आई, घर है याते दूनों। सूरसागर १५४१

[2] भूषण 'मुकुट जराइ जर्यो है।" सागर १०५०
"अष्ट छाप काव्य का सांस्कृतिकमूल्यांकन' से उद्धृत
(ii) मोर मुकुट मुरली पीताम्बर अरु गुंजा बन माल। परमानन्द २२३
(iii) कटि किंकिनी चन्द्रिका मानिक, लटकन लटकत भाल।
सागर १०–९६
(iv) कंचन के द्वै 'रबु' मँगाय लिये, कही कहा छेदनि आतुर की।
सू० सा० १०–१८०
(v) कठुला कंठ वज्र केहरिनख राजत रुचिर हिये। सू० सा १०–८४

प्राणियों से प्राप्त होने वाले सौन्दर्य-प्रसाधनों में मोर का पंख और मोती मुख्य हैं। मोती की माला गले में धारण की जाती रही है। मोर पंखों का बना मुकुट श्रीकृष्ण का प्रमुख सौन्दर्य-प्रसाधन है। इसके विना उनका शृंगार ही अधूरा रह जाता है। मोर मुकुट का प्रयोग स्वतंत्र रूप से होता था। छीत स्वामी ने एक स्थल पर सेहरे के बीच मोर पंख को गूंथकर नवीन और आकर्षक रूप उपस्थित करने की चेष्टा की है।

"अति उदार मोहन मेरे निरखि नैन फूले री।

बीच-बीच बरुहा चंद फूलनि के सेहरा माई कुंडल श्रवननि पर निगम-नियम भूलेरी।"[1] आभूषणों से युक्त श्रीकृष्ण की इस शोभा को देखकर गोपियाँ एवं राधा रीझ जाती है। मोरमुकुट तो उनके लिये विशेष आकर्षण का केन्द्र बन जाता हैं। वे स्वयं अपने रीझ को व्यक्त कर देती हैं कि 'मेरा मन गोपाल हर्यो री माई।' श्रीकृष्ण की इस शोभा के पूरक रूप में गोपियां एवं राधा के प्रसाधित सौन्दर्य का वर्णन करके रस-दृष्टि से पूर्णता पाने की चेष्टा की गई है। इसीसे व्रजांगनाओं के रूप-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए भक्त कवियों ने इन आभूषणों का सहारा लिया है।

भक्तिकालीन साहित्य में व्रजांगनाओं के आभूषणों की संख्या बारह-सोलह या बीस बताई गई है।[2] दान के प्रसंग पर श्रीकृष्ण द्वारा मोतीमाल, टीका, करनफूल, नकवेसरि कंठसिरि, हार, हमेल, कटावदार अंगिया, चौकी,

---

(vi) कुंडल स्रवन कपोल विराजत, सुन्दरता बन आई।

परमान्द सागर १२०

(vii) कंठ कठुला ललित लटकन, भ्रकुटि मन को फंद। चतुर्जदास १०

(viii) काखा सोती हँसुली धारे मोहन पीत अँगुलिया सोहै।

परमानन्द ९०

(ix) नख-शिख अंग सिंगार महर मनि मोतिन की माल' पहिराई।

परमानन्द ३०६

(x) कटि किंकिनी कर कंकन अंगद, वनमाला पद कमल लुभाई।

गोविन्द स्वामी।

(xi) रुनुक-झुनुक पग बाजत पंजनियाँ—परमा० ४४

1 छीतस्वामी ३६/८१।

2 (i) द्वादस आभरण सजि कंचन तन कीर्तन स० भाग २ पृ० १७८ सू०

(ii) झूलन आई सकल व्रज सुन्दरि षटदस भूषनसारो।

परमानन्द पृ० ७६१

वहुँटा, कंकन, वाजूबन्द, क्षुद्रघण्टिका, नूपुर, बिछिया आदि का वर्णन कराया है।[1] इन आभूषणों के सम्बन्ध में भक्तकवियों में मतैक्य नहीं है। थोड़े अन्तर के साथ इनकी संख्या अधिक हो जाती है। आभूषणों के प्रति सहज रुचि और उसके प्रदर्शन के माध्यम से समृद्ध वर्ग का ज्ञान होता है। गोपियाँ बड़े अभिमान के साथ कहती हैं कि तू एक ही हार मुझे क्यों दिखलाती है। तेरे तो नख-से-शिख तक आभूषण विराज रहे हैं, इन्हें क्यों छिपा रही है ? [2] समृद्धि का यह प्रदर्शन दो रूपों में हो सका है (१) दूसरे गोपी द्वारा आभूषणों की गणना वाले पदों से (२) स्वयं गोपियों की अपनी उक्ति द्वारा आभूषणों का कथन और उससे उत्कर्ष को प्राप्त होने वाली शोभा का संकेत। एक गोपी अपनी सखी से कहती है कि अभी क्या देखती हो ? मैं आज जितने आभूषण पहन कर आई हूं, घर पर अभी इससे दूने आभूषण हैं, "जितनौ पहिरि आजु हम आई, घर है यातै दूनो।"[3]

आभूषणों के माध्यम से समृद्धि की अभिव्यक्ति करने और आत्मतुष्टि के लिये एक-एक अंग में अनेक आभूषण धारण किये जाते थे तथा प्रत्येक अंग में अलग-अलग आभूषण धारण करने की परम्परा थी। ये आभूषण विभिन्न अंगों की शोभा बढ़ाते थे। टीका, शीशफूल, माँगपाटी, चन्द्रिका और मोती की लड़ से मांगों की शोभा बढ़ाई गई है।[4] शीश पर बेनी या बेना धारण करके नवोढ़ाएँ आज भी अपना सौन्दर्य एवं आकर्षण बढ़ाती हुई दीख पड़ती हैं "बेनी गुही बिज माँग सँवारी, सीसफूल लटकारी।"[5]

भक्तिकालीन साहित्य के अनुसार ब्रजांगनाएं कानों में अवतंस, कर्णफूल, खुटला, झुमका तरकी, तरिवन, तर्‌यौना, ताटंक आदि धारण करती थीं।

(i) कनक 'करनफूल' भृकुटि गति मोहत, कोटि अनंग।

चतुर्भुजदास १०८

---

1 सूरसागर १५४०।

2 सूरसागर २१५८।

3 सूरसागर १५४१।

4 (i) बेनी गुही बिच मांग संवारी, सीसफूल लटकारी।

गोविन्द स्वामी २०४

(ii) मोतिन माँग विथुरी ससि मुख पर। कुम्भनदास ३०५

5 गोविन्द स्वामी २०४

(ii) खुटिला खुभी जराय की मृगमद आड़ सुदेश।
गोविन्द स्वामी-कीर्तन संग्रह भाग २ पृ-१३०

(iii) करनफूल 'भूमका' गज मोतिनि, विथुरि रहे लपटाने।
चतुर्भुजदास-३६६

(iv) फूलन के 'तरौना' कुंडल फूलन किंकिनी सरस सँवारी-
नन्ददास पृ-३७८

(v) स्रवन पास ताटंक सोहत, मानों रवि ससि जुगल परे मन फंद।
कृष्ण० सोम० पदावली-पृ० ५४

तरकी धारण करने की परम्परा आज भी बनी हुई है। प्रायः हीरे की तरकी पहनी जाती है। नाक के आभूषणों में वेसर, बुलाक, नथ, नथिया आदि पहनते हैं।

गले में पहने जाने वाले आभूषणों की संख्या सबसे अधिक है। हार, कंठश्री, चौकी, टीक, माला, मुक्तावली, हमेल, दुलरी, तिलरी, मोतिसिरि आदि द्वारा शोभा बढ़ाई जाती थी। हाथों में बाजूबन्द, टांड और बहुँटा; कलाई पर कंगन, कड़ा, चूरा, चूरी, पहुँची, वलय, अंगुलियों में मुदरी, अंगूठी, कटि में करधनी, क्षुद्रघंटिका, दाम कांची, मेखला, रसना; पैरों में अनवट, विछिया, पैंजनी, नूपुर, पायल, घुंघरू, जेहरि आदि आभूषण पहने जाते थे।

उपर्युक्त आभूषणों की अधिक संख्या और अंगों में उसके विन्यास द्वारा सामाजिक समृद्धि के साथ आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी दीख पड़ती है। धारण किये जाने वाले सौन्दर्य-प्रसाधनों में आभूषणों का महत्व निर्विवाद है। इन आभूषणों को धारण करके सामाजिक स्थिति का ऐश्वर्यपरक रूप चित्र प्रस्तुत किया गया है। अपने को सजाना तो इसका प्रमुख उद्देश्य है ही। इन्हीं आभूषणों से सहज रूप और भी अधिक खिल उठता है।[1] स्वयं 'मोहन' आभूषणों से 'सिंगार' करके 'मोहिनी' की शोभा को बढ़ा देते हैं। 'नागरी' की

---

1 सहज रूप की रासि राधिका, भूषन अधिक विराजै। सूरसागर २०६३

(ii) बनी ब्रजनारी सोभा भारि।
पगनि जेहरि, लाल लंहगा, अंग-पचरंग सारी। सूरसागर १६६१

(iii) जुवती अंग सिंगार संवारति।
वेनी गूंथ मांग मोतिनि की, सीसफूल, सिर धारति। सू० २११६

(iv) मोहन मोहिनि अंग सिंगारति।

शोभा अनोखी हो जाती है, उसकी छवि बढ़ जाती है। सौन्दर्य वृद्धि में सहायक इन आभूषणों की उपादेयता भी कम नहीं रहती है। धातु एवं रत्नों के अतिरिक्त प्रकृति द्वारा प्राप्त होने वाले सुगन्धित पदार्थों को भी सौन्दर्य प्रसाधनों के रूप में धारण करने की परम्परा आजतक बनी हुई है। ऐसे पदार्थों में फूल-माला आदि की गणना होती है।

प्रकृति-सुलभ सौन्दर्य के उपकरण—शरीर पर धारण किये जाने वाले सौन्दर्य प्रसाधनों में प्रकृति से प्राप्त होने वाले पदार्थों का महत्व निर्विवाद है। ऐसे पदार्थों में ऐश्वर्य का प्रदर्शन न होकर मुक्त प्रकृति के साधनों का प्रयोग होता है। इसमें नागरिक जीवन का वैभव न होकर स्वच्छन्द नैसर्गिक जीवन का उन्मुक्त उपभोग करने के लिये प्राप्त साधनों का प्रयोग होता है। ऐसे साधनों की दो कोटियाँ होती हैं (१) पशुओं से प्राप्त पदार्थ में मोर चन्द्रिका और लगाये जाने वाले साधनों में कस्तूरी का वर्णन किया गया है (२) वनस्पतियों से प्राप्त होने वाले पदार्थों में फूल, गुंजा, वनमाल, तुलसी आदि का प्रयोग वर्णित है।

मोर चन्द्रिका और गुंजा माल को धारण करके श्रीकृष्ण की शोभा बढ़ाई गई है। श्रीकृष्ण का शृंगार मोर चन्द्रिका के बिना अधूरा रह जाता है। सभी भक्त कवियों ने इस साधन द्वारा श्रीकृष्ण के शृंगार का वर्णन किया है।[1] नील-नलिन श्याम तन पर मोर चन्द्रिका शोभित है। 'सोभित सुमन मयूर

बेनी ललित ललित कर गूंथत, सुन्दर माँग सँवारति।....
नख-सिख सजत सिंगार भाव सौं, जावक चरननि सोहति।
सूर-स्याम तिय अंग संवारति, निरखि आपु मन मोहति।
पद ३२४६ सूरसागर

(४) आजु तेरी छबि अधिक बनी नागरी।
मांग मोतिन छटा, बदन पर कच लटा,
नील पट घन घटा, रूप रंग आगरी। कृष्णदास

1 (i) 'मुख मुरली सिर मोर पखौवा, बन-बन धेनु चराई। सूर० ३७७२
(ii) बरही मुकुट इन्द्रधनु मानहु, तड़ित दसन-छबि लाजति" १२५६
(iii) सिखी-सिखण्ड सीस मुख मुरली बन्यौ तिलक उर चंदन।" १०९४
(iv) देख सखी चंदवा मोर के।
आजु बने सिर साँवरे पियके, पीत छबीली छोर के।
अष्ट० परि० पृ० ३२४ नन्ददास

चन्द्रिका, नील नलिन तनु स्याम' या 'मनिमय जटित मनोहर कुण्डल, सिखी चन्द्रिका सीस रही फवि ।'[1] मोर पंख के बीच के भाग को चन्द्रिका कहते हैं । श्रीकृष्ण के रूप और सौन्दर्य से सम्बन्धित सभी पदों में पीत-पट के साथ मोर चन्द्रिका की शोभा वर्णित है ।[2] आज भी वल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरों में तीन या पांच चन्द्रिका का मोर-मुकुट विशेष उत्सवों या पर्वों पर पहनाया जाता है ।

वनस्पति और फूलों से भी श्रीकृष्ण एवं गोपियों के शृंगार का वर्णन है । शृंगार-प्रसाधनों के रूप में फूल की महत्ता सदा से है । फूलों के व्यापक प्रयोग की बात प्रायः सभी कवियों ने की है । ग्रीष्मकाल में तो 'फूलों की मण्डली' नाम से एक उत्सव भी मनाया जाता है जिसमें श्रीकृष्ण और राधा का सम्पूर्ण शृंगार फूल से होता है । सम्पूर्ण वातावरण, सभी साधन आदि फूलमय हो जाते हैं । फूल के हिंडोले पर फूल के खम्भे, डांडी, चौकी आदि सभी में फूल की निराली जग मगाहट रहती है ।[3] श्रीकृष्ण फूल के पाग, वागा, आभूषण और श्रीराधा फूल की चोली तथा कंकन आदि आभूषण धारण करती है ।[4] इस प्रकार फूलों का शृंगार करके प्रिया-प्रियतम फूलों की सेज पर

---

1 सूरसागर पद ७७२ और २८३७

2 (i) करि सिंगार सब फूलन ही को । सूरसागर २८६२

(ii) कुसुमनि के आभूषण, कुसुमनि के परदा । गोविन्द स्वामी १४६

3 (i) माई फूलन के हिंडोरा बन्यो झूलि रही जमुना ।
फूलन के खंभ दोऊ, फूलन की डांडी चार,
फूलन की चौकी बनी, हीरा जगमगा ।
फूले अति बंशीवट, फूले हैं जमुनातट,
सब सखी मिल गावैं, मन भयो मगना । अष्ट० परि० ३२६ नन्ददास

(ii) फूलन की गेंद कली टपकत उर छिएँ
हँसत लसत हिल-मिल सब सकल गुन-निधान । अष्ट० परि० २६७

4 (i) फूलन की पाग, फूलन को चोलना, फूलन पटुकाधारी ।
फूलन के लँहगा सारी मधि फूलन अंगिया कारी ।
गोविन्द स्वामी पद संग्रह ३ कांकरोली

(ii) फूलनि की चोली, फूलनि के चोलना । परमानन्द ७७०

(iii) फूलनि के वसन आभूषण विराजे, फूलनि के फोंदा फूल उरहार है ।
नंद० परि० ४५

(iv) फूलनि के वागे अरु भूषण फूलनि ही की पाग सँवारी । चतु०१०४

फूलों का तकिया लगाये फूलों के ही भवन में शोभा पा रहे हैं। "फूलनि के मंडली मनोहर बैठे तहां रसिक पिय प्यारी। सोभित सबै साज नाना विधि फूलन को भवन, परम रुचिकारी। फूल के थंभ फूल की चौखटि, फूलन बनी है सुदेश तिवारी। फूलनि के झूमका झरोखा, फूलनि के छाजें छवि भारी। सघन फूल चहुँ ओर कगूंरनि फूलनि वंदनवार सँवारि। फूलन के कलसा अतिशोभित फूलनि सजि विचित्र चित्रसारी। फूल की सेज गेंदुवा तकिया फूलन की माला मनुहारी। चत्रभुज दास प्रफुलित राधा रस फूले गोवर्धनधारी।"

अष्टछाप परिचय पृ० २९६

फूलों के ऐसे व्यापक उपयोग से स्पष्ट हो जाता है कि फूल सी सुकुमारी राधा फूल से श्याम के संग फूलों का शृंगार करके फूल सी ही खिली पड़ती है। फूलों के इस प्रयोग के कई उद्देश्य दीख पड़ते हैं (१) अपने रूप सौन्दर्य को विकसित करना (२) प्रिय को रिझाना (३) चक्षु एवं घ्राणेन्द्रियों को तृप्त करना। इन तीनों उद्देश्यों में भक्तिकाल का कवि सफल हुआ है। इसी से शृंगार साधन में सँवार-सँवार कर उसका उपयोग किया गयाहै। इससे उत्कर्ष को प्राप्त सौन्दर्य प्रिय को रिझाने में समर्थ हो जाता है।"फूल सिंगार प्यारी तन सोहत, मदन गोपाल रीझिबे काजे।"[1] फूलों की सुगन्धि द्वारा वातावरण का सुखद निर्माण होता है। इन्द्रियों की तृप्ति होती है और भावनाओं में अनुकूल वेदनीयता उत्पन्न होती है। विभिन्न फूलों की सुगन्धि मन के लिये रुचिकर प्रतीत होती है।[2]

फूलों के अतिरिक्त गुंजामाल, तुलसीमाल और जबारा धारण करने का वर्णन मिलता है। गुंजा का दूसरा नाम 'घुंघची' भी है। इसका रंग लाल और मुख पर काला होता है। इसे श्रीकृष्ण गले में धारण करते थे।[3] तुलसी की माला धारण करने का वर्णन भी मिलता है।[4] कमल की माल उनके सौन्दर्य-प्रसाधनों में है।[5] शुभलक्षण सूचक 'जवारा' बांधने की चर्चा मिलती है। 'जवारा' दशहरे के पुनीत पर्व पर धारण किया जाता है।[6]

---

1 छीत स्वामी ६१

2 जूही जई केवरो केतकी, सौरभ सरस परम रुचिकारी। चतुर्भुजदास १००

3 केसरि की खौरि किये, गुंजा बनमाल हिये।

4 स्याम देह दुकूल दुति मिलि, लसति तुलसी माल।

5 कंठ-कठुला नील मणि अंभोज माल सँवारि। सूरसागर १०१६६

6 आज दशहरा शुभ दिन नीको।
गिरधरलाल जवारे बांधत, बन्यौ है भाल कुंकुम को टीको।
कीर्तन संग्रह भाग २ पृ० २९३

भक्तिकाल में शरीर पर धारण किये जाने वाले इन सभी सौन्दर्य प्रसाधनों से स्पष्ट हो जाता है कि इस काल के नर-नारियों की सौन्दर्य-चेतना सदैव जागरुक रहती थी। इससे एक समृद्ध परिवार एवं समाज का ज्ञान होता था। इन साधनों की तीन कोटियों का वर्णन है (१) मनुष्यनिर्मित वस्त्रादि प्रसाधन—इसमें वस्त्रों के कटाव, उनकी सिलाई, कटाई, कढ़ाई और कसीदाकारी आदि द्वारा उसे आकर्षक बनाकर मानव शरीर को सजाने की चेष्टा की जाती है। (२) खनिज पदार्थों में बहुमूल्य धातुओं, रत्नों और समुद्र से प्राप्त मोती आदि के आभूषणों को धारण करके शरीर की कान्ति बढ़ाई जाती है। अपने वैभव का प्रदर्शन और आत्मतुष्टि इनका मुख्य उद्देश्य है। (३) प्रकृति-सुलभ सुगन्धित फूल आदि से अपने को सजाने की प्रवृत्ति रही हैं। इनमें फूल, माला, तुलसी, बनमाला आदि धारण किया जाता है। इन पदार्थों से प्रकृति-प्रियता, सौन्दर्य-वर्द्धन और इन्द्रियों की तृप्ति होती है। शरीर पर धारण किये जाने वाले इन पदार्थों के अतिरिक्त शृंगार प्रसाधनों में अन्य ऐसे पदार्थों की चर्चा होती है, जिसे शरीर पर लगाकर या सजाकर सौन्दर्य की श्री वृद्धि की जाती है।

(ख) लगाये जाने वाले सौन्दर्य-साधक उपकरण—शृंगार के सोलह अंगों में वस्त्रों आभूषण और फूलमालादि के उपरान्त शरीर पर लगाये जाने वाले सौन्दर्य प्रसाधनों की चर्चा होती है। इन उपकरणों में उबटन, मिस्सी, अंजन, सिन्दूर, महावर, मेंहदी, तिल, बिन्दी, अंगराग आदि की महत्ता है। शरीर पर इन तत्वों के लगाये जाने के कई उद्देश्य प्रतीत होते हैं—

(१) शरीर में मार्दव और सौकुमार्य के विकास के उपकरण—उबटन

(२) शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले उपकरण—मिस्सी, अंजन, महावर, मेंहदी, तिल आदि।

(३) सौभाग्य सूचक उपकरण—सिन्दूर का प्रयोग, माँग भरना, बिन्दी और तिलक।

मृदुता उत्पन्न करने वाले उपकरण—शृंगार के उपर्युक्त सोलह अंगों में से स्त्रियाँ सभी का उपयोग करती हैं।[1] परन्तु पुरुष पक्ष में इन सभी के

---

1 **नवसत** सजे माधुरी अंग-अंग। सूरसागर ३२२९

(ii) स्यामा **नवसत** सजि सखि लै, कियौ बरसाने तै आवनौ।

सूरसागर ३४५०

(iii) सजे शृंगार नवसत जगमगि रहे अंगभूषन। ,, १९७०

(iv) षट-दस सहित सिंगार करति है, अंग-अंग निरखि संवारति २११५

उपयोग का वर्णन भक्तिकाल में नही मिलता है। उबटन का वर्णन अनेक स्थलों पर किया गया है। इन प्रसाधनों का मूल उद्देश्य शारीरिक आकर्षण को बढ़ाना है। इससे सर्वप्रथम स्पर्श सुख के लिये शरीर का सुकुमार होना आवश्यक माना गया है। इसके लिये उबटन का प्रयोग होता है।

भक्तिकालीन साहित्य में उबटन को महत्वपूर्ण प्रसाधक सामग्री मानते थे। शरीर में स्पर्श की सुखदता लाने के लिये हल्दी, सरसों, तेल, चिरौंजी, केशर, अन्य गन्ध द्रव्य या सन्तरे के छिलके आदि को दूध में पीसकर लगाया जाता था।[1] लोवान, गुलाब, अर्क वहार, अगर, चन्दन, कस्तूरी और सेव आदि के उबटन भी बनाते थे। उबटन का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों करते थे। श्रीकृष्ण तो 'ताते जल' और 'उबटन' को देखकर तत्काल भाग जाते थे।[2] बालक-बालिकाओं को आरम्भ से ही उबटन लगाया जाता था। भक्तिकाल में राधा के उबटन लगाये जाने का वर्णन अनेक पदों में है।[3] इस उबटन के तीन उद्देश्य दिखाई पड़ते हैं (१) शरीर के मैल को छुड़ा देना।[4] (२) शरीर में मार्दव और सुकुमारता को उत्पन्न करना (३) शरीर की सुगन्धि द्वारा[5] घ्राणेन्द्रिय की तृप्ति और मन को आकर्षित करना।

उबटन और स्नान के उपरान्त गोपांगनायें सुगन्धित द्रव्यों से शरीर को सुवासित करती थीं। इन सुगन्धित पदार्थों का प्रयोग उबटन के साथ या गन्ध द्रव्य के रूप में होता था। सौन्दर्य-प्रसाधन की यह एक प्राचीन परम्परा

---

1 कुमकुम उबटि कनक तन गोरी। अंग-अंग सुगंध चढ़ाई किसोरी।

(ii) प्रात समय उठि जसुमति जननी, गिरधर सुत को उबटि न्हवावति।

अष्ट० परि० पृ० २७४ गोविन्द स्वामी

(iii) अतिहि सुगंध फुलेल उबटनो, विविध भाँति की सौज धर।

अ० परि० पृ० २६५ छीतस्वामी

(iv) अमित सुगंध सुबास अंग करि 'उबटन' गुन गाऊँ री।

परमानन्द ६०८

(v) तेल उबटनो लै आगे धरि, लालहिं चोटत-पोटत री। सा. १०-१८६

2 तातो जल अरु तेल उबटनो देखत ही भज जाते। सूरसागर

3 इत उबटि खोरि सिंगार सखियन, कुँवरि चोरी आनियो। सू. सा. १०७२

4 केसरि को उबटनो बनाऊँ, रचि-रचि मैल छुड़ाऊँ। सूरसागर १०/१८५

5 केसर सोंधी धोरि-जननी प्रथम लाल अन्हवायो री। परमानन्द ०२०७

रही है। इन द्रव्यों में केशर, कस्तूरी, अगरु, अगरजा, कपूर, मृगमद, चोवा, कुमकुम आदि का प्रयोग होता था।[1] इनका प्रयोग प्रायः होली के अवसर पर अधिक वर्णित है। वसन्त पंचमी से आरम्भ करके होली तक इन द्रव्यों का प्रयोग आज भी मन्दिरों में होता है। भक्तिकाल में ऐसा वर्णन सभी कवियों ने किया है।[2]

सौन्दर्योत्कर्षक-उपकरण—व्यक्तित्व के सौन्दर्य की अभिवृद्धि में 'अंजन' आलम्बन को आकर्षित कर लेने का प्रमुख प्रसाधन है। इससे सम्पूर्ण शरीर की शोभा का विकास होता है। इससे नेत्र कटीले और नुकीले हो जाते हैं। नयन कोरों में वर्तमान अंजन की एक क्षीण रेखा अनियारे दृगों की शोभा बढ़ाने में पूर्ण समर्थ हो जाती है। काजल के प्रयोग के दो उद्देश्य दीख पड़ते हैं (१) प्रिय को रिझाना (२) प्रिय की रसिकता का ज्ञान प्राप्त कर लेना। इनमें सौन्दर्य की वृद्धि द्वारा रूप में निखार लाना तथा इसी के माध्यम से

---

1 मृगमद मलय कपूर कुमकुमा केसर भलिए साख। सूरसागर ३६१७
(ii) चोवा चंदन और अगरचा, जा सुख में हम राजी ,, ३६०१

2 चंद वदन पर चोवा छिरकत, उड़त अबीर गुलाल।
नन्ददास अष्ट० परि० ३२६

(ii) चोआ को ढोवा कर राख्यो केसर कीच घनी। ,, ८६
(iii) चोवा चंदन अगर कुमकुमा, विविध रंग बरसायें।
चत्रभुदास ,, ३२६

(iv) मृगमद अगर कपूर कुमकुमा, मिले अगरजा देह चढ़ाऊँ।
कृष्णदास ,, २२३

(v) तेल फुलेल अगरजा चोवा, कुंकुम रस गगरी सिर ढोरी।
परमानन्द दास ,, ३३३

(vi) उड़त गुलाल कुमकुमा चंदन, परसत चारु कपोल। कुम्भनदास ८०
(vii) चोवा चन्दन बूका वंदन, अबीर गुलाल उड़ाए। चत्रभुजदास ७४

(viii) मोहन प्रात ही खेलत होरी।
चोवा चंदन अगर कुमकुमा केसरि अबीर लिए भरि झोरी।
छीतस्वामी–अ. परि. ५८

(ix) चोवा चंदन अगर कुमकुमा, उड़त गुलाल अबीर।
गोविन्द स्वामी–अ० परि० १०६

प्रिय को रिझाने का उद्देश्य प्रथम है।[1] संयोग के अवसर पर प्रिय की प्रसन्नता का साधन है। काजर की एक रेखा वशीकरण मंत्र के समान है,[2] जिसके समक्ष गोपियां आत्म समर्पण कर देती हैं। यह उनके हृदय में गड़ जाता है।[3] काजल की इसी उपयोगिता के कारण गोपियां श्रीकृष्ण के अभाव में काजल लगाना छोड़ देती हैं। उनके पुनः मिलने पर ही इसे लगाने की बात कहती हैं।[4]

काजल प्रिय की रसिकता और उनके भ्रमर-वृत्ति को बताने के साधन के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। ऐसे स्थलों पर काजल का प्रयोग नेत्रों में न होकर मुख के अन्य किसी भाग पर होता है। यह अनायास ही हो जाता है। प्रायः अधरों पर काजल की रेखा देखकर प्रिय की इस रसिकता का ज्ञान होता है।[5] ऐसा वर्णन सभी भक्त कवियों ने किया है।

'तिल' लगाने का उपयोग सौन्दर्य मूलक है। यह कपोल या चिबुक पर लगाया जाता है। तिल या तो नैसर्गिक रूप में स्वय वर्तमान रहते हैं या प्रसाधन रूप में इनकी रचना कर ली जाती है। भक्तिकाल में नैसर्गिक एवं कृत्रिम दोनों प्रकार के तिलों का वर्णन है। सूर आदि सभी कवियों की ऐसी प्रवृत्ति है।[6] तिल के सम्बन्ध में कवियों की उद्भावनाएं मौलिक, नवीन और सौन्दर्य मूलक हैं।

---

1 काजल की रेख बनी, नैननि में प्रीतम चित चोरै।

कृष्णदास-अष्ट० परि० पृ. २२८

2 बसीकरण रस सों भिजी रचि-रचि अंजन रेख बनाई। परमानन्ददास ६१६

3 चिबुक विन्दु बर खुंभी नैन अंजन धरिकै अब जोहै। चतुर्भुजदास १६६

4 तादिन काजल दैहों सखी री।

जा दिन नन्दनन्दन के नैना, अपने नैन मिलैहों सखी री।

परमानन्द दास ५४४ पृ. १३५

5 प्यारी चितै रही मुख पियको।

अंजन अधर कपोलन विन्दन, लाग्यौ काहू तिय को। सूरसागर

6 (i) चिबुक चारु तिल ताकि बनायो। सूरसागर २६११।

(ii) चिबुक विन्दु बिच दियो विधाता, रूप सींव निरुवारि। वही २११८

(iii) चिबुक मध्य सामल विन्दु राजै, मुख-सुख सदन सयानी।

परमानन्द ६१६

१. ग्रानन की उपमा पै सकल विकल भई,
भली शोभा लै रह्यौ तिल कपोल पर को ।
पंकज के बीच ग्रालो ग्रलिगो समाइ तहाँ,
मानो री बिछुरि छौना बैठ्यो मधुकर को ।[1]

पंकज के बीच समा जाने वाले भ्रमर का यह तिल बिछुड़ जाने वाला छौना है । इसी प्रकार की ग्रनेक नवीन उद्भावनाएँ ग्रौर ग्रछूती कल्पनाएँ समक्ष ग्राती हैं ।[2] इनसे कवियों की बौद्धिक उर्बरता का ज्ञान होता है ।

हाथ ग्रौर पैरों का सौन्दर्य बढ़ाने के लिये मेंहदी ग्रौर महावर को प्रसाधन रूप में प्रयोग किया जाता रहा है । परमानन्द दास ग्रौर कुम्भन दास ने मेंहदी रचाए जाने का वर्णन किया है "ग्रचल सुहाग भाग्य की लहरें, हस्त हैं मेंहदी दागे ।[3] पांय पैंजनी मेंहदी राजति पीठि पुरट के पान ।"[4] महावर या जावक स्त्रियों का प्रमुख सौन्दर्य प्रसाधन है । इससे पैरों का ग्राकर्षण बढ़ता है । इसे देखकर प्रिय प्रसन्न होता है 'नखनि रंग जावक की सोभा, देखत पिय मन भावत ।'[5] जावक 'नाइन' लगाती थी "नाइन बोलई नवरंगी, ल्याऊँ महावर बेगि" ।[6] प्रायः शृंगार के ग्रन्य उपकरणों के साथ इसका वर्णन किया गया है ।

सौभाग्यसूचक सौन्दर्य के उपकरण—शरीर पर लगाये जाने वाले सौन्दर्य-प्रसाधनों में सिन्दूर, बिन्दी ग्रौर तिलक ग्रादि को सौभाग्य सूचक उपकरण मानते हैं । सधवा स्त्रियाँ सिन्दूर का प्रयोग करती हैं । बिन्दी का प्रयोग कुमारी कन्याएँ भी करती हैं । इन उपकरणों से दो उद्देश्यों की सिद्धि होती

---

1 ग्रकबरी दरबार के हिन्दी कवि—पृ. ४२०

2 (i) चंद से ग्रानन में तिल राजत, ऐसे बिराजत दांत मसि के ।
फूलन की फुलवारिन में मनो खेलत हैं लरिका हबसी के । गंग कवि
(ii) रूप की रासि मैं कै रसराज को, ग्रंकुर ग्रानि कढ्यौ शुभ होना ।
कै शशि ने तम ग्रास कियो, तिहि को रह्यौ शेष विख्यात सो कोना ।
प्यारी के गोल कपोलन पै, द्विजराजि रह्यौ तिल श्याम सलोना ।
कै मधु पान पर्‌यौ ग्रलमस्त किधौं ग्ररविन्द मलिन्द को छौना ।

3 परमानन्द ६१६ ।

4 कुम्भनदास ५० ।

5 सूरसागर १०५४

6 वही—१०/४०

है (१) सौभाग्य की सूचना (२) रूप का आकर्षण बढ़ाना। इन दोनों उद्देश्यों की सिद्धि भक्तिकालीन रचनाओं में बताई गई है।

बालों को सँवार कर बीच से मांग निकालने और उसे सिन्दूर से भरने की परम्परा सघवा स्त्रियों में ही पाई जाती है। मांग निकालने को 'पाटी पारना' कहते हैं "मुण्डली पाटी पारि सँवारे।"[1] मांग को सजाने की स्पष्ट प्रवृत्ति दीख पड़ती है। इसके लिए तीन उपकरणों का उपयोग भक्तिकाल में किया गया है। फूल, मोती और सिन्दूर द्वारा मांग भरकर शोभा बढ़ाने का बार-बार वर्णन किया गया है। मोती से मांग की शोभा बढ़ जाती है।[2] फूलों के द्वारा मांग को सजाया गया है।[3] सिन्दूर तो प्रमुख उपकरण ही है। इसका प्रयोग अनिवार्य रूप से होता रहा है।[4] इससे स्त्रियों के मुख पर चमक आ जाती है। इसी कारण मांग की शोभा का वर्णन अधिक हुआ है।[5] सिन्दूर लाल रंग का एक विशेष पदार्थ होता है। इसी से मिलता एक दूसरा पदार्थ 'इंगुर' भी काम में लाया जाता है, जिसे अभ्रक, पारद और गंधक को घोटकर बनाते हैं।

बिन्दी अथवा तिलक भी सौभाग्य का सूचक माना जाता है। बिन्दी के लिए सिन्दूर, रोरी और चन्दन का प्रयोग तथा तिलक के लिए मृगमद, केशर आदि का प्रयोग किया जाता था। तिलक का प्रयोग पुरुष वर्ग भी करता था। तिलक लगाने के कई प्रकारों का वर्णन है। सीधा और आड़ा तिलक लगाया जाता था।[6] तिलक लगाने के लिए कुमकुम, गोरोचन, सिन्दूर आदि का प्रयोग होता था। सिन्दूर सौभाग्य सूचक है। गोरोचन शुभ अवसरों पर प्रयुक्त होता

---

1 सूरसागर ३०२६ वेंकटेश्वर–प्रेस

2 (i) मोतिन मांग बिथुरी ससि मुख पर, मानहुँ नक्षत्र आए करन पूजा। कुम्भनदास ३०५

(ii) गजमोतिनि सुन्दर लसत मंग। सूरसागर २८४६

3 (i) बेनी गुही बिच मांग सँवारी, सीस फूल लटकारी। कुम्भनदास २५०

4 (i) मुख-मण्डित रोरी रंग सेन्दुर मांग छुही। सूरसागर १०-२४

(ii) मुखहि तम्बोल नैन भरि काजर, सेन्दुर मांग सु देस जू। कुम्भनदास ९२

5 सिर सीमंत सवारी। सूरसागर २११८

6 (i) सोहत केसर आड़ कुमकुम काजर रेख। चतुर्भुज ८०

(ii) कुमकुम आड़ स्रवत श्रम-जल मिलि। सूरसागर १७०२

था।[1] सिन्दूर के साथ कस्तूरी या मृगमद के आड़े तिलक की सजावट आकर्षक हो जाती है।[2] कुम्भनदास ने काजल का तिलक लगाये जाने की बात कही है, "काजल तिलक दियौ नीकी विधि, रुचि-रुचि मांग संवारी।" ऐसा लगता है कि गोरे वदन पर काले काजल के तिलक से रंग-वैषम्य का वैचित्र्य उत्पन्न किया गया होगा। सूरदास ने तिलक के चारों तरफ चूनी लगाकर यही निरालापन दिखाया है, "नाटंक तिलक सुदेश झलकत, खचित चूनी लाल।"[3] बिन्दी द्वारा मुख की शोभा बढ़ाई जाती है। "गोरे ललाट सोहैं सेन्दुर को बिन्दु।"[4] हरि इस 'बिन्दु' को देखकर रीझ जाते हैं "बंदन बिन्दु निरखि हरि रीझै, ससि पर बाल-बिभाम।" केसर के तिलक के बीच में बनाया गया सिन्दूर बिन्दु अद्भुत शोभा युक्त हो जाता है। अब तक स्पष्ट हो गया कि शरीर पर लगाये जाने वाले सौन्दर्य साधनों में तीन दृष्टियाँ—शरीर को कोमल बनाना, सौन्दर्य की अभिवृद्धि करना और सौभाग्य की सूचना—कार्य करती रही हैं। इन तीनों द्वारा किसी न किसी रूप में सौन्दर्य स्पष्ट ही होता है। इन सभी शृङ्गार-प्रसाधनों का एक मात्र उद्देश्य प्रिय को रिझाना है। इस रूप में भक्तिकालीन कवियों को सफलता मिली है।

(ग) **सौन्दर्य–साधक अन्य उपादान**—सोलह शृंगार के अन्तर्गत जिन सौन्दर्य-प्रसाधनों की चर्चा की गई है, उनमें शरीर पर धारण किये जाने वाले और लगाये जाने वाले उपकरणों के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे सौन्दर्य-प्रसाधन हैं, जो इन दोनों की सीमा में नहीं आते हैं, फिर भी उनकी गणना शृंगार-साधन के अन्तर्गत ही होती है। इनसे सौन्दर्य उत्कर्ष को प्राप्त होता है। ऐसे प्रसाधनों में स्नान, केश-विन्यास और पान रचना का नाम लिया जा सकता है। स्नान से शरीर की 'सुघरता' खुल जाती है, केश-विन्यास से मुख का आकर्षण बढ़ता है और पान अधर की लालिमा को निखार कर व्यक्तित्व का आकर्षण बढ़ा देता है। भक्तिकालीन साहित्य में इन तीन सौन्दर्य-प्रसाधनों का वर्णन है।

स्नान से शारीरिक निर्मलता के सम्बन्ध में मत-वैभिन्य नहीं है। प्रायः उबटन और तेल-मर्दन के उपरान्त ही स्नान की व्यवस्था होती है। स्नान के

---

[1] दधि रोचन को तिलक कियो सिर। परमानन्द ४८६

[2] (i) भाल-लाल सिन्दूर बिन्दु पर मृगमद दियो सुधारि। सूरसागर २११८
(ii) सेन्दुर तिलक तम्बोल लुटिला बने बिसेख। चतु० ८०
(iii) तिलक केसरि को ता बिच सिन्दूर बिन्दु बनायो। सूरसागर २६११

[3] सूरसागर २८४२

[4] वही–१०७६

जल में सुगन्धित पदार्थ मिलाये जाते थे। भक्तिकालीन कृष्ण साहित्य में स्नान के जल में केशर और अष्टगंध मिलाये जाने का वर्णन मिलता है।[1] यह जल ऋतु के अनुसार उष्ण या शीतल हुआ करता था।[2] स्नान का वर्णन प्रायः श्रीकृष्ण के प्रसंग में आया है। स्नान के पूर्व 'तेल-मर्दन' एवं उबटन का वर्णन बार-बार किया गया है।[3] तेल मर्दन एवं स्नान से शरीर में मृदुता और चमक पैदा हो जाती है।

स्नान के उपरान्त केश-विन्यास द्वारा मुख की शोभा बढ़ाई जाती है। केश-विन्यास का मूल सम्बन्ध स्त्रियों से रहता है। सद्यः स्नाता के लटों से टपकते हुए जल का वर्णन किया गया है।[4] लम्बे एवं एड़ी तक पहुँचने वाले बालों का सौन्दर्य वर्णित है।[5] ऐसे बालों को सुगन्धित द्रव्यों एवं तेल-फुलेल से सुबासित करके उसे चमकीला बनाया जाता है। बिना तेल के बालों में लटें आ जाती हैं। बालों के द्वारा ही नायिका की मानसिक स्थिति का ज्ञान हो जाता है। वियोग की अवस्था का आभास बालों के रूखेपन से हो जाता है। कृष्ण की दूरी बढ़ जाने से गोपियों के बालों की लटें बन जाती हैं,[6] ये केश-विन्यास करना छोड़ देती हैं। कृष्ण के वियोग में राधा के अलक भी छूट जाते हैं और उसका बदन कुम्हला जाता है।

संयोगावस्था में बालों की ऐसी दशा नहीं रहती है। प्रिय मिलन की भूमिका के लिये विन्यस्त केश आकर्षक होते हैं। रूप गर्विता या प्रेम गर्विता ब्रजांगनाओं के केशों का विन्यास श्रीकृष्ण स्वयं करते हैं।[7] कभी-कभी सखियाँ

---

1 केसर सौंधि घोरि जननी प्रथम लाल अन्हवायो री। परमानन्द २०७
(ii) अष्टगंध उष्णोदक सों अस्नान कराये।
नन्ददास—रुक्मिणी मंगल पृ० १४६

2 तातो जल अरु तेल उबटनो देखत ही भज जाते। सूरसागर
(ii) उष्ण शीतल अन्हवाय खोर जल चंदन अंग लगाऊंगी। परमा० ६०८

3 तेल लगाइ कियो रुचि मर्दन, वस्तर मलि-मलि धोए। सूरसागर १—५२

4 तैसीय लट बगरि रहो उर पर, स्रवत नीर अनूप। सूरसागर ११६६

5 बड़े-बड़े बार जु एँड़नि परसत, स्यामा अपने अंचल में लिए। सू० २६१७

6 अलक जु हुती भुवंगम हू सी, बट लट मनहुँ भई। सूरसागर ३४०४

7 मोहन मोहिनि अंग सिंगारति।
बेनी ललित ललित कर गूँथत, सुन्दर मांग सँवारत।

भी वेनी गूँथकर उसे सजा देती हैं। वेनी चम्पक बकुलनि ग्रंथित, रुचि-रुचि सखिन सँवारी।' संयोग की अवस्था में बालों को गूँथकर वेणी बना ली जाती है। इसे फूलों से सजाया जाता है। कलियों का गजरा लगाते हैं। फुँदने से सुशोभित करते हैं, "पांच चँवर पटियन पै गूँथी, डोर चुनाव में झूले। झूलत छवि फवि सुन्दरता फुँदना जहां समतूले।"[1] बालों के सजाने से ही मन के उल्लास का ज्ञान होता है। वेणी के बँधे होने से प्रिय के सानिध्य का ज्ञान होता है और उनका खुला और बिखरा होना वियोगावस्था का सूचक है। मान-दशा में भी बिखरे बालों का वर्णन है। यह भी एक प्रकार का वियोग ही है। मिलन एवं विछोह की मानसिक अवस्थाओं की सूचना बालों के विन्यास अथवा उसके बिखरे हुए होने से ही मिल जाती है। अतः संयोग में ये बाल सौन्दर्य साधक और वियोग में दुःख को व्यक्त करने वाले होते हैं। यहां पर सौन्दर्य-साधक रूप में बालों के विन्यास का महत्व स्वीकार किया गया है।

स्नान और केश-विन्यास के साथ पान-रचना का महत्व भी शृङ्गार के प्रसाधनों में रहा है। सोलह शृङ्गार में इसकी गणना होती है। इससे अधर में लाली आती है और मुख का सौन्दर्य बढ़ता है। प्रायः मुख की बढ़ी हुई छवि, अधर की लाली और हरि के सुरंग वर्ण की चर्चा पान खाने के प्रसंग पर की गई है।[2] पान के संग सुगन्धित पदार्थों के सेवन से मुख सुवासित हो जाता है। पान खाने या खिलाने के माध्यम से प्रेम भाव की अभिव्यक्ति होती है। प्रायः रच-रच कर पान खिलाया जाता था।[3] प्रिया-प्रियतम एक दूसरे को पान देकर तृप्त होते हैं।[4]

(ii) बेनी सुभग गुही अपने कर, जावक चरनन दीन्हों।
(iii) बेनी सुन्दर स्याम गुहीरी—गोविन्द० २०३

1 परमानन्द० ६१६

2 उज्ज्वल पान कपूर कस्तूरी, आरोगत मुख की छबि रूरी। सूरसागर ३६६
(ii) तब बीरी तनक मुख नायो, अतिलाल अधर ह्वै आयो।
सूरसागर १०–१८३
(iii) पान मुख बीरी रांची हरि के रंग सुरंगे। परमानन्द ६६७

3 तब तमोल रचि तुम्हहि खवावों। सूर० १०–२११
(ii) बीरी देत बनाय-बनाय। परमानन्द ६७७

4 परमानन्द दास को ठाकुर हँसि दीनो मुख बीरा। परमानन्द ७१२
(ii) लेकर बीरी पिय प्रिया वदन मनोहर देत।
लेत नांहि जब लाडिली, विनय करन सुख हेत।
युगल शतक पद ४४ 'आदि वाणी'।

भक्ति साहित्य में पान की पीक की चर्चा अधिक हुई है। इसका वर्णन खण्डिता-प्रसंग पर रसिक नायक की लोलुप भ्रमर वृत्ति को व्यक्त करने के लिए किया गया है। कपोलों पर लगी हुई पान की पीक नायक की इस वृत्ति को स्पष्ट कर देती है।[1] परन्तु शृङ्गार प्रसाधन के रूप में इससे मुख की शोभा बढ़ाई गई है। इसी से इसके सेवन से अधर में लालिमा के कारण आकर्षण बढ़ता है; दाँतों की द्युति हीरे के समान उज्ज्वल हो जाती है।[2] आलम्बन खिचकर आश्रय के सौन्दर्य-पाश में बँध जाता है। पान के अभाव में मुख की शोभा खिल नहीं पाती है। इसी से विरह के प्रसंग पर प्रायः इसके अभाव से उत्पन्न प्रभाव का वर्णन मिलता है, क्योंकि वहाँ मुख की मलिन द्युति का ही संकेत होता है।[3]

उपर्युक्त विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य प्रसाधन के रूप में भक्त कवियों ने जिन उपकरणों को ग्रहण किया है उन सबसे शारीरिक सौन्दर्य की ही सिद्धि होती है। इन्हें आत्मगत साधन के अन्तर्गत न मानकर सौन्दर्य के बाह्य साधन बताये गये हैं। गुण और चेष्टा का सम्बन्ध नायक या नायिका की स्वाभाविक या अर्जित वृत्ति से रहता है, जो इसके आश्रय या आलम्बन में स्वतः ही रहते हैं। इससे इन्हें सौन्दर्य के आत्मगत साधन के रूप में स्वीकार किया गया है।

सौन्दर्य के बाह्य उपकरणों में सोलह-शृङ्गार का वर्णन हुआ है। इन उपकरणों का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, परन्तु इनके प्रयोग से शारीरिक शोभा का विकास अधिक होता है। इन उपकरणों की तीन कोटियाँ बताकर उनके व्यावहारिक रूप की समीक्षा द्वारा प्रसाधनगत सौन्दर्य का स्पष्टीकरण किया गया है। नीचे की तालिका से यह स्पष्ट हो जायगा।

(iii) बीरी अरोगत गिरधरलाल।
अपने कर सों देत राधिका, मोहन मुख में मधुर रसाल।
अष्ट० परि० पृ० २०० परमानन्ददास

1 अधर दसन छत बसन पीक सह अरु कपोल स्रम-बिन्दु देखियत।
गोविन्द दास २४५

2 पीरे पान पुराने बीरा। खात भई दुति दाँतनि हीरा।
मृगमद कन कपूर कर लीने, बाँटि-बाँटि ग्वालिन को दीने।
सूरसागर १२१३

3 मुख तंबोर नहिं काजर बिरह शरीर बिगोये। परमानन्द ५२१

प्रसाधनगत सौन्दर्य—शृङ्गार प्रसाधनों का वर्गीकरण:—

(क) शरीर पर लगाये जाने वाले उपकरण—

(अ) मृदुता उत्पन्न करने वाले उपकरण—उबटन, तेल आदि

इनका उद्देश्य (i) शरीर को निर्मल करना

(ii) सुवासित करना

(iii) सुकुमार बनाना।

(आ) सौन्दर्योत्कर्षक उपकरण—

अंजन, महावर, मेंहदी, तिल आदि

उद्देश्य (i) सौन्दर्य की वृद्धि

(ii) प्रिय को रिझाना

(इ) सौभाग्य सूचक उपकरण—सिन्दूर, बिन्दी, तिलक

उद्देश्य (i) सौभाग्य की सूचना

(ii) आकर्षण का बढ़ाना।

(ख) शरीर पर धारण किये जाने वाले उपकरण—

वस्त्र, आभूषण, फूलमाला आदि।

प्राप्ति के स्रोत

(अ) मनुष्य निर्मित—वस्त्रादि

(i) दैनिक प्रयोग के वस्त्र

(ii) ऋतु एवं पर्वों के वस्त्र

उद्देश्य—स्त्री और पुरुषों के रूप सौन्दर्य को बढ़ाना

(आ) धातु एवं खनिज—आभूषण

उद्देश्य— (i) वैभव का प्रदर्शन और आत्म तुष्टि

(ii) सौन्दर्य का उत्कर्ष

स्रोत—(i) प्राणियों से प्राप्त होने वाले–मोर पंख, मोती

(ii) खनिज रूप में प्राप्त–स्वर्ण, हीरा, माणिक आदि

(इ) प्रकृति से प्राप्त होने वाले उपकरण

(i) पशुओं से प्राप्त–मोर चन्द्रिका, कस्तूरी (मृगमद)

(ii) वनस्पतियों से प्राप्त–फूल, गुंजा, वनमाला, तुलसी

(ग) अन्य सौन्दर्योत्कर्षक पदार्थ:—स्नान, केश-विन्यास और पान रचना

उद्देश्य (i) शारीरिक स्वच्छता और निर्मलता।
(ii) आकर्षण की अभिवृद्धि।
(iii) नायिका की संयोग या वियोगावस्था का ज्ञान। संयोग में इनका महत्व और वियोग में इनका अभाव।

तटस्थ-सौन्दर्य—

भक्तिकाल में आलम्बन से भिन्न सौन्दर्योत्कर्षक बाह्य-तत्वों का ग्रहण अपने इष्ट देव के माध्यम से किया गया है। ऐसे तत्वों में तटस्थ अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों द्वारा आलम्बन की भावना को उद्बुद्ध करने की चेष्टा की गई है। इस काल में वर्णित प्राकृतिक सौन्दर्य में मानव-भावनाओं की सापेक्षता का महत्वपूर्ण स्थान है। इसी से प्रकृति प्रायः भगवान के अस्तित्व को लेकर ही समक्ष आती है, उन्हीं के समक्ष गतिमान् और क्रियाशील होती है, सहानुभूति तथा चेतना का प्रसार करती है। यह चेतना प्रकृति की अपनी न होकर कवि की आत्म चेतना है। इसी से वह अनेक रूपों में प्रस्तुत की गई है।

१. प्राकृतिक–सौन्दर्य का आदर्शात्मक रूप – यहां प्रकृति के माध्यम से उसके मुग्धकारी रूप द्वारा वातावरण निर्माण की मोहकता उत्पन्न की जाती है। कृष्ण की लीला-स्थली में सर्वत्र प्रकृति की बसन्तकालीन सुषमा छाई रहती है। प्रकृति की शोभा लीला के माध्यम से ही रहती है। अतः उसका चिरन्तन सौन्दर्य मुग्धकारी बना रहता है। सूर के वृन्दावन में सदैव, बसन्तकालीन शोभा बनी रहती है।[1] परमानन्ददास की सौन्दर्य-कल्पना में यमुना का अवगाहन सुखद रहता है, लहरें चंचल होकर झलकती हैं, कपोतादि गान करते रहते हैं।[2] गोविन्ददास ने लीला भूमि में चिर बसन्त देखा है।

प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा रास एवं मुक्त-क्रीड़ाओं के लिये सुखद वातावरण की सृष्टि होती है। इसमें यथार्थ प्रकृति की नवीनता द्वारा सौन्दर्य की कल्पना करके उसे मानव भावनाओं के अनुकूल बनाने की चेष्टा की गई है। इस वर्णन में प्रकृति के रंग-रूपादि के कथन द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया गया है।

---

1 वृन्दावन निज धाम कृपा करि तहां दिखायो।
सब दिन जहाँ बसन्त कल्पवृक्षन सो छायो। सूरसागर

2 "अति मंजुल जल प्रवाह।" कीर्तन संग्रह (भाग ३ उत्तरार्द्ध) पृ० ८

(२) प्रकृति का सौन्दर्य लीला की भावना से होने के कारण विस्मय-कारी हो जाता है। वह भगवान के समक्ष गतिमान् और क्रियाशील हो जाती है। उसमें सहानुभूति और चेतना का प्रसार हो जाता है। वंशी-नाद से चल-अचल सभी स्तम्भित हो जाते हैं, जमुना का प्रवाह रुक जाता है। कृष्ण द्वारा अपने मुख में अंगूठा मेलने से भी प्रकृति का यही विस्मयकारी रूप देखने को मिलता है। इसका कारण कवि की आत्म चेतना ही है। प्रकृति तो एक रस रहती है। कवि अपनी भावनाओं के अनुकूल उसे बना लेता है। प्रकृतिगत मोहकता के मूल में भावनाओं का ही प्रथम महत्व है, उसका यथातथ्य रूप गौण महत्व रखता है।

(३) प्रकृति का गतिमय रूप कवि के मन के उल्लास को व्यक्त करता है। यह उल्लास भगवान के आनन्द रूप के कारण है। वसन्त फाग और हिंडोले के प्रसंग पर प्रकृति का उल्लसित रूप देखने को मिलता है। यहाँ कृष्ण एवं गोपियों के मानसिक आनन्द का सौन्दर्य प्रकृति में दीख पड़ता है। अतः प्रकृति-सौन्दर्य प्रमुख आलम्बन का विषय न होकर भगवान के माध्यम से अपने रूप-सौन्दर्य का विस्तार पाती है। उसके रूप की गति, चेतना आदि कृष्ण के सानिध्य के कारण ही इतनी मोहक हो जाती हैं।

(४) तटस्थ-सौन्दर्य का वर्णन करने के लिये आलम्बन से भिन्न प्रकृति आदि जिन पदार्थों को ग्रहण किया गया है, उसमें मानवीय रूप-सौन्दर्य का ध्यान बराबर बना रहा है। प्रस्तुत की सौन्दर्याभिव्यक्ति में प्रकृति का ग्रहण अप्रस्तुत रूप में भी हुआ है। राधा आदि के रूप-सौन्दर्य वर्णन में प्रत्यक्ष रूप से सादृश्य-विधान द्वारा प्रकृति-सौन्दर्य का बोध कराया गया है। यह बोध 'कूट-शैली' द्वारा अथवा सामान्य-कथन द्वारा हो सका है। सूर का "अद्भुत एक अनुपम बाग" पद कूट शैली का प्रसिद्ध पद है, जिसमें केवल उपमानों के माध्यम से ही उपमेय के सौन्दर्य का बोध करा दिया गया है। ऐसे स्थलों पर उपमानों की उन-उन सौन्दर्यगत विशेषताओं के द्वारा उपमेय के रूप-सौन्दर्य की व्यञ्जना की गई है। प्रकृति की शोभा के साथ श्रीकृष्ण या राधा आदि के रूप-सौन्दर्य का ध्यान स्वतः ही आ जाता है।

अन्त में कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन कवियों ने आलम्बन से भिन्न प्रकृति आदि तटस्थ सौन्दर्य का जो वर्णन किया है उसमें आत्मीय सम्बन्धों की ही अधिक व्यञ्जना हुई है। यह सम्बन्ध इष्ट देव के माध्यम से व्यक्त हुआ है। अलंकारों की योजना द्वारा प्रकृतिगत उपमानों के प्रयोग में भी भावों की ही प्रधानता है। दूती आदि के कथनों में प्रकृति के सादृश्य मूलक और सौन्दर्य-

विधायक अंगों का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य का तादात्म्य मानव से कराया गया है। इससे पात्र के भावों का प्रतिविम्ब प्रकृति में दीख पड़ने लगता है और वह अवसर एवं परिस्थिति के अनुकूल मोहक, मादक या उद्दीपक बनकर समक्ष आती है। प्रकृति में मानव–सहानुभूति की चेतना का विकास कहीं-कहीं पर यौन-भावना के संग होने लगता है। इससे प्रकृति का ग्रहण मानसिक भावनाओं के प्रतिविम्ब रूप में होता है। मन प्रकृति से सौन्दर्य का संचय करके सौन्दर्य की अनुभूति कराता है। इसमें प्रकृति के रूप एवं गुण की नितान्त उपेक्षा नहीं है, क्योंकि वही उसकी आधार भूमि है। ऐसे रूप पर भाव का आरोप ही अनुभव एवं चयन द्वारा सौन्दर्य का विधान करता है। भक्तिकालीन साहित्य में प्रकृति के रूप और हृदय के भाव की युगपत् महत्ता है। प्रकृतिगत इस सौन्दर्यानुभूति में वस्तु का गुण रूप-पक्ष के आधार पर व्यक्त होता है और विभिन्न गुणों को ग्रहण करने की भावना विषयक अनुभूति से वह सुन्दर बनता है। अतः कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन तटस्थ सौन्दर्य में प्रकृति हमारी भावना और हमारे विचारों से युक्त होकर ही सुन्दर लगती है।

निष्कर्ष

भक्तिकाल के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि मानवीय रूप-सौन्दर्य वर्णन के हेतु स्त्री और पुरुष रूप में राधा-कृष्ण के सौन्दर्य का चित्र अंकित किया गया है। इन दोनों के चित्रों में समता और भिन्नता दोनों ही दृष्टियां दीख पड़ती हैं।

श्री कृष्ण का रूप-सौन्दर्य—श्रीकृष्ण के रूप सौन्दर्य का अंकन करने में भक्तिकालीन कवियों ने गुण, चेष्टा, वेशभूषा आदि को अपरिहार्य महत्व दिया है। अंग-वर्णन की विशेष रुचि प्रदर्शित की गई है। अंगों के स्थूल आकार से प्रारम्भ करके द्युति आदि की सूक्ष्मता का अंकन अप्रस्तुत विधान द्वारा हुआ है। अंग-द्युति के लिये अतिसी कुसुम, सजलमेघ, मरकतमणि और पीताम्बर-द्युति के लिये विद्युत आदि का प्रयोग है।

श्रीकृष्ण लावण्य-निधि हैं। ब्रज बालाएं उनके अंग-अंग पर रीझ जाती हैं। उनके नेत्र 'शोभा-निधि' श्रीकृष्ण के रूप में डूबते-उतराते उसमें अवगाहन करने लग जाते हैं। क्षण-क्षण परिवर्तित होती हुई रमणीयता को आंखों में बन्द कर लेने के लिये गोपियां रोम-रोम में आंखों के हो जाने की अभिलाषा करती हैं। उनकी छबि की चमक से गोपियों पर रूप की ठगोरी पड़ जाती हैं। वे अनेक माध्यम एवं बहानों से श्रीकृष्ण को देखने की चेष्टा करके भी तृप्त नहीं होतीं। उनकी मोहिनी के समक्ष सुर, नर मुनि सभी विवश हो जाते हैं।

गोपियों की आंखें तो उनके 'रूप-रस में रांची' सदा उन्हीं में लगी रहती हैं। ऐसे श्रीकृष्ण के प्रसाधनों से उनकी शोभा बढ़ गई है।

श्रीकृष्ण का सहज सौन्दर्य कोटि-कंदर्प को लज्जित करने वाला महाप्रकाश का पुञ्ज है। ऐसे रूप-पुञ्ज के चित्रांकन में आभूषणों का मोह कवियों के मन में सदा बना रहा। सिर पर मोरमुकुट, क्रीट; गले में मोतियों की माला, वनमाला, गुञ्जामाल, कनक-दुलरी आदि; कानों में कुण्डल; हृदय पर कौस्तुभ मणि; भुजाओं में केयूर आदि; कटि में कनक मेखला; चरणों में नूपुर और शरीर में पीतपट शोभा को बढ़ा देते है। कपोलों पर रत्न जटित मुकुट की अद्‌भुत शोभा विराजमान है। श्रीकृष्ण के इस प्रसाधन में कवियों की दो दृष्टि काम करती थी (१) श्री कृष्ण के सहज रूप की उद्‌भावना और (२) अप्रस्तुत रूप में प्रकृति के रमणीय एवं मनोज्ञ वस्तु या दृश्यादि का ग्रहण। इन अप्रस्तुतों के कथन में व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपकादि अलंकारों का प्रयोग है। मुख को देखकर चन्द्रमा हतप्रभ हो जाता है, सूर्य-चन्द्र दोनों छिप जाते हैं। नेत्रों के समक्ष खंजन, मीन, मृगज, की चंचलता नीरस प्रतीत होती है। अलक छवि के समक्ष अलि कुल मान हो जाता है। कमल प्रतिदिन खिलकर भी मुस्कान की शोभा धारण नहीं कर पाता। दांत के समक्ष दाड़िम का हृदय फट जाता है. शुक नासिका के समक्ष लज्जित है। अधरों की अरुणिमा के समक्ष बंधूक, विम्बफल और प्रवाल पंक्ति की महत्ता नहीं रह जाती। गहरी नाभि सुधा सरसी हैं, रोमावली, अलि श्रेणी, वंक-मृकुटि, कमान है। इस प्रकार अनेक उपमानों के माध्यम से श्रीकृष्ण की शोभा बढ़ाई गई है।

श्रीकृष्ण की चेष्टाओं से साक्षात् रस की धारा प्रवाहित होने लगती है। उनकी मन्द मुस्कान, मन्थरगति चटक-लटकभरी चाल, बंक बिलोकनि, छबीली चितवन, मुरली वादन, नृत्य-भंगिमा, त्रिभंगी रूप आदि की मोहकता सर्वोपरि है। उनके अनुभाव उद्दीपक है। उनकी छेड़-छाड़ में हृदय परबस हो जाता है। हास-परिहास में आकर्षण है और ऐसी चेष्टाओं से युक्त उनके शरीर का रंग-वैभव अपूर्व है। श्यामल तन-द्युति, अरुण अधर, श्वेत दंत–पंक्ति, नेत्रों का तीन रंग, गगन की नीलिमा, बाल अरुण की रक्तिमा आदि असामान्य शोभा विधायक रंग वैभव हैं। इन सभी के संग पीतवस्त्र, फूल-मालादि की श्वेतिमा मणियों की प्रतिबिम्बित कान्ति इन्द्रधनुषी शोभा को धारण करता है। हरित, नील, पीला, अरुण, श्वेत आदि रंगों का ऐसा दुर्लभ समन्वय अन्यत्र उपलब्ध नहीं होगा, परन्तु श्रीकृष्ण की यह शोभा राधा की शोभा के बिना अधूरी है। अतः भक्तिकाल में राधा के रूप-सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना पूर्ण तन्मयता से हुई है।

कृष्ण तमालतरु की कनक-वल्लरी राधा के शरीर रूपी केलि-सरोवर का सम्पूर्ण शैशव जल यौवन सूर्य द्वारा शोषित कर लिये जाने पर रूप की उस राशि की सहज माधुरी सम्पूर्ण विश्व के उपमानों की शोभा धारण करने लग जाती है। उसकी तन-द्युति चम्पक एवं कनक की स्पर्द्धा का कारण बन जाती है। रति, रंभा, उमा, रमा, उर्वसी का रूप उसके रूप के समक्ष मलीन हो जाता है। उपमान अंग छवि वर्णन में असमर्थ हो जाते हैं। रूप की निधान राधा विश्व के सम्पूर्ण सौन्दर्य तत्वों के सार से निर्मित होकर सर्वातिशायिनी हो गई है। वह सुन्दरता की सहज राशि है। उसका अंग-प्रत्यंग आकर्षक है।

राधा के नेत्र खंजन मीन और मृग की महत्ता नष्ट कर देते है। गुरु नितम्ब पर झूलती वेणी स्वर्ण खम्भ पर सर्पिणी की शोभा धारण करती है। कुटिल भृकुटि में कामदेव के धनुष का रूप दीख पड़ता हैं। बिखरे कुंचित केश मुख-शशि का मधु पान करने वाले सर्प हैं। भुजाओं में कमल नाल की सुडौलता है। उरोज कनक-कलश, चक्रवाक युग्म, श्रीफल या अनंग के मंगल कलश हैं। अधर में विद्रुम की लालिमा है। नाभि ह्रद के समान गहरी है। रोमावली मानो रेंगकर जाती हुई सर्पिणी है। चरण में मसृणता और सुढरता है। उपमानों की सम्पूर्ण शोभा धारण करने वाली राधा के रूप को देखकर पशु-पक्षियों को भ्रम हो जाता है। मोर कवरी को सर्प, भ्रमर चरण को कमल, शुक करों को नवांकुरित किसलय समझने लगता है। ऐसी राधा का रूप अनुपम है। सौन्दर्य के अपूर्व घटक से निर्मित हुआ है। वह कृष्ण 'चन्द्र' की निर्मल 'चन्द्रिका' है। उनकी शोभा भूषणों से अधिक बढ़ती हैं। वेश भूषण-भूषित होने पर अधिक सौन्दर्य को धारण करता है।

सोलह श्रृङ्गार मण्डित पद्मिनी राधा का अंग भूषणों से व प्रसाधनों से मण्डित है। मुख पर केशर, मृगमद या सिन्दुर-विन्दु, नयनों में अंजन की रेख, चिबुक में श्यामल बिन्दु शोभित है। कानों में ताटंक, नाक में बेसर, मांग में गूंथे मोती, चिकुर में कुसुम, कर्ण में कंठ में मणिमय भूषण कटि में किंकिनी, चरणों में जेहर और नूपुर, हाथों में कंकन व चूड़ियां आदि आभूषण शोभा को बढ़ाते हैं। गोरे बदन पर रंगीन वस्त्रों की शोभा अकथनीय हैं। नीलवसन, नीली साड़ी और नीले अम्बर में मेघ में यामिनी तुल्य राधा का अनुपम सौन्दर्य चमकता है। मुख नव घन में मयंक की प्रभा तुल्य है। अवस्था की वृद्धि के संग वस्त्रों के रंग में चटकीलापन आता जाता है। पचरंग साड़ी और नीली अंगिया से शोभा बढ़ जाती है।

राधा का सम्पूर्ण रूप श्री कृष्ण को प्रसन्न करने हेतु है। वह इतनी रूपवती है कि स्वयं ही रीझ जाती हैं। इस रूप की सार्थकता कृष्ण के समक्ष

पूर्ण समर्पण में है। यौवन उपभोग के योग्य है। उस सौन्दर्य के पान और समर्पण में मानसिक उल्लास रहता है। प्रिय की स्मृति उसमें नवीन छवि का संचार कर देती है। राधा की इस शोभा के साथ रत्युपरान्त उसकी तन्द्रिल अस्त व्यस्त बिखरे शृङ्गार की शोभा अवर्णनीय है। इस शोभा का वर्णन सभी भक्त कवियों ने किया है। खण्डिता प्रसंग में श्रीकृष्ण की भी इस शोभा का वर्णन कवियों ने मनोयोग पूर्वक किया है। इस वर्णन में काम शास्त्रीय प्रवृतियाँ दीख पड़ती हैं। अधर कपोल और कुचों का नख-क्षत, बिथुरी अलक, ढीली नीवी की शोभा अनुपम है। इस समय की मुद्रा एवं चेष्टा दर्शनीय है। बाँह उठाकर कमनीय कामिनी का जँभाई लेना आकर्षक है। नीचे गिरती हुई बाँह बिजली जैसी है। रति के कारण राधा की कमनीयता में जो आकर्षण आ जाता है, उसका पूर्ण सचाई के साथ वर्णन किया गया है। इस अवसर पर प्रयुक्त उपमानों में सम्पूर्ण शोभा एवं सौन्दर्य की चेतना वर्तमान रहती है। ऐसी राधा की उद्दीपक चेष्टाएँ इतनी मनोहर हैं कि कृष्ण पूर्णतः उनके दास हो जाते है।

गुण रूप चेष्टा प्रसाधन आदि से बढ़ा हुआ सहज सौन्दर्य अनंग को भी विवश कर देता है। युगल शोभा का वर्णन करने में कवि असमर्थ हो जाता है। भक्तों के राधा कृष्ण सुन्दरता की खान हैं, रस के समुद्र हैं, आनन्द को देने वाले हैं। ऐसे रूप-रस में उलझा हुआ कवि उसीमें तन्मय होकर आत्म सुधि खो बैठता है। उसकी सम्पूर्ण साधना. उसकी भक्ति, सब कुछ मानों सौन्दर्य की साधना है और इस साधना में भक्तिकालीन कवि पूर्ण सफल हुआ है। रूप की इस आसक्ति का प्रभाव रीतिकालीन कवियों पर भी पड़ा और उन्होंने भक्तिकाल के पद चिन्हों का अनुसरण करते हुए राधा-कृष्ण का ऐसा सौन्दर्य उपस्थित किया, जो अपने आकर्षण और चमक में बेजोड़ है।

अनिर्वचनीय रूप-सौन्दर्य के अनन्त भण्डार श्रीकृष्ण की छवि इन्द्रनील-मणि एवं नील कमल की कान्ति से युक्त भूषणों को भूषित करने वाली है। पीताम्बरधारी, रत्न-मण्डित, कुञ्चित और दीर्घकेश, मस्तक पर तिलक, घूर्णायमान रक्त नीलोत्पल कान्ति तुल्य नेत्र, मणि-कुण्डल सुशोभित कर्ण युगल, कोटि चन्द्र प्रभ मुख, त्रिभंगी मुद्रा आदि से कन्दर्प-मोहक शक्ति वाले श्रीकृष्ण की शोभा अवर्ण्य है। सौन्दर्य उनके अंगों में मूर्तिमान् हो जाता है, अंग-कान्ति से सभी प्रकाश-पुंज मन्द पड़ जाते हैं। नख चन्द्र तुल्य और अंगुलियाँ अरुण कान्ति तुल्य है। माधुर्य एवं सौन्दर्य के समूह श्रीकृष्ण का सब कुछ मधुर है। वर्ण, अवस्था, क्रीड़ाएँ, चेष्टाएँ, शरीर, रूप भूषण, वस्त्रादि, वचन, प्रसाधन

सामग्री आदि में यही मधुरता है। संसार में सभी मधुर वस्तुओं के शिरोमणि हैं। उनका व्यक्तित्व माधुर्य की पूर्णता से युक्त है। वे सौन्दर्य के शिरोमणि हैं। ऐसे माधुर्य एवं सौन्दर्य-शिरोमणि भगवान कृष्ण की उपासना भक्तों का ध्येय है। आचार्य बल्लभ ने अपने 'मधुराष्टक' नामक ग्रन्थ में कहा है कि 'मथुरा के अधिपति श्रीकृष्ण की सभी वस्तुएँ मधुर हैं।' अधर, वदन, नयन, मुसकान, हृदय, गमन, वचन, चरित्र, वसन, वलित, वेणु, रेणु, पाणि, पाद, नृत्य, सख्य, गीत, रूप, रमण, गुंजा, माला, कमल, लीला, गोपी, भोग, दृष्टि, गो, यष्टि, सृष्टि, आदि सभी कुछ मधुर है। मधुर भाव की इस सर्वाङ्गीणता में वल्लभाचार्य ने कृष्ण और उनसे सम्बन्धित वस्तुओं में यही माधुर्य देखा है। यह माधुर्य अंग, चेष्टा, नृत्य आदि सब पदार्थों में दीख पड़ती है। ऐसे माधुर्य और सौन्दर्य के निधि भगवान की ओर किस रसिक का मन आकृष्ट न हो जायगा। उनके विशाल लीलायित नेत्र किसको दास न बना लेंगे। इन नेत्रों में मद की अरुणता, रस की शीतलता, भोग का आलस्य एवं लीला की विशालता आदि है।

अंगों का लावण्य प्रतिक्षण एक दूसरे में प्रतिबिम्बित होता रहता है। उनके रूप की अपार छवि मिलन का आमन्त्रण देती है। गौर श्याम वरण की युगल शोभा एक दूसरे में प्रतिविम्बित होती रहती है। उनके नख-शिख के सर्वाङ्ग-सौन्दर्य में मन विभोर हो जाता है, आँखें रूप देखने में अतृप्त ही रह जाती हैं। मुख की मुसकान, अर्द्धोन्मीलित पलकें, बंकिम भौंह, अंग-लावण्य, शृंगार, सुरंग पाग, दन्त-कान्ति, कुण्डल-मण्डित कपोल और मोहक गज गति को निरख भक्त और गोपियाँ दोनों ही अपने को भूल जाती है।[1] वे कृष्ण की रूप-माधुरी का पान करने के लिये व्यग्र रहती हैं।[2] स्वयं राधा की भी

---

1 लालकी रूप माधुरी नैननि निरखि नेकु सखी।
रंग मगी सुरंग पाग लटकि रही वाम भाग,
चंपकली कुटिल अलक बीच-बीच रखी।
आयत दृग अरुण लोल, कुंडल मण्डित कपोल,
अधर-दसन दीपति की छबि क्यों हूं न जाति लखि।.........
उर पर मंदार हार, मुक्ताहार वर सुढार,
दुरद गति, तियन की देह दशा करखी। हित हरि वंश-स्फुट वाणी

2 सखि, मोहि हरि-दरस रस प्याइ।
हौं रंगी अब स्याम मूरति, लाख लोग रिसाइ।
स्याम सुन्दर मदन मोहन, रंग-रूप सुभाई।
सूर स्वामी प्रीतिकारन सीस रह्यौ कि जाइ।
अनुराग–पदावली पृ. ३६ गीता प्रेस

यही दशा है। राधा-कृष्ण में कौन अधिक सुन्दर है, इसका निर्णय नहीं हो पाता। दोनों ललिता से जानना चाहते हैं।[1] यहाँ सौन्दर्य के आधिक्य की व्यञ्जना सीधे-सादे और सरल शब्दों में की गई है। ऐसे रूप-सौन्दर्य की निधि युगल-स्वरूप में साधक रम जाता है। इन भक्त कवियों के सौन्दर्य वर्णन में दो दृष्टिकोण दीख पड़ता है--

(१) श्रीकृष्ण को प्रधान मानकर

(२) राधा को प्रधान मानकर

श्रीकृष्ण की प्रधानता वाले पदों में उनके रूप, कान्ति, छवि, लावण्य की अतिशयता द्वारा गोपी या राधा के मुग्ध भाव का चित्रण है। श्रीकृष्ण के रूप-माधुर्य में भक्त अपनी भावनाओं को तल्लीन करके सदा उनका पान करना चाहता है। ऐसे श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन की विभिन्न विधाओं के आधार पर तीन भेद करेंगे--

(१) कौमार रूप का वर्णन।

(२) पौगण्ड रूप का वर्णन।

(३) किशोर रूप का वर्णन।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की अवस्थाओं में स्फुरित होने वाली भावनाओं एवं क्रियाओं आदि के सौन्दर्य के साथ रूप-सौन्दर्य का वर्णन मध्यकालीन सभी कवियों ने किया हैं, परन्तु साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के कारण वल्लभ सम्प्रदाय के अनुगामी भक्तों ने श्रीकृष्ण रूप की महत्ता स्वीकार की तो राधावल्लभियों ने राधा-रूप को महत्वपूर्ण और प्रधान माना। इस दृष्टि भेद के कारण सूर आदि की सख्यभक्ति हित हरिवंश आदि में सखी-रूप की विभिन्न अभिलाषाओं में परिणत हो गई। इसी से पहले में रूप का माधुर्य और दूसरे में केलि का माधुर्य प्रधान हो गया। सूर आदि की दृष्टि में बाल रूप की प्रमुखता है और हित हरिवंश में किशोरी रूप की। पुरुष और स्त्री रूप में आलम्बन की भिन्नता के कारण सौन्दर्यांकन की विधा में स्पष्ट अन्तर दीख पड़ता है। उनकी क्रियाओं, चेष्टाओं, अनुभावों, अंग-वर्णन, नख-शिखादि में यह अन्तर देखा जाता है। दृष्टिकोण की यह भिन्नता साम्प्रदायिक मान्यताओं के कारण है।

---

1 बातकरत रस-रंग उच्छलिता।
फूलन के महल विराजत दोऊ, भेद सुगंध निकट वहँ सरिता।
मुख मिलाय हँसि देखति दरपन, सुरत स्रमित उर माल विगलिता।
'परमानन्द' प्रभु प्रेम विवस हम दोउन में सुन्दर को कहि ललिता।
परमानन्द सागर

कहीं पर युगल रूप का युगपत् चित्र प्रस्तुत करते हुए 'राधा-लली' की ओर कवियों की पक्षपात पूर्ण दृष्टि रही है।[1]

श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करने के हेतु अवस्था क्रम से उनकी विकसित होती हुई भावनाओं एवं क्रियाओं का वर्णन है। ऊपर बताये गये अवस्था के तीन रूपों में पाँच वर्ष तक की आयु कौमार अवस्था कही जाती है। व्रज की आरम्भिक लीलाएँ इसी अवस्था की हैं। इस अवस्था के तीन भेद हो सकते हैं:—

(१) आद्य कौमारावस्था में बालक के सौन्दर्य का वर्णन है। अतिशय कोमलता, दंतुलियों की ईषत् श्वेत छवि, जंघों की स्थूलता आदि का वर्णन हुआ है। विभिन्न चेष्टागत सौन्दर्य में चलना, गिर पड़ना, देहली लांघना, अँगूठा पीना आदि वर्णित है। आभूषणों में बघनख, करधनी, सूत्र तथा अन्य प्रसाधनों में तिलक-काजल आदि का वर्णन है।

(२) मध्य कौमारावस्था के विकास के संग चेष्टाओं में अन्तर आ गया है। अलकों का इधर-उधर फैलना, मधुर तोतले स्वर, थोड़ा रेंगना, मुक्ता के बेसर, नवनीत, किंकिणी आदि से शोभा बढ़ाई गई है।

(३) शेष कौमार अवस्था के प्रसाधनों में अन्तर आ जाता है। अंगों का विकास होने लगता है। मोर-पंख, लंगोटी, काछनी, लकुटी आदि से शोभा बढ़ाई गई है। सखाओं के संग क्रीड़ा का वर्णन है। वेणु शृंग आदि वादन की रुचि व्यक्त की गई है।

पौगण्ड अवस्था में श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य के क्रमिक विकास का वर्णन है। विभिन्न नवीन क्रीड़ाओं में अभिरुचि व्यक्त की गई है। गायों के बीच रज-मण्डित शोभा, केलि-नृत्यादि युक्त लीलाएँ, पीताम्बर, धातु के अलंकारों का धारण, वन-विचरण आदि का वर्णन मिलता है। नख-शिख की भावना का ईषत् संकेत है। अधरों की लालिमा और उदर की क्षीणता, कम्बुग्रीव की शोभा आकर्षक है। इस अवस्था के द्वितीय चरण के अंगों में गोलाकार कपोल और पार्श्वभाग, सुन्दर नासिका, तिल और स्निग्धता जन्य शोभा है। मुखकान्ति से मणि एवं दर्पण का दर्प समाप्त हो जाता है। उष्णीष और लकुटी विशेष प्रसाधन हैं। अलौकिक लीलाओं में गोवर्द्धनधारण आदि का वर्णन है।

---

[1] बेसर कौन की अति नीकी।
होड़ परी प्रीतम अरु प्यारी, अपने-अपने जी की।
न्याय परो ललिता के आगे, कौन सरस को फीकी।
नन्ददास प्रभु विलगि जिन मानो, कछु इक सरस लली की।
नन्ददास ग्रन्थावली पृ० ३४६ पद ६६

पौगण्ड अवस्था के अन्तिम चरण में शरीर शोभा में अनोखापन व आकर्षक शक्ति का उद्भव हो जाता है। उन्नत स्कन्ध, अलकों का लीलापूर्वक हिलना आदि वर्णित है। प्रसाधनों में पगड़ी, केसर का तिलक, कस्तूरी बिन्दु आकर्षित करती है। वचन की वक्रता, नर्म सखाओं के साथ वार्तालाप का आनन्द और बालाओं की शोभा की प्रशंसा होती है।

कृष्ण के किशोर रूप के वर्णन में सभी कवियों की रुचि रही है। राधावल्लभीय और चैतन्य सम्प्रदाय के भक्तों के लिये यह अवस्था परम सुख-कारी है। पौगण्डावस्था में क्रीड़ाओं का महत्व, कौमारावस्था में बाल्य केलि का सौन्दर्य और कैशोरावस्था में रति-केलि के सौन्दर्य का वर्णन है।

किशोर वय के आरम्भ में वर्ण की उज्ज्वलता, नेत्रों की लालिमा, और रोमावली का उद्भव होता है। भौंहों की धनुषाकारता, नखों की तीक्ष्णता, दांतों की शुभ्रता आदि रूप-सौन्दर्य के लक्षण दीखने लगते है। वैजयन्तीमाला, मयूर पंख, वस्त्रादि की शोभा, नटवर-वेष, वंशी की मधुरता से श्रीकृष्ण का आकर्षण बढ़ जाता है। इस अवस्था के मध्य भाग में स्मित पूर्ण आनन, विलास युक्त चंचल कटाक्ष, चितवन और मुसकान, मधुर अनुभावादि प्रकट होने लगते हैं। शरीर के अंगों में बाहु, वक्षस्थल और जंघाओं की शोभा बढ़ जाती है। त्रिवली दीखने लग जाती है। शरीर का सौन्दर्य मूर्तिमान् हो जाता है। गोपी-लीलाओं का यह प्रमुख काल है। इसमें होली, कुंजलीला रासलीला आदि अनेक रसमय लीलाओं का आचरण हुआ है। अन्य लीलाओं में नृत्य, हिंडोला, झूला, होली, दान, मान, रास, जल क्रीड़ा आदि लीलाओं का वर्णन है। इन सभी लीलाओं में पूर्णावतार श्रीकृष्ण की रासलीला के अन्तर्गत हाव-भाव, नृत्य-गीत, आलिंगन चुम्बनादि का वर्णन है। यहां गोपी और कृष्ण के सौन्दर्य से मिलकर प्रकृति का सौन्दर्य साधक बन गया है।

राधा-सौन्दर्य वर्णन की प्रधानता राधा-वल्लभ सम्प्रदाय की विशेषता है। इस सम्प्रदाय में राधा के रूप-गुणादि का वर्णन करके श्रीकृष्ण को उसका अभिलाषी बताया गया है। लीला की अपूर्वता में दृष्टिभेद के कारण सक्रीयता राधा की है, कृष्ण की नहीं।[1] राधा या गोपियों के समस्त रूप-शृङ्गार का एक मात्र लक्ष्य श्रीकृष्ण का सुख है।

---

1 पिय को नाँचन सिखावत प्यारी।
वृन्दावन में रास रच्यो है, सरद चंद उजियारी।
मान गुमान लकुट लियें ठाढ़ी, डरपत कुंज विहारी।
'व्यास' स्वामिनी की छवि निरखत, हँसि-हँसि दैकर तारी।
भक्त कवि व्यास ३६१ पृ. ५८६६२

युगल रूप-सौन्दर्य में कुंजविहार के प्रसंग की मधुरिमा वर्णित है। दोनों एक दूसरे के रूप से मुग्ध हो बस में हो जाते हैं। इस छवि का वर्णन उपमा आदि के द्वारा स्पष्ट नहीं होता। कहीं वेसर की अच्छाई के सम्बन्ध में प्रतिस्पर्द्धा है, कहीं रतिकेलि जन्य गात के सौन्दर्य का वर्णन है। युगल-सौन्दर्य वर्णन प्रसंग पर भक्तों का ध्यान पारस्परिक अनुराग की ओर रहा है। सौन्दर्य की खान राधा को देखकर कृष्ण तन्मय हो जाते हैं। वे स्वयं बेनी गूंथकर उसमें फूल लगा देते हैं। अंजन, महावर, चित्र आदि लिख देते हैं। शृङ्गार सज्जित राधा के रहः केलि का वर्णन अच्छे ढंग से हुआ है। कृष्ण द्वारा शृङ्गार करने का वर्णन और प्रेम प्रदर्शन अनेक स्थलों पर हुआ है।[1]

इस प्रकार की संयोग सुख को बढ़ाने वाली चेष्टाओं से 'रूप की मादकता बढ़ जाती है। भक्त इस रहःकेलि में गोपीभाव से सम्मिलित होता है। रस की अविरल एवं सान्द्र धारा प्रवाहित होने लगती है। वह उसमें डूबकर सम्पूर्ण जगत से विमुख हो जाता है। उसे सर्वत्र श्याम का रूप-सौन्दर्य दीख पड़ता है विश्व उसके लिये 'श्याम-मय' हो जाता है "जित देखौं तित स्याम मई है।" भक्तिकाल के इस आधार का सहारा लेकर रीतिकालीन कवियों ने श्री कृष्ण का मोहक रूप उपस्थित किया, जिसकी शोभा लौकिक धरातल पर अधिक रमणीय बन गई।

---

[1] 'अरी प्यारी के लाल लागे देन महावर पाँय।
जब भरि सींकहि चहत स्याम घन," दीजे चित्र-विचित्र बनाय।
रहत लुभाय चरन लखि इकटक विवस होत रंग भर्‌यो न जाय।
'नंददास' खिजि कहत लाड़िली रहो, रही तब पगनि दुराय।
नन्ददास ग्रन्थावली पृ. ३४७

रीतिकाल में रूप-सौन्दर्य

(१) सामयिक परिस्थिति व पृष्ठ-भूमि

(२) रीतिकाल में श्रीकृष्ण का रूप

- (अ) आत्मगत गुण परक सौन्दर्य
  - (क) आत्मगत सूक्ष्म गुण
  - (ख) आत्मगत स्थूल गुण
- (आ) आत्मगत चेष्टा परक सौन्दर्य
  - (क) विशेष चेष्टा
  - (ख) सामान्य चेष्टा
- (इ) प्रसाधनगत सौन्दर्य (षोडश शृंगार)
  - (क) षोडश शृंगार और इनका उद्देश्य
  - (ख) लगाये जाने वाले प्रसाधन
  - (ग) शरीर पर धारण किये जाने वाले प्रसाधन
  - (घ) शरीर की रक्षा करने वाले सौन्दर्य प्रसाधन
- (ई) सौन्दर्य के उत्कर्ष के अन्य शृंगार प्रसाधन
- (उ) तटस्थ सौन्दर्य

रीतिकाल की सामाजिक मान्यता— रीतिकालीन समाज के जीवन-दर्शन में नारी की मान्यता अधिक रही है। विदेशी यात्रियों के विवरणों से स्पष्ट है कि नारी की कल्पना भोग्य पदार्थ के रूप में की जाती थी। राजमहलों में शृङ्गारिक नृत्य, गीत, जासूसी, वासना आदि का प्राबल्य था। सुन्दर स्त्रियाँ धोखे से लाई जाती थीं। नारी केवल प्रमदा और कामिनी थी, पत्नीत्व का महत्व लुप्त हो चुका था। रक्षिताओं के इंगित पर शासक अपनी मर्यादा को भंग कर रहे थे। नैतिक जीवन मूल्यों का ह्रास तीव्र गति से आरम्भ हो गया था। भक्तिकालीन आध्यात्मिक उच्चता समाप्त हो चुकी थी। इस युग में आकर भक्ति के आलम्बन सामान्य नायक-नायिका के रूप में प्रस्तुतकिये जाने लगे थे। आदर्श का महान् स्तर समाप्त हो गया था। इससे काव्य के क्षेत्र में उज्ज्वल रस या भक्तिभावना का माधुर्य लौकिक शृङ्गार में स्थूल-रूप ग्रहण करने लग गया था।

नैतिक आदर्शों के स्थान पर वासनापूर्ण वातावरण का विकास हो गया। काम प्रधान इस वातावरण में निर्बाध-वासना और स्थूल रसिक चेष्टाओं की प्रधानता थी इसी से शारीरिक-सौन्दर्य की इयत्ता में ही प्रेम का अन्त स्वीकार किया गया, मानसिक आत्मिक प्रेम कम ही दीख पड़ता है। यह सब सामन्तीय वातावरण एवं दृष्टिकोण का प्रभाव था। इसीसे चेतन आकर्षण के स्थान पर निष्क्रिय भोग प्रधान आकर्षण की ही महत्ता थी। नायिका-भेद में नारी के इसी रूप का विस्तार किया गया। नारी के सानिध्य की उलझनों और भोगों पर अपेक्षाकृत दृष्टि केन्द्रित रही है। सहेट, सहचरी, मिलन परकीया, अभिसार आदि प्रसंग वर्णन के विषय रहे हैं। नारी के अन्य रूपों— मातृत्व पत्नीत्व, भगिनीत्व आदि पर या तो दृष्टि गई ही नहीं है या उनका स्पर्श मात्र ही हो सका है। ऐसी एक आध पंक्तियाँ ढूढ़ने पर मिल जाती हैं। यहाँ चेतन नारी की अनुभूति प्रधान शृङ्गारिक चेष्टाओं की प्रमुखता न होकर एक विशेष निष्क्रिय यन्त्र में लगी हुई क्रियाओं का वर्णन रूढ़ि और परम्परा के आधार पर हो सका है। स्वकीया की कुलकानि, खण्डिता का मान, क्रिया विदग्धा की चातुरी, अभिसारिका की गोपनीयता, विप्रलब्धा की चिन्ता आदि में ही कवियों का काव्य-वैभव अपनी सीमा पाने लगा।

रीतिकाल की दो काव्यगत प्रवृतियाँ–आचार्यत्व और कवित्व-मानी गई हैं। इन पर तत्कालीन भावनाओं का प्रभाव है। सैद्धान्तिक विवेचन के प्रसंगों

पर भी उदाहरण के रूप में शृङ्गार परक उक्तियां ही लाई जाती रही हैं। काम जीवन का अनिवार्य सत्य बन गया था। यो तो हिन्दी साहित्य के प्रत्येक युग में इसको उचित स्थान मिला था, परन्तु रीतिकाल में एक मात्र काम एवं शृङ्गार तत्व की ही प्रधानता थी। यहां तक कि जीवन से निराश होकर आध्यात्मिक स्फुरण के क्षणों में अलौकिक सत्ता के साथ भी अपनी यही शृङ्गार भावना रूप ग्रहण करती रही है। भक्ति युगीन साधना में राधाकृष्ण के जिस रूप की स्थापना हुई थी, समय की गति से उसमें भी स्थूल लौकिक शृङ्गार का समावेश हो गया। नारी के दृष्टिकोण में रसिकता आ गई। फलतः नारी का नैसर्गिक रूप लुप्त हो गया और उसकी मान्यता शृङ्गार साधना के रूप में हो गई।

समाज में सामन्तीय युग की प्रवृतियों का प्रभाव कई रूपों में बढ़ने लगा।

(१) ऐश्वर्य और वैभव के उपकरणों में विलास पूर्ण वातावरण की सृष्टि की गई और रत्नों आदि की जगर-मगर ज्योति में नायिका का सौन्दर्य वर्णित हुआ।

(१) प्रकृति के ग्रहण से पुष्पों आदि के माध्यम द्वारा शृङ्गार साधन और उपवनों के एकान्त मिलन को बल मिला। सरोवरों के स्नान में सुन्दरियों का अनावृत सौन्दर्य वर्णित हुआ।

(३) गन्ध-द्रव्यों के प्रयोग से आकर्षण बढ़ा। चोवा, चंदन, कपूर इत्रादि से शरीर सुगन्धित रहने लगा। इसकी मादकता और मोहकता का चित्र वस्त्राभूषणों के आकर्षण, झीने और पारदर्शी वस्त्रों से झाकते हुए अंग नायिकाओं की उन्मादक शोभा के विधायक हो गये। समाज की दिनचर्या में सुन्दर स्त्रियों की उपस्थिति का महत्व बढ़ा। लोगों के आभिजात्य की कसौटी उनकी रसिकता और आस्वदयोग्यता बनी। काव्यानन्द लेने की प्रवृति छोटे-छोटे जागीरदारों में भी बढ़ने लगी। ग्राम्य-संस्कृति की रुचि बढ़ी। फलस्वरूप ग्रामीण नायिकाओं के अपूर्व सौन्दर्य की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। उनके उन्मादक सौन्दर्य में जगमग उठता हुआ यौवन, कुच और उन्मादक अंग वर्णन के विषय बने।

इस युग में समाज में दो वर्ग बन गये थे। उच्च वर्गीय लोगों में अभिमान की भावना अधिक थी। शोषण करना इनका ध्येय था। निम्न वर्ग द्वारा उपार्जित धन का अपव्यय अधिक होता था। वेश भूषा और जीवन में विलासिता अधिक थी। जरी काम के कपड़े, मलमल के पारदर्शी वस्त्र एवं रेशम आदि के उत्तम कपड़ों में वैभव का प्रदर्शन था। वस्त्र और आभूषणों का

मूल्यवान् होना सामाजिक उच्चता का प्रतीक माना जाने लगा। उच्चता के प्रतीक इन तत्वों के आकर्षण के कारण इनका अधिक प्रयोग होने लग गया। मुगल रनिवासों में स्त्रियों की अधिकता के कारण अपने को सजाकर प्रिय को आकर्षित करने की विभिन्न सौन्दर्य प्रसाधक सामग्रियों का उपभोग होने लग गया था। इन सामग्रियों के फल स्वरूप बाह्य सौन्दर्य की महत्ता बढ़ गई। मांसल सौन्दर्य का अनावृत रूप प्रदर्शित होने लगा और इसी का प्रभाव रीतिकालीन साहित्य पर भी पड़ा।

इस काल में वैभवपूर्ण साधनों की सम्पन्नता लोगों को आकर्षित करती रहती थी। नारी की आकृति, स्वभाव, आदि का चित्रण होने लगा। उसके सौन्दर्य को बढ़ाने में रत्न, हीरे, स्वर्ण, रजत आदि काम में आने लगे। स्त्रैण अभिव्यक्तियों में काव्य की उच्चता मानी जाने लगी। नारी केवल उपकरण मात्र रह गई। इसी रूप में कवियों ने उसे प्रस्तुत किया। सौन्दर्य चेतना राजसी ठाठ में दीख पड़ने लगी। नारी को यही राजसी वैभव प्राप्त हुआ। इन बहुमूल्य वस्तुओं से नारी का सजा हुआ अंग लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने लगा। यथा—

१. लहरत लहर लहरिया लहर बहार।
मोतिन जरी किनरिया, बिथुरे बार।
लागेऊ अति नवेलियहि मनसिज बान।
उकसन लाग उरोजवा, दृग तिरछान॥

२. चुची जभीरी सी बनी, गोल लाल हैं गाल।
जाके नयन बिसाल वह, गरे लगे कब बाल॥

नारी की इस शारीरिक शोभा से कवियों की उद्भावना में कोमलता आ गई। उसके रूप-वर्णन में कला सार्थक होने लगी। पुरुष नारी के चरणों में झुक गया। यहां तक कि श्रीकृष्ण भी राधा का अवलम्ब ग्रहण करने लग गये। समाज की इस स्थिति का उत्तरदायित्व तत्कालीन राजनैतिक विचारों पर है, क्योंकि राज्य सत्ता की व्यावहारिकता का अनुसरण समाज का सामान्य वर्ग भी करने लग गया था।

राजकीय-परिस्थिति—रीतिकालीन विभिन्न परिस्थितियों और साहित्यिक प्रवृत्तियों से काव्य के प्रभाव और उसके रूप का निर्माण हुआ है। युग चेतना साहित्य में अपनी अभिव्यक्ति पा लेती है। प्रेरक तत्वों के अभाव में साहित्य सृजन की कल्पना केवल कल्पना मात्र ही स्वीकार की जा सकती है। इन तत्वों में विभिन्न परिस्थितियां पृष्ठभूमि का कार्य करती हैं। रीतिकाल में राजनैतिक

चेतना ने काव्य-प्रणयन की दिशा को रूप दे दिया। इस युग की व्यक्तिगत निरंकुश राज्य-सत्ता द्वारा जीवन-दर्शन का नियमन होने लगा। जीवन के कई क्षेत्रों का शोषण स्पष्ट होने लगा। व्यावहारिकता में ऐसे शासकों द्वारा नारी का सर्वाङ्गीण शोषण हुआ। काम सहायक अंगों का उत्तेजक एवं मादक वर्णन किया गया। साहित्य में इन भावनाओं के वर्णन का दायित्व राजनैतिक परिस्थितियों पर है।

मुगलकाल में अकबर की दूरदर्शिता समन्वय की साधना करने वाली थी। जहांगीर का सुरा और सुन्दरी के प्रति आग्रह, शाहजहां की कलात्मक प्रतिभा में व्यक्त हो गई। कलागत और सांस्कृतिक चेतना शान्ति की प्रतीक बन कर स्पष्ट हुई। प्रदर्शन और अलंकरण की प्रवृत्ति बढ़ चली। इसी से शृङ्गार-परक जीवन दर्शन और काव्यात्मक प्रदर्शन को इस युग में सहारा मिल गया। साहित्य और कला की महत्ता बढ़ी, उन्हें सामन्तीय आश्रय प्राप्त हो गया। अपने काव्य को अधिक से अधिक प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत करने पर ही यह सम्मान प्राप्त हो सकता था। इससे चमत्कारपूर्ण शब्द नियोजन और अभिव्यञ्जनात्मक कौशल का प्रदर्शन बढ़ गया। शाहजहां की अभिरुचि और दारा की उदारता से हिन्दी और संस्कृत के कवियों को भी संरक्षण प्राप्त हो गया। सुन्दरदास और चिन्तामणि को पुरस्कार मिल चुका था। निर्णय सिन्धु (कमलाकर भट्ट) और ऋग्वेद की व्याख्या (कवीन्द्राचार्य) की जा चुकी थी। पण्डितराज़ द्वारा दाराशिकोह तथा आसफ खां का प्रशस्तिगान किया गया। नित्यानन्द ने ज्योतिष ग्रन्थों का सृजन किया। इस प्रकार दरबारी प्रवृत्तियों ने काव्य-प्रणयन की दिशा को पूर्णतः मोड़ दिया। यहां तक कि भक्तिकालीन कृष्ण और राम की आध्यात्मिकता भी इन शासकों की रसिकता में परिणत हो गई। शृङ्गार वर्णन और राज प्रशस्ति में पाण्डित्य प्रदर्शन एवं कवि कर्म की महत्ता स्वीकार की जाने लगी।

इन विदेशी शासकों की अपनी भाषा के प्रति रुचि बनी रही। फारसी में शीरी-फरिहाद, लैला-मजनूं आदि की प्रेम कथाएँ यहां के कवियों को प्रभावित करने लगीं। प्रेम के आलम्बन के रूप में राधा-कृष्ण का वर्णन चण्डीदास, विद्यापति, जयदेव आदि कवियों ने की थी, इसमें भारतीय आदर्श बना रहा। राजसत्ता की रुचि और परम्परा की बढ़ती हुई शृङ्गारिता में शृङ्गार के आलम्बन और आश्रय भारतीय परम्परा में राधा और कृष्ण ही बन सकते थे, क्योंकि भक्तिकालीन साहित्य में इन्हीं का प्राधान्य था। इधर युग की भावनाओं के अनुसार प्रसिद्ध आलम्बन के शृङ्गारी रूप की मांग बढ़ने लग गई

थी। राधा का मार्दव और त्याग शारीरिक मांसलता और चंचलता में बदलने लगा। फारसी का विलास राज सत्ता के कारण नारी के नायिका-भेद के रूप में प्रकट हो गया। इन भेदों में नारी-सौन्दर्य को परखने की चेष्टा की गई। राधा के परकीया रूप की स्थापना हो गई। मान अभिसारादि का चित्रण आरम्भ हो गया। शाहजहाँ के शासनकाल में काव्य एवं कला की श्रीवृद्धि होती रही, परन्तु बाद के शासक औरङ्गजेब के समय में इनकी गति अवरुद्ध हो गई।

औरङ्गजेब की कट्टरता और असहिष्णुता से सामाजिक स्थिति में एक अव्यवस्था उत्पन्न हो गई। विधर्मियों का नाश उसके जीवन का मूल मंत्र हो गया। हिंदु धर्म, संस्थानों एवं मूर्तियों की तोड़-फोड़, कला की अवहेलना, संगीत एवं साहित्य के प्रति घृणा के भाव आदि प्रवृत्तियों से कलादि के संरक्षण के समक्ष प्रश्न का चिह्न लग गया। सौन्दर्य, ऐश्वर्य, विलास और रागात्मक तत्त्वों का पूर्णतः बहिष्कार कर दिया गया। कवि कलावंत दिल्ली दरबार से निकाल दिये गये। कला प्रदर्शन, नृत्य गीतादि, वेश्याकर्म, मद्यपान आदि को अवैधानिक घोषित कर दिया गया फिर भी सामन्तों आदि की रक्षिताओं और रनिवासों में स्त्रीयों की बहुलता बनी रही। इस प्रवृत्ति को बड़प्पन का प्रतीक माना जाने लगा। काव्यकला को हेय दृष्टि से देखा गया। मन्दिरों के विनाश में स्थापत्यकला की मर्यादा भंग होने लगी। मुगल दरबार के राजकीय संरक्षण का अभाव हो गया। फलस्वरूप कलाकारों ने सामन्तों और नरेशों का आश्रय लिया। इन राजाओं के लिये भी यह गौरव की वस्तु मानी गई। यहीं पर दरबारी कविता का विकास हुआ। कोटा, ओरछा, बूंदी, जयपुर, जोधपुर, महाराष्ट्र आदि दरबारों में इनकी महत्ता बढ़ी।

राजस्थान में कविता के प्रश्रय का दूसरा कारण यह था कि मुगल आक्रामकों के भय से वृन्दावन की मूर्तियाँ राजस्थान में पहुँच गई। 'सिहोर' नामक स्थान पर श्रीनाथ जी की स्थापना हुई। काकरोली भी वैष्णवों का केन्द्र हो गया। इसी धर्म के संरक्षण में कविता का विकास राधा-कृष्ण के आश्रय आलम्बन में होता रहा। बाद में चलकर शृङ्गार युग के कारण धर्म की पवित्रता नष्ट हो गई और राधा-कृष्ण का नाम मात्र रह गया। इसी रूप में कृष्ण काव्य का सृजन होने लगा। ऐसी कविताओं में इस काल की सभी विशेषताएं आ गई। धर्म की पवित्रता युग के शृङ्गार धर्म में नष्ट हो गई।

मुगल दरबार में हिन्दी की अवहेलना होने लगी। उनकी अपनी राज-नैतिक समस्याओं की जटिलता से उन्हें अवकाश नहीं था, परन्तु मुगल दरबार

की कोमलता राजपूतों के रक्त में भी समा गई। पौरुष का स्थान विलास ने ले लिया। इन राजपूतों ने कला को विलास के रूप में ही ग्रहण किया। दूसरी बात यह थी कि राजाओं के विश्वासपात्र उच्चवर्गीय न रह कर निम्न वर्ग के व्यक्ति हो गये। आश्रय प्राप्त कवि भी इनके निर्देशन में कल्पना और वाक-वैदग्ध्य के द्वारा भोगपरक जीवन की व्यञ्जना करने लगे। इन सब का यह फल हुआ कि राजनैतिक व्यवस्था से इस युग में साहित्यादि कलाओं को ऐश्वर्य और अलंकार के भोगपरक उद्दीपनात्मक रूप में ग्रहण किया गया। जनभाषा होने के कारण हिन्दी का प्रचार एवं प्रसार जन सामान्य में होता रहा, यद्यपि औरङ्गजेब द्वारा उसका विरोध किया जा रहा था। इस राजकीय संरक्षण के अभाव में उसका समुचित विकास नहीं हो सका। यह बात दूसरी है कि सामन्तों और नरेशों की प्रदर्शन प्रियता ने काव्य के मान्य रूपों को नई दिशा में मोड़ दिया। उन्होंने प्राचीन आख्यानों, पात्रों और नायकों को नवीनता के ढाँचे में ढालकर उन्हें युगानुकूल शृङ्गार प्रधान बनाने में सफलता प्राप्त की। उनका अतीत आश्रयदाता की रुचि में बदलकर नये कलेवर में आया और कवियों ने राधा-कृष्ण को भी रसिक नायक-नायिका के रूप में प्रस्तुत किया। यहाँ विषय की इतनी महत्ता नहीं है, जितनी वचन-वक्रता, विदग्धता, शब्द चयन, और मण्डन-शिल्प की है। इससे विषय तत्व में प्रायः परम्परा का ही पालन किया गया है। इसका प्रभाव अन्य कलाओं पर भी पड़ा। स्त्रियों का नग्न-सौन्दर्य चित्रों में बताया गया। ऐन्द्रिय भावना बढ़ी, श्रीकृष्ण शृङ्गार नायक बन गये। राधा का अनावृत्त सौन्दर्य प्रकट हुआ, जिसकी नींव विद्यापति के सद्यः स्नाता आदि के वर्णन में पड़ चुकी थी। इस प्रकार राजनैतिक व्यवस्था, सामन्तीय वातावरण, सत्ता का विकेन्द्रीकरण, विलासमूलक प्रवृत्तियों आदि ने कलाकार की आत्मा को प्रभावित करके उनकी सूक्ष्म भावना के ऊपर स्थूलता की इयता का प्रभाव उत्पन्न कर दिया। इसके अतिरिक्त धार्मिक प्रवृत्तियों से भी काव्य में रूपादि के चित्रण की अभिरुचि बढ़ी।

धार्मिक परिस्थितियाँ—समाज में नैतिक ह्रास के साथ धर्म की उदात्त भावना भी क्रमशः क्षीण होने लगी। अनेक विकृतियों का प्रादुर्भाव होने लगा। अंध-विश्वास, बाह्य आडम्बर, रूढ़ियों के अनुकरण में धर्म की समाप्ति मानी जाने लगी। धर्म अग्रगण्यों ने अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि समझा। गुरु पूजा में गोपी भाव ने अनाचार को पल्लवित किया। इस भक्ति में विलजा सेवा ने महन्तों के वैभव और विलास को प्रश्रय दिया। देवदासियों का अनुपम और अछूता सौन्दर्य मठाधीशों की सेवा में अर्पण होने लगा। घुंघरुओं की

झनकार भावनाओं को उद्दीप्त करने में सहायक सिद्ध हुई। आध्यात्मिकता की यह विकृति स्थूलता के आकर्षण में परिणत होने लगी।

भक्तिकाल की माधुर्य-भावना की उदात्तता समाप्त हो गई। श्रीकृष्ण की भक्ति क्रमशः स्थूल और मांसल शृङ्गार के रूप में परिणित होने लगी। श्रीकृष्ण-सम्प्रदाय की परम्परा में मान्य माधुर्य भक्ति की स्निग्ध सरल उपासना की कामरूपा और सम्बन्ध रूपा रागानुगा प्रवृति की उदात्तता और प्राञ्जलता क्रमशः स्थूल शृङ्गारपरक भावना में बदलने लगी। भक्ति की आड़ में भ्रष्टाचार बढ़ चला। रागात्मिका भक्ति के मूल रूप को समझने की मानसिक स्थिति का ह्रास हो गया। इस भावना में 'राग' तो शेष रह गया था, परन्तु उसमें भक्ति का अभाव हो चला। इसी से राधाकृष्ण की उदात्तता समाप्त हो गई।

भक्ति के क्षेत्र में उज्जवल रस की प्रधानता बढ़ी। माधुर्य में प्रेम लक्षणा भक्ति और उज्ज्वल रस में शृङ्गार परक भावनाएँ समक्ष आईं। रूप गोस्वामी ने चैतन्य-परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रेम के उच्च रूप की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा की। इन्होंने यद्यपि स्थूल तत्वों को परिमार्जित करने का प्रयास किया परन्तु आगे चलकर काम परक चेष्टाओं की अभिव्यक्ति में ही भक्ति का स्वरूप देखने की प्रवृत्ति बढ़ चली। चैतन्य और राधावल्लभ सम्प्रदाय रसिकता के केन्द्र हो गये। राम-सम्प्रदाय का आदर्श भी स्थिर न रह सका। मर्यादा पुरुषोत्तम राम 'रसिक सम्प्रदाय' में सरयू के तट पर कृष्ण के पद चिह्नों का अनुसरण करते हुए काम-क्रीड़ा में निमग्न होने लगे। उनकी वीरता शृंगार के मार्दव में बदल गयी। सीता रमणी हो गई और भक्त सखी बनकर उनकी लीलाओं का वर्णन करने लगे। साधकों की स्त्रैण चेष्टाओं और स्थूल शारीरिक आकांक्षाओं ने भक्ति के आध्यात्मिक स्वरूप में परिवर्तन ला दिया। फल यह हुआ कि भक्ति का स्वरूप बदल गया और आराध्य का केवल नाम मात्र शेष रह गया। उसकी दीव्यता पूर्णतः समाप्त हो गई। कवियों ने सचाई के साथ अपने इस भाव को व्यक्त किया कि 'आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई, नातरु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।" इस प्रकार भक्तिकालीन काव्य के रूप में प्राप्त भावनाएँ लौकिक रूप में स्वीकार की जाने लगीं।

इसके पूर्व वैष्णवों की भक्ति में कृष्ण के रूप की कल्पना अलौकिक थी। श्रीमद् भागवत में उनके किशोर रूप के प्रति आकर्षण उत्पन्न किया गया था। निम्बार्क, चैतन्य और वल्लभाचार्य ने इसी रूप की उपासना पर जोर दिया था। वल्लभाचार्य ने बालरूप और श्री विट्ठलनाथ जी ने किशोर कृष्ण की युगल लीलाओं को भक्ति में स्थान दिया। बाल, पौगण्ड और किशोर में

तीसरी अवस्था ही रस दृष्टि से सर्वोत्तम है। राधा भी यहाँ किशोरी हो जाती है। इसी छवि का वर्णन अधिक किया गया है। 'कुंज में विहरत नवल किशोर", "नवल किशोर नवल नागरिया "किशोरी अंग-अंग भेटी श्याम" आदि पदों में किशोर और किशोरी के इसी रूप का संकेत है। देव ने शृङ्गार के सार रूप में इन्हें माना है "वानी को सार बखान्यो सिंगार, सिंगार को सार किशोर-किशोरी।" सुख सागर तरंग छं० १०।

रीति कालीन कृष्ण काव्य को प्रभावित करने में परकीया भाव का अत्यधिक महत्व रहा है। व्रजांगनाओं को 'कृष्णवधू' कहा गया है।[1] जार-भाव या परकीयात्व में आकर्षण अधिक बढ़ जाता है। इसी से चैतन्य मत में परकीया का पक्ष लिया गया। गौड़ीय वैष्णवों ने राधा को परकीया रूप में ही ग्रहण किया। चंडीदास में भी यही भाव है। निम्बार्क में स्वकीया होते हुए भी परकीयात्व का आभास है। सूर ने राधाकृष्ण के गान्धर्व विवाह का वर्णन किया है। इस प्रकार कवियों या आचार्यों की साधना 'कहीं न कहीं' नारी जीवन से अवश्य सम्बद्ध रहती है। यही कारण था कि भक्तिकाल का गूढ़ व्यञ्जक भाव रीति काल की शृङ्गार परक उक्तियों में बदल गया। सात्विकता समाप्त हो गई। राधा नाम ही स्वकीया या परकीया का पर्याय हो गया और कृष्ण सामान्य नायक बन गये। बाद में अवध के नवाबों को भी 'कन्हैया" बनने का शौक बना रहा।

भक्तिकाल में वर्णित कृष्ण लीलाओं को भी एक नये रूप में ग्रहण किया गया। इनका उपयोग युग की प्रवृत्तियों के आधार पर होने लगा। 'अष्टयाम' में देव ने कृष्ण की अष्टकालिक क्रिया का लौकिक प्रेम व्यापार-युक्त वर्णन किया। ये लीलाएँ केवल प्रेम प्रदर्शन का माध्यम मात्र रह गईं। अतः यह कहा जा सकता है कि भक्तिकाल के दीव्य एवं अलौकिक कृष्ण को रीतिकाल के सामान्य नायक में परिवर्तित कर दिया, उनकी लीलाओं का ऐहिकता परक अर्थ न वर्णन हुआ, उनका किशोर वय आकर्षण का केन्द्र बना तथा मधुर भाव को शृङ्गारिक रूप में ग्रहण किया गया। भक्त कवियों ने राधा-कृष्ण के रूप में भगवान की लीलाओं का जो वर्णन किया था, सामान्य लोगों के लिये उसमें शृङ्गारिकता ही अधिक मिली। राज दरबारों का आश्रय कृष्ण के वासनामय प्रेम के उद्गार को व्यक्त करने का साधन बन गया। श्रीमद् भागवत के ही कृष्ण किशोरी राधा के साथ भक्तिकालीन कवियों को परमानन्द देने वाले और

---

[1] श्री मद्भागवत १०/३३/८

रीति कालीन रसिकों को शृंगारिक प्रेरणा देने वाले बन गये थे। ऐसे ही राधा-कृष्ण का रूप-सौन्दर्य इस काल में प्रस्तुत हुआ।

धर्म में शृंगार भाव के इस प्रवेश में बौद्धों के वज्रयान शाखा के महासुख की कल्पना और त्रिपुर सुन्दरी के साथ ही पराशक्ति की भावना काम करती रही है। इसने मध्यकालीन कवियों को बहुत अधिक प्रभावित किया। भक्ति काल में इस पर आध्यात्मिक रंग चढ़ा था, परन्तु रीति काल में मानवीय प्रवृत्तियों और उसकी विपरीत लिंगी के प्रति सौन्दर्य-चेतना अधिक सचेष्ट रही। सूर आदि भक्त कवियों ने अनजान में ही शृङ्गार की खुली और स्पष्ट रचनाएँ प्रस्तुत कर दी थीं। परकीया भाव की प्रधानता कई सम्प्रदायों में बल पा चुकी थी। साहित्य में राधा का प्रवेश एक विशेष घटना हो गई और बाद के कवियों ने इसका पूरा लाभ उठाया। भागवत की असंख्य गोपियाँ हिन्दी कवियों की राधा के व्यक्तित्व में समा गईं। इससे उसकी शोभा अधिक विस्तार पाने लग गई थी। कृष्ण का असंख्य गोपियों से सम्पर्क बाद में उनके जार भाव का प्रतीक बन गया। परकीया का महत्व बढ़ गया और पर पुरुष को रिझाने के लिये अंग-प्रत्यंग वर्णन, नायिका की शोभा, लावण्य और सम्पूर्ण सौन्दर्य में आकर्षण उत्पन्न करने की भावना बढ़ती चली गई। राधाकृष्ण शृंगार-रस के अधिष्ठाता देवता माने जाने लगे। इस प्रकार विभिन्न वैष्णव धर्मों और दर्शन की शक्ति भावना ही राधावाद के रूप में विकसित हुई। भक्तिपरक इस परिवेश एवं विचारों के कारण तत्कालीन साहित्यिक रचनाएँ प्रभावित हुईं। विभिन्न भक्ति सम्प्रदायों में राधाकृष्ण और गोपियों के स्वरूप-निर्धारण में यही प्रवृत्ति कार्य करती रही।

साहित्यिक पृष्ठभूमि—हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य की रचना का एक साहित्यिक विकास क्रम रहा है। हाल की सतसई, अमरुक शतक और गोवर्धन की आर्या सप्तशती आदि शृङ्गार ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। इनमें प्राकृत जीवन का सहज सौन्दर्य और अलंकरण की प्रवृत्ति है। संस्कृत में भी कालिदास का शृङ्गार तिलक, घटकर्पर, भर्तृहरिकृत शृङ्गारशतक, बिल्हण की चौरपंचाशिका आदि सरस ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। भक्ति परक मुक्तकों में दुर्गासप्तशती, चंडीशतक, वक्रोक्ति पंचाशिका और कृष्णलीलामृत आदि स्तोत्रों में शृङ्गार की प्रधानता है। शृङ्गार और स्तोत्र ग्रन्थों के साथ ही कामशास्त्र के ग्रन्थों का प्रणयन भी आरम्भ हो गया था। कामसूत्र, रतिरहस्य और अनंगरंग की रचना का प्रभाव भी नायिकाभेद और शृङ्गार मुक्तकों पर पड़ा।

हिन्दी साहित्य के विकास के प्रारम्भिक युग में शृङ्गार के प्रति रुचि दीख पड़ती है। पृथ्वीराज रासो के पद्मावती-समय में नख-शिख का वर्णन

है। विद्यापति की ऐन्द्रिय शृङ्गारिकता रीतिकालीन भावनाओं को प्रभावित करने में समर्थ सिद्ध हुई है। इनके काव्य में भक्तिरस के साथ ऐन्द्रिय-उल्लास की प्रधानता है।

सूर में शृङ्गार चित्रों की अधिकता है। अलंकरण का प्राचुर्य और नायिका भेद के अन्य सभी रूप देखे जा सकते हैं। सूर ने विपरीत रति और रति चिन्हों का वर्णन भी किया है। रस, हाव-भाव, सभी प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार एक ओर जहां भक्ति के क्रोड़ में शृङ्गार पलता रहा, वहीं दूसरी ओर 'साहित्य-लहरी' की रचना से अलंकारों और रीति परम्परा का मोह भी व्यक्त हो रहा था। रहीम का नायिका-भेद और नन्ददास की रस-मञ्जरी आदि नायिकाओं पर लिखे गये सरस ग्रन्थ हैं। इन सभी पृष्ठ-भूमियों का प्रभाव हिन्दी की रीतिकालीन रचना पर पड़ा। एक ओर रीतिबद्ध ग्रन्थों की रचना हुई और दूसरी ओर रीति मुक्त। इन दोनों प्रकार की रचनाओं में पूर्व साहित्य और सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि इस युग के कवि की रचनाओं में शृङ्गार की ही प्रधानता है, भक्ति तो नाममात्र के लिये है।

हिन्दी साहित्य में भी शृङ्गार परक रचनाओं की परम्परा है। विद्यापति ने अभिसार, मान, मानभंग, मुग्धा के रूप विन्यासादि का शृङ्गारिक रूप प्रस्तुत किया है। सूरदास ने संयोग-वियोग वर्णन के साथ नायिका के विभिन्न रूपों वासक सज्जा, खण्डिता आदि का अच्छा चित्र उपस्थित किया है। नन्ददास के सामयिक कवियों में मोहनलाल मिश्र का 'शृङ्गार सागर' करनेस का 'कर्णा-भरण' 'श्रुतिभूषण' और 'भूप-भूषण' इसी समय लिखा गया है। इनमें रीति परम्परा का पूर्व रूप है। केशव की रसिक प्रिया प्रसिद्ध है।

संस्कृत काव्यों में भी इस प्रकार की परम्परा थी। शृङ्गार का वर्णन सौन्दर्यानुभव के साधन के रूप में किया जाता रहा है। गीत गोविन्द में कहा है कि "हरि कथा में मन सरस हो और विलास में कुतूहल हो, तो जयदेव की ललित पदावली सुनो।[1] इस कथन में भक्ति और शृङ्गार दोनों का ही संकेत युगपत् किया गया हैं। भागवतकार ने भक्ति के लिए श्रद्धा और रति का समर्थन किया है।[2] इन सबका बाद की रीतिकालीन प्रवृत्तियों पर प्रभाव पड़ा।

---

1. यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलास-कलासु कुतूहलम्।
   मधुर कोमल- कान्त-पदावली शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥
2. सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायन्तः कथाः।
   तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
   भागवत ३/२०/२२

हिन्दी में प्रेममार्गी शाखा के कवियों ने लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक ईश्वरीय प्रेम तत्त्व का आभास दिया। इसमें किसी राजकुमारी के अनुपम सौन्दर्य की चर्चा रहा करती थी। ऐसी कथाओं द्वारा जन-सामान्य में मांसल प्रेम का ही प्रचार हुआ और इसके उद्दीपन के रूप में नारी-अंगों की शोभा का वर्णन हुआ। इस शाखा के मुसलमान कवियों के सम्पर्क से हिन्दु कवियों ने भी अपनी शृंगारिक मानसिक ग्रन्थियों को स्पष्ट करने के लिए राधा और कृष्ण को अपना आधार बनाया। इस प्रकार साहित्यिक प्रवृत्तियां पहले से वर्तमान थीं, उन्हें केवल युगानुरूप बनाने का काम सामयिक कवियों ने किया।

उपर्युक्त प्रेरणा स्रोतों के आधार पर कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कविता की अभिव्यञ्जना में संस्कृत काव्य-शास्त्र सहायक सिद्ध हुआ और उसका वर्ण्यविषय एवं रस भक्तिकालीन कविता का ही विकसित रूप है। भक्तिकालीन राधाकृष्ण की लीलाएं अनेक विधाओं में रीतिकाल में पल्लवित हो गईं। विरासत में प्राप्त भावपरक इन रचनाओं को रीतिकाल में युगानुरूप लौकिकता प्रदान कर दी गई। इससे राधा और कृष्ण सामान्य नायिका और नायक बन गये और इनकी लीलाओं का ऐहिकतापरक लौकिक अर्थ लगाया जाने लगा। फल यह हुआ कि शृंगार के लिए सर्वोत्तम अवस्था किशोर वय का उन्मादक रूप-सौन्दर्य रीतिकाल में ग्रहण किया गया। इस काल की रचनाओं में श्री कृष्ण के व्यक्तित्व-चित्रण एवं रूप-सौन्दर्य के चित्रण में यही भावनाएं कार्य कर रही थीं। श्री कृष्ण के इस रूप का संक्षिप्त विचार असंगत नहीं माना जायगा।

रीतिकाल में श्रीकृष्ण का रूप—

भक्तिकालीन श्रीकृष्ण के रूप एवं चरित्रांकन का आधार लेकर रीतिकाल में कृष्ण-साहित्य विशेष परिवेश में उपस्थित हुआ। माधुर्य-भाव में ही भक्ति-साहित्य का अधिक वर्णन हुआ था। सूर और नन्ददास जैसे प्रवीण वात्सल्य रस के पोषक कवियों का अन्तिम वर्ण्य माधुर्य भाव था। विभिन्न सम्प्रदायों के गोपी-भाव और सखी भाव में यही माधुर्य दीख पड़ता है। उनका शृंगार वर्णन उज्ज्वल रस नाम से प्रसिद्ध हो गया। जन मानस ने इस भाव को पूर्णतया ग्रहण कर लिया। भक्ति की तल्लीनता में इन कवियों को उस युगल केलि वर्णन में किसी प्रकार की अश्लीलता नहीं दीख पड़ी, परन्तु इस भाव के लोप होते ही श्रीकृष्ण राधा के रूप वर्णन में स्थूल एवं मांसल कायिक चेष्टाओं का प्रभाव बढ़ गया। उनके अनुभावों, रूप-चित्रणों और सौन्दर्यांकन में यही

मांसलता दीख पड़ने लगी। भक्तिकाल के आलम्बन श्रीकृष्ण रीतिकाल में 'नायक' कृष्ण हो गये। वे अपना समस्त भक्तिपरक रूप भूल गये और 'नायक' रूप में विभिन्न नायिकाओं की उद्भावना के प्रेरक बने। ऐसी नायिकाओं से घिरे श्रीकृष्ण का वैभव-परक वर्णन हठी आदि अनेक कवियों ने किया। स्पष्ट रूप से इन कवियों पर दरबारी संस्कृति और वातावरण का प्रभाव पड़ा। श्रीकृष्ण की रसिकता देखकर वे ही शृंगार के अधिष्ठाता बनाये गये। उनका वर्णन लाल, ललन, रसिक आदि रूप में होने लगा और इसका आभास भक्तिकाल में प्रचलित उनकी साज सज्जा के संकेत से होने लगा।[1] उनकी भक्तिकालीन लीलाएँ महत्त्व हीन हो गई। उनका माधुर्य रूप प्रधान हो गया। वे रसिक बनकर 'कुञ्ज कुटीर में राधा के पांयन पर लोटने लगे।[2] उनके नायकत्व की महत्ता बढ़ी।

नायक के रूप में श्रीकृष्ण की रसात्मकता का चित्रण, बाल, पौगण्ड और किशोर रूप में हुआ है। इन सभी में शृंगार का स्वर प्रमुख था। उनकी पौगण्ड लीला में सौन्दर्य के अनेक चित्र हैं। किशोर चित्र में उनका भुवन मोहन रूप कोटि कंदर्पों के मद को मर्दित करने वाला और अपनी कमनीयता जन्य रूप-लावण्य से असंख्य गोपियों में काम की विह्वलता उत्पन्न करने वाला है। किशोर-किशोरी का इतना रमणीय, आकर्षक और मधुर रूप अन्यत्र नहीं मिलता। उनके प्रेम की गहनता श्रीकृष्ण को अधिक मधुर बना देती है। इनके इस रहः केलि में प्रकृति सहायक होती हैं, वे राधा का प्रसाधन करते हैं। ऐसे प्रसंगों पर शृंगार का वर्णन मिलता है।[3] उनका 'उपपति' रूप स्पष्ट होने लगा। भक्तिकाल के वात्सल्य रस के बोधक 'लाल' रीतिकाल में नायक 'लाल' हो गये। गोपियाँ रूप गुण से उत्पन्न विभिन्न चेष्टाओं से मोहित कर लेने वाली बन गई। विलास और वैभव की छटा सूर्य-किरण के समान अपना प्रकाश फैलाने लगी। यह वैभव शृंगार प्रसाधक सामग्री और उपकरणों में दीख पड़ने

---

[1] कहा लड़ैते दृग करैं, परैं लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत-पट, कहुँ मुकुट बनमाल।

[2] देख्यो दुर्यो वह कुञ्ज कुटीर में, बैठ्यो पलोटत, राधिका पायन। रसखान

[3] आइ हो पाँय दिवाय महावर कुञ्जन सों करिकै सुखदैनी।
साँवरों आजु संवारो है अंजन, नैननि को लखि लाजत ऐनी।
बात के बूझत ही 'मतिराम', कहा करिए मद भौंह तनेनी।
मूँदी न राखति प्रीति अली यह गूँदी गुपाल के हाथ की बेनी। मतिराम

लगा। कृष्ण के नायक रूप को रिझाने के लिए हर प्रकार के प्रयत्न किये गये। शृंगार सामग्री प्रस्तुत की गई। रूप सौन्दर्य का चित्रण हुआ। नख-शिख का वर्णन अप्रस्तुत योजनाओं, आभूषणों एवं प्रसाधन सामग्रियों के साथ हुआ। रति की उद्दीपक चेष्टाओं का प्रभाव बढ़ा और ऐन्द्रिय रूप-सौन्दर्य के वर्णन को प्रमुखता प्राप्त होने लगी। दोनों एक दूसरे का शृंगार करने लगे।[1] दूध के समान जोवन वाली अहीरी मोहन को मीठी लगने लगी,[2] और कृष्ण की सुघराई और लटक को देखकर सास और माय की अटक समाप्त होने लगी:—

"माय की अटक तौलों सासु की हटक जौलों,
देखी ना लटक मेरे दूलह कन्हैया की।" रसखान

रीतिकाल की शृंगार-परक दृष्टि ने नायिका के सम्बन्ध में ही श्रीकृष्ण का रूप-चित्र प्रस्तुत किया है। उनके स्वतन्त्र रूप चित्र का अभाव है। वे नायक रूप में आये हैं। इसी से उनकी चेष्टाओं आदि का मोहक रूप मिल जाता है, परन्तु उनकी वेश-भूषा आदि का आकर्षक चित्र कम मिलता है। कहीं-कहीं भूले-भटके रूप में मुकुट, गुंजामाल, पीताम्बर आदि का कथन भक्ति-कालीन क्षीण होती हुई कृष्ण विचारधारा का संकेत कर देती है। भक्तिकाल में श्रीकृष्ण की शृंगार भावना बड़ी प्रबल थी। उनका नयनाभिराम वह रूप रीतिकाल में वर्णन का विषय नहीं रह गया। इस काल में पुरुष का सौन्दर्य चित्रण न होकर नारी के सौन्दर्य का ही चित्रण अनेक रूपों में किया गया और ऐसा कमनीय रूप प्रस्तुत हुआ कि श्रीकृष्ण भी अपनी उदात्तता भूलकर भौतिक धरातल पर रूप के रसिक हो गये। श्रीकृष्ण विषयक ऐसा वर्णन विशेषतः रीति-बद्ध कवियों द्वारा किया गया है। रीति मुक्त कवियों के विचारों में थोड़ा अन्तर दीख पड़ता है।

इन रीतिमुक्त कवियों में रसखान आलम आदि के प्रेम की सूक्ष्मता ने श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन में पुनः उन्हें अलौकिकत्व की श्रेणी में लाने का प्रयास किया। रीतिकाल में प्रचलित स्थूलता और मांसलता की ओर से इन्होंने अपनी

---

1 पीतम पाग संवारि रखी, सुघराई जनायो प्रिया अपनी है।
प्यारी कपोल के चित्र बनावत, प्यारे विचित्रता चारु सनी है।
'दास' दुहूं को दुहूं को सराहिबो, देखि लह्यो सुख लूटि घनी है।
वे कहें भामते, कैसे बने, वे कहें मन भामती, कैसी बनी है। दास

2 माखन सों मन दूध सो जोवन, है दधि सों अधिकी उरईठी।....
ऐसी रसीली अहीरी अहै कहो, क्यों न लगै मन मोहनैं मीठी। देव

दृष्टि हटाकर मानसिक पक्ष की ओर उसे स्थिर किया। संसर्ग जन्य शारीरिक रमणीयता का महत्व कुछ कम हुआ, अश्लील चेष्टाओं के वर्णन की रुचि-प्रियता कम होने लगी। आन्तरिक मनो दशाओं के चित्रण की प्रवृत्ति भक्त कवियों में बढ़ने लगी। अपनी अनुभूतियां ही प्रेम-चित्रण या रूप के आस्वादन में प्रकट हुई हैं। रसखान, आनन्दघन, आलम की भाव-सघनता प्रसिद्ध है। ठाकुर और बोधा की भावनाएं स्थूल और सूक्ष्म के मिश्रित रूप को लेकर चली हैं। इन कवियों में प्रेम की गम्भीरता है, रीतिबद्ध कवियों के समान रसिकता की उद्दाम भावनाओं का मांसल रूप सौन्दर्य नहीं है।

रीतिमुक्त कवियों में रसखान का रूप वर्णन देव-मिश्रित मानव का रूप वर्णन है। कृष्ण का रसात्मक स्वरूप अपनी मोहकता में अतुलनीय है। कृष्ण सम्बन्ध से अन्य लौकिक परिवेशों का सौन्दर्य उन्हें अधिक आकृष्ट करता है। इसी से वे ब्रज के पाहन, करील कुञ्जों, पशु, मानुष आदि विभिन्न रूपों में अपनी ब्रज वास की अभिलाषा व्यक्त करते हैं। कलधौत के धाम को करील के कुञ्जों पर वार देना चाहते हैं।[1] आलम के कृष्ण गोपीवल्लभ हैं। उनका रूप सौन्दर्य दृष्टि की पकड़ में नहीं आता और अन देखे सन्तोष नहीं होता। इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में दुःख का ही अनुभव होता है।[2] इन्होंने संचारी भावों का अच्छा अंकन किया। लज्जा और अभिलाषा का संघर्ष बड़ा मधुर है। कृष्ण का लोक मंगलकारी रूप भी दीख पड़ता है। घनानन्द में मधुर भाव की व्यञ्जना दान-केलि हास-विलासमय प्रसंगों पर हुई है। वे राधा-वल्लभ हैं। उनकी तरुनाई की नई आभा फूट पड़ती है।[3] ठाकुर ने श्रीकृष्ण के माधुर्य एवं रूप-सौन्दर्य का वर्णन मानवीय रति की दृष्टि से किया है। कृष्ण यहां मानव प्रेम के पोषक हैं और इसी रूप में इनका रूप सौन्दर्य रीतिकाल में वर्णित है।

सौन्दर्य साधक उपकरण:—

रीतिकाल के रूप-सौन्दर्य वर्णन में कवियों के उद्देश्य और आलम्बन

---

1 कोटिक हौं कल-धौत के धाम करील के कुञ्जन ऊपर वारौं।

2 देखे टक लागे अनदेखे पलकौ न लागै,
देखे अन देखे नैना निमिष रहत हैं।
सखी तुम कान्ह हो जु आन की न चिन्ता,
हम देखे हू दुखित अन देखे हू दुखित हैं। आलमकेलि छंद १८५

3 नई तरुनई की ओप भई मुख सुख समोह पुलकाते।
रीझि चोप आनन्दघन बरसत मिलत हार करि हाते।

के स्वरूप में अन्दर आ गया। समाज में विलास की बढ़ती हुई भोगपरक भावना ने रमणी रूप के आकर्षण को बढ़ाने में सहयोग दिया। सौन्दर्य-प्रसाधन का प्रयोग अधिक से अधिक होने लगा। युवा काल में ये प्रसाधन सौन्दर्य के उत्कर्ष में सहायक होते हैं। नायिका के गुण, चेष्टाओं आदि से भी आकर्षण बढ़ जाता है। अतः गुण, चेष्टा, अलंकार, प्रसाधन आदि को सौन्दर्य साधक उपकरण कहा जायगा। इस दृष्टि से सौन्दर्यपरक सम्पूर्ण उपकरणों को दो कोटियों में विभाजित किया जा चुका है। इन्हें आत्मगत उपकरण और बाह्य उपकरण बताया गया है।

आत्मगत उपकरण— पिछले अध्याय से स्पष्ट हो गया है कि आलम्बन से सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाले सौन्दर्योत्कर्षक साधनों को आत्मगत उपकरण कहते हैं। ये उपकरण शरीर में बिना किसी बाह्य साधन के अपने आप ही वर्तमान रहते हैं। गुण और चेष्टा के रूप में सौन्दर्य-विधायक इन तत्वों का महत्व युवाकाल में अधिक होता है। रीतिकालीन साहित्य ने इसे इसी रूप में ग्रहण किया है।

गुण—नायक एवं नायिकाओं की शारीरिक एवं मानसिक विशेषताओं का नाम 'गुण' है। इन गुणों में कुछ तो प्रत्यक्ष रूप से अपने आप शरीर में युवाकाल के आरम्भ होते ही प्रकट होने लगते हैं और कुछ पर नायिका या नायक का नियंत्रण बना रहता है। इस दृष्टि से कायिक और वाचिक गुणों का विश्लेषण पहले किया जा चुका है। क्रमशः रीतिकालीन साहित्य में इन्हीं गुणों का विश्लेषण किया जायगा।

कायिक गुण—शरीर की शोभा बढ़ाने वाले आकारगत अथवा आकार में वर्तमान शोभा, लावण्य आदि विशेषताओं को कायिक गुण की संज्ञा दी गई है। इन गुणों को दो वर्गों में—भौतिक स्थूलगुण और सूक्ष्मगुण—विभाजित किया जा चुका है। इनमें स्थूल गुण आकारगत विशेषता को और सूक्ष्म गुण उस आकार में वर्तमान सत्त्व से उत्पन्न होने वाली विशेषता में माना जाता है।

सूक्ष्म गुणों के अन्तर्गत वय, रूप-लावण्य, रमणीयता, अभिरूपता, सौकुमार्य, यौवन में सत्त्व से उत्पन्न होने वाले गुणों आदि की चर्चा होती है। इन गुणों से आलम्बन का रूप-सौन्दर्य अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक प्रतीत होने लग जाता है। रीतिकालीन सामयिक चेतना के फलस्वरूप इस काल में नारी को ही वर्णन का प्रधान आधार बनाया गया है। पुरुष या तो कवियों की आंखों को लुब्ध न कर सका अथवा ग्वाल जैसे एक दो कवियों ने श्रीकृष्ण के

रूप-सौन्दर्य का स्वतंत्र वर्णन किया, जिसका अनुसरण अन्य कवियों द्वारा नहीं हो सका। प्रासंगिक रूप में भी कहीं-कहीं श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य का खण्ड चित्रांकन किया गया है। इससे नारी सौन्दर्य के आधार पर ही रीतिकालीन सौन्दर्य विषयक भावनाएं व्यक्त की गई हैं।

गुण-परक सौन्दर्य के सूक्ष्म उपादान—सौन्दर्य-निरूपण में गुण परक उपादान का स्थूल और सूक्ष्म भेद किया गया है इनमें स्थूल गुणों में अंगों के आकारादि का वर्णन अंग के अलग-अलग रूप में या सर्वाङ्ग के सामूहिक रूप में किया गया है। इन दोनों में कवियों की दृष्टि उसकी स्थूलता पर रही है। इससे अंगों का मांसल और स्थूल गुण स्पष्ट होता है। स्थूल गुणों के वर्णन में नख-शिख वर्णन और सम्पूर्ण वर्णन आता है, जिसकी रीतिकालीन परम्परा रूढ़ि होकर रह गई है।

सूक्ष्म गुणों में आकार रहित गुणों का वर्णन होता है। इन गुणों का एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। शरीर में स्थित रहते हुए भी इनका अस्तित्व होता है, परन्तु शरीर से अलग रहकर इनकी सत्ता नहीं रह सकती है। अतः शरीर में आश्रय लेने वाले इन गुणों का महत्त्व निर्विवाद है। इन गुणों से वास्तविक सौन्दर्य का आभास मिलता है, रूप में चमक आती हैं, आकर्षण उत्पन्न होता है और 'रूपवती' संज्ञा सार्थक होती है। इन गुणों में रूप, लावण्य, रमणीयता, नवीनता, अभिरूपता, सौकुमार्य और यौवन में सत्त्व से उत्पन्न होने वाले गुणों की चर्चा होती है। इन्हीं गुणों के माध्यम से 'विशेष-वय में अभिवृद्धि को प्राप्त सौन्दर्य का विश्लेषण होगा।

वय सौन्दर्य—शारीरिक सूक्ष्म गुणों में यौवन का आगमन अपने आप में स्वयं भी सौन्दर्य का जनक होता है। इसके साथ सत्व से उत्पन्न गुणों का सहयोग सोने में सुगन्धि का कार्य कर देता है। नायिका के स्वरूप का निर्धारण करते हुए कहा गया है कि जिनमें यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, वैभव और आभूषण हो, वही नायिका है। इन आठ विशेषताओं में यौवन को प्रथम स्थान दिया गया है इसका सम्बन्ध वय और स्वास्थ्य से है। युवाकाल और स्वास्थ्य के अभाव में रूप का महत्व ही नहीं रह जाता है। 'यौवन' और 'रूप' आकर्षण का प्रथम तत्त्व है। मानसिक गुणों का परिचय व्यवहार से मिलता है। यह बाद की चीज है। प्रथम दर्शन से हृदय में स्थान पाने के लिए रूप और यौवन ही महत्त्वपूर्ण है। रूप और यौवन में स्थायित्व नहीं होता। अतः प्रेम के आकर्षण में निरन्तरता लाने के लिए नायिका में अन्य मानसिक गुणों का वर्णन किया गया है। इन गुणों से रूप भी शोभा पाता है। रूप के संग

गुण का मिश्रण नायिका के सौन्दर्य में अनोखापन ला देता है। यौवन अव-स्थागत गुण है। रीति काल में इसके वर्णन के विश्लेषण से प्रतीत होता है कि यौवन का अकस्मात् आगमन नहीं हो जाता। शरीर में इसका प्रवेश क्रमशः होता है। इस क्रम की दृष्टि से यौवन को चार भेदों में विभाजित कर देते हैं। इन्हें क्रमशः वयः सन्धि काल, नव्य-यौवन, व्यक्त यौवन और पूर्ण यौवन मान सकते हैं।

वयः सन्धिकाल से यौवन का आरम्भ माना जाता है। इसे मुग्धा के भेद के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। मुग्धा नवीन वय वाली, रति से विमुख और क्रोध में मृदु स्वभाव वाली नायिका होती है। इस अवस्था में विभिन्न काम सहायक अंगों का विकास आरम्भ हो जाता है। वयः सन्धिकाल यौवन और बालपन के विचारों का ऐसा सन्धि-स्थल है, जहाँ नायिका के मन में अस्थिरता बनी रहती है। वह बालपन और यौवन दोनों ही विचारों से परि-चालित होती हुई भी यौवन के आगमन से अनभिज्ञ रहती है। रीतिकालीन साहित्य में इस अवस्था का वर्णन निम्नलिखित रूपों में किया गया है:—

१. मानसिक अस्थिरता और परिवर्तित होती हुई भावनाओं का आकर्षक वर्णन।

२. शारीरिक परिवर्तन।

३. विभिन्न अंगों के उठान एवं काम-कथाओं के प्रति जिज्ञासा के भाव।

रीतिकालीन कवियों के अनुसार वयः सन्धि काल में नेत्रों का नवीन ढंग से विकास होने लगता है, चतुरता एवं छवि उत्कर्ष को प्राप्त होने लगती है, शरीर में लालिमा का संचार होने लगता है, अंग खिलने लगते हैं।[1] बैस के उठान के साथ 'रूप' चूने लग जाता है, नयनों में चंचलता आ जाती है, मदन के मद से 'औरे आभा' हो जाती है। नेत्रों का विलास, मद का आधिक्य शारीरिक आकर्षण की अभिवृद्धि कर देते हैं। इन लक्षणों से युक्त वयःसन्धिकाल का सरस वर्णन हुआ है।[2] 'श्यामा' का सलोना तन दो एक दिन में मन्मथ के अधिकार

---

1 आवत जोबन कछुक तन होत डहडहे अंग।
शिशुता की हलचल कहो, ललिता ललित सुरंग।
कछु जोवन आभास ते बढ़ी वधू दुति अंग।
ईंगुर छीर परात में परे होत जो रंग।
कृपा राम—रीति काव्य संग्रह पृ० १३६

2 बैस की उठान ठौन रूप की अनूप कान्ह,
अंग-अंग औरे कछू ओप उलहति है।

में पहुँच जाता है। शिशुता और यौवन इस प्रकार लगते हैं जैसे शीशी में जल या सुमन में पराग हों।[1] कहीं इस काल का वर्णन दो चुम्बकों के बीच पड़े हुए लोहे के समान किया गया है। नायिका शिशुता और यौवन दोनों के द्वारा समान रूप से खिची चली जाती है।[2] शारीरिक परिवर्तनों का वास्तविक स्वरूप नव्य-यौवन काल में दीख पड़ता है।

इस वय में अंगों के उठान के प्रति रीति कालीन कवि जागरूक हैं। इसकी आरम्भिक चेतना एवं विकास 'व्यक्त-यौवन' में स्पष्ट हो जाता है। यहाँ आकर रूप एवं कान्ति में गतिमयता आ जाती है। रूप का आधिक्य और अंग-ज्योति का वर्णन अधिक किया गया है। मुकुलित स्तन बढ़ने लगते हैं। त्रिवली दीख पड़ने लगती है। पूर्ण यौवन में अंगों का विकास अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। यौवन की इन सभी अवस्थाओं का वर्णन रीतिकालीन साहित्य में हुआ है। इस अवस्था के विभिन्न परिवर्तनों पर कवियों की दृष्टि रही है। यौवन रूप-राशि को बिखेर देता है। शरीर से ज्योति उमगने लगी है।[3] आंखों में दीर्घता आ जाती है, अपांग कानों तक पहुँचने लगते हैं। देह की दीप्ति से

'चिन्तामणि' चंचला विलास को रसाल नैन,
मदन के मद औरे आभा उमहति है।
कुन्दन की बेली सी नवेली अलबेली बाल,
केतिक गरब की सौं गोरता गहति है।
उझकि झरोखें तुम्हें चाहिबे को चन्द्रमुखी,
धोस हूँ में चन्द्रिका पसारति रहति है।

रीतिकाव्य संग्रह पृ० १६७ चिन्तामणि

1 स्यामा की सलोनोतन, तामें दिन द्वैक माझ,
फिरी सी चहत मनमथ की दुहाई सी।
सीसी में सलिल जैसे, सुमन पराग तैसे,
सिसुता में झलकत जोवन की झाँई सी।

ब्रज भाषा साहित्य का नायिका भेद—पृ० २३२ गंग कवि

2 लरिकापन यौवन सन्धि भई, दुहुँ बैस को भाव मिले न हिलै।
बिबि चुम्बक बीच को लोह भयो, मन जाइ सकै न इतै न उतै।

रीतिकाव्य संगह पृ० ४०७

3 रीति काव्य संग्रह पृ० २०१ और ३४०

भवन फटिक के समान स्वच्छ हो जाता है।[1] राधा की इस देह दीप्ति को देखने के लिए घड़ी भर के लिए यमुना भी रुक जाती है। मुख की नई झलक से रूप खिलता जाता है।[2] यौवन की लाली चमक उठती है। इन गुणों से सम्पन्न काया में अनोखापन आ जाता है। क्रमशः बढ़ती हुई अवस्था के साथ रीतिकाल में दो प्रकार के परिवर्तनों का संकेत किया गया है। शरीरगत और भावगत। इन परिवर्तनों के माध्यम से नायिका का रूप-चित्र अच्छे प्रकार से प्रस्तुत किया गया है।

शरीरगत परिवर्तन के अन्तर्गत सूक्ष्म और स्थूल परिवर्तन का वर्णन किया गया है। सूक्ष्म परिवर्तन 'रूप' में रहकर भी रूप से भिन्न अस्तित्व रखता है। इन गुणों से सुकुमारता आदि की गणना की जा चुकी है। रूप, लावण्य छबि, ज्योति, उज्ज्वलता, कान्ति आदि द्वारा इसी सूक्ष्म गुण का संकेत मिलता है।

रूप-लावण्य—आत्म परक सूक्ष्म गुणों के अन्तर्गत रूप-लावण्यादि का संकेत किया जा चुका है। मोती में उसकी कान्ति की तरलता के समान अंगों में स्वतः प्रतिभासित होने वाली ज्योति को 'लावण्य' कहते हैं। अंगों में भूषण आदि प्रसाधनों के बिना ही जब शोभा भूषणादि धारणवत् प्रतीत होती है, तो ऐसी शोभा को रूप कहते हैं। इसके अंगों में एक प्रकाश रहता है, जिससे सौन्दर्य की वृद्धि होती है। इससे व्यक्तित्व में आकर्षण उत्पन्न होता है। यह सौन्दर्य का आवश्यक तत्व है। लावण्य के व्युत्पत्तिगत अर्थ में '**लवणस्य भावः लावण्यः**' कहा गया है अर्थात् शारीरिक नमकीनपने के भाव में लावण्य रहता है। जैसे खाद्य सामग्री में नमक के योग से उसका स्वाद बढ़ जाता है, इसी प्रकार शरीर में लावण्य से सर्वाङ्ग की शोभा बढ़ जाती है। यह लावण्य रीति कालीन काव्य में छबि, ज्योति, अंग दीप्ति आदि रूपों में प्रकट होता है।

---

1 फटिक शिलान सो सुधारो सुधा मन्दिर,
उदधि दधि की सी अधिकाई उमँगै अमन्द।
बाहिर ते भीतर लौं भीति ना दिखाई देति,
दूध कैसो फेन फैल्यो आंगन फरस बन्द।
तारा सी सु तामें ठाढ़ी आनि झिलि-झिलि होति,
मोतिन की जोति मिलि मल्लिका को मकरन्द।
आरसी से अम्बर में आभा सी उज्याहीं लागै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब सों लगत चन्द।

2 रस-रत्नाकर पृ० ६६४

इस लावण्य का विश्लेषण करने से उसके वर्णन में कवियों की दो प्रवृत्तियां लक्षित होती है। १. लावण्य का काम मूलक दृष्टिकोण २. लावण्य के निरपेक्ष सौन्दर्य का वर्णन।

काममूलक दृष्टिकोण के अन्तर्गत युवा काल में उत्पन्न होने वाले अयत्नज अलंकारों की गणना होती है। यौवन में इन अलंकारों से नायिका की शोभा उत्कर्ष को प्राप्त होती है। अतः शोभा-विधायक इन अलंकारों को कृति-साध्य न मानकर स्वयं-संभूत अलंकार मानते हैं। इनकी इस नैसर्गिकता से रूप का आकर्षण बढ़ जाता है और अंग-शोभा में प्रकाश उत्पन्न हो जाता है। इनके अन्तर्गत सभी अयत्नज अलंकारों को न मानकर केवल शोभा, कान्ति, दीप्ति और माधुर्य को ही मानेंगे। शेष तीन अलंकारों—प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य में चेष्टा अथवा मानसिक गुणों का समावेश होता है। इससे इन तीनों अलंकारों की सीमा गुणपरक तथा काम मूलक नैसर्गिक शोभा से भिन्न है। अतः केवल प्रथम चार अलंकारों का ही संकेत किया जाता है।

'शोभा' रूप यौवन और सुख-भोग से युक्त शरीर की सुन्दरता को कहते हैं। इसका वर्णन दो प्रकार से किया गया है (१) क्षण-क्षण की नवीनता और (२) शारीरिक विकास में अनोखापन। यथा :—

१. छन-छन नवता लहत हैं, छबि छलकत अवदात।
चन्द्र सरिस सुन्दर बदन, मृदुल सलोने गात।

२. विसरन लागो वालपन को अयानप,
सखीन सों सयानप की बतियाँ गढ़ं लगी।
दृग लागे तिरछे चलन पग मन्द लागे,
उर में कछूक उकसन सी बढ़ं लगी।
अंगन में आई तरुनाई यों झलकि,
लरिकाई अब देह तें हरै-हरै कढ़न लगी।
होन लागी कटि अब छटी की छला सी,
द्वज चन्द की कला सी तन दीपति बढ़ं लगी।[1]

इन दोनों उदाहरणों में दोनों प्रवृत्तियां व्यक्त हुई हैं। पहले में क्षण-क्षण की नवीनता और दूसरे में अंगों के विकास का बांकपन व्यक्त हुआ है।

स्मर-विलास से बढ़ी हुई शोभा को 'कान्ति' कहते हैं। इसमें विभिन्न अंगों में रमणीयता और अनोखापन आ जाता है, जो गति, हाव-भाव या

---

1 रस-रत्नाकर पृ० १४४

विभिन्न क्रियाओं द्वारा व्यक्त हो जाता है। नेत्र, भौंह आदि में विलक्षणता आ जाती है। यथा:—

फरकै लगीं खंजन सी अँखियां, भरी भायन भौंहें मरोरे लगी।
अँगराई कछू अँगिया की तनी, छवि छाकि छिनौ छिन छोरें लगी।
बलि जैवे परैं 'द्विजराज' कहै, मन-मौज मनोज हिलोरे लगी।
बतियांन में आनन्द घोरै लगी दिन द्वै मे पियूष निचोरें लगी।

अधिक मात्रा में बढ़ी हुई कान्ति ही दीप्ति कही जाती है। इसमें स्मर-विलास का प्राधान्य रहता है यथा। "दीपावली तन द्युति निरखि दबकी सी दिखराति। विविध जोति उजरी फिरति जरी बीजुरी जाति।" "प्रत्येक दशा की रमणीयता को 'माधुर्य' कहते हैं। इस माधुर्य से शोभा का विकास होता है। यथा "तिरछे चलि लहि बंकता, करि चंचलता मान। अधिक मधु-मयी बनति है, ललना की अँखियानि।[1]

उपर्युक्त चारों गुणों के मूल में वर्णित शोभा कामपरक दृष्टि से स्पष्ट की गई है। यौवनागम से इन गुणों का स्वतः विकास होता है। इससे ये यौवन में कामपरक गुण के अन्तर्गत माने गये हैं।

(ख) लावण्य का निरपेक्ष-सौन्दर्य—

रीतिकाल में लावण्य के स्वरूप का निर्धारण करने के हेतु उसका समुचित चित्र-विधान किया गया है। उसके वर्णन में ऐसे उपमानों का प्रयोग होता है, जिससे लावण्य का मूर्त-विधान हो जाता है। अंगों में वर्तमान छवि, ज्योति और अंग-दीप्ति का अंकन किया गया है। इनके वर्णन के अप्रस्तुत विधान में अनेक बातों का ध्यान रखा गया है। ये अप्रस्तुत गुण मूलक, **क्रियामूलक और प्रकाशमूलक** वर्णित किये गये हैं।

गुणपरक उपमानों द्वारा लावण्य को बिम्बात्मक रूप देने के लिए जगर-मगर ज्योति, लावण्य के उफान और जुन्हाई के धार जैसे उपमानों का प्रयोग हुआ है। यह ज्योति सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर सौन्दर्य-वर्द्धक बन जाती है। इसी से इस काल की नायिकाएँ लावण्य युक्त मधुर छवि धारिणी और ज्योति पुञ्ज होकर आई हैं। उनके रूप की ज्योति चारों ओर फैल जाती है। उनकी छवि की झलमलाहट में दीपावली का दृश्य उपस्थित हो जाता है। पैर के तलवों की लालिमा उमड़ पड़ती है। ज्योति चारों ओर फैल जाती है:—

---

[1] रस-रत्नाकर पृ० २२०

१. अंग-अंग तरंग उठे दुति की, परि हैं मनो रूप अबै धर च्वै ।

२. डगर-डगर वगगावति अगर अंग,
जगर-मगर आपु आवति दिवारी सी । देव०

३. भौनते निकसि प्यारी पाय धारै बाहिर लौं,
लाली तरवान की उमड़ि इक ओर की ।
वगर-वगर अरु डगर-डगर वर,
जगर-मगर चार्‌यो ओर दुति हो रही ।

४. थोड़ी-थोड़ी वैस की किसोरी तन गोरी-गोरी,
भोरी-भोरी बातन सों हियरो हरति है ।
× × × × × × × × ×
जगर-मगर ज्योति इन्दु बदनी की दुति,
सेखर अवास को प्रकाशित करति है ।
मानो भज्यो मंजु मैन-मुकुर महल तामैं,
अमल अधूम महताब सी बरति है ।
चन्द्र शेखर बाजपेयी

अंग-दीप्ति के सम्बन्ध में कवियों की दृष्टि एक जैसी है । मतिराम ने नायिका के अंग में इसी दीप्ति की शोभा देखी है ।[1] इसकी ज्योति सदैव जलती रहती है ।[2] सुवास से 'दुति' के दुगुन होने की चर्चा है ।[3] घनानन्द ने अंगों के वर्णन में उसमें प्रतिभासित होने वाले तरल सौन्दर्य और गुण का संकेत किया है । अनुभूति की सत्यता से उन्होंने नये प्रतीकों को जन्म दिया है । देव ने प्यारी के रूप-पानिप में मन को नमक के समान बिला जाने की बात की है ।[4]

छवि और लावण्य को मूर्त रूप देने के लिए अंग-ज्योति को मशाल की लौ के समान माना गया है । घूँघट हटाने पर यह छवि अचानक ही मशाल की लौ के समान एक बारगी जल उठती है ।[5] हठी की राधा का रूप स्वतः

---

[1] रसराज छन्द ६ मतिराम

[2] बदन-चन्द की चाँदनी देह दीप की जोति । ललित-ललाम ३३६

[3] सहज सुबास जुत देह की दुगुन-दुति, दामिनि दमक दीप केसरि कनक है ।
रसराज १९५

[4] प्यारी के रूप के पानिप में, मन माइल मेरो बिलाइगो लोन सो ।

[5] घूँघट टारि चलावती, तिय हरि ताकि गुलाल ।
बुझी रही मानो बरी, एकै बार मशाल । भूपति सतसई ४७२

स्वर्ण मन्दिर में फैलता रहता है।[1] उनका लावण्य और मुखच्छवि चारु किरणों की कतार को बिखेर देती हैं।[2] मणि के सिंहासन से निकलती हुई ज्योति के संग मुख की ज्योति मिलकर अपूर्व शोभा का उद्‌घाटन कर देती है। इस छवि में वैभव सम्पन्नता, स्वप्रकाश्य गुण और गति की अपूर्व शोभा वर्तमान है।

गति-सम्पन्न ज्योति में स्थिरता न होकर गतिशीलता है। इसमें ज्योति युक्त छवि की क्रियाशीलता देखी जा सकती है। अंगों में 'दुति' की तरंगें उठती हैं। ऐसा लगता है, मानो रूप अभी चू पड़ेगा।[3] द्विज देव की नायिका के लावण्य से 'जुन्हाई की धार' प्रवाहित होने लगती है।[4] इन वर्णनों में दुति की गतिशीलता प्रत्यक्ष रूप से लक्षित हो जाती है। इसका एक चित्र उपस्थित हो जाता है। इसके अतिरिक्त रूप के फैलने, मुख से किरण जाल के निकलने, जुन्हाई की धार प्रवाहित होने आदि में छवि की यही गतिशीलता दिखाई पड़ती है। पद्माकर की गति छवि और शब्द दोनों की ही है। ब्रज ठाकुर के पास जाती हुई ठकुराइन के अंग-अंग से 'रोसनी' निकलती है।[5] अंग की शोभा फैल जाती है।[6]

स्पष्ट है कि रूप-लावण्य के वर्णन में उसके प्रकाश गति और गुण का ध्यान रखा गया है। कहीं-कहीं रंग-संकेत भी है। इसमें मुख्यतः उज्ज्वल वर्ण की आभा का ही वर्णन जुन्हाई या उजेरी चंद आदि के उपमानों द्वारा किया

---

1 'हठी' ब्रज मण्डल में रूप बगराय आज,
बैठी जात रूप के महल महरानी है।
श्रीराधा सुधाशतक छन्द २२

2 राधे महरानी बैठी मणि के सिंहासन पै, फैली मुख चारु किरन कतारे हैं।
अज्ञादर्श छन्द १०६ रंग नारायण पाल

3 अंग-अंग तरंग उठै दुति की, परिहैं मनो रूप अबै घर च्वै। घनानन्द

4 भीतर भौन ते बाहिर लौं, 'द्विज देव' जुन्हाई की धार सी धावति।
री० का० संग्रह से

5 ये अंग-अंग की रोसनी में, सुभ सोसनी चीर चुभ्यो चित चाइन।
जाति चली ब्रज ठाकुर पै, ठमका ठुमकी-ठमकी ठकुराइन।
जगद्विनोद—पद्माकर

6 आली औरे आभा भई है वदन पर, जगर-मगर जोति होति अंग-अंग की।
बृहत् इतिहास भाग ६ पृ० ३२३

गया है।[1] 'रूप के ज्वार' से सौन्दर्य व्यञ्जित किया गया है। अंगों में व्याप्त रहने वाली शोभा का रूप-चित्र प्रस्तुत किया गया है। रूप-लावण्य के गुण और गति दोनों का ही ज्ञान कराया गया है। स्वतः प्रकाशित होने वाले लावण्य के प्रभाव मूलक गुण को व्यक्त करने के लिए 'रूप' में चकाचौंध उत्पन्न कर देने वाले गुण का संकेत किया गया है। अतः इस काल के रूप-लावण्य वर्णन में तरलता, गतिमयता, वैभव की चमक और नमकीनपन है। इसी से 'लुनाई' का वर्णन करते नहीं बनता। वह आँखों को प्रिय लगता है। एक बार ऐसे छवि पुञ्ज आलम्बन को देखकर पुनः दूसरा कुछ देखना शेष नहीं रह जाता। "आज की या छवि देख भटू, अब देखिवे को न रह्यो कछु बाकी।" यही कारण है कि ऐसे रूप के प्रभाव की भी अभिव्यञ्जना की गई है।

रूप का प्रभाव—नारी के रूप की सार्थकता दर्शक को प्रभावित कर लेने में है। रूप वही सुन्दर होगा, जो अपने आकर्षण से लोगों के नेत्र और मन दोनों को ही अपनी ओर खींच ले। ऐसा होने पर ही नारी की मोहिनी संज्ञा यथार्थ मानी जा सकती है। रीतिकालीन कविता में इस मोहकत्व शक्ति और रूप-सौन्दर्य के प्रभाव की व्यञ्जना अनेक कवियों ने की है। यह व्यञ्जना नायक अथवा नायिका के वास्तविक सौन्दर्य और उसके तेजपुञ्ज रूप के माध्यम से हो सकी है। इस काल का कवि केवल अंगों की स्थूलता मात्र में ही बँधकर नहीं रह गया है, अपितु उसके प्रभाव को अनेक रूपों में व्यक्त करने में सचेष्ट रहा है। यह प्रभाव मन और शरीर दोनों पर ही पड़ा है।

रूप के मानसिक प्रभाव की अभिव्यक्ति में स्नेह की उत्पत्ति, मन की अभिलाषा और चित्त के परवश हो जाने की बात का समर्थन किया गया है। स्नेहोत्पत्ति में रूप का तत्काल और सद्यः प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव दोनों ओर से अभिव्यक्त हुआ है।[2] राधा और कृष्ण दोनों के हृदय में स्नेह का संचार होने लग जाता है। अन्य स्थल पर रूप-दर्शन से सदा निहारते रहने की भावना का उदय होता है। गोपी अभिलाषा करती है कि समाज, कार्य और लज्जा को छोड़कर पल-पल और घड़ी-घड़ी श्री कृष्ण के मुख को ही

---

1 चली स्याम हित राधिका, सरद उजेरी माँहि।
चंद उजेरी सों मिलत, नेकु न जानी जाहि। रीο काο संο पृο १४१

2 घोखे कढ़ी हुती पौरि लौं राधिका नन्दकिशोर तहाँ दरसाने।
'बेनी-प्रवीन' देखा देखी ही में, सनेह समूह दोउ सरसाने।
नवरसतरंग पृο ६२ छंद ४४७

निहारा करें। वह उनकी आरती उतारते रहने की अभिलाषा व्यक्त करती है[1] उसका मन परवश हो जाता है। रूप के आकर्षण में खिचकर 'ललिता' मैन-मतवारी' हो जाती है।

रूप-दर्शन से उत्पन्न शारीरिक प्रभाव की व्यञ्जना की गई है। नायक अथवा नायिका के सौन्दर्य को देखकर मन इतना आसक्त हो जाता है कि उसका प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है। सौन्दर्य और आकर्षण के प्रभाव में शारीरिक परिवर्तन सम्भव नहीं हो सकता है। इस परिवर्तन में स्तब्धता, विस्मय विमुग्धता, माध्यम से देखने की भावना और अन्य अनेक शारीरिक प्रतिक्रियाओं का वर्णन है।[2]

रूप-सौन्दर्य को देखकर श्रीकृष्ण के मन पर पड़ते हुए प्रभाव में स्त-ब्धता का यही भाव है। राधा गुलाल की 'मूठि मार कर' चली जाती है। श्रीकृष्ण हाथ में पिचकारी लिये ही रह जाते हैं और उसे चलाने की सुधि भी उनमें नहीं रह जाती। वे राधा-रूप को देखकर स्तब्ध हो जाते हैं।[3] होली के एक अन्य प्रसंग पर राधा रूप से प्रभाव की व्यञ्जना की गई है। श्रीकृष्ण उसे देखकर विस्मय-विमुग्ध होते हुए हतचेत से हो जाते हैं।[4] केवल हाथ मलकर रह जाते हैं।

---

1 ऐसी मति होति अब ऐसी करौं आली,
बनमाली के सिंगार में सिंगारवोई करिये।
कहैं 'पदमाकर' समाज तजि काज तजि,
लाज को जहाज तजि डारवोई करिये।
घरी-घरी पल-पल छिन-छिन रैन-दिन,
नैनन की आरती उतारवोई करिये।
इन्दु ते अधिक अरविन्द ते अधिक,
ऐसो आनन गोविन्द को निहारवोई करिये। जगद्विनोद छंद ६४९

2 सनेहसागर पृ० १९

3 पिचका लियेई रहै रह्यौ रंग तोहि देखि,
रूप की घसक लागे थके है थसरि के।
कौंधि 'घन आनन्द' को भिजयौं हंसनि ही में,
हाथ कियो लालहि गुलालहि मसरिके। घन आनन्द।

4 गोरी बाल थोरी वैस, लाल पै गुलाल मूठि,
तानि के चपल चली आनन्द उठान सों।

दूसरी ओर श्रीकृष्ण की रूप माधुरी का प्रभाव गोपियों के मन पर भी व्यक्त किया गया है। उसे देखकर गोपियों के शरीर में अनंग की दाँवरी सी आ जाती हैं, उसके हृदय में पीड़ा सालने लगती है।[1] वे अन्य माध्यम से देखकर अपनी रूप-दर्शन की भावना तृप्त कर लेती हैं।[2]

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि रीतिकालीन काव्य में रूप-सौन्दर्य के प्रभाव की व्यञ्जना अभिधेय रूप में न होकर व्यंग्य रूप में हुई है। अभिव्यक्त भावों से रूपोत्कर्ष का आभास मिल जाता है। यह आभास ही रूप-सौन्दर्य के प्रभाव को स्पष्ट करने में समर्थ होता है। यह इस रूप की क्षण-क्षण की नवीनता द्वारा व्यक्त किया गया है।

नवीनता—रीतिकालीन काव्य में छवि की नवीनता के द्वारा रूप के अतिशय की व्यञ्जना की गई है। इससे रूप की महत्ता बढ़ती है, आलम्बन के प्रति मुग्धता का भाव आता है, उसका महत्त्व बना रहता है और एकरसता के कारण ऊब उत्पन्न नहीं होती। प्रायः दैनिक अनुभवों से यह सिद्ध होता है कि एकरसता और अनाकर्पण आलम्बन के महत्त्व को गिरा देता है। अतः आल-म्बन के महत्त्व को बनाये रखने के लिये रूप-छवि की नवीनता का वर्णन

बायें पानि घूंघट की गहनि चहनि ओट,
चोटनि करति अति तीखे नैन बान सौं।
कोरि दामिनीनि के दलनि दलमलि पाय,
दाय जीति आय झुंड मिलि सयान सौं।
मीड़िबै के लेखैं कर मीड़िबोई हाथ लग्यौ,
सो न लगी हाथ रह्यो सकुचि सखान सौं।

[1] सिर मोरपखा मुरली कर लै, हरि दै गयो भोरहि भांवरी सी।
कहि 'तोप' तहि जबही ते चढ़ी, अंग-अंग अनंग की दांवरी सी।
नट साल सी सालि रही न कढ़ै चढ़ि आवति है तन तांवरि सी।
अँखियां में समाइ रही सजनी, वह मोहिनी मूरति सांवरी सी।
नवरस तरंग छंद ४२०

[2] बैठी हुती गुरु-मण्डली में, मन में मनमोहन को न बिसारति।
त्यों 'नन्दराम जू आइ गये बन तें, तहँ मोरपखा सिर धारत।
लाज तें पीठ दै बैठी बहू, पति मातु की आंख दे आंख न टारत।
सासु की नैनन की पुतरीन में, प्रीतम को प्रतिबिम्ब निहारत।
अ० सा० का नायिका भेद छंद २८६

किया गया है। रीतिकाल में रूप-छवि की इस नवीनता के कई कारण हो सकते हैं--(१) कवियों के जीवन का व्यक्तिगत मोह एवं प्रेम (२) अपने प्रिय पात्र के रूप के अतिशय का वर्णन (३) प्रेम के आधिक्य की व्यञ्जना। इन तीनों प्रेरक कारणों से रीतिकाल में जिस रूप-छवि की व्यञ्जना की गई, वह नित नवीन बना रहा। यह नवीनता दो रूपों में स्पष्ट हो सकी है।

(१) निकट से देखने पर नवीनता का ज्ञान।
(२) प्रत्येक अंग की नवीनता और आकर्षण।

रूप-छवि के सम्बन्ध में यह सामान्य अनुभव है कि निकट से देखने पर उसकी कमियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। केवल दूर से ही आकर्षण बना रहता है, परन्तु रीतिकालीन नायिका का रूप निकट से देखने पर और खरे रूप में प्रकट हो जाता है--

१. ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि,
तयौं-तयौं खरी निकरै सी निकाई। मतिराम
२. रावरे रूप की रीति अनूप नयो-नयो लागत ज्यों-ज्यों निहारियै।
त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी,अघानि कहूं नहीं आनि तिहारियै।
घनानन्द

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि रूप-छवि वर्णन में केवल परिपाटी के निर्वाह का आग्रह न होकर नवीनताजन्य सरसता और आकर्षण का वर्णन हो सका है। रूप का ऐसा वर्णन आश्रय की भावनाओं को उद्दीप्त करके उसे आलम्बन की ओर आकृष्ट कर देता है। उसके प्रत्येक अंग में सुन्दरताई दीख पड़ने लगती है। "ज्यों-ज्यों निहारिये जू प्रति अंगन, त्यों-त्यों लगै अति सुन्दरताई।"[1]

इस युग का कवि रूप-छवि का वर्णन करने में सर्वाङ्ग अथवा अंग-प्रत्यंग का शुष्क वर्णन न करके उसका बिम्बात्मक रूप भी प्रस्तुत कर देना चाहता है। भिन्न अवयवों का नवीन दृष्टियों से वर्णित सौन्दर्य अनन्त छवियों को लेकर अवतरित हुआ है। हर बार एक नई कान्ति और ताजगी का अनुभव हो जाता है। यह तभी सम्भव होता है जब कवि अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों का सहारा लेता है। ऐसी स्थिति में वर्णन की सजीवता और सचाई प्रत्यक्ष हो जाती है। इस छवि के चित्रण में बाह्य रूप-सौन्दर्य और लावण्य की आन्तरिक कान्ति का चित्रण मिलता है। इसी कारण नायिका प्रत्येक बार

---

[1] बेनी-प्रवीन।

नवीन छवि धारण करके समक्ष प्रस्तुत की गई है। हर बार की यह नवीनता दृष्टिकोण की सौन्दर्यपरक मनोवृत्ति को स्पष्ट कर देती है। इसके अतिरिक्त आत्म-तत्त्व के अभाव में परिपाटी निर्वाह के अवसर पर नीरसता और पुनरुक्ति दीख पड़ती है। ऐसे स्थलों पर रूप-सौन्दर्य के वाह्य-चित्रण में आलंकारिक पद्धति एवं उपमानों के प्रस्तुत करने में ही कवियों की वृत्ति रमी है। फिर भी अनुभूत्यात्मक चित्रणों की कमी नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही चित्रणों में कवि की स्वच्छन्द वृत्ति नवीनता का आग्रह लेकर चली है। यही नवीनता रूप-छवि के महत्व को स्थिर करने में प्रमुख है।

कोमलता—स्पार्शिक सुखानुभूति के लिये मार्दव गुण परमावश्यक है। मार्दव कोमल वस्तु के भी स्पर्श की असहनीयता को कहते हैं। जिस नायिका में यह गुण अधिक होगा, उसका सौन्दर्य उत्तम कोटि का माना जाता है। स्पर्श की असहनीयता की दृष्टि से शारीरिक कोमलता की उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन श्रेणियां बताई जा चुकी हैं। कोमलता के उद्भव के दो कारण हो सकते हैं। प्रथम उत्तम कुल में जन्म लेने से निसर्गगत कोमलता और दूसरी अर्जित कोमलता। अर्जित कोमलता अनुलेपन आदि के सतत प्रयोग से प्राप्त की जा सकती है। प्राप्त की गई यह कोमलता शारीरिक ही होती है। इससे स्पर्श सुख की प्राप्ति हो सकती है। अतः इस कोमलता में त्वचा के स्पर्श का महत्व रहता है। यह कोमलता केवल वाह्य होने से एकांगी है। इसे पूर्णता देने के लिये निसर्गगत कोमलता द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना की जाती है।

निसर्गगत कोमलता का मूलकारण नायिका का उत्तम एवं उच्च कुल माना जाता है। उत्तम कुल में उत्पन्न होने से उसकी कोमलता सर्वाङ्गीण होकर प्रत्यक्ष होती है। शरीर, मन और भावों की यह कोमलता उत्तम सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती है। रीतिकालीन काव्य में कोमलता की यह सर्वाङ्गीणता अनेक रूपों में प्रत्यक्ष हुई है। इसकी अभिव्यञ्जना दो रूपों में की गई है—

१. असहनीयता के माध्यम से
२. अन्य माध्यम से

असहनीयता के माध्यम से प्रकट की जाने वाली कोमलता अभिधेय न होकर व्यंग्य रूप में प्रकट की गई है। असहनीयता का अर्थ किसी वस्तु के भार को सहन करने की क्षमता का अभाव है। इस अभाव की अधिकता के अनुसार ही सुन्दरता की कोटि का निर्धारण होता है। जिस वस्तु के संग

असहनीयता की भावना उत्पन्न होती है, उस वस्तु की प्रकृति के अनुसार ही कोमलता की उत्तमता आदि का स्थिरीकरण होता है। यह असहनीयता रीति-कालीन काव्य में निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट की गई है।

(१) भार की असहनीयता
(२) ताप की असहनीयता
(३) स्पर्श की असहनीयता
(४) चक्षु या दृष्टि की असहनीयता

इस काल का कवि कोमलता की अभिव्यञ्जना के लिये असहनीयता के इन माध्यमों के प्रति सदैव जागरूक रहा है। यद्यपि रीतिकाल के शुद्ध कृष्ण काव्य में इतने विभेद सूक्ष्मता के साथ वर्णित नहीं किये गये हैं, फिर भी रीतिकालीन सम्पूर्ण काव्य चेतना में यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। क्रमशः इन सब पर विचार किया जायगा।

(१) **भार की असहनीयता**—उत्तम शरीर वाली नायिका जो किसी प्रकार का भार सहन नहीं कर पाती है, उसे कोमल कहते हैं और इस गुण को कोमलता कहते हैं। यह गुण वस्तु की असहनीयता से उत्पन्न होता है। वस्तु की यह कल्पना रीतिकालीन साहित्य में दो प्रकार से की गई है। प्रथम मूर्त या साकार पदार्थों को सहन न कर सकना और दूसरा अमूर्त पदार्थों को सहन न कर सकना।

मूर्त या दृश्य पदार्थों के भार के अनुसार व्यक्त होने वाली कोमलता से उद्‌भूत सौन्दर्य की तीन कोटियाँ बनाई जा चुकी हैं। जिन्हें उत्तम मध्यम और अधम कोमलता की संज्ञा दी जा चुकी है। ये तीनों प्रकार रीतिकालीन कविता में देखे जा सकते हैं। कचभार द्वारा लंक का लचक जाना, बालों के बोझ को संभाल न सकना [1] जावक के भार की असहनीयता और महावर के भार से पता लगा लेना कि किस पग में महावर लग चुका है, रीतिकालीन कविता में वर्णित है। द्विजदेव की कोमलांगी जावक-भार के कारण धरा पर मन्द गति से पग आगे बढ़ाती है। दास की कोमल एवं अरुणवर्णी नायिका एक पग में जावक लग जाने की बात जावक के प्रत्यक्ष दर्शन से न बताकर उसके भार

1 (i) पानिप के भारन संभारत न गात लंक,
लचि-लचि जाति कच भारन के हलकैं।
द्विजदेव रीतिकाव्य संग्रह पृ. २६७

(ii) 'चिंतामणि' कच, कुच भार लंक लचकति,
सोहै तन तनक बनक छवि खान की। रीतिकाव्य संग्रह पृ॰ १६८

से ही वता पाती है।[1] मतिराम ने वताया है कि भार के डर से ही सुकुमारी अंगराग, कुमकुम आदि का प्रयोग नहीं करती।[2] वलभद्र के अनुसार कपड़े और वालों के वोझ के कारण नायिका घर से वाहर निकलती ही नहीं।[3] द्विजदेव ने स्वयं अपने अंगों के भार को भी असहनीय वताया है। यहां तक कि 'वरुनि' के भार के कारण आंखें झुक-झुक जाती हैं।[4]

इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अपने ही शरीर के किसी अंग अथवा प्रसाधन सामग्री के भार को असहनीयता के कारण सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना की गई है। इस भार का एक भौतिक और मूर्त अस्तित्व होता है, फिर भी यह वास्तविक भार की दृष्टि से नगण्य है। सामान्य व्यवहार में इन तत्त्वों को बाधक या असहनीय तत्व नहीं मानते हैं, परन्तु इसके माध्यम से नायिका का कोमलता-जन्य सौन्दर्य व्यञ्जित हो जाता है। कहीं-कहीं सम्पूर्ण शरीर की कोमलता व्यञ्जित है। द्विजदेवने जावक, गंध, वरुनि, पानिप और कचभार की असहनीयता से युक्त कोमल नायिका के प्रति सभी रसिकों के मन की ललक को व्यक्त कर दिया है।[5] मतिराम ने एक ही छंद में भार, ताप, स्पर्श और चक्षु की असहनीयता का वर्णन करके नायिका की कोमलता का संश्लिष्ट रूप प्रस्तुत कर दिया है।[6] उनकी नायिका का मुख वातायान से बाहर निकलने मात्र से ही आतप के कारण मलिन पड़ जाता है, हवा में आने से लंक लचक जाता है और मुख की शोभा मंद पड़ जाती है।

---

1 (क) दास न जानै धौं कौन है दीबौ, चितै दुहूँ पांइन नाइन हारी।
आप कह्यो अरी दाहिनै दै मोंहि, जानि परै पग बाम है भारी।
री० का० संग्रह पृ० २२७ भिखारीदास

(ख) बोझिल सों यह पांव लगै, तब यौं मुसुकाइ कह्यो ठकुराइन।
रघुनाथ।

2 भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगनि मैं,
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है। री० का० सं० पृष्ट १९९

3 रस-रत्नाकर पृ० ७००

4 द्विजदेव तैंसिये विचित्र वरुनि के भार,
आधे-आधे दृगनि परि है अध-पलकैं। री० का० सं० पृष्ठ २६७

5 रीतिकाव्य संग्रह पृ० २६७ द्विजदेव।

6 रीतिकाव्य संग्रह पृ० १७६ छंद १९

भार के इन सभी कारणों में मूर्तिमत्ता रहती है, परन्तु रीतिकाल का कलाकार कवि अमूर्त तत्वों के माध्यम से भी नायिका की कोमलता की अभिव्यञ्जना करता है।

अमूर्त अथवा अरूप की भार सम्बन्धी भौतिक सत्ता नहीं होती है। फिर भी कवियों ने ऐसे तत्वों का सहारा लिया है। इसका उद्देश्य उत्तम कोटि के सौन्दर्य एवं कोमलता की व्यञ्जना करना है। शोभा एवं रूप के भार की प्रतिक्रियाओं का वर्णन बिहारी, घनानन्द और द्विजदेव आदि कवियों ने किया है। शोभा के भार से पांवों का सूधे ढंग से न पड़ना[1] रूप के भार से मुख का लज्जित हो जाना,[2] कटि का लचक जाना आदि का वर्णन किया गया है। रसलीन ने 'दृष्टि पड़ने' मात्र से नायिका की विकलता का वर्णन किया है। "क्यों या तन सुकुमारि तनि देखत पैंयत नीठि। दीठि परति यों तरफरति, मानो लागी दीठि।"[3] इस उदाहरण में 'दीठि लगना' मुहावरे के प्रयोग द्वारा प्रयोजनवती लक्षणा का सहारा लिया गया है। इस प्रकार के वर्णनों का उद्देश्य शारीरिक सौन्दर्य की कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा वर्ण्य वस्तु को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करना होता है। इससे भावात्मक व्यञ्जना सरस रूप में प्रस्तुत नहीं हो पाती है। इसके लिये शोभा, रूप आदि के भार का वर्णन करके लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा 'शोभाजन्य कोमलता के अतिशय' का अर्थ ग्रहण किया जाता है। अरूप की इस असहनीयता से चरम कोटि की उत्तम कोमलता अभिव्यक्त होती है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो गया कि भार की असहनीयता के माध्यम से कोमलता की व्यञ्जना होती है। यह अपने ही शरीर के अंगों का भार

---

1 भूषण भार सभारिहैं, क्यों ये तन सुकुमार।
सूधे पाँव न पड़ि सकै, शोभा ही के भार।
शोभा ही के भार, चलत लटकत कटि छीनी।
देतो पवन उड़ाय, जो न होती कुच पीनी।

2 (क) रूप के भार न होंति हैं सौंही, लजौहीं यै दीठि सुजान यों फूली।
री० का० संग्रह पृ० ३५० घनानन्द

(ख) 'पानिप' के भारन संभारत न गात लंक.
लचि-लचि जाति कच भारन के हलकै। री. का. पृ. २६७ द्विजदेव

3 अंग-दर्पण-रसलीन

अथवा प्रसाधन सामग्री के भार का मूर्त रूप होता है। ऐसे रूपों में कच, हार,[1] कुच, कुंकुम जावक आदि के भार का वर्णन है। अमूर्त भार में शोभा रूप आदि का वर्णन किया गया है। भार की इस असहनीयता के साथ ताप की असहनीयता के द्वारा भी कोमलता की व्यञ्जना की गई है।

ताप की असहनीयता द्वारा प्रतिकूल परिस्थिति में पड़ी नायिका का चित्रण है। मंडन कवि ने लिखा है कि नायिका का स्वर्णिम अंग रसोई घर की ताप को सहन नहीं कर सकेगा। 'यह सोनों सो अंग सोहाग भरो, कहो कैसे के आगी की आंच सहै।'[2] इस वर्णन में शोभा, कान्ति और कोमलता की व्यञ्जना एक साथ कर दी गई है। व्यञ्जना यह है कि जैसे सुहागामिश्रित सोना अग्नि के ताप के सम्पर्क से गल जाता है, उसी प्रकार यह नायिका भी रसोई घर के ताप को सहन नहीं कर सकेगी। 'सोनो सो अंग' कहकर शरीर में वर्तमान कान्ति का बोध कराया गया है। ताप की असहनीयता द्वारा कोमलता की अभिव्यञ्जना की गई है। आतप के द्वारा मुख के मलिन हो जाने में सुकुमारता की अधम श्रेणी का वर्णन किया गया है। हार आदि के भार की असहनीयता में 'मध्यम कोटि' का सौकुमार्य व्यञ्जित होता है और कोमलतम वस्तुओं के स्पर्श की असहनीयता उत्तम कोटि की सुकुमारता को व्यञ्जित करती है।

स्पर्श की असहनीयता द्वारा व्यञ्जित सौकुमार्य उत्तम कोटि का माना जाता है। इसमें कोमलतम वस्तुएं भी स्पर्श से दुःख देने वाली बन जाती हैं। इसका वर्णन दो प्रकार से किया गया है। प्रथम वास्तविक स्पर्श और दूसरा स्पर्श की आशंका। इन दोनों का वर्णन रीतिकालीन काव्य में मिल जाता है।

वास्तविक स्पर्श में वस्तु की उपस्थिति रहती है और उसके सम्पर्क से नायिका की कोमलता व्यञ्जित होती हैं। यह कोमलता उसके शारीरिक

---

1 एक तो तिहारी हेली रूप ही हरत मन,
तामैं ये छके से नैन मुसुकि मिलाइ हैं।
हारन के भार लंक लचकत नागरी सु,
गागरी लिये ते सीस तन थहराइ हैं।
'ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यञ्जना-शिल्प' से उद्धृत
पृ० २४८ डा० सावित्री सिन्हा।

2 रीतिकाव्य संग्रह पृ० ३६६

परिवर्तनों द्वारा व्यक्त हो जाती है। वस्तु और कोमल अंगों के सम्पर्क मात्र से यह परिवर्तन दीख पड़ने लगते हैं। 'देवकी नन्दन' ने कहा है कि गांव की चूड़ीहारिन गांव छोड़ने को तैयार है, क्योंकि उसकी नायिका अंगुली के स्पर्श मात्र से सिसकने लग जाती है।[1] इससे वह उसे चूड़ी पहिराने में अपने को असमर्थ पाती है। इसमें स्पर्श की असहनीयता द्वारा उत्तम कोटि की कोमलता एवं सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना हो सकी है। इसमें कोमलता का संकेत अभिधेय रूप में न होकर व्यंग्य रूप में है। मतिराम ने 'विजन के बयारि' लग जाने से लंक के लचक जाने की बात का समर्थन किया है। 'कैसे वह बाल लाल बाहिर बिजन आवै, बिजन बयारि लागै लचकत लंक है।[2] बलभद्र कवि के अनुसार नायिका पंखा के पवन के स्पर्श से उड़ जाती है और समीर चले जाने पर तो सौतों की मन चीती हो जाती है।[3] एक अन्य कवि महोदय के अनुसार बात यहां तक बढ़ जाती है कि श्वासों के स्पर्श से नायिका ऐसी गिरती है मानो उसे धक्का दे दिया गया हो। यही कारण है कि वह प्रिय के समक्ष ठहर नहीं पाती है।[4] लोक सीमा की वास्तविकता का अतिक्रमण करने वाले ऐसे वर्णनों के द्वारा उत्तम कोटि की कोमलता की व्यञ्जना भले ही हो जाय, इससे रस-सिद्धि नहीं होने पाती। यह युग की चमत्कारिक प्रवृत्ति का फल है। ऐसा वर्णन मजाक से अधिक महत्व का नहीं रह जाता, क्योंकि यह वास्तविकता से नितान्त शून्य है।

स्पर्श की असहनीयता द्वारा कोमलता की व्यञ्जना करना वास्तविकता के आधार पर ठीक माना जा सकता है, परन्तु इस असहनीयता के ऊहात्मक वर्णन के माध्यम से वास्तव में शरीर पर चोट दिखाना या नायिका को गिरा देना जैसे वर्णनों द्वारा रागात्मक अनुभूति की तृप्ति नहीं हो पाती है। पद्माकर की नायिका के पगों में मखमल के बिछौनों का स्पर्श गड़ जाता है और कोमल गुलाब की पंखुड़ियां भी प्रतिकूल सिद्ध होती हैं। कोमलता के अतिशय

---

1 वे अंगुरी के छुवैं सिसकै करवार सी पातरी जौ मैं चढ़ाऊँ।
दन्तन दाबती जीभै उतै इत प्यारी के नैन रुखाई बचाऊँ।
'देवकी नन्दन' मोहि बड़ो दुख कौतुक होय सो काहि लखाऊँ।
छोड़िहों गांव बबा कि सौं मैं पर चूरी न ह्यां पहिरावन आऊँ।
रीति काव्य संग्रह पृ० ३९१

2 मतिराम—ललित ललाम १२१

3 रस-रत्नाकर पृ० ७००

4 रस-रत्नाकर पृ० ७०१

की व्यञ्जना रागात्मक स्तर पर स्वस्थ और उचित मानी जा सकती है। परन्तु दो पग चलने से पैरों में छाले पड़ जाना या पान की बीड़ी उठाने मात्र से ताप चढ़ जाना जैसा वर्णन ऊहात्मक ही माना जायगा। फिर भी इनसे कोमलता की व्यञ्जना तो हो ही जाती है।

वास्तविक स्पर्श की इस असहनीयता के साथ स्पर्श से उत्पन्न प्रतिकूल प्रभाव की आशंका द्वारा भी कोमलता की व्यञ्जना की गई है। बिहारी के वर्णन में सखी को यह आशंका बनी रहती है कि बार-बार करवट लेने से नायिका के शरीर पर गुलाब की पखुड़ियों की खरोंच लग जायगी। इसमें पंखुड़ियों का स्पर्श भी प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। ऐसे वर्णन में स्पर्श की प्रतिकूलता का भय व्याप्त रहता है। कुसुम शैया पर खरोंच लगने के भय द्वारा इस प्रकार की व्यञ्जना की गई है। मतिराम की नायिका कठोर भूमि पर पग न रखकर कुसुम बिछे पर्यंक पर ही पांव रखकर विहरण करती है। "चरन धरैं न भूमि बिहरैं तहांई जहां फूले-फूले फूलनि बिछायो परजंक है।"[1] इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि रीतिकालीन नायिकाएं फूल जैसे कोमल पदार्थों के स्पर्श को सहन करने में असमर्थ थीं। ऐसी स्थिति में कठोर पृथ्वी के स्पर्श की क्षमता प्राप्त कर लेने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि स्पर्श की असहनीयता द्वारा कोमलता से युक्त नायिका के सौन्दर्य की मधुर व्यञ्जना की गई है। यह स्पर्श शारीरिक होता रहा है, परन्तु कहीं-कहीं केवल दृष्टि के स्पर्श के प्रभाव की भी अभिव्यक्ति हुई है।

रीतिकालीन कवियों की कुसुम कोमल नायिकाएं चाक्षुष स्पर्श के दृष्टिभार को भी सहन नहीं कर पाती हैं। रसलीन ने कहा है कि नवला नायिका पिय की चितवन को सहन नहीं कर पाती है। इसीसे वह मुख फेर कर बैठ जाती है।[2] इस प्रकार के दृश्य चित्र सौन्दर्योपासक भावना को व्यक्त करते हैं। सुकुमारता के ऐसे वर्णनों में जीवन की स्फूर्ति और प्राणों का स्पन्दन दीख पड़ता है। अन्य स्थलों पर ऊहात्मक वर्णनों द्वारा चक्षु की स्पर्शजन्य असहनीयता को चमत्कार के क्षेत्र में ला दिया गया है।[3]

---

1 ललित ललाम १२१ मतिराम।

2 नवला मुरि बैठनि चितै, यह मन होत विचार;
कोमल मुख सहि ना सकति, पिय चितवनि को भार।
रस-प्रबोध पृ० ८ छंद ८६

3 रस-रत्नाकर से पृ० ७०१ बलभद्र कवि

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि रीतिकालीन कवियों ने असहनीयता के माध्यम से कोमलता की व्यञ्जना की है । यह असहनीयता भार ताप, स्पर्श और चक्षु की बताई गई है । इन सभी स्थलों पर कवियों ने अभिधा के प्रयोग का निवारण करके व्यञ्जना अथवा लक्षणा का प्रयोग किया है। ऐसे प्रयोगों द्वारा प्रस्तुत की कोमलता जन्य शोभा अधिक बढ़ गयी है। इसीसे रीतिकालीन नायिकाओं की सुकुमारता सर्वाङ्गीण है। इस असहनीयता के अतिरिक्त अन्य माध्यमों, परिस्थितियों एवं प्रसंगों के द्वारा भी कोमलता की यही अभिव्यञ्जना कराई गई है ।

(ख) **अन्य माध्यमों से कोमलता की व्यञ्जना**—भार आदि की असहनीयता के अतिरिक्त अन्य माध्यमों द्वारा भी नायिका की कोमलता अभिव्यञ्जित हुई है। इसमें मन की कोमलता और भावनाओं आदि की कोमलता व्यक्त हो सकी है। यह अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से रीति कालीन कविता में हुई है।

(१) घनानन्द ने मन की सुकुमारता के लिये उपमालंकार का प्रयोग किया है। राधा के मान करने पर सखी कहती है कि माखन सा कोमल मन मान जैसे कठोर बान को कैसे जानता है।[1] श्रीपति ने भी अलंकारों का सहारा लेकर संसार में प्रसिद्ध कोमल वस्तुओं की कोमलता को नायिका के अंगों की कोमलता के समक्ष कठोर बताया है। इनकी नायिका चन्द्र किरणों के समान सुखद एवं शीतल है। वह मक्खन के महल जैसी, गुलाब के पहल जैसी और मखमल जैसी मुलायम है ।[2] ऐसे वर्णनों में कोमलता स्वशब्द से वाच्य होने के कारण अभिव्यञ्जना की दृष्टि से अभिधेय हो जाता है। फिर भी कोमलता की अभिव्यक्ति होती है।

भावना का सौन्दर्य और उसके द्वारा कोमलता की अभिव्यञ्जना शेख रंगरेजिन ने एक स्थल पर अच्छे ढंग से की है। दूती श्रीकृष्ण से कहती है कि हे कान्ह, वह तो तुम्हारे पास आने की बात सुनकर ही नेत्रों को सावन बना लेती है। उसकी इस नवल वैस में बलपूर्वक उसे वश में कैसे किया जा

---

[1] राधे सुजान इतै चित्त दै हित मैं कित कीजति मान मरोर है।
माखन ते मन कोंवरो है यह बानि न जानति कैसे कठोर है।
सुजानहित ३७२

[2] रस-रत्नाकर पृ० ७०२

सकता है।[1] इस उदाहरण में ऐसी बैस कहो कान्ह, कैसे बस कीजिए' द्वारा अवस्था जन्य सम्पूर्ण कोमलता की अभिव्यक्ति हो गई है। मुग्धात्व और भोले पन का इतना सुन्दर उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ ही होगा।

आलम की वियोगिनी अपनी सुकुमारता के कारण विरह को सहन करने में असमर्थ होती है और वह नमक सी गलने लगती है, एक अन्य नायिका का मुख भावनाओं की असहनीयता के कारण 'ओले के समान बिला' जाता है। बिहारी की नायिका के बिछुवे की चाप से उसके पैरों से इंगुर सा चूने लगता है। ऐसे स्थलों पर कोमलता की अभिव्यक्ति वर्ण-बोध के माध्यम से की गई है।[2] रीतिकालीन काव्य में वर्ण-बोध की प्रचुरता द्वारा अनेक स्थलों पर कोमलता की व्यञ्जना मिल जाती है। द्विजदेव ने गत्यात्मक वर्ण-योजना द्वारा सुकुमारता की अभिव्यक्ति की है। इससे निर्मित चित्र-विधान कलात्मक सौन्दर्य को व्यक्त करता है। "भीतर भौन ते बाहरि लौं द्विजदेव जुन्हाई की धार सी धावति" पंक्ति में ज्योत्स्ना की धार की गतिमयता स्वयं ही स्फुरित होकर कोमलता एवं सौन्दर्य का मूर्त प्रत्यक्षीकरण कर देती है। इससे शुभ्र-वर्णी, तन्वंगी और ज्योत्स्ना की तरंगों सी प्रवाहित गतिशील ज्योति से युक्त

---

1 कीनी चाहो चाहिली नवौढा एकै बार तुम,
एक बार जाइ तिहि छलु डर दीजिये।
सेख कहो आवन सहेली सेज आवै लाल,
सीखत सीखैंगी मेरी सीख सुन लीजिये।
आवन को नाम सुनि सावन कियो है नैना,
आवन कहै सो कैसे आइ जाइ छीजिये।
बरबस बस करिवे को मेरो बस नहीं,
ऐसी बैस कहो कान्ह कैसे बस कीजिये।

मध्यकालीन हिन्दी कवियित्रियाँ पृ० २२५

2 (क) पांव धरै ढरै ईंगुर सो तिन मैं मनि पायल की घनि जोति है।
हाथ द्वै तीनी लौं चारिहूं ओर ते चाँदनी चूनरी के रंग होति है।

नृपशंभु

(ख) धरत जहाँई जहां पग है सुप्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही की माठ सी ढरत जात।
हारन ते हीरै भरैं सारी के किनारन तें,
वारन तो मुकुता हजारन भरत जात। पद्माकर

सुकुमारता का चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसमें [illegible] चन्द्र ज्योत्स्ना सी ज्योति असाधारण सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती [illegible]।

आलम ने सुरतांत के वर्णन में रति-के[illegible] के उपरान्त नायिका की श्रमित अवस्था द्वारा उसकी कोमलता को व्यक्त किया है "काम रस माते ह्वै करेरी केलि कीन्हीं कान्ह, फूलनि की मालिका ज्यों मीड़ि मुरझानी है।"[1] छंद में नायिका के कुम्भला जाने के वर्णन में लाक्षणिक पदों की सहायता ली गई है। उपमान 'फूल की मालिका' में उपमेय नायिका का अस्तित्व छिपा हुआ है। इससे रति-केलि की गोपनीयता कुछ अंशों में बनी रहती है। यहां लाक्षणिक पद एवं उपमानों के माध्यम से नारी-सौन्दर्य एवं सुकुमारता की संवेदनीयता स्पष्ट की गई है। ऐसी अभिव्यक्तियों द्वारा नायिका के रूप, गुण, अवस्था, सुकुमारता आदि को ध्वनित किया जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकालीन काव्य में कोमलता की अभिव्यञ्जना असहनीयता तथा अन्य माध्यमों से की गई है। असहनीयता के अन्तर्गत वस्तु के सम्पर्क से शरीर या मन की प्रतिकूलता व्यक्त होती है। यह प्रतिकूलता भार, ताप, स्पर्श, और चक्षु के सम्पर्क को सहन करने की अक्षमता को व्यक्त करती है। असहनीयता के भाव को व्यक्त करने में मूर्त और अमूर्त दोनों ही प्रकार की वस्तुओं का सहयोग लिया गया है। शोभा, छवि, लावण्य, रूप आदि अमूर्त पदार्थों की असहनीयता से उत्तम कोटि की सुकुमारता व्यञ्जित हो सकी है और दृश्य तथा साकार पदार्थों द्वारा मध्यम या अधम कोटि की सुकुमारता भार की असहनीयता के माध्यम से व्यक्त हुई है। सुकुमारता को भार की असहनीयता से भिन्न अन्य प्रकार से व्यक्त करने के लिये अलंकार योजना, भाव-सौन्दर्य, अवस्था और वर्ण-योजना आदि का माध्यम ग्रहण किया गया है। इन दोनों ही प्रकारों से सौकुमार्य व्यञ्जित हुआ है। रीतिकालीन कलात्मक काव्य चेतना के कारण सुकुमारता का स्व शब्द से कथन न होकर व्यंग्य रूप में हुआ है। ऐसे कलात्मक सौन्दर्य के अन्तर्गत लाक्षणिक प्रयोगों का प्राचुर्य मिलता है। वचन भंगिमा, उक्तिवैचित्र्य और मुहावरों आदि के प्रयोग से अनुभूति एवं भावों की संवेदनशीलता एवं प्रेषणीयता बढ़ाई गई है। उपमेय रूप नायिका की कोमलता और सुकुमारता के माध्यम से शारीरिक एवं मानसिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की गई है। इस गुण के कारण आलम्बन का रूप एवं सौन्दर्य रुचिकर और हृदय-

---

1 आलम केलि—सं. लाला भगवान दीन पृ० २५ छंद ५७ सं. १९७९ विक्रमी

आवर्जक वन गया है। इसे सूक्ष्म गुण के अन्तर्गत माना गया है। इसके अतिरिक्त शारीरिक स्थूल गुणों से भी सौन्दर्य उत्कर्ष को प्राप्त होता है।

सौन्दर्य परक स्थूल गुण:—सम्पूर्ण नाम रूपात्मक जगत अनन्त सौन्दर्य का भण्डार है। इस सौन्दर्य-निधि के मध्य उत्पन्न होकर वढ़ने वाले मानव की भावनाओं में स्वाभाविक रूप से इसके प्रति अनुराग का आविर्भाव होता रहता है। उसकी चित्तवृत्तियां अपनी रुचि के अनुकूल वस्तु अथवा प्राणी में सौन्दर्य की अनुभूति किया करती हैं। अनुभूति की यह परम्परा आदिम युग से चली आ रही है। मानव देश और काल की सीमाओं में वँधकर युग की भावनाओं एवं अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों से अनुप्राणित होती हुई वस्तु के सौन्दर्य का पारखी वनता है। उसके जीवन का सिद्धान्त, उसकी मान्यताएँ, उसकी रुचियां आदि ही सुन्दर अथवा असुन्दर वन जाने का आधार बनती हैं। वस्तु की उपयोगिता के माध्यम से भी सौन्दर्य का निरूपण एवं निर्धारण किया जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक युग में सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाएँ परिवर्तित होती रही हैं। आरम्भिक युग की सौन्दर्य चेतना वाह्य तत्वों को देखकर जागृत होती थी। उतुंग पर्वत शिखरों, सागर की उत्ताल तरंगों, भास्कर नक्षत्रों आदि में जो सौन्दर्य देखा गया था, वह 'उदात्त' कोटि का था। क्रमशः सौन्दर्य का आधार मूक वस्तु की सीमा में न रहकर मानवीय जगत होने लगा और विधि की अत्यधिक आकर्षक सृष्टि नारी को सौन्दर्य का केन्द्र माना जाने लगा। यही कारण था कि आरम्भिक कलाकारों ने भी मानवीय सौन्दर्य के वर्णन में अपनी रुचि का प्रदर्शन किया। साहित्य आदि ललित कलाओं के विकास और सृष्टि में भी व्यक्ति की सौन्दर्य वृत्ति ही कार्य करती है। सौन्दर्य का अन्वेषण करते हुए मानव ने मुख्यतः प्रकृति और नारी को ही अपनी रचना का आधार बना लिया। इन दोनों में भी मानवीय संसर्गों के निकटतम सम्बन्धों के कारण प्रकृति के ऊपर नारी की विजय होगई और मुख्य रूप से समस्त मानवीय सौन्दर्य चेतना नारी के चतुर्दिक केन्द्रित होने लगी। बाद में तो प्रत्येक वस्तु को नारी के माध्यम से समझने की चेष्टा की जाने लगी। छायावादी काव्य में प्रकृति के मानवीय करण का यही रहस्य है कि मानव अन्तश्चेतना पर नारी के अमिट सौन्दर्यपरक भाव का प्रभाव जम चुका था। यह प्रभाव इतना बढ़ा कि रीतिकाल में नारी का सौन्दर्य वर्णन ही काव्य-प्रणयन का एक मात्र ध्येय हो गया। सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये उसके अंग-प्रत्यंग के आकर्षण के साथ उसकी बनावट, सुडौलता, समानुपातिकता, समता आदि सौन्दर्य विषयक तत्वों की अभिव्यक्ति मुक्त हृदय से की गई। रीतिकाल में यहीं से नख-शिख

परम्परा का सूत्रपात हुआ। यह नख-शिख सौन्दर्य भावना को लेकर अग्रसर हुआ था, परन्तु बाद में केवल नख-शिख वर्णन के निर्वाह के लिये कवियों ने इस परम्परा का अनुसरण किया। परवर्ती साहित्य की नीरसता और रूढ़िबद्धता का यही कारण है।

इन सभी वर्णनों का मूल उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति है। मानव मन अपने विपरीत लिङ्गी की ओर खिचता है। वह नारी की शरीर यष्टि को देखकर उसके विभिन्न अंगों में आकर्षक तत्वों को ढूंढने की चेष्टा करता है, उनका वर्णन करता है और उन-उन अंगों की बनावट में सापेक्षता (Proportion), समता (Symmery) संगति (Harmony) और सन्तुलन (Balance) को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न उपमानों के द्वारा उसे स्पष्ट करता है। इन उपमानों की योजना में अंगों के आकार, बनावट, विशालता, लघुता, मृदुलता, बाँकपन आदि अनेक गुणों का ध्यान रखा जाता है। उपर्युक्त चारों तत्त्वों को प्रत्यक्ष करने के लिये नारी-शरीर के अंग-प्रत्यंग का विश्लेपण, उसकी चेष्टाएँ, प्रसाधन सामग्री आदि के द्वारा उसके रूप को प्रस्तुत किया जाता है। यही कलात्मक रूप धारण कर के अंगों के वर्णन की कवि-परिपाटी के रूप में विकसित हो जाता है। नख-शिख वर्णन की यही वृत्ति है। यह नारी के वर्णन में उसके सौन्दर्य का आधार बनती है। यद्यपि यह बाह्य आधार है, फिर भी इसकी महत्ता अस्वीकार नहीं की जा सकती है। नख-शिख वर्णन का मूल आधार सौन्दर्यानुभूति है। सौन्दर्य-बोध से शृंगार-भावना का आविर्भाव होता है। इसका मूल साधन रमणी है। इसीसे रमणी-रूप-सौन्दर्य के प्रति रीतिकालीन कवियों की इतनी अधिक आसक्ति है। यह आसक्ति नख-शिख वर्णन के रूप में प्रकट हुई है।

नख-शिख वर्णन शारीरिक सौन्दर्य का खण्ड-खण्ड चित्र है। इन्हीं खण्ड चित्रों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर का एक सामूहिक चित्र प्रस्तुत होता है। अनेक खण्ड-चित्रों के संयोजन से रूप सौन्दर्य वर्णन में पूर्णता आती है। इन खण्ड चित्रों में विभिन्न अवयवों का अपना सौन्दर्य होता है। इसीसे निजत्व के अस्तित्त्व में स्थित नख-शिख रूप इन अवयवों के खण्ड रूप-चित्रों में वर्तमान सौन्दर्य एवं आकर्षण सम्पूर्ण शरीर के सौन्दर्य की अनुभूति कराते हैं। सौन्दर्य की इस अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रत्येक युग के शृङ्गार-कवियों ने नख-शिख वर्णन में की है।

नख-शिख नाम से प्रसिद्ध अंग-प्रत्यंग वर्णन की यह परिपाटी दो रूपों में दीख पड़ती है। (१) नख से आरम्भ करके शिख तक का वर्णन करना।

यहाँ नख का तात्पर्य पैर के नाखून से है। इस वर्णन के आलम्बन रूप में ईश्वर आदि को मानते हैं, तथा इस वर्णन से उत्पन्न सौन्दर्य आकर्षक नख-शिख सौन्दर्य होता है। (२) शिख-नख-वर्णन—इसमें चोटी से आरम्भ करके पैर के नाखूनों तक का वर्णन होता है। इस वर्णन का आलम्बन मानव होता है और इससे उत्पन्न सौन्दर्य की गणना मानव-सौन्दर्य के अन्तर्गत होती है। इस दृष्टि से मानव-सौन्दर्य का आधार बनाकर किया गया अंग-प्रत्यंग का वर्णन 'शिख-नख" के अन्तर्गत होना चाहिये, परन्तु रीतिकालीन कविता में 'नख-शिख वर्णन' के नाम से अंगों का वर्णन मिलता है। दो-चार ग्रन्थ 'शिख-नख' नाम से मिल जाते हैं।[1] मानवीय वर्णन होते हुए भी नियम के अनुकूल 'शिख-नख' नाम न देकर 'नख शिख' नामकरण के औचित्य के सम्बन्ध में दो बातें कही जा सकती है :—

(१) रीतिकाल के आरम्भ में अंग-प्रत्यंग के वर्णन के लिये राधा-कृष्ण को आधार बनाया गया था, जो परम्परा से अवतारी पुरुष हैं। ऐसे पुरुषों के अंग-वर्णन का 'नख-शिख' नाम देना उचित और समीचीन कहा जायगा। कवियों ने ऐसे वर्णनों का नाम 'नख-शिख' रख दिया और बाद में यही नाम देने की पद्धति चल पड़ी होगी। इससे इस नाम की समीचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता है।

(२) कवियों के द्वारा स्वयं भी 'शिख-नख' नाम न देकर 'नख-शिख' नाम ही दिया गया है। इस दृष्टि से भी यह नाम उचित है। रीति युग के उत्तरकाल में श्रीकृष्ण के नख-शिख का स्वतन्त्र वर्णन मिलता है। इसमें नायक रूप में कृष्ण के अंग-प्रत्यंग का वर्णन, आभूषणों से युक्त अंगों की शोभा का वर्णन और मानसिक शोभा का वर्णन किया गया है। हृदय का एक वर्णन यहाँ पर्याप्त होगा—

'ग्वाल कवि कैधों आप जोगी की गुफा है,
तामें ह्वै रह्यो प्रकाश महातेज के समाज को।
कैधों वद विमल कमल दल हूं ते मृदु,
मंजुल हृदय है श्री मुकुन्द महाराज को।[2]

---

[1] (क) 'शिख-नख'—केशवदास, नागरीदास, रस आनन्द, रसिक मनोहर और सुजान कविकृत।
(ख) "हनुमान शिख-नख"—खुमान। 'शिख-नख-दर्पण'—गोपालकृत

[2] कृष्ण जू को नख-शिख—छन्द २४ ग्वाल कवि।

वर्णन की ऐसी आलंकारिक परम्पराएँ परवर्ती साहित्य में रूढ़िमात्र रह गई। अंग-वर्णन में दूर की सूझ, उक्ति-चमत्कार और कल्पना की उर्वरता देखी जाने लगी। इस अर्थ की सिद्धि के लिये काम के सहायक अंगों का मांसल अनावृत सौन्दर्य वर्णन का विषय बना। नायिका के तिल को कुचों के कोर पर देखकर इसी भावना की पुष्टि की गई है।[1] यहाँ प्रयुक्त अप्रस्तुत चित्र-योजना से आकर्षक बिम्ब-विधान हुआ है। साहृश्य का इतना सफल और उपयुक्त वर्णन कम स्थानों पर मिल सकेगा। इस उदाहरण में कुच-कोर की समता कली से करके आकार साम्य के साथ कली के स्पर्श सुख की आनन्ददायकता की अभिव्यञ्जना हुई। 'कली' शब्द का प्रयोग साभिप्राय है। यह नायिका के अंगों के अछूतेपन का संकेत करता है। तिल को भ्रमर बताने में वर्ण का साहृश्य है। अप्रस्तुत की ऐसे साहृश्य विधान द्वारा कलात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई है। अंग-वर्णन की इस दौड़ में शरीर का कोई अंग कवियों की दृष्टि से बच नहीं पाया है। तिल और ठोढ़ी के गढ़े आदि का वर्णन इनकी पैनी दृष्टि को बताता है। अंग-वर्णन के विस्तार के साथ कवियों की चमत्कारिक अन्वेषक बुद्धि का सूक्ष्म भोग-परक रूप सराहनीय था, कल्पना की उर्वरता प्रशंसा के योग्य थी, सौन्दर्यानुभूति को कलात्मक सौन्दर्य के काव्यमय रूप देने में वर्णन की विविधता और ज्ञान की व्यापकता असीम थी। आलम्बन उन्हें पहले से ही प्राप्त था। ऐसे आलम्बन को युग की प्रवृत्तियों और विचारों के अनुकूल बना लेने की क्षमता इन कवियों ने पा ली थी। इसीसे इनके वर्णनों में सचाई और ईमानदारी अधिक है। अतः कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियों की सौन्दर्य-चेतना सूक्ष्म एवं विशद थी। इन्होंने नायक के सौन्दर्य का भी चित्र उपस्थित किया है, परन्तु नायिका के अंग एवं रूप वर्णन में इनकी दृष्टि खूब गहराई के साथ जमी हुई है। अंगों में तरवा, एड़ी, पिंडुली, नीवी, चिबुक, रसना, कपोल, तिल, श्रवण, नासिका नयन, पलक, बरौनी, मुखमण्डल, केश, बेनी, भाल, भ्रू, अधर, दशन, वाणी, उदर, कंठ, भुजमूल, बाहु, मणिबन्ध, करतल, कुच, कुचकोर, स्तन, त्रिवली, नाभि, रोमावली, कटि, पार्श्व, नितम्ब, जंघा, मुरवा, गुल्फ आदि का वर्णन सूक्ष्मता के साथ किया गया है। अंगों के रूप-चित्र उपस्थित करने के लिये प्रयुक्त उपमानों को प्रकृति

---

1 नवल वाम कुच कोर पै, स्याम सु तिल छबि देत।
समद अली मानहुँ भली, कमल कली रस लेत।

शिख नखावली—छन्द९८ रामसहायदास

के क्षेत्र से चुना गया है। इन उपमानों में कमल, चाँद, चन्द्रिका मोती, हीरा, दाड़िम के दाने, बिम्बाफल, केसर, बिजली, मिश्री, किरण, खंजन, चकोर, हरिण, शुक, चक्रवाक, कदली, कनक लता, भ्रमर, श्रीफल आदि का वर्णन हैं। अंग-वर्णन में उत्कर्ष लाने के लिये आभूषण अनुलेपन आदि उपकरणों एवं अंग की विशिष्ट चेष्टाओं का ध्यान रखा गया है। आभूषणों में हार, सीसफूल, पायजेब, घुंघरू, मुरवन, सुलफ, बिछिया, अनवट, नीवी डोरी, किंकिनी, बाजूबन्द, मुंदरी, चम्पाकली, कर्णफूल, बेसरि, क्षुद्रघण्टिका आदि की जगमगाहट व ध्वनि फैलती रही है। इनमें प्रयुक्त होने वाले विभिन्न रत्नों की जगरमगर ज्योति और आभा तन-द्युति को बढ़ाकर मोहक एवं मादक वातावरण की सृष्टि कर देती है। अनुलेपन के सुगन्धित द्रव्यों में केशर, कस्तूरी, इत्र, कपूर, चन्दन तथा अन्य सुगन्धित पदार्थों के साथ जावक, मेंहदी, कमल पत्र, पान, बिन्दी, सिन्दूर आदि लगाकर अंग-शोभा बढ़ाई गई है। अंग की मोहक चेष्टाएँ नायिका के सौन्दर्य को बढ़ा देती हैं। मुसकान, बंकिम दृष्टि, अँगराई लेना, वाणी का विलास आदि विभिन्न अनुभावों आदि से अंगों में मोहकता आ जाती है। शरीर के रूपरंग, कान्ति, सौकुमार्य गठन, सुडोलता, सुघरता, आयु, तन-द्युति आदि के वर्णन अंगों में आकर्षण उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि रीतिकालीन कवियों ने नख-शिख वर्णन में अंग-प्रत्यंग, उनमें प्रयुक्त होने वाले आभूषणों; सादृश्य रूप में लाये गये उपमानों, अनुलेपन एवं गन्ध-द्रव्यों, शरीर की मोहक चेष्टाओं, और अंगों में वर्तमान कान्ति एवं आभा आदि का वर्णन किया है। अतः स्पष्ट है कि नख-शिख वर्णन में नायिका के अंगों का सौन्दर्य पूर्ण कथन होता है। अंगों की सुन्दरता से रति-भाव की उद्दीप्ति होती है। यदि नख-शिख द्वारा अंग-प्रत्यंग की सुन्दरता वर्णित न हो, तो ऐसी स्थिति में नायिका के उपस्थित रहने पर भी रति भाव के संचार में पूर्ण योग प्राप्त न हो। अंग-सौष्ठव से ही माधुर्य और आकर्षण की उत्पत्ति होती है। इसी से नख-शिख द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हो पाती है। इस नख-शिख का संक्षिप्त संकेत यहाँ किया जायगा।

रीतिकालीन नख-शिख गत सौन्दर्य का ज्ञान प्राप्त करने के हेतु शरीर के कुछ अंगों के आकार आदि का सौन्दर्य प्रस्तुत किया जा रहा है। शरीर के विभाजन की दृष्टि से उसे तीन वर्गों में बाँट सकते हैं। (१) उत्तमांग—इसके अन्तर्गत मुख्य अंग नेत्र है (२) मध्यवर्ती अंगों में स्तन और अधोवर्ती अंग में नितम्ब और चरण आदि हैं। इन्हीं अंगों के वर्णन से रीतिकालीन दृष्टि स्पष्ट हो जायगी।

नेत्र—शारीरिक स्थूल अंगों में सौन्दर्य परक दृष्टि से नेत्र की महत्ता सर्वमान्य है। इसके लिये प्रयुक्त उपमानों की सौन्दर्य दृष्टि स्पष्ट है। इसी से आदर्श रूप में नेत्रों के गुणों की कल्पना और वर्णन किया गया है। नेत्र के सौन्दर्य वर्णन में कवियों की तीन दृष्टियाँ रही हैं (१) आकार या रूप परक (२) गुण परक (३) व्यापार परक।

आकार और गुणपरक दृष्टि—आकारगत विशेषता की अभिव्यक्ति में रूप-साम्य पर दृष्टि रमी है। आकार मूलक उपमानों का प्रयोग कम ही हुआ है। आकार की विशदता का अधिक ध्यान रखा गया है। इसमें नेत्रों के लिये दीरघ नयन, विशाल लोचन, बड़ी-बड़ी आँखें, बड़े दृग, कानन लौं अँखियानि आदि का वर्णन मिलता है। इनसे चाक्षुप आकार मूलक बिम्ब-विधान हो सका है। कलाकार की अनुभूतियाँ, कल्पना और प्रत्यक्ष-दर्शन द्वारा पूर्वानुभूत बिम्बों को जागृत करके उसे कलात्मक साँचे में ढालने का प्रयास किया गया है। काव्य की यह उपलक्षित चित्र-योजना वर्ण्य वस्तु से आकर्षक बन गई है। मूर्त चित्रों के आधिक्य से स्पर्श मूलक चित्र का विधान हुआ है। इससे उत्तम बिम्बों द्वारा सौन्दर्याभिव्यक्ति हो सकी है इसी से इस काल में आकार मूलक स्पार्शिक बिम्बों की अधिकता है।[1]

---

1 (क) थोड़ी सी सुदेश वेष दीरघ नयन केश,
गोरी जू सी गोरी भोरी भाव जू की सारी सी।
री. का. संग्रह पृ. १४८ केशव

(ख) लोचन लोल विशाल विलोकनि, को न विलोकि भयो बस माई।
वही पृ. १७७ मतिराम

(ग) ते हरिदास बसे इन नैननि, एते बड़े दृग राधिका तेरे।
वही पृ. २२४ दास

(घ) 'बेनी प्रवीन' बड़े-बड़े लोचन बाँकी चितौन चलाकी की जोर है।
साँची कहैं ब्रज की जुवती, यह नन्द लड़ैतो बड़ो चित चोर है।
वही पृ. २४९

(v) कानन लौं अँखिया ये तिहारी हथेली हमारी कहाँ लगि फैलिहैं,
मूँदे तऊ तुम देखति हौ, यह कोरैं तिहारी कहाँ लौं सकेलिहैं।
वही पृ. ३८७

(vi) ठाढ़े हो तो सों कहौंगी कछू, अरे ग्वाल बड़ी-बड़ी आँखिन वारे
वही पृ. ३९९ रघुनाथ

रीतिकाल में नेत्रों की गुणपरक दृष्टि को बताने के लिये उसके वर्ण का कथन हुआ है। श्वेत, श्याम और रतनार नेत्रों द्वारा आकर्षण उत्पन्न किया गया है। कमल आदि उपमानों के माध्यम से आकार और शीतलता की व्यञ्जना की गई है। इसमें गुण साम्य की महत्ता व्यक्त की गई है। सारूप्य-मूलक अलंकारों में गुण का ही समावेश होता है। नेत्रों के गुणों में लज्जा अनुराग, रसार्द्रता आदि हृदय की आन्तरिक अनुभूतियाँ वर्णित हैं। लजीली रसीली, छके दृग, गरुवाई भरे नयन, आसव–घूमरे नयन आदि का वर्णन है। आकार से उनके बाह्य गुण और विशेषताओं से उनके आन्तरिक गुण का संकेत किया गया है। नेत्रों की सौन्दर्य सत्ता वस्तुनिष्ठ रूप में स्वीकार की गई है। इससे उसके गुण परक सौन्दर्य का ज्ञान हो जाता है। नेत्रों के व्यापार परक वर्णन में उसके प्रभाव के बारे में लिखा गया है। इसमें नेत्रों की क्रियाओं का वर्णन किया गया है। इसका आधार क्रिया साम्य है परन्तु इसके प्रभाव की व्यञ्जना में रूप और गुण साम्य की महत्ता भी स्वीकार की गई है। नेत्र व्यापार से उत्पन्न प्रभाव दो प्रकार का है (१) प्रियता मूलक (२) मादक। दोनों ही प्रतिक्रियाएं सौन्दर्य के आधार पर अनुभूतिमूलक क्रियाएँ है। इससे आश्रय के मन की भावनाएं स्पष्ट होती हैं। विशाल नेत्र से वशीभूत होने का वर्णन है। कहीं-कहीं नेत्र व्यापार द्वारा सचमुच में शरीर पर प्रभाव व्यक्त कर दिया गया है।[1] ऐसा वर्णन विशेष ग्राह्य नहीं माना जाता है। यह वर्णन मजाक जैसा प्रतीत होता है। नेत्रों के चितवन के प्रभाव को विषमूलक

(vii) घूंघट उघारि मुख लखि-लखि रहे एकै,
एकै लगी नापन बड़ाई अँखियान की। वही ४०२ शंभु

(viii) साँवरे सुन्दर रूप अनूप रसाल बड़े-बड़े चंचल नैन री। वही देव

1 (क) राधिका के दृग खेल में, मूंदे नन्दकुमार।
करनि लगी दृग कोर सों, भई छेद उर पार।

री. का. संग्रह पृ. १८०

(ख) पैने, अनियारे पै सहज कजरारे चख,
चोट सी लगाई चितवनि चंचलाई की।

री० का० पृ० २०५ देव

(ग) काजर दै जनि ए री सुहागिन। आँगुरी तेरी कटेगी कटाछन।
रीति काव्य संग्रह पृ० ३६७ मुबारक

बताया गया है ।[1] नेत्र के प्रियतामूलक प्रभाव में उसकी गुणपरक दृष्टि अपनाई गई है । नेत्र घनसार के समान शीतलता उत्पन्न करने वाले हैं ।[2] इससे 'मूठि सी मार' दी जाती है । 'नेक चितै तिरछी करि दीठि चलो गयो मोहन मूठि सी मारै ।'[3] नेत्र के अनेक व्यापारों में देखना, हँसना, रोना, क्रोध प्रकट करना, मोह लेना, लज्जा करना, गंभीर बनना आदि वर्णित है । भावों के वाहक रूप में नेत्र-व्यापार की महत्ता निर्विवाद है । इन क्रियाओं से शोभा बढ़ती है और रूप निखर कर सबको लुभा लेने में समर्थ हो जाते हैं । इसीसे नेत्रों की चपलता चंचलता और लालचीपन का अनोखा सौन्दर्य वर्णित है ।[4] ललित किशोर जी ने एक ही छंद में नेत्र के सभी गुणों का वर्णन एक साथ कर दिया है ।[5] इससे स्पष्ट है कि नेत्रों के इन बहुमुखी व्यापारों से नायक या नायिका दोनों के ही सौन्दर्य की वृद्धि होती है और प्रेम का उद्दीपन उचित रीति से हो जाता हैं । नेत्रों की स्थिति मुख पर होने से मुख की महत्ता का वर्णन भी हुआ है ।

---

1 कान्ह बुरो जिन मानौ तिहारो, विलोकनि में विष बीस बिसै है ।
केशवदास संग्रह पृ० १४६

2 (क) एक घरी घन सों तन सौं, अँखियानि घनो घनसार सो दैगो ।
मतिराम

(ख) सीरे करिवे को पति नैन घनसार कैधों,
बाल के बदन बिलसत मृदुहास है । मतिराम

3 रीतिकाव्य संग्रह पृ० ३३२

4 चंचल चपल ललचौहैं दृग मूँदि राखि,
जौं लौं गिरधारी गिरि नख पर धरें हैं री ।

5 लजीले, सकुचीले, सरमीले, सुरमीले से,
कटीले और कुटीले चटकीले मटकीले हैं ।
रूप के लुभीले, कजरीरे, उनमीले,
बरछीले, तिरछीले से फँकीले औ बसीले हैं ।
'ललित किशोरी' झमकीले जरबीले मनो,
अति ही रसीले चमकीले औ रंगीले हैं ।
छबीले, बँकीले अरुनीले से नसीले आली,
नैना नंदलाल के नचीले औ नुकीले हैं ।
"आँख और कविगण पृ० २६६ जवाहर लाल चतुर्वेदी:साहित्य सेवा सदन, काशी सं. १६८६ वि०.

मुख—प्रेम-व्यापार में आन्तरिक भावनाओं की बदलती हुई स्थिति का स्पष्ट प्रभाव मुख द्वारा लक्षित हो जाता है। मुख आकर्षण का केन्द्र है, ज्ञानेन्द्रियों का संगम स्थल है, भावों के वहन करने का माध्यम है और आकृष्ट कर लेने का प्रमुख साधन है। विभिन्न अंगों और भंगिमाओं में आह्वान और निषेध का मुख ही संचालक है। सात्विक अलंकारों की शोभा मुख पर विराजती है। शोभा विधायक अन्य गुण मुख पर ही विकास पाते हैं। इससे मुख-च्छवि का विवेचन स्वयं होने लग गया था। मुख की गुणपरक विशेषताओं का वर्णन सभी कवियों ने किया है। कमल की कोमलता, शरद की ज्योत्स्ना, गुलाब की सुगन्धि, रति का रूप, स्वर्ण की कान्ति और सुधा का स्वाद लेकर मुख का निर्माण हुआ है, जिसकी शोभा निरखकर कृष्ण भी चेरे बन जाते हैं।[1] मुख पर ही शोभा, कान्ति, दीप्ति, आदि की चमक दिखाई पड़ती है। मुख पर कपोलों की लालिमा, और गोलाई की शोभा का वर्णन है। हंसते से कपोलों का प्रभाव व्यञ्जित है। "कीनै 'मतिराम' विहँसौंहे से कपोल गोल बोलन अमोल इतनोई दुःख दै गई।" ठाकुर की दृष्टि इस शोभा पर ठहर नहीं पाती "ठहरै नहीं डीठि फिरै टटकी, इन गोरे कपोलन गोलन पै।"[2] श्रीकृष्ण इन्हें दर्पण समझकर अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं। प्यारी के गोल कपोल मन को मुग्ध कर लेते है, "लेत मन मोल कहे दृगन के तोल ऐसे, गोरे-गोरे गोल बने प्यारी के कपोल हैं।[3] गोराई के साथ सोने की आरसी कहकर उसके चिकने पन और पारदर्शी गुण का संकेत किया गया है। "सुवरन आरसी के सीसे से अमोल कैसे गोरे-गोरे गोल हैं कपोल अलबेली के।"[4] स्पष्ट है कि कपोल की सुन्दरता के लिये मृदुता, कोमलता, सुकुमारता और कान्ति के साथ उसकी गोलाई की महत्ता है। सम्पूर्ण रूप में कहा सकता है कि ऊर्ध्वांगों में नेत्र-मुख कपोलादि काम-साधक अंग होने से आकर्षण के केन्द्र हैं और इन्हीं के सौन्दर्य का सभी सौन्दर्य में प्रमुखतम स्थान है।

मध्य भाग के अंगों में स्तनों का महत्त्व निर्विवाद है। मुख्यतः इसके आकार और गुण का वर्णन है। इसके आकार वर्णन में क्रमशः विकास क्रम का ध्यान रखा गया है। काम सहायक अंग होने के कारण यौनोत्तेजक उपा-

---

1 रीति काव्य संग्रह पृ० ३६३/२८ ठाकुर

2 रीतिकाव्य संग्रह पृ० ३५६ ठाकुर

3 रस-रत्नाकार पृ० ६५६

4 रस-रत्नाकार पृ० ६६०

दान के रूप में इनका ग्रहण किया गया है। कमल, पूगफल, विल्व, गुच्छ, कुम्भ, पहाड़, घड़ा, शिव, चक्रवाक, जंबीर आदि उपमानों में आकार की महत्ता स्वीकार की गई है। इन उपमानों द्वारा इन्हें उन्नत, पुष्ट, विस्तृत, विशाल और दृढ़ बताने की चेष्टा की गई है। नख-शिख के आकार परक वर्णन के अतिरिक्त स्तनों के निरपेक्ष सौन्दर्य वर्णन में इसे नारी के शोभन और आकर्षक अवयव के रूप में स्वीकार किया गया है। स्तनों के अंकुरित और क्रमशः विकसित होने में आकर्षण और यौवन का विकास व्यक्त होता है। यौवन के प्रतीक इन स्तनों को देखकर नायक के आकर्षण और रीझ की बात बताई गई है।[1] इससे नायिका की अवस्था का संकेत मिलता है। 'उचके कुच कोर' 'उठती छतियाँ' आदि का प्रयोग उसके वयः सन्धिकाल के अछूते सौन्दर्य को व्यक्त करता है। चक्रवाक, शिव, घड़ा जैसे उपमानों से पूर्ण यौवन का बोध हो जाता है।

रीतिकाल में स्तनों के सौन्दर्य-वर्णन में दो दृष्टियाँ अपनाई गई हैं। (१) नायक का आकर्षण (२) प्रेमोत्तेजक व्यापार और अनुभावों की अभिव्यक्ति रूप में स्तनों के सौन्दर्य का वर्णन। इन व्यापारों से शारीरिक आकर्षण का ज्ञान होता है। अनुभावों से मानसिक आकर्षण की अभिव्यक्ति होती है।

---

1 (क) राधा महरानी जी के सुन्दर उरोज आछे,
जाकी छवि देखि रीझै नन्दजी के लाला है।
श्री राधा जी का नख-शिख। कालिका प्रसाद स्वर्णकार
मतवाक्विन प्रेस इलाहाबाद सन् १८६६ ई०

(ख) उचके कुच कोरन पै पद्माकर ऐसी छवि कछु छाई रही।
ललचाइ रही सकुचाइ रही, मुख नाइ रही, मुसकाइ रही।

(ग) एरी वृषभानु की कुमारी तेरे कुच किधौ,
रूप अनुरूप जातरूप के करस हैं।
केशवग्रन्थावली। पृ० २०१ हि० ए० १९५४

(घ) याही है प्रमान 'तोष' उपमान आनप्यारी,
तरुनाई तरु ताके फल कुच तेरे हैं।
रस-रत्नाकार पृ० ६३७

(ङ) सोहत रंग अनंग की अंगनि, ओप उरोज उठे छतिया की।
जोबन ज्योति सी यों दमकै, उकसाइ दई मानो बाती दिया की।
सनेहसागर पृ० ४६

(च) अङ्गादर्श-छंद ३१-रंगनारायणपाल भारत जीवन प्रेस सन् १८६३ ई०

नख-शिख के अन्तर्गत शारीरिक आकर्षण की ही चर्चा की जाती है। शारीरिक सौन्दर्य का यह वर्णन सभी कवियों ने उत्तेजक रूप में किया है। इसकी प्रभाव मूलक व्यञ्जना अपूर्व हैं। मध्य भाग के अन्य अंगों में बाहु, हाथ, नाभि, त्रिवली, रोमावली, कटि, पीठ आदि का वर्णन है। इन अंगों के वर्णन में प्राय: परम्परा-निर्वाह का आग्रह ही अधिक दीख पड़ता है। इनका सौन्दर्य परक आकर्षक वर्णन न होकर कथन में उपमानों के आधिक्य की व्यञ्जना ही अधिक मिलती है। इससे इनके स्वरूप का चित्र-विधान नहीं होने पाता केवल पाण्डित्य या चली आती हुई परिपाटी का अनुसरण मात्र हो जाता है।

अधोभाग के अंगों में भी परम्परा का पालन ही दीख पड़ता है। इनमें कमर के नीचे के अंगों का वर्णन होता है। इनमें जंघा, नितम्ब, लंक, पद, कटि आदि की अनोखी कल्पनाएँ की गई हैं इन कल्पनाओं द्वारा लाये गये उपमानों के माध्यम से सौन्दर्य का बिम्ब उपस्थित नहीं होता अपितु चमत्कार की प्रवृत्ति ही लक्षित होती है। नीवी, कटि और नितम्बों के वर्णन में कल्पना की उड़ान का सहारा लिया गया है।[1] सौन्दर्य-चित्रण पर दृष्टि रम नहीं सकी है। कल्पना और अलंकार का आग्रह अधिक है, इसके उपमान रूप में चक्रवाक, द्विप, रूप का नगाड़ा, रतिश्रम थामने का ठौर, कामदेव के दरवाजे का चबूतरा और तम्बूरा कहा गया है। कटि-सौन्दर्य में उसकी क्षीणता की ओर दृष्टि गई है। इसके लिये केहरि, कटि, मृणाल के तार, मकरी के तार, आदि उपमानों का सहारा लिया गया है। केशव ने इसे कपट जैसे अमूर्त अस्तित्व के समान कहा है "कौन है संवारी वृषभानु की कुमारी यह, तेरी कटि निपट कपट कैसो हितु है।" तोषनिधि के अनुसार इसका अस्तित्त्व ही नहीं है।[2] ऐसे वर्णनों द्वारा काव्यात्मक बिम्ब-विधान नहीं हो पाता है। अत: स्पष्ट है

---

1 (क) राधिका के बरनै को नितम्बनि हारि रही रसना कवि जे तके।
कै नृपशंभु जु मेरु की भूमि में रेत के कूरा भये नदी सेत के।
कैधों तमूरन के तबला रंगि औंधे धरे कवि रंभा के लेत के।
कंचन कीच के पाये मनोहर कै भरना है मनोज के खेत के।
नख-शिख पृ० ५ नृपशंभु

(ख) रस-रत्नाकर पृ० ६२८–६२९

2 जैसे भूमि अम्बर के मध्य में न खंभ कोऊ,
तैसे लोल लोचनी के अंक में न लंक है।

कि इन अंगों के वर्णन में क्षीणता, कोमलता आदि का संकेत कर दिया गया है, परन्तु कवियों की दृष्टि इसमें रम नहीं सकी है। यही कारण है कि सौन्दर्य का चित्र-विधान नहीं हुआ है। केवल अंग-वर्णन से सन्तुष्टि मात्र हो जाती है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह निर्णय लिया जा सकता है कि किसी भी युग में किये गये नख-शिख का अन्तिम उद्देश्य शृङ्गार के आलम्बन के सौन्दर्य का वर्णन है। साहित्य में अधिकांश सौन्दर्य-चित्र रमणी को ही अपना आलम्बन बनाते हैं। रीतिकालीन साहित्य में नख-शिख वर्णन की एक वैज्ञानिक पद्धति है, जो अन्य किसी काल के साहित्य में उपलब्ध नहीं है। सभी अंगों के वर्णन में शरीर के अनुपात का ध्यान रखकर सौन्दर्य की अभि-व्यक्ति करना नख-शिख के नाम से प्रसिद्ध है। सौन्दर्य की सूक्ष्म चेतना के साथ अंगों की बारीकी और उसे समझाने के लिये नई-नई कल्पनाओं का उद्भव हुआ है। सौन्दर्याभिव्यक्ति की यह परम्परा नख-शिख-देवरति-और शिख-नख-मानव-रति-इन दो पद्धतियों में रही है। रीतिकाल में कवियों ने नख से शिख तक या शिख से नख तक इन दोनों ही वर्णन-प्रणालियों को अपनाया है।

अंग-वर्णन की इस प्रणाली में कवियों के दो दृष्टिकोण दीख पड़ते हैं। प्रथम अंगों का सहज और अप्रस्तुतों के योग से स्वाभाविक वर्णन और दूसरा सौन्दर्य-प्रसाधनों के साथ अंग-विशेष की शोभा का वर्णन है। इससे अंग–विशेष में आभूषणों द्वारा सौन्दर्य की वृद्धि के साथ तत्कालीन अभिरुचि एवं आभूषणों विषयक सामाजिक प्रवृत्ति का ज्ञान भी हो जाता है। इन दो सिद्धियों के साथ रूप-सौन्दर्य को बढ़ाना प्रमुख उद्देश्य है। नख-शिख की इस परम्परा में नायक और नायिका दोनों का ही चित्रण हुआ है। एक ओर जहाँ नायिका का शारीरिक सौन्दर्य प्रसाधनों से बढ़ता है, वहीं उसके मानसिक सौन्दर्य की ओर भी दृष्टि गई है। ऐसे स्थलों पर आन्तरिक वृत्तियों की चर्चा की गई है। इस प्रकार नायक और नायिका दोनों का ही रूप–वर्णन मिल जाता है। इस वर्णन में विस्तार एवं कल्पना-वृद्धि का पर्याप्त योग है। चमत्कार की प्रवृत्ति भोगवादी दृष्टिकोण को लेकर अग्रसर हुई है। कवियों का सूक्ष्म निरी-क्षण संवेदन शील रहा है। सौन्दर्यांकन के विभिन्न पहलुओं का इन्हें पूर्ण ज्ञान था।

आगे चलकर नख-शिख वर्णन में केवल परम्परा का निर्वाह होने लगा

सौन्दर्य-निरूपण के लक्ष्य से हटकर चमत्कार प्रदर्शन की ग्रोर ध्यान ग्राकृष्ट हो गया। उक्तिवैचित्र्य, वहुज्ञता प्रदर्शन ग्रौर ग्रनोखी कल्पनाग्रों का सहारा लिया गया। नख-शिख वर्णन में ग्रलंकारों की महत्ता बढ़ गई। फिर भी इनसे व्यक्त होने वाली सौन्दर्य-वृत्ति की स्थिति के सम्बन्ध में सन्देह नहीं किया जा सकता है।

सर्वाङ्ग-वर्णन— ग्रंगों का वर्णन व्यष्टि ग्रौर समष्टि दृष्टि से दो प्रकार का किया गया है। जहां ग्रंग वर्णन की व्यष्टि प्रधान दृष्टि है, वहां नख-शिख की प्रणाली ग्रपनाई गई है। समष्टि दृष्टि से सर्वाङ्ग का चित्रण हुग्रा है। ऐसे वर्णनों द्वारा शरीर के विभिन्न ग्रंगों का एक समष्टिगत रूप उपस्थित हो जाता है। सर्वाङ्ग का वर्णन करते हुए कहा गया है कि नायिका का भाल चन्द्र जैसा, भृकुटी कमान जैसी, कामदेव के पैने सर जैसे नयन, नासिका सरोज जैसी, दशन बिजली जैसे, पंकज से पग, हंस सी गति, सोना जैसा शरीर ग्रौर उसमें सुगन्धि का वास है।[1] बेनी प्रवीन की दृष्टि में ग्रहीर की छोटी गोरी ने करि से चाल, सिंह से कटि, चन्द्रमा से मुख, कीर से नासा, पिक से बैन, मृग से नैन, ग्रनार से दांत, बिजरी से हँसी, सर्प से बेनी तथा रति की सम्पूर्ण शोभा चुरा ली है। ग्रौर ग्रब तो इसने कन्हैया का चित्त भी चुरा लिया है।[2] ऐसे सर्वाङ्ग वर्णनों में सभी उपमानों का कथन हुग्रा है। यह कथन वस्तु-परिगणन की प्रणाली पर होने के कारण वर्ण्य-वस्तु का बिम्ब-विधान करने में सर्वथा ग्रसमर्थ है। इस प्रकार के कथनों में परम्परा-निर्वाह का ग्राग्रह ग्रधिक दीख पड़ता है। सीधे ढंग से कहे गये इस छन्द में उपमानों का संग्रह मात्र है ग्रौर ऐसा संग्रह काव्यात्मक दृष्टि से उच्चकोटि का नहीं माना जाता है। इनमें प्रयुक्त उपमानों के गुणों का संकेत मिल जाता है। यथा 'सिंह-कटि' के कथन में कटि की क्षीणता का ग्राभास मिलता है। 'चन्द्रमुख' में चन्द्रमा के प्रकाश ग्रौर शीतलता का गुण वर्तमान है। ग्रतः इन उपमान परक सर्वाङ्ग-वर्णनों में गुणों का ध्यान रखा गया है। इन गुणों द्वारा शारीरिक सौन्दर्य का संकेत मात्र मिल जाता है, बिम्ब-विधान की रुचि नहीं दीख पड़ती है, फिर भी इनसे जो संकेत मिलता है, रीतिकालीन प्रवृत्तियों को देखते हुए वह उचित ही कहा जायगा।

---

1 रस-रत्नाकर पृ० ६६८–६६

2 वही पृ० ६६६

चेष्टागत सौन्दर्य--

आत्मगत सौन्दर्य-वर्द्धक उपकरणों के अन्तर्गत आलम्बन और आश्रय के गुण और चेष्टाओं का वर्णन किया गया है। इनमें गुण की चर्चा की जा चुकी है। चेष्टाओं के द्वारा व्यक्तित्व का आकर्षण बढ़ जाता है। गुणों के रहने पर अनुकूल और प्रिय चेष्टाओं द्वारा रति भाव की उद्दीप्ति हो जाती है और आलम्बन अधिक सुन्दर प्रतीत होने लग जाता है। चेष्टाएँ दो प्रकार की होती हैं—आकर्षक और विकर्षक। इन दोनों में आकर्षक चेष्टाओं से सौन्दर्य उत्कर्ष को प्राप्त होता है। संयोग की अवस्था में इन चेष्टाओं की आह्लादमूलकता सर्व प्रसिद्ध है। संयोग में इन चेष्टाओं को दो भागों में बाटा जा सकता है:—

१. विशेष चेष्टा

२. सामान्य चेष्टा

विशेष चेष्टाओं के अन्तर्गत विभिन्न अनुभावों की गणना होती है। अनुभाव भाव को सूचित करने वाले विकार को कहते हैं। इन विकारों का आभास सत्त्व सूचक आंगिक परिवर्तनों द्वारा होता है। शरीर के इन परिवर्तनों अथवा क्रियाओं को देखकर मन में वर्तमान रति आदि विभिन्न भावों का ज्ञान हो जाता है। वस्तुतः ये सभी क्रियाएँ आंगिक ही होती हैं और इनका सम्बन्ध किसी न किसी अंग के संचालन अथवा स्पन्दन से रहता है। सामान्य रूप में भाव के सूचक इन परिवर्तनों को तीन प्रकार की चेष्टाओं में बदला जा सकता है।

१. कायिक चेष्टा।

२. मानसिक अनुभाव।

३. वाचिक चेष्टा।

तीनों प्रकार की चेष्टाओं से मानसिक भावों की ही अभिव्यक्ति होती है। इन चेष्टाओं की अभिव्यक्ति में शरीर के किसी अंग का संचालन अथवा वाणी का उपयोग होता है। शरीर का संचालन अथवा विशेष ढंग से उसमें परिवर्तन करके भावों को प्रेषणीय बनाने की चेष्टा की जाती है। यह चेष्टा भावों को वहन करने एवं प्रेषणीय बनाने के लिए भाषा जैसी ही एक माध्यम का कार्य करती हैं। अपने भावों को दूसरों तक पहुँचाने के लिए दो प्रकार के साधन प्रयुक्त होते हैं (१) वाणी के प्रत्यक्ष साधन को वाचिक चेष्टा का नाम दिया गया है (२) शरीर के विभिन्न अंगों के माध्यम से प्रेषित चेष्टाओं को कायिक चेष्टा कहा गया है। इनके अतिरिक्त अनेक चेष्टाओं द्वारा मानसिक प्रवृत्तियों का प्रत्यक्ष और सीधा सम्बन्ध रहता है। ऐसी मानसिक भावों की

अभिव्यक्ति करने वाली चेष्टाओं को भी कायिक चेष्टा के ही अन्तर्गत मानेंगे। हास-परिहास से युक्त आमोद का भाव, प्रेम-क्रीड़ा और छेड़-छाड़ तथा लज्जा और निषेध आदि को इसी के अन्तर्गत मानेंगे।

विशेष चेष्टापरक कायिक अनुभाव—

रति एवं प्रियता के भाव को उद्बुद्ध करने वाले सौन्दर्य के उत्कर्षक शारीरिक अनुभावों को कायिक चेष्टा कहते हैं। इन चेष्टाओं से दो उद्देश्यों की सिद्धि होती हैं। प्रथम नायक या नायिका के आकर्षण को बढ़ा देना और द्वितीय मनोगत भावों को अभिव्यक्त कर देना। इन दोनों उद्देश्यों की सिद्धि के लिए की जानी वाली क्रियाओं को ही कायिक अनुभाव मानते हैं। इनमें मुसकान, चितवन एवं कटाक्षपात, अल्हड़ता और तन्द्रा, पद-निक्षेप और गति, लज्जा, निषेध, क्रीड़ा मूलक छेड़छाड़, हास-परिहास आदि की गणना होती है। क्रमशः इन्हीं चेष्टाओं को रीतिकालीन काव्य में देखने का प्रयास किया जायगा।

मुसकान—आलम्बन के आश्रित विविध चेष्टाओं में मुसकान हृदयगत भावों को अभिव्यक्त करके आश्रय को आमन्त्रण देती हुई उसे अपने मोहक रूप एवं अनुभावों में आसक्त बना देती है। अधर, ओष्ठ और नेत्रों के ईषद् विकास से मुसकान लक्षित होती है। यह एक आह्लाद मूलक अनुभाव है, जिससे मन की अनुकूलता और प्रियता का आभास हो जाता है। संयोग के प्रसंग पर मुसकान उद्दीपक हो जाती है। इससे विशेष अर्थ एवं अभिप्राय की सिद्धि होती है। इस गुण के कारण आलम्बन की शोभा और आकर्षण बढ़ जाता है। यही कारण है कि संयोग के वर्णनों में नायक अथवा नायिका की पारस्परिक मुसकान एक दूसरे को निकट लाने में समर्थ हो जाती है। यह उनके आकर्षण की उत्कर्षक और सौन्दर्य को बढ़ाने वाली एक प्रिय अभिव्यक्ति है। इसी से रीति कालीन कवियों ने मुसकान का वर्णन अनेक विधाओं में किया है। इनमें प्रभाव-मूलक, उपहास-मूलक, क्रीड़ा-मूलक, व्यंग्य-व्यञ्जक, सहज और आलंकारिक मुसकान आदि भेद देखे जा सकते हैं।

प्रभावमूलक मुसकान—इसका तत्काल और सद्यः प्रभाव पड़ता है। नायिका की मुसकान का महत्त्व अधिक होता है। देव ने एक स्थल पर प्रभाव मूलकता का अच्छा चित्र अंकित किया है। राजपोरिया का रूप धारण करके राधा श्रीकृष्ण को पकड़ लेती है, परन्तु मुसकान उस रहस्य को खोल देती है। "छूटि गयो छल सों छबीली के विलोकनि में, ढीली भईं भौहें वा लजीली मुसकान में।" यहाँ मुसकान के प्रभाव से ही भौहों की बंकिम स्थिति ढीली पड़ जाती है और सम्पूर्ण अभिनय का रहस्य प्रकट हो जाता है।

मुसकान के प्रभाव से गोपी विभ्रमित हो जाती हैं। वह श्रीकृष्ण की मुसकान रूपी सुधा का पान करके नींद भुला बैठती है, चकित होकर देखती रह जाती है और उसकी दशा निष्कंप दीप-शिखा सी हो जाती है।[1] वह तमाल को ही श्रीकृष्ण समझकर आलिंगन करने लग जाती है।[2] श्रीकृष्ण का मंद मुसकान करते हुए गोपी की ओर देख लेना उसके पांचों भौतिक तत्वों को उसके शरीर से निकाल देने का कारण बन जाता है। समीर, नीर, तेज, पृथ्वी और आकाश सभी तत्व उसे छोड़कर चले जाने को तत्पर हो जाते हैं।[3] नेत्रों से जल तत्व और श्वास से समीर तत्व समाप्त हो जाता है। दूसरी गोपी श्रीकृष्ण की मुसकान को सम्भालने में अपने को असमर्थ पाती है और त्रिवाचा में टेर कर सबको बता देती है।[4] इस मुसकान के प्रभाव से गोपी बावली हो जाती है। "सखी सबै हँसै मुरझानि, कहूँ देखी मुसकानि वा अहीर 'रसखानि' की।" कुंजन-फिरैया श्रीकृष्ण की मन्द मुसकान को देखकर गोपी उनकी चेरी हो जाती हैं।[5]

दूसरी ओर गोपी की मुसकान का प्रभाव श्रीकृष्ण की प्रतिक्रिया में भी व्यक्त किया गया है। सांकरी गली में पिक-बयनी नेकु मुड़कर श्रीकृष्ण की ओर देखकर मुस्कराते हुए कुछ कहना चाहती ही है कि कृष्ण एक 'कांकरी' उसकी ओर फेंक देते हैं।[6] इस प्रसंग पर गोपी की मुसकान श्रीकृष्ण को प्रेरित

---

1 जा दिन तैं छबि सों मुसक्यात कहूँ निरखे नन्दलाल विलासी।
ता दिन तैं मनहि मन मैं 'मतिराम' पियैं मुसकानि सुधा सी।
नैकु निमेष न लागति नैंन, चकी चितवै तिय देव तिया सी।
चन्द्रमुखी न हलै न चलै, निरवात निवास मैं दीप-सिखा सी।
रीतिकाव्य संग्रह पृ० १७६

2 रीतिकाव्य संग्रह पृ० १७७

3 सांसन ही में समीर गयो अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि।.........
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि।
रीतिकाव्य संग्रह पृ० २०८ छन्द ४३ देव

4 माई री वा मुख की मुसकान सम्हारि न जैहैं, न जैहैं न जैहैं।
री० का० सं० ह० ३३२ रसखान

5 नैकु मुसकानि 'रसखानि' की विलोकत ही,
चेरी होत एक बार कुंजनि फिरैया की। री० का० सं० पृ० ३३१

6 मुरि मुसुकाइ के छबीली पिक बैनी नेकु,
करत उचार मुख बोलन को बांकरी।

करने वाली बन जाती है और उनके मन में छेड़-छाड़ करने का साहस बढ़ जाता है। छेड़-छाड़ की भावना को प्रेरित करने वाली मुसकान को क्रीड़ा-मूलक कहा जा सकता है।

क्रीड़ामूलक मुसकान—इसके मूल में पारस्परिक प्रेम का आधिक्य रहता है। दोनों का एक दूसरे के प्रति इतना विश्वास रहता है कि वे आपस में छेड़छाड़ की भावना से क्रीड़ार्थ मुस्करा उठते हैं। प्रेमगर्विता या रूपगर्विता नायिकाओं में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। यह उनकी चंचल प्रकृति को व्यक्त करती है। इसी से आनन्द के सामान्य क्षणों में मुसकान की यह शोभा देखी जा सकती है। होली के अवसर पर पद्माकर ने मुसकान के माध्यम से एक सफल चित्र प्रस्तुत कर दिया है।[1] रूप गर्विता की सहज मुसकान का वर्णन चिन्तामणि ने किया है, "मदन के मद-माती, मोहन के नेह राती, प्यारी मुसकाती आजु डोलति भवन में।"[2] इन सभी उदाहरणों में मुसकान का शब्दतः कथन हुआ है। कहीं-कहीं मुसकान अभिधेय न होकर व्यंग्य रूप में समक्ष आती है।

पारस्परिक क्रीड़ा में नायिकाओं की क्रीड़ा का वर्णन करते हुए रीति कालीन कवि अपनी अभिव्यञ्जना-शिल्प को भूल नहीं पाता है। कहीं उसका मुसकान वर्णन अभिधेय रूप में और कहीं व्यंग्य रूप में अपने आकर्षक सौन्दर्य से लुब्ध करने वाली बन जाती है। एक दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे:—

१. भृकुटि मटकाइ गुपाल के गाल में आंगुरी ग्वालि गड़ाई रही।
'ममारख' कवि री० का० सं० से

२. ऐसे ही डोलत छैल भये तुम्हें लाज न आवत कामरी ओढ़ें।

उपर्युक्त दोनों ही वर्णनों में नायिका की मुसकान छिपी है। रस पूर्ण भावों के वाहक प्रयुक्त इन शब्दों को बिना मुस्कराहट के कहा ही नहीं जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि इस वाक्य के उच्चारण में मुख एवं कपोलों का ईषद् विकास अवश्य हुआ होगा। अतः यह मुसकान स्वशब्द से वाच्य न होकर व्यंग्य रूप में होने से कलात्मक सौन्दर्य और रति वर्द्धक सौन्दर्य दोनों का

ताक री कुचन बीच कांकरी गोपाल मारी,
सांकरी गली में प्यारी हां करी न ना करी। री० का० सं० पृ० ३६७

1 छीनि पितम्बर कम्बर ते सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाइ कही मुसुकाइ लला फिर आइयो खेलन होरी।

2 रस-रत्नाकर पृ० ६६७ चिन्तामणि।

युगपत् ज्ञान करा देती है। रीतिकालीन काव्य में ऐसी पंक्तियाँ अनेक स्थलों पर देखी जा सकती हैं। क्रीड़ा मूलक इस मुसकान में सहजता वर्तमान रहती है। इसमें बनावटीपन न होकर स्वभावतः ही मुसकान की प्रवृत्ति वर्तमान है।

सहजमुसकान—सहज मुसकान अवस्था विशेष में अपने आप ही स्फुरित होती रहती है। इसमें मुग्धा नायिकाओं की अकृत्रिम मुसकान का सहज सौन्दर्य वर्तमान रहता है। ऐसी मुसकान प्रायः दो अवसरों पर रीतिकालीन काव्य में वर्णित है (१) मुग्धा द्वारा अपने अंगों को देखकर प्रकट होने वाली मुसकान (२) प्रिय की चर्चा या स्मृति मात्र से उद्‌भूत होने वाली लज्जामूलक मुसकान।

प्रायः मुग्धाएं अपने अंगों को देखकर मुस्करा उठती हैं अथवा सखियों के बीच ऐसा प्रसंग आने पर मुसकान स्फुरित हो जाती है। "कहैं हनुमान सखियान ते दुराइ, अखियान को नचैवे लै मुकुर मुसकाति है। अथवा "काम-कला प्रकटी अंग-अंग बिलोकी हँसी अपनी परछाहीं।"[1] इन दोनों उदाहरणों में मुसकान का कारण अवस्था जन्य सहज प्रवृत्ति है।

प्रिय की स्मृति मात्र से लज्जामूलक सहज मुसकान के सौन्दर्य का वर्णन भी मिलता है। "पिय नाम सुनै तिय धौसक तें, दुरिकै मुरिकै मुसकान लगी।"[2] प्रिय का नाम मात्र सुनकर मुसकान की इस प्रवृत्ति में रतिमूलक भावना वर्तमान रहती है। इसी भावना का प्रकट रूप मुसकान है। सहज मुसकान के इस माध्यम से प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है। ऐसी मुसकान को प्रेम-व्यञ्जक मुसकान कहेंगे।

प्रेम व्यञ्जक मुसकान—मुसकान के द्वारा पारस्परिक प्रेम की अभि-व्यञ्जना और रति भाव का उद्दीपन होता है। काम की भावना के स्फुरित होने पर नायिका की मुस्कराहट आकर्षण की अभिवृद्धि करने वाली होती है।[3] श्रीकृष्ण की मुसकान को देखने की भावना अभिलाषा के रूप में प्रकट हो जाती है। गोपी चाहती है कि कृष्ण एक बार मुस्करा कर मेरी ओर देखें।[4] यह मुसकान

---

1 ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद पृ० २३७

2 ,, ,, ,, ,, ,,

3 काम-कला प्रकटी अंग-अंग, बिलोकि हँसि अपनी परछाहीं।

ब्र० सा० का ना० भेद पृ० २३७

4 'कालिदास' कहै नेक मेरी ओर हेरि हँसि,
माथे धरै मुकुट लकुट कर डारि दै।

कपोल एवं भौंहों के विकास से प्रकट हो जाती है। मतिराम ने लिखा है कि मधुर कपोल की मुसकान से नन्दलाल निहाल हो जाते हैं।[1] इससे सहज अवस्था के सौन्दर्य के साथ उद्दीपक गुण का संकेत भी मिल जाता है। प्रेम व्यञ्जक पारस्परिक अनुभाव मूलक चेष्टाओं में भौंहों की मुस्कराहट का चित्र विहारी ने बड़े-अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया है। [2] मतिराम की 'वृषभानुलली' श्रीकृष्ण के नेत्र मिलते ही मुसकान के संग मुख मोड़ कर चल देती है:—

गहि हाथ सों हाथ सहेली के साथ में आवति ही वृषभानु लली।
'मतिराम' सुबात ते आवत नीरे निवारति भौरन की अवली।
लखिके मनमोहन सों सकुची, कह्यौ चाहति आपुन ओट लली।
चित चोर लियो दृग जोरि तिया, मुख मोरि कछू मुसक्यात चली।

इस उदाहरण में मुसकान के द्वारा अन्य अनुभावों के योंग से सफल प्रेम का चित्र प्रस्तुत कर दिया गया है। पारस्परिक वार्तालाप में यही प्रवृत्ति दीख पड़ती है।[3] अचानक भेंट हो जाने पर मुसकान आमन्त्रण देने वाली हो जाती है। 'वह साँकरी कुञ्ज की खोरि अचानक राधिका-माधव भेंटि भई। मुसक्यानि भली अँचरा की अली त्रिवली की बली पर दीठि गई।"[4] प्रेम व्यञ्जक इस मुसकान की अनेक अवसरों पर अभिव्यक्ति हुई है। प्रेमाधिक्य के कारण ही कभी-कभी वचन से उपहास न करके मुसकान द्वारा ही उपहास कर दिया जाता है।

उपहास और व्यंग्य मूलक मुसकान में नायिका का नायक के प्रति अथवा एक सखी की दूसरी सखी के प्रति उपहास की प्रवृत्ति लक्षित होती है। उपहास का उद्देश्य अपमान न होकर प्रेम की अभिव्यक्ति ही होती है। ऐसे अवसरों पर नायिका अथवा सखी के स्नेह का प्रदर्शन होता है।

---

1 नेक मन्द मधुर कपोल मुसिक्यान लगी,
नेक मन्द गमन गयन्दन की चाल भो।
बाल तन यौवन-रसाल उलहत सब,
सौतिन को साल भो निहाल नन्दलाल भो। मतिराम

2 बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं, भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाय। बिहारी सतसई

3 हँसि-हँसि करैं बातैं रंगीले दोऊ मदमाते,
गोर स्याम अभिराम अंग-अंग हिय उमंग
बाढ़ी गाढ़ि अति सरस-परस ललचातें।

4 ममारख

उपहास मूलक मुसकान की अभिव्यक्ति अनेक प्रसंगों पर हुई है। नायिका के सौन्दर्य को देखकर नाइन विस्मय विमुग्ध हो जाती है। उसकी इस दशा को देखकर नायिका की मुसकान में यही उपहास दीख पड़ता है,[1] जो उसके सौन्दर्य को और अधिक बढ़ा देता है। इस मुस्कान की प्रेरणा नाइन की मूढ़ता में मिलती है।

'विभ्रम' में भी सखी के उपहास का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। प्रिय के आगमन आदि प्रसंगों पर त्वरा के कारण भूषण वस्त्रादि का अन्य अंग में धारण कर लेना 'विभ्रम' कहा जाता है। इस मुसकान का शब्दतः कथन और व्यंग्य रूप में व्यञ्जना हुई है। दोनों का एक-एक उदाहरण देखें:—

१. बांध लई कटि सों बनमाल, न किंकिनी बाल लई ठहराइकै।
राधिका के रसरंग को दीपति, संग की हेरि हँसी हहराइकै।[2]

२. किंकिनी के उरहार किये तुम कौन सों जाय विहार करौगी।

इन दोनों में प्रथम उदाहरण में भेदभरी मुसकान का संकेत किया गया है।

व्यंग्यमूलक मुसकान में प्रायः विप्रलब्धा नायिका की नायक के प्रति तिरस्कारपूर्ण भावना व्यक्त होती है। रति-चिन्हों को देखकर केवल मुस्कराकर अथवा मुसकान और वचन के प्रयोग से अपने आक्रोश को व्यक्त कर देती है।[3] हँसी के उड़ जाने में क्रोध की अभिव्यक्ति होती है। 'गोत्र-स्खलन' प्रसंग पर इस ढंग का वर्णन मिलता है।

मुसकान द्वारा मान-भंग अथवा पारस्परिक सन्धि का संकेत भी रीतिकालीन काव्य में मिलता है। मानिनी राधा के मान को छुड़ाने में सखियां योग

---

1 (क) 'देव' सुरूप की रासि निहारति, पांय तें सीस लौं, सीस ते पांयनि।
ह्वै रही ठौरई ठाढ़ी ठगी सी, हँसै कर ठोड़ी दिए ठकुराइनि।
ब्र० सा० का ना० भेद पृ० २१३

2 रस-रत्नाकर पृ० २३२

3 आवै हँसी हमैं देखत लालन, भाल में दीन्हीं महावर रोरी।
एते बड़े ब्रजमण्डल में न मिल, कहूं मांगेहु रंचक रोरी।
री० का० संग्रह पृ० २४८

(ii) आई उनै मुंह मैं हँसी, कोपि प्रिया सुर चाप सी भौंह चढ़ाई।
आंखिन तैं गिरे आंसू के बूंद, सुहांसु गयो उड़ि हंस की नांई।
री. का. सं. पृ० १७७ छंद २३

देती हैं। श्रीकृष्ण आंख मूँद लेते हैं, उसके इस अभिनय को देखकर राधा मुसकरा उठती है और दोनों हृदयों में प्रेम का प्रवाह पूर्ववत् प्रवाहित हो जाता है।[1]

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि मुसकान के चित्रण में रीतिकालीन कवियों ने अपनी प्रतिभा और कल्पना दोनों की सहायता ली है। इसके अनेक भेदों में मुसकान की क्रिया मूलकता और गुण मूलकता पर विशेष दृष्टि रखी है। क्रियामूलक मुसकान में उसके प्रभाव, उपहास और व्यंग्य, क्रीड़ा, प्रेम व्यञ्जकता आदि द्वारा मुसकान से बढ़े हुए सौन्दर्य का रूप प्रस्तुत किया गया है। सहज एवं स्वाभाविक मुसकान के आन्तरिक गुण और उल्लास की ओर कवियों का ध्यान गया है। सहज मुसकान में उसके उल्लास, शोभा आदि का प्रभाव कपोल और अधरों पर दिखाया गया है "हुलास भरी मुसकानि लसै, अधरानि तें आनि कपोलनि जागै।"

मुस्कान का वर्णन करने में इस काल के कवियों की दो प्रवृत्ति दीख पड़ती हैं:—

(१) मुसकान के गुणों का वर्णन—गुण का वर्णन करने में जिन विशेषणों का वर्णन किया गया है वे क्रियामूलक, उपमानों से युक्त और अन्य परिचित विशेषणों से सम्पन्न हैं। क्रियामूलक मुसकान के लिए लजीली, हुलासभरी, उपेक्षा करने वाली, मोहक, कुटिल, आदि विशेषणों का प्रयोग हुआ है। गुणमूलक मुस्कान में मृदुता, मिठास, माधुर्य, शुभ्रता, ताजगी, स्वाभाविकता, मोह-महिमा से युक्त, मुसकान का वर्णन है। मुसकान के वर्णन को आकर्षक बनाने के लिये उपमानों का प्रयोग हुआ है। मुसकान में फूल, गुलकंद, दाख और कलाकंद की मधुरता, शहद और मिश्री की मिठास, सुधा की सरसता, अमृत फेन और फूल की उज्ज्वलता व ताजगी, कपूर की शीतलता और गन्ध द्रव्यों की सुगन्धि देखने की चेष्टा की गई है।

(२) मुसकान की क्रिया एवं स्वरूप वर्णन में यह स्पष्ट किया गया है कि मुसकान चाँदनी सी चू पड़ती है, कोटि चन्द्र की कान्ति को क्षीण कर देती है। अपनी मोहकता से सौन्दर्य को प्रकाशित करती है, नायक को रिझाती

---

[1] दृग मूंदि रही चितए जुपै मान, लला हँसि ते हम मूंदि रहे।
मुसकाइ कै राधिका आनन्द सों, भुजमाल सों लाल लपेटि गहे।
री. का. सं. १६६ छंद १४

है, रसिकों को प्रभावित करती है, शारदी ज्योत्स्ना के समान फैल जाती है। इसकी मिठास से रस चू पड़ता है। हुलासभरी मुसकान अधरों और कपोलों पर थिरकती हुई सम्पूर्ण मुख की शोभा बढ़ा देती है। मतिराम की हँसती हुई नायिका चम्पक की लताओं से गिरते हुए फूल की शोभा धारण करती है।[1] इससे स्पष्ट है कि शोभा-विधायक चेष्टा के रूप में मुसकान का चित्रांकन हुआ है। ऐसी मुसकान के संग चितवन उसकी सहयोगिनी बनकर नायिका के सौन्दर्य को शताधिक बढ़ा देती है।

चितवन और कटाक्षपात—चितवन नेत्रों की आकर्षक चेष्टा है। मुसकान और चितवन इन दोनों चेष्टाओं से नायिका के व्यक्तित्व का आकर्षण बढ़ जाता है। नायिका की चितवन उसके भावों की वाहिका होती हैं। चितवन की अनुभाव मूलक चेष्टा के अन्तर्गत नेत्रों की टकटकी बँध जाना, उनका निर्निमेष हो जाना, भौंहों का बंकिम हो जाना और कटाक्षपात करना आदि क्रियाओं का समावेश होता है। चितवन का चित्रण व्यष्टि रूप में और मुसकान के संग भी किया गया है। मुसकान युक्त चितवन की मादकता बढ़ जाती है। चितवन मानसिक भावों को प्रकट करने का माध्यम है, जिसका प्रधान साधन नेत्र है। भावों के अनुकूल नेत्रों की स्थिति और उनकी गति, संचालन के ढंग आदि में अन्तर आ जाता है। नेत्रों के विकास अथवा संकोच से चितवन की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। रूप के आकर्षण-वृद्धि के साथ खिंचाव उत्पन्न होता है। यह उद्दीपक चेष्टा है। इससे शृंगार पूर्ण रस काव्य में महत्व बढ़ जाता है। यह प्रेम व्यापार का प्रमुख माध्यम है, जो भ्रूनिक्षेप और कटाक्षपात के माध्यम से स्पष्ट होता है। रीतिकालीन काव्य प्रेम-भावना पूर्ण काव्य है। इस काल में प्रेम के साधक व्यापार के रूप में नेत्र की चेष्टाओं का वर्णन रुचि-सम्पन्नता के साथ किया गया है।

रीतिकाल में नेत्र व्यापार रूप चितवन के वर्णन में दो दृष्टिकोणों को अपनाया गया है। (१) चितवन की चेष्टा के आधार पर उसके विभिन्न भेद और (२) उसकी मोहकता मूलक मुद्रा का वर्णन।

मुद्रा मूलक नेत्रों की स्थिति में स्थिरता होते हुए भी उसमें तन्द्रिल सौन्दर्य की मादकता वर्तमान रहती है। इससे आलस्य और तन्द्रा की अभि-

---

1 हँसत बाल के वदन में यो छबि कछू अतूल।
फूली चंपक बेलि तें, झरत चमेली फूल। री. का. सं. पृ. १८१/५४.

व्यक्ति होती है। यद्यपि यह स्पष्ट रूप से चेष्टा जैसा प्रतीत नहीं होता, फिर भी अंगों की स्पन्दनशीलता के कारण इसे चेष्टा मूलक व्यापार के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है। तन्द्रा मूलक इस नेत्र-व्यापार का वर्णन आलस्य, निद्रा, रति-भुक्ता एवं खण्डिता के प्रसंग पर किया गया है।

प्रातः कालीन वेला में राधा की रूप माधुरी की तन्द्रिलता से उत्पन्न रहःकेलि से स्लथ और अलसाये नेत्रों का भावमय चित्र प्रस्तुत किया गया है।[1] रति भुक्ता राधा के नेत्रों का सौन्दर्य अपने अलबेलेपन में अपूर्व है।[2] नेत्रों के निर्निमेष हो जाने में उसकी अनोखी शोभा वर्णित है। खण्डिता प्रसंग पर श्रीकृष्ण की तन्द्रिल अवस्था का वर्णन अनेक कवियों ने किया है।

आलस्य से उनींदी आँखों के सौन्दर्य को श्री हठी ने देखने का प्रयास किया है। "आलस्य उनींदी दृग मूंदि चटकाइ कर, सुन्दर सुघर सुकुमारि सेज सो रही।"[3] इन सभी उदाहरणों में आलस्य या आनन्द युक्त मुद्रा का जो वर्णन किया गया है, उसमें प्रत्यक्षतः चितवन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है, फिर भी नेत्र के इन व्यापारों अथवा स्थितियों में अप्रत्यक्ष रूप से नेत्रों की मादकता एवं मोहकता का संकेत मिल जाता है। इन मुद्रात्मक चित्रों में सौन्दर्य के साथ आकर्षण व मोहकता है।

चितवन के प्रत्यक्ष वर्णन में रीतिकाल की अनेक विशेषताएँ हो सकती हैं–

(१) **क्रिया मूलक विशेषता**— इसे व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त विशेषणों में क्रिया का भाव लक्षित होता है। कटीली, लजीली, घातक, भाव-व्यञ्जक, हँसीली और फरकने वाली चितवन में यही विशेषता दीख पड़ती

---

[1] रतनारी हो थाड़ी आँखड़िया।
प्रेम छकी रस-बस अलसानी, जानी कमल की पांखड़ियां।

मध्यकालीन हिन्दी कवियित्रियां पृ. १६६

[2] बड़ी-बड़ी अँखियनि नींद घुरानी।
अति अनुराग भरी पिय के संग जागत रैन विहानी।....
झपि-झपि परत छवीली पलकैं, आरस जुत अरसानी।....
'अलबेली अलि' चित्र रहीं सब नैंन निमिष भुलानी।

अलबेली अली।

[3] श्री राधा सुधा-शतक–६८५८ हठी जो।

है ।[1] घातक चितवन के प्रभाव की तीव्र व्यञ्जना रीतिकालीन कवियों ने की है। मुबारक कवि तो प्रत्यक्षत: चितवन की घातक चोट का वर्णन करने लग जाते हैं ।[2] एक अन्य कवि ने राधा की चितवन से गिरिराज उठाये हुए श्रीकृष्ण के नखों से पर्वत के गिर जाने की आशंका प्रकट की है ।[3]

(२) **गुण-मूलक विशेषता**—चितवन के अनेक गुणों की चर्चा इस काल में की गई है। चितवन में वक्र दृष्टि, टेढ़ी चितवन और बंकिम स्थिति का सौन्दर्य देखा गया है। चंचल, लुब्ध, रसाल, आलस्ययुक्त, लाज और शील सम्पन्न चितवन के मृदुल गुणों के साथ उसकी तीक्ष्णता का वर्णन भी मिल जाता है। कोमल और मृदुल गुण-सम्पन्न चितवन मुग्धा नायिकाओं में अधिक देखी जाती है "दृग लागे तिरछे चलन पग मन्द लागे" जैसी पंक्तियों में यह

---

1 (क) सोभा बरसीली सुभ सील सों लसीली,
सु रसीली हँसि हेरैं हरैं विरह तपति है। घन आनन्द
(ख) मद जोवन रूप छकी अँखिया, अवलोकनि आरस रंग-रली।
घन आनन्द
(ग) बड़ी अँखियानि में अंजन रेख, लजीली चितौनि हियो रसपागे।
(घ) सांकरि खोरि में कांकरी की करि चोट चलो गयौ लोट निहारो।
पद्माकर
(ङ) वृषभानु कुमारि की ओर, विलोचन कोरनि सों चितवै।
चलिबै को घरै न करै मन नेकु, घरै फिर-फेरि भरै रितवै। 'देव'
(च) फरकै लगी खंजन सी अँखियाँ, भरि भायन भौंह मरोरे लगी।
द्विजदेव

2 कान्ह की बाँकी-चितौन खुभी, झुकि काल्हि की ग्वारिन झांकी गवाच्छिन।
काजर दै री न एरी सुहागिन, आंगुरी तेरी कटेगी कटाच्छिन।
आंख और कविगण पृ. १२ सं. जवाहर लाल चतुर्वेदी।
साहित्य सेवा सदन काशी सं. १९८९

3 (क) चंचल-चपल-ललचोहैं-दृग मूंदि राखि,
जौं लौं गिरधारी गिरि नख पै धरैं हैं री। वही पृ. १६
(ख) तेरे नैनि, तेरे वस नांहीं कहीं साँचो मैं,
लाल, ललिचैहैं लखि रूप को उजारो री।
स्वेद कम्प ह्वै हैं गिरि गिरिहैं अबसु आजु,
लगिहैं री कलंक, लोग दैहैं तोहि गारो री। वही पृ. १६

प्रवृत्ति लक्षित होती है। भावों की बोधक चितवन में भौंहों की मरोड़ द्वारा इस प्रकार की प्रवृत्ति का वर्णन है। 'कुट्टमित अलंकार' में भौंहों की ऐसी ही दशा का चित्रांकन हुआ है—

१. सैननि चरचि लई, गातनि थकित भई,
नैननि में चाह करै बैनन में नहियाँ। मतिराम

२. भौंहनि त्रासति मुख नटति, आँखिन सों लपटाति। बिहारी

इन दोनों ही उदाहरणों में निषेध मूलक स्वीकृति के भाव की अभिव्यक्ति सैन एवं भौंहों की मरोड़ द्वारा व्यक्त किया गया है। ये दोनों चितवन मूलक व्यापार ही हैं।

(३) प्रभाव मूलक चितवन में इसके ऐसे गुणों की चर्चा की गई है, जिसका प्रभाव नायक या नायिका पर तत्काल पड़ जाता है। इनमें दाँव न चूकने वाली चितवन और आक्रोश व्यक्त करने वाली चितवन का वर्णन है।

१. मद भरी अँखियाँ लाल तिहारी।
तिन सों तकि-तकि तीर चलावति, बेधति छतियाँ आनि हमारी।
नागरीदास—आँख और कविगण २२

२. माँजे 'मुबारक' दै विष अंजन, सीधे से बींधै हुर्द घनश्याम के।
बान-चितै दृग तेरे पियारी, रहे सर काम के, न एकहु काम के।
आँख और कविगण पृ. १८

क्रोध को व्यक्त करने में भौंहों की भंगिमा का वर्णन होता है।[1]

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि चितवन का अनेक विध रूपों में सौन्दर्य वर्णित है। मुसकान और चितवन से संयुक्त होकर लज्जा नायिका के सौन्दर्य को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण कार्य करती है।

लज्जा—नायिकाओं में लज्जा शील-सम्बन्धी भूषण एवं मुख पर अपूर्व आभा उत्पन्न करने वाली होती है। इसे कुलवती स्त्रियों का अलंकार माना जाता है। लज्जा का मूल सम्बन्ध स्त्रियों की अवस्थाओं से रहता है। वयः सन्धिकाल में इसका आधिक्य और क्रमशः अवस्था के साथ इसकी न्यूनता होती जाती है। लज्जा की मूल प्रेरणा शृङ्गार भाव अथवा भय से उद्भूत होती है। मुग्धा नायिकाओं में लज्जा की अधिकता और काम की न्यूनता

---

[1] जागि परी 'मतिराम' सरूप गुमान जनावति, भौंह के भंगनि।
लाल सो बोलति नाहिन बाल, सुपोछति आँख अंगोछति अँगनि।

होती हैं। क्रमशः बढ़ती हुई अवस्था के साथ मध्या और प्रौढ़ा में काम की अधिकता और लज्जा की न्यूनता होती चली जाती है। लज्जा के बाह्य-व्यञ्जक तत्त्वों में मुख की लालिमा, नेत्र एवं मुख का नत हो जाना और मुख का फेर लेना आता है। शृङ्गार वर्णन में आवेश के कारण मुख पर रक्त का दौरा बढ़ जाने से लालिमा मुख की शोभा को बढ़ा देने में सहायक होती है। यह कुलवती स्त्रियों की सचरित्रता को व्यक्त करती है, परन्तु सभी स्त्रियों में न्यूनाधिक्य मात्रा में लज्जा शोभा की विधायिका बन जाती है। शृङ्गार भाव के अतिरिक्त लज्जा का उदय भय अथवा अपराध भावना से भी होता है। इसमें वय की कोई सीमा नहीं होती परन्तु अपराधमूलक लज्जा सौन्दर्य वर्द्धक चेष्टा के अन्तर्गत नहीं आती है। यह एक प्रकार की आत्म-ग्लानि है। अतः इसका वर्णन न करके केवल शृङ्गार मूलक लज्जा का विश्लेषण होगा।

रीतिकालीन साहित्य में शृङ्गार मूलक लज्जा की आकर्षक चेष्टाओं का सूक्ष्मता के साथ वर्णन किया गया है। लज्जा का वर्णन प्रायः दो रूपों में किया गया है (१) कथ्य मात्र में लज्जा का अभिधेय रूप (२) अनुभावों के माध्यम से व्यंग्य रूप में लज्जा का संकेत।

कथ्य मात्र में लज्जा का कथन अभिधा से होता है। इसका ज्ञान आश्रय या आलम्बन के अनुभावों से न होने के कारण यह लज्जा निरूपण का उत्तम ढंग नहीं माना जा सकता है। इसमें दर्शन जन्य आनन्द की अनुभूति नहीं होती अपितु कवि अथवा आश्रय के कथन से लज्जा का आभास मात्र हो जाता है। दोनों का एक-एक उदाहरण पर्याप्त होगा :—

१. श्याम रूप सागर में नैनवार पारथ के,
नाचत तरंग अंग-अंग रंगमगी है।
काम पौन प्रबल धुकान लोपी लाज तातें,
आज राधे लाल की जहाज डगमगी है।[1]

२. लाजनि ते गड़ि जात कहूं, पड़ि जाति कहूं गज की गति भाई।
बैस की थोरी, किसोरी हरे हरे या विधि नन्द किशोर पै आई।[2]

इन उदाहरणों में अनुभावों द्वारा लज्जा का चित्रांकन नहीं हो सका है। इससे लज्जा का बिम्ब-विधान नहीं होने पाता है। इस प्रकार के लज्जा

1 मध्यकालीन हिन्दी कवियित्रियाँ से—सुन्दरि कुंवरि बाई।
2 'नवरस,' पद्माकर—२०६, सं. गुलाबराय, ना० प्र० सभा, आरा। स. १६६०

के वर्णन में लज्जा मूलक सरसता की साकारता नहीं आ पाती है। इसीसे रीतिकालीन कवियों ने इस ढंग से इसका वर्णन कम ही किया है। इसके स्थान पर अनुभाव मूलक लज्जा का वर्णन ही अधिक मिलता है।

अनुभाव मूलक लज्जा—मानसिक भावना की अभिव्यक्ति में लज्जा महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। यह मन की बाह्य चेष्टा है, जो नेत्रों के माध्यम से प्रकट हो जाती है इससे नारी के सौन्दर्य की कमनीय कल्पना स्वतः ही होने लग जाती है।

व्यक्तित्व के आकर्षण को बढ़ाने में लज्जा आवश्यक चेष्टा होती है। प्रायः नेत्र या चितवन के वर्णन प्रसंग पर लज्जा का आभास भी मिल जाता है।[1] लज्जा भीनी चितवन में अपूर्व मादकता होती है। इसके प्रकट होने पर नेत्रों के विकास, मन की प्रफुल्लता और अंगों के संकुचित होने का चित्र मिलता है। इस लज्जा के वर्णन में अनेक प्रसंगों की अवतारणा रीतिकालीन साहित्य में हुई है।

(१) गुरुजनों के सानिध्य में प्रिय दर्शन-जन्य लज्जा।
(२) स्वाभाविक लज्जा।
(३) रति-चर्चा से उत्पन्न लज्जा।
(४) शृङ्गारिक चेष्टाओं में भयमूलक लज्जा।

लज्जा के इन प्रसंगों का विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि ल जा का निसर्गगत और लोक सानिध्य से उत्पन्न स्वरूप हो सकता है। निसर्गगत या स्वाभाविक लज्जा अन्य व्यक्ति की अपेक्षा नहीं करती, अपितु वयः सन्धि काल में स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है। मुग्धा नायिकाओं में इसके कारण उनके मुख की शोभा बढ़ जाती है। उनकी क्रियाओं में एक अनोखापन आ जाता है।[2] प्रिय के सानिध्य में मुख पर सहज लालिमा फैल जाती है। वह अंगों में समेट लेना चाहती है। नवयौवना के सुकुमार बदन पर लाज की

---

1 (क) लाजनि लपेटी चितवन चित भाय भरी,
लसति ललित लोल चख तिरछानि में।
(ख) लाज बड़ी बड़ो सील गसीली,
सुभाय हंसीली चितै चित लौपै।

2 इतै उतै सकुचित चितै, चलत डुलावत बाँह।
दीठि बचाइ सखीन की, छिनुक निहारत छाँह॥ बिहारी

ललाई, अंगों का संकोच और रोमाञ्च उसकी शोभा को बढ़ा देता है। वह इन्द्र वधूटी के समान संकुचित हो जाती है।[1] कहीं-कहीं प्रिय से छिपाने में भी यही लज्जा दीख पड़ती है। लजीली ललना अपने कन्त को अपनी ओर निरखती हुई देखकर लज्जा के कारण उन्हें देख नहीं पाती है। परन्तु उसे दूसरी ओर देखते जानकर स्वयं देखने लग जाती है।[2] ऐसे प्रसंगों पर लज्जा का प्रत्यक्ष रूप उपस्थित हो जाता है। मुग्धा या मध्या नायिकाओं में इस प्रकार की लज्जा का प्राबल्य दीख पड़ता है।

अन्य सन्निधि से उत्पन्न होने वाली लज्जा में लोक-मर्यादा व स्वाभाविकता दोनों ही बनी रहती है। रह-केलि स्वयं में भी एक गोपनीय क्रिया है। इस क्रिया की गोपनीयता में एकान्त भाव की नितान्त आवश्यकता होती है, परन्तु एकान्तता भंग होते ही उसकी गोपनीयता समाप्त हो जाती है। इसीसे लज्जा का स्वाभाविक रूप से उदय हो जाता है। यह लज्जा अनेक रूपों में दीख पड़ती है।

गुरुजन के सानिध्य में लज्जा के स्वाभाविक उदय का चित्र अनेक कवियों ने प्रस्तुत किया है।

१. जाति हुती गुरु लोगन में, कहुं आइ गये हरि कुन्ज गली में।
लाज सों सौंहे चितै न सकी, फिरि ठाढी भई लगि आली अली सों।

२. बैठी हुती गुरु मण्डली में, मन में मन मोहन को ना बिसारति।
त्यों 'नन्दराम' जू आय गये बन ते, तहँ मोर पखा सिर धारत।
लाज तें पीठ दै बैठी वधू, पति मातु की आँखि ते आँख न टारत।
सासु की नैननि की पुतरिन में प्रीतम को प्रतिविम्ब निहारति।

उपर्युक्त उदाहरणों में स्पष्ट है कि अन्य के सानिध्य में भी प्रिय को देखने की इच्छा बनी रहती है, परन्तु इस इच्छा की पूर्ति लज्जा के कारण अन्य माध्यम से कर ली जाती है। प्रिया प्रियतम की पड़ती हुई छाया को सास की नेत्रों की पुतली में देख लेती है।

---

[1] ज्यों-ज्यों परसत लाल तन, त्यों-त्यों राखे गोइ।
नवल वधू उर लाज ते, इन्द्र वधू सी होइ।
ब्र० सा० का नायिका भेद पृ० २२९/११९ मतिराम

[2] कन्त हेरें सामुहे तो अन्त हेरे चन्द्रमुखी,
अन्त हेरे कन्त तब कन्त हेरे कामिनी। नवरस पृ० १७३

स्वकीया नायिका की लज्जा का वर्णन 'ननद' के सानिध्य में अच्छे ढंग से किया गया है। नायक द्वारा नायिका के श्रृङ्गार करते समय ही 'ननद' आ जाती है और वह नायिका उसे देखकर लज्जित हो जाती है।[1] दूसरे के सानिध्य में अंग-संकोच द्वारा मानसिक उल्लास की अभिव्यक्ति होती है। अपने मायके में नन्दलाल को देखकर जी का ललचा उठना, सकुचाना, घूँघट न घाल सकना आदि में यही लज्जा दीख पड़ती है। वह अपनी मां के पीछे छिप जाती है; सिर नीचा कर लेती है। ऐसी क्रियाओं में शालीनता और आभिजात्यमूलक लज्जा जीवन की मर्यादाओं के बीज सौन्दर्य एवं आकर्षण का कारण बन जाता है।[2] इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि लज्जा के स्वरूप को प्रस्तुत करने में कवियों ने अनेक अनुभावों का सफल चित्रांकन किया है। मुग्धा नायिकाओं में जिस निसर्ग सिद्ध लज्जा का वर्णन होता है, उसके गोपन के लिये कई प्रकारों का वर्णन मिलता है।

(१) प्रिय-प्रेम-मूलक भाव की अभिव्यक्ति लज्जा के कारण ही नहीं हो पाती है। अतः बिहारी की नायिका जमुहाई लेकर उसे छिपा लेती है, ताकि सखियां भी उसके भाव को लक्षित न कर सकें :—

ललन चलन सुनि पलन में अँसुवा झलक्यो आई।
भई लखाइ न सखिन हूँ झूठे ही जमुहाई।

ऐसे उदाहरणों में भविष्य के उपहास जनक स्थिति से बचने के लिये गोपन की इस प्रवृति के मूल में लज्जा का भाव ही रहता है।

(२) सामाजिक मर्यादा के कारण अपनी पति की ओर भी लगातार दूसरों के सानिध्य में देखते जाना शालीनता के विपरीत है। अन्य वस्तु के माध्यम से प्रिय को देखकर अपने भावों को गुप्त रखने में लज्जा का भाव कार्य करता है। ऐसी स्थिति से मणि-बिम्ब, नेत्र-बिम्ब, कपोल-बिम्ब आदि के माध्यम से प्रिय को देखकर लज्जा व शालीनता की रक्षा होती है।

---

[1] देन लगे कवि 'तोष' सो प्रितम, आइ गई ननदी अभिमानी।
तैसी कछु कहि जात नहीं अली जैसी कछू हम आज लजानी।
नवरस पृ० २०८ तोष कवि

[2] नन्द गांव ते आइगो नन्दलला, लखि लाड़िली ताहि रिझाइ रही।
मुख घूँघट घालि सकै नहिं माइकै, माइकै पीछे दुराइ रही।
उचके कुच कोरन पै पद्माकर, कैसी कछू छबि छाइ रही।
ललचाइ रही, सकुचाइ रही, सिर नाइ रही, मुसकाइ रही।

(क) लाज तें पीठ दै बैठी बहू पति, मातु की आंखु ते आंख न टारत ।
(ख) सासु की नैननि की पुतरीन में, प्रीतम को प्रतिबिम्ब निहारति ।।[1]
(ग) नैन नवाइ रही हिय माल में, लाल की मूरतिलाल में देखी ।[2]

(३) किसी वस्तु के ओट या सहारे को लेकर प्रिय दर्शन से उत्पन्न संकोच की रक्षा की जाती है। घूंघट की ओट में लज्जा को प्रकट करने में अभिनय का अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है।

शालीनता जन्य लज्जा के कारण प्रेम को गोपनीय रखने के हेतु लज्जा का अनुभावों में जो चित्र प्रस्तुत किया जाता है, रीतिकाल में वह अनेक रूपों में प्रकट हुआ है। ऐसे स्थलों पर लज्जा स्वशब्द में वाच्य न होकर सांकेतिक रूप में व्यंग्य हो जाता है। शारीरिक चेष्टाओं द्वारा इस लज्जा का आभास हो जाता है जो निम्नलिखित रूपों में प्रकट होती है :—

(१) नेत्रों का झुक जाना-प्रिय दर्शन से उत्पन्न रतिभाव के कारण नेत्र झुक जाते हैं।

(क) नैन नवाय रही हिय माल में, लाल की मूरति लाल में देखी ।
(ख) लाज सों सौंहे चितै न सकी, फिरि ठाढ़ी भई लगि आली अलीसों ।
तोष

(ग) सकुचनि सौंहे निहारि न सकियै ।
लालन सनमुख ह्वै बड़ भागिनि, गुरुजन डीट निसंकियै ।
आनन्दघन-पदावली १८

(च) झाँकि झरोखे सके न संकोचन, लोचन नीर हिये डर साने ।
मेरी न तेरी सुने समुझै, न बैं, फेरी सी देत फिरैं बरसाने ।
नवसतरंग-वेनी प्रवीन पृ० ६२ पद ४४७

(२) लजा के उदय होने पर बचनों में कृपणता आ जाती है और बोलते नहीं बनता।

(क) सुन्दरि जानि के मन्दिर के पिछवारे हैं सुन्दर ठाढ़े कन्हाई ।
चाहै कछु कह्यौ पै सकुचै तब कीनी है बातनि में चतुराई ।
सुन्दर-शृङ्गार पद ७१

(ख) लखि के मनमोहन सों सकुची, कह्यो चाहति आपनि ओट लली ।
चित चोर लियो दृग जोरि तिया, मुख मोरि कछू मुसकात चली ।

---

1 ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद छंद २८६ नन्दराम
2 ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद छंद २८५ मतिराम

(३) नेत्रों के माध्यम से अपने अभिप्राय को व्यक्त कर लेने में भी वचनों की कृपणता और अन्य लोगों की उपस्थिति का आभास मिलता है।

कहति, नटति, रीझति खिझति, मिलति, खिलति लजिजात।
भरे भौन में करत हैं नैननि हीं सब बात। बिहारी

(४) प्रिय के सानिध्य में लज्जा के कारण वाणी स्फुरित नहीं होती है, परन्तु प्रिय के चले जाने के पश्चात् इस लज्जा के प्रति मन में चिन्ता बनी रहती है। एक गोपी कथ्यमात्र से इस लज्जामूलक चिन्ता के भाव को व्यक्त करती है।

हाय इन कुञ्जनि में पलटि पधारे स्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधामई।
आवन समै में दुखदायिनी भई री लाज,
चलन समै में चल पलन दगा दई।—द्विजदेव

इसमें सानिध्य के कारण नेत्रों का नय जाना और बिछोह के अवसर पर नेत्रों की चंचलता व दगा देने की बात से लज्जा व्यंग्य रूप में वर्णित है।

(५) 'लीला' अलंकार में मतिराम ने लज्जा का चित्रांकन किया है। नायक की पगड़ी पहनती हुई नायिका देख लिये जाने पर लज्जित हो जाती है—

प्यार पगी पगरी पिय की घर भीतर आपन शीश सँवारी।
एते में आँगन ते उठिकै तहँ आय गयो 'मतिराम' बिहारी।
देखि उतारन लागी प्रिया, प्रिय सौंहन सों बहुर्यो न उतारी।
नैंननि बाल लजाइ [1]रही, मुसक्याइ लई उर लाइ पियारी।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि लज्जामूलक चेष्टा की अभिव्यक्ति में रीतिकालीन कवियों ने उसके अभिधेय एवं व्यंग्य रूप को प्रस्तुत किया है। लजा के माध्यम से मन की संकोचमूलक प्रवृत्ति का आभास होता है। इससे इसकी अभिव्यक्ति अनुभावों के माध्यम से ही होती है। अतः अनुभावों द्वारा इसकी अभिव्यक्ति न होकर केवल कथन मात्र से लजा का वर्णन कर देना सौन्दर्य का जनक नहीं हो पाता है, अपितु शारीरिक आकर्षक चेष्टाओं द्वारा इस लजा का संकेत देना सौन्दर्य एवं आकर्षण का कारण बनता है। ऐसी अनुभाव मूलक चेष्टाओं में नेत्रों का झुक जाना, मुख का आरक्तिम होना, वचन की कृपणता, ओट में हो जाना, मुख पर घूँघट डाल लेना, पीठ फेर लेना, वाणी का स्फुरित न होना, केवल नेत्रों से ही बात करना आदि का वर्णन किया गया है। इस लजा के दो कारण—स्वाभाविक एवं लोक-सानिध्य बताया जा चुका है। लज्जा का यह स्वरूप स्वकीया और परकीया

दोनों में ही दीख पड़ता है। परकीया में अभिसार के समय लज्जा का कारण अन्य लोगों द्वारा देख लिये जाने की आशंका है। इससे यह भयमूलक लज्जा है। स्वकीया में यह सामाजिक अपराध नहीं माना जाता है। इससे इस लज्जा से नायिका का आकर्षण बढ़ता है। स्वकीया या मुग्धादि नायिकाओं में अनुभावों के द्वारा लज्जा से उत्पन्न सौन्दर्य एवं आकर्षण द्वारा शोभा बढ़ाई गई है। इन्हीं अनुभावमूलक चेष्टाओं में 'निषेध' का सौन्दर्य नायक के मन के उल्लास एवं आवेश को बढ़ाकर नायिका के आकर्षण की अभिवृद्धि करने में सहायक होता है।

निषेध-मूलक सौन्दर्य—लज्जा के प्रकरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि नायिकाओं में शालीनता के कारण अनेक अनुभाव या चेष्टामूलक आकर्षक क्रियाएँ होती रहती हैं। इन क्रियाओं के माध्यम से उनके मानसिक आकर्षण का ज्ञान होता है। लज्जा के उदय में अभिनव यौवन का आगमन महत्वपूर्ण है। इस वय की उपस्थिति एवं इससे उत्पन्न मानसिक आकुलता से उनमें आकर्षण की वृद्धि हो जाती है। इसका सम्बन्ध यौन-भावना से बना रहता है। यही कारण है कि यौवन आगमन के पूर्व नायिका की इच्छाओं की वास्तविक अस्वीकृति और यौवन आ जाने पर निषेध मूलक स्वीकृति या कृत्रिम अस्वीकृति प्रकट होती है। इससे प्रिय के नेत्रों में प्रेमिका का आकर्षण बहुत बढ़ जाता है।

रीतिकाल में लज्जा से उद्भूत इस स्वीकृति मूलक निषेध का अच्छा अंकन हो सका है। प्रायः किसी अशालीन कार्य की स्वीकृति देने में स्त्रियाँ अधिक लज्जा का अनुभव करती हैं। इसी से स्वीकृति देना उनके लिए बहुत कठिन कार्य हो जाता है, परन्तु व्यावहारिक जीवन में स्वीकृति की महत्ता होने से सांकेतिक स्वीकृति या निषेध मूलक स्वीकृति की परम्परा चल पड़ी होगी। गोपनीय कार्यों की स्वीकृति सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन माना जाता है। इसी से हाँ मूलक ना की महत्ता बढ़ गई। इस अस्वीकृति से दो अभिप्रायों की सिद्धि होती है (१) नायक के मन में नायिका के प्रति आकर्षण की वृद्धि (२) अस्वीकृति के बाद अभिलाषा को व्यक्त करने का उचित अवसर मिलता है, क्योंकि इस निषेध में वास्तविकता न रहकर कृत्रिमता और शालीनता जन्य अस्वीकार ही अधिक रहता है।

रीतिकालीन हाँ मूलक ना के सौन्दर्यांकन में दो प्रकार की पद्धति अपनाई गई है (१) वचन-निषेध (२) क्रिया-निषेध। इन दोनों में वचन-निषेध में वाणी का प्रयोग किया जाता है। मुग्धा अथवा मध्या नायिकाओं का यह

निषेध उनकी वाणी से प्रकट होता है। ऐसे निषेध का वर्णन दधि बेचन प्रसंग पर अथवा पारस्परिक छेड़-छाड़ की क्रीड़ा एवं उल्लासमय वातावरण के बीच होता है। एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

१. नेकु नेरे जाइ करि बातन लगाई करि,
कछु मन पाइ हरि वाकी गही बहियाँ।
सैननि चरचि गई अंगनि थकित भई,
नैनन में चाह करै, बैनन में नहियाँ। मतिराम

२. आई जु चालै गोपाल घरै, ब्रजबाल बिसाल मृनाल सी बाँही।
त्यौ 'पद्माकर' सूरति में रति छ्वै न सकै कित हूँ पर छाँहीं।
सोभित संभु मनो उर ऊपर, मौज मनोभव की मन माँही।
लाज बिराजि रही अखियानि में, प्रान में कान्ह जबान में नाँही।
ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद। पृ० २४२ छन्द १२८, १२९

इन दोनों ही उदाहरणों में वचन विदेश केलि-प्रसंग एवं छेड़ छाड़ के अवसर पर वर्णित है।

सहज स्वभाव के रूप में अभिलाषा मूलक निषेध द्वारा मुग्धा के मानसिक सौन्दर्य का चित्रांकन शंभु कवि ने किया है।

"देख्यौ चहै पिय को मुख पै अँखियाँ न करै जिय की अभिलाखी।
चाहति 'शम्भु' कहे मन में, बतियान सो सों नहि जाति है भाखी।
भेटिवे को फरकै भुज पै कहि जीभतें जाइ नहीं-नहीं भाखी।
काम सँकोच दुहूँन बहू बलि, आज दुराज-प्रजा करि राखी।"
ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद। पृ० २४१

इस उदाहरण में अन्य की प्रत्यक्ष सन्निधि के बिना ही प्रिय की काल्पनिक मूर्ति के प्रति अपनी अभिलाषाएँ व्यक्त की गई हैं। वह प्रिय के स्पर्श से उत्पन्न सुख का अनुभव तो करना चाहती है, परन्तु उसकी जबान से 'नाहीं' शब्द का उच्चारण हो जाता है।

अभिलाषा मूलक वचन-निषेध के अतिरिक्त प्रभावमूलक वचन-निषेध का वर्णन किया गया है। इस वर्णन में निषेधगत सौन्दर्य का प्रभाव बताया गया है।

१. लहि सूने घर कर गह्यौ, दिखा दिखी की ईठि।
गड़ी सु चित नाहीं करनि, करि ललचौंही दीठि। बिहारी

२. दै गल बाँही जु नाहीं करी, वह नाहीं गोपाल के भूलत नाही। देव

प्रथम उदाहरण में बताया गया है कि 'नाहीं' चित्त में गड़ जाती है और दूसरे उदाहरण में 'नाहीं' की स्मृति सदैव बनी रहती है। इन दोनों में

निषेध का प्रभावमूलक वर्णन किया गया है। मुग्धा और मध्या में यह निषेध स्वाभाविक शालीनता के कारण उत्पन्न होता है।

शालीनताजन्य लज्जा की अभिव्यक्ति वचन निषेध के अतिरिक्त क्रिया-निषेध द्वारा भी हो सकी है। यह अनुभाव-मूलक निषेध है। इससे नायक के मन में नायिका के प्रति ललक का भाव उत्पन्न होता है और उसकी भावनाएँ उद्दीप्त होती हैं। इस निषेध की महत्ता प्रेम प्रसंगों पर अधिक बढ़ जाती है। यह निषेध कई रूपों में व्यक्त हुआ है।

१. नेत्रों के संचालन द्वारा निषेध।
२. विभिन्न अंगों के संचालन से निषेध।
३. क्रिया द्वारा निषेध।

नेत्र संचालन के माध्यम से व्यक्त निषेध का सौन्दर्य अपूर्व होता हैं। इसमें भौंहों की वंकिम अवस्था द्वारा निषेध की अभिव्यक्ति होती है। विहारी ने ऐसे निषेध द्वारा एक आकर्षक चित्र स्थित किया है—

भौंहनि त्रासति मुख नटति, आँखिन सो लपटाति।
ऐंचि छुड़ावत कर इंची आगे आवति-जाति॥

इसमें भौंहों द्वारा त्रास दिखाने में निषेध का यही भाव व्यक्त होता है। इस निषेध की अभिव्यक्ति 'सैन' द्वारा की गई है। नेत्र-संकेत से मुख का ईषद् विकास आकर्षण को बढ़ाने में सहायक होता है। इस निषेध में गम्भीरता का भाव न रहकर मुसकान की तरलता और हृदय की प्रफुल्लता भी व्यक्त हो जाती है।

नेत्र से इतर विभिन्न अंगों के संचालन द्वारा निषेध की भावना व्यक्त हुई है। प्रायः इस निषेध में हाथों का प्रयोग होता है।[1] इसमें नायिका द्वारा कृत्रिम अवहेलना का भाव व्यक्त होता है। नायिका अपने अंगों को छिपा लेती है। प्रिय की दृष्टि के स्पर्श का निषेध कर अपनी अस्वीकृति व्यक्त करती है।[2] मुख से क्रोध दिखाकर, हाथों से प्रिय के मुख को हटाकर या अपना मुख दूसरी तरफ करके निषेध के इसी भाव को व्यक्त किया गया है।

इन अनुभाव मूलक चेष्टाओं से भिन्न अन्य क्रियाओं द्वारा भी निषेध का आकर्षक सौन्दर्य व्यक्त होता है। नायक द्वारा पानी माँगे जाने पर नायिका

---

1 अलक संवारन व्याज में परस्यो चहत कपोल।
मृदुल करनि डारति झटकि, रसमय कलह कलोल। ध्रुवदास

2 जो अंग चाहत रसिक प्रिय इन नैननि सों छुवाई।
सोठौं सुन्दरि पहिले ही, राखत वसन दुराई। ध्रु० व० रस० पद ४०

उसके भावों को समझकर उसके पास नहीं जाती है और द्वार के पास ही जल रखकर चली आती है।[1] उसकी इस क्रिया में निषेध का सांकेतिक अर्थ प्रतीत होता है। इससे अभिलाषा की वृद्धि और आकर्षण की प्रबलता बढ़ती है। इसी प्रकार कई अन्य कवियों ने भी प्रेम-प्रसंग में निषेध द्वारा चेष्टा-मूलक सौन्दर्य का अंकन किया है:—

चंचल चतुर छरकायल छबीली वाम,
अंचल छुवै न दीनो स्याम अभिराम कों।
पाटी पग धरि गई, चेटक सौ करि गई,
नटी लौं उछरि गई, छरि गई स्याम कों।

अ० सा० का भेद पृ० २४०/१२२ कालिदास

इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि निषेध मूलक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में कवियों ने अभिधा एवं व्यञ्जना का प्रयोग किया है। वचन-निषेध में अभिधा और अनुभाव अथवा नायिका की क्रियाओं द्वारा अभिव्यञ्जित निषेध में व्यञ्जना का प्रयोग हुआ है। इस निषेध को मुग्धा या मध्या नायिकाओं की स्वाभाविक क्रिया कहते हैं। इस चेष्टा की अभिव्यक्ति में नायिका की शालीनता व्यक्त होती है। प्रायः यौवनागम पर शालीनता का यह भाव बड़ा प्रबल रहता है, जो क्रमशः काम भावना की वृद्धि के साथ कम होता चला जाता है। इस निषेध में लज्जा, प्रेम और विश्वास का अपूर्व भाव बना रहता है। इसी से इन निषेधों से नायक के मन में विकर्षण का भाव उत्पन्न न होकर आकर्षण का भाव ही उत्पन्न होता है। इस आकर्षण की स्पष्ट अभिव्यक्ति पारस्परिक हास्य-विनोद आदि में होती है।

हास्य-विनोद—पारस्परिक प्रेम-भाव की पूर्णता में नायक-नायिका का हास्य-विनोद दोनों के बीच हृदय की निष्कपटता और एकता की अभिव्यक्ति करता है। प्रेम-व्यापारों में हास्य-विनोद से उसके घनत्व और आकर्षण में वृद्धि होती है। हास के द्वारा वाणी की मधुरता एक विशिष्ट अर्थ को व्यंजित करती है, जिसका सम्बन्ध रहःकेलि से होता है। हास्य-विनोद मानसिक आकर्षण का बाह्य प्रकाशन है, जो वचन-वक्रता अथवा वचन की

---

1 केलि की रैनि अघाने नहीं, दिन हूं में लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोऊ पानी दै जाइयो, भीतर बैठि के बात सुनाई।
जेठी पठाई गई दुलही हँसि, हेरि हरैं 'मतिराम' पठाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीनो, सो गेह की देहरी पै धरि आई।

अ० सा० का ना० भेद पृ० २४०

मधुरिमा से व्यक्त हो जाता है। इस परिहास का उद्देश्य प्रिय की अवहेलना नहीं, अपितु प्रेम की अभिव्यञ्जना ही होती है। इसी से प्रेम पूर्ण हास्य-विनोद या नोंक-झोंक कलह का कारण नहीं है, अपितु आकर्षण का साधन है।

रीतिकालीन हास्य-विनोद में कवियों की मूल दृष्टि पारस्परिक आकर्षण के बढ़ाने में अधिक थी। वे नायक-नायिका की नोंक-झोंक एवं व्यंग्य-विनोद का चित्र निम्नांकित रूपों में प्रस्तुत करते हैं :—

१. छेड़-छाड़ के रूप में-क्रियामूलक।

२. कटाक्ष या व्यंग्य मूलक।

३. प्रशंसा मूलक।

४. उपहास मूलक।

इनमें छेड़-छाड़ के रूप में चित्रित नोंक-झोंक द्वारा दोनों के पारस्परिक प्रेम का ज्ञान होता है। शरीर एवं वचन दोनों की ही क्रियाशीलता दिखाई गई है। इसका वर्णन तीन अवसरों पर हुआ है (१) श्रीकृष्ण और गोपी की पारस्परिक नोंक-झोंक में। (२) गोपी द्वारा श्रीकृष्ण की अचगरी का वर्णन सखी से करने में। (३) दान प्रसंग पर। इनमें पहले में शारीरिक प्रेममूलक चेष्टा और दूसरे में वचन की प्रगल्भता व्यक्त हुई है। एक-एक उदाहरण पर्याप्त होगा :—

(१) वह सांकरी कुञ्ज की खोरि अचानक राधिका माधव भेंट भई।
मुसक्यानि भली अँचरा की अली, त्रिवली की बलीपर दीठि गई।
झहराइ झुकाइ रिसाइ 'ममारख' बांसुरिया हँसि छीनि लई।
भृकुटी मटकाइ गुपाल के गाल में आँगुरी ग्वालि गड़ाइ गई।

(२) मेरी गही उन चूनरी मोहन, मैं हूं गह्यो उनको तब फेंटा।
मेरो गह्यो उन हारि झपेटि के, मैं हूं गही बन माल झपेटा।
आजुलों 'वेनी प्रवीन' सही जे भई सखियानि में घाल समेटा।
मोसों कह्यो अरी कौन की वेटी है, मैं हूं कह्यो तू है कौन को बेटा।

रीo काo संग्रह पृ. २५०

इनमें प्रथम उदाहरण में श्रीकृष्ण और राधा समभाव से छेड़-छाड़ में संलग्न हैं और दूसरे में एक दूसरे के उत्तर प्रत्युत्तर का वर्णन सखी से किया गया है। दोनों में ही सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत हो सका है। प्रेम पूर्ण विनोद का एक अच्छा पद देव ने लिखा है। सखियों के संग सांकरी गली में जाती हुई राधा को जानकर श्रीकृष्ण आ जाते हैं और पुकार कर कहते हैं कि आप तो हमारा कोउ जान-पहचान की मालूम पड़ रही हैं। इसे सुन राधा ने मुँह फेर कर उत्तर दिया कि आप यहां से चले जायें, आप हमें जानते हैं और मैं भी

आपको जानती हूं।" [1] इस प्रसंग के सौन्दर्य को एक भुक्तभोगी ही जान सकता है।

दान-प्रसंग पर वचनों की प्रसन्नतापूर्ण परिहास एवं प्रेम पूर्ण फटकार से आकर्षण की योजना की गई है। गोपी कहती है कि "तुम्हें ही नई तरुणाई मिली है जो दिन रात छके रहते हो। आप अपना दान लो और मुझे जाने दो। मैं तुम्हारी बातें अच्छी प्रकार जानती हूं।" [2] इस कथन में नायिका की प्रगल्भता से सौन्दर्य- चित्र मोहक हो जाता है। रसखान ने तो मतिराम के इस सांकेतिक भाव को और स्पष्ट करने की चेष्टा की है। गोपी कहती है कि हे कान्ह! यदि तुम दूध और माखन चाहते हो तो तुम जितना दूध पीना चाहो पीलो और जितना माखन चाहो, खालो, परन्तु मैं तुम्हारे हृदय की बात जानती हूं। तुम 'गोरस' के माध्यम से जिस रस को चाहते हो, वह तुम्हें रंच मात्र भी प्राप्त न हो सकेगा।

'छीर जो चाहत चीर गहे, ए जू लेहु न केतक छीर अचैंहो।
चाखन के हित माखन मांगत, खाहु न माखन केतिक खैहो।
जानत हैं जिय की 'रसखानि' सु काहे को एतिक बात बढ़ैहो।
गोरस के मिस जो रस चाहत, सो रस कान्ह जू नेक न पैहो।[3]

वचन माधुर्य एवं द्वयार्थक रूप में प्रयुक्त 'गोरस' शब्द से अभिव्यञ्जनात्मक सौन्दर्य स्पष्ट होता है। प्रगल्भता पूर्ण फटकार द्वारा शृङ्गारिक चेष्टाओं

---

1 लागी प्रेम डोरि खोरि सांकरी ह्वै कढ़ि आई,
नेह सों निहोरी जोरि आली मनभावती।
उतते उताल 'देव' आये नन्द लाल,
इत सौंहे भई बाल नव लाल सुख सानती।
कान्ह कह्यो टेरिके कहां, ते आई को हो तुम,
लागति हमारे जान कोई पहिचानती।
प्यारी कह्यों फेरि मुख हरि जू चलेई जाहु,
हमैं तुम जानत, तुम्हैं हूं हम जानती। देव

2 ऐसी करो करतूति बलाय, त्यों नीकी बड़ाई लहौं जग जातें।
आई नई तरुनाई तिहारी ही, ऐसे छके चितवो दिन रातें।
लीजिये दान हौं दीजिये जान, तिहारी सबै हम आनति घातें।
जानो हमैं जनि वै बनिता जिनसों तुम ऐसी करो बलि बातें।
मतिराम

3 रीति काव्य संग्रह से पृष्ठ ३३२/१९ रसखानि

का सौन्दर्य व्यक्त हो जाता है। श्रीकृष्ण स्वयं भी छेड़-छाड़ करने में प्रगल्भ हैं। मून कवि ने लिखा है कि मुस्कराकर बोलने को तत्पर छवीली के कुचों के बीच में ताक कर कृष्ण कांकरी मार देते हैं और वह हाँ या ना कुछ भी न कहकर द्विविधा की स्थिति में पड़ी रह जाती है।[1]

कटाक्ष या व्यंग्य रूप में छेड़-छाड़ की प्रवृत्ति भी प्रेममूलक ही कही जायगी। यह प्रवृत्ति दो रूप में लक्षित होती है (१) नायिका द्वारा नायक पर कटाक्ष करना। (२) सखी द्वारा नायिका से परिहास करना।

नायिका द्वारा नायक पर कटाक्ष प्रायः रति चिह्नों के देखकर किया है। इस कटाक्ष में नायिका की नायक के प्रति अवहेलना व्यक्त की गई है। इसका उद्देश्य उसका अपमान करना नहीं हैं अपितु इससे उसको अभिलाषा बढ़ती है और वह नायिका की ओर आकृष्ट होता है। इस प्रकार का वर्णन रीतिकाल में अधिक हुआ है। 'वेनी-प्रवीन' का एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा :—

"आवै हँसी हमें देखत लालन, भाल में दीन्हीं महावर घोरी।
एतै बडे ब्रजमंडल में न मिली कहूं मांगेहुँ रंचक रोरी।
रीति काव्य संग्रह पृष्ठ २४८

इस उदाहरण में रति चिह्नों को देखकर श्रीकृष्ण की रसिकता पर करारा व्यंग्य किया गया है। इसकी चोट सीधे हृदय में जाकर प्रविष्ट हो जाती है और श्रीकृष्ण निरुत्तर हो जाते हैं।

सखी द्वारा इसी प्रकार के रस-प्रसंग के संकेत से भावनाओं का सौन्दर्य व्यक्त किया गया है। गौने के दिन बिछुवा पहनाते समय सखी परिहास के माध्यम से कटाक्ष करती है कि "यह बिछुआ प्रियतम के कानों के समक्ष सदा बजता रहे।" इसे सुनकर बनावटी क्रोध से नायिका अपना हाथ चलाना चाहती है, परन्तु हाथ उठ ही नहीं पाता है।[2]

---

1 मुरि मुसकाई के छवीली पिक-बैनी नेक,
करत उचार मुख बोलन को बांक री।
ताक री कुचन बीच कांकरी गोपाल मारी,
सांकरी गली, में प्यारी हाँ करी न ना करी।
री.का.सं.पृ. २६७

2 कंचन के बिछुवा पहिरावत, प्यारी सखी परिहास बढ़ायो।
पीतम स्रौन समीप सदा बजै, यों कहि के पहिले पहिरायो।
मतिराम—री. का. कवियों की प्रेम व्यञ्जना पृ. १८६ से

प्रशंसामूलक हास्य में अंगों की विशेषता को व्यक्त करते हुए छेड़छाड़ से उत्पन्न विनोद की अभिव्यक्ति हुई है। इसमें एक ओर श्रीकृष्ण को छेड़ा जाता है और दूसरी ओर उनकी प्रशंसा की जाती है। रघुनाथ कवि की गोपी कहती है कि "हे बड़ी आंखों वाले ग्वाल, तू खड़ा हो जा मैं तुझसे कुछ कहना चाहती हूं।"[1]

उपहास के द्वारा हास्य-विनोद के भाव व्यक्त किये गये है। यहां चेष्टा के द्वारा मानसिक भावनाओं का प्रकटीकरण है। यह उपहास श्रीकृष्ण के छैलापन और उनके रंग का किया गया है। श्रीकृष्ण एक ओर तो छैला बनते हैं और दूसरी ओर कामरी ओढ़े हुए हैं। उनके इस विरोधी स्वरूप को देखकर गोपियां उपहास करती हैं कि इस वेश में घूमते हुए तुम्हें लज्जा नहीं प्रतीत होती है "ऐसे ही डोलत छैल भये, तुम्हें लाज न आवत कामरि ओढ़े।"[2] एक अन्य गोपी श्रीकृष्ण के काले रंग का उपहास करती हुई अपनी प्रेम मूलक भावना व्यक्त करती है कि हे कृष्ण तुम्हारे स्नान करने से ही कालिंदी काली हो गई है यदि इस कालिन्दी में भूल से भी साड़ी धोलूं तो काली हो जायगी। यदि यह सांवरा रंग मेरे सुन्दर अंगों में लग जायगा तो मेरे अंगों की गोराई समाप्त हो जायगी।

न्हातई न्हात तिहारई स्याम कलिन्दियो स्याम भई बहुतै है।
धोलेहु धोयहीं या में कहूं तो यहै रंग सारिन में सरसैहै।
सांवरे अंग को रंग कहूं यह मेरे सुअंगन में लगि जैहैं।
छैल छबीले छुओगे जो मोहि, तो गातन मेरे गोराई न रैहै।[3]

इन विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि मानसिक आकर्षण की अभिव्यक्ति में हास-परिहास पूर्ण आमोद एवं छेड़छाड़ द्वारा मन की दूरी हटकर निकटता बढ़ जाती है। कायिक चेष्टाओं से भिन्न इनके स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं कही जा सकती है, फिर भी सौन्दर्य की जनक चेष्टाओं को सुविधा के लिये कायिक और मानसिक चेष्टाओं में बांटकर स्पष्ट किया गया है। कारण यह है कि केवल शारीरिक आकर्षण ही सब कुछ नहीं

---

1 रीझी सरूप सों भीजी सनेह यों बोली हरैं रस आखर भारे।
ठाढ़ हो तोसों कहौंगी कछू अरे ग्वाल बड़ी-बड़ी आंखिन वारे।
री. का. सं० पृ० ३६६ रघुनाथ

2 रस-रत्नाकर पृ० २२६

3 रीति काव्य संग्रह पृ. ४१०

है, मानसिक आकर्षण का भी महत्त्व निर्विवाद रूप से है। अब वाचिक चेष्टा का संकेत करके इस प्रसंग को समाप्त किया जायगा।

वाचिक चेष्टा—मानसिक भावों की अभिव्यक्ति वाचिक चेष्टा द्वारा भी की गई है। वाचिक चेष्टा का अर्थ वचन द्वारा मानसिक भावनाओं की अभिव्यक्ति है। यह वचन चेष्टा द्वारा प्रकट होने वाली मन की क्रिया है। इसे दो रूपों में देखा जा सकता है (१) वचन-विदग्धा नायिका में (२) स्वर माधुर्य में।

वचन-विदग्धा नायिका चतुरता से पर पुरुष के अनुराग विषयक कार्य को सम्पन्न करती हुई संकेत स्थल, समय आदि का ज्ञान करा देती है। वचन का यह वैदग्ध्य दो प्रकार से व्यक्त हुआ है। (१) अन्य सखी के माध्यम से (२) स्वयं नायिका के नायक से निवेदन करने पर।

(१) अन्य सखी के माध्यम से व्यक्त वचनों में सहेट की चर्चा की गई है। कृष्ण को आया जानकर नायिका अपनी सखी से ऊँचे स्वर में कहती है कि मैं तारों की छाया में कातिक नहाऊँगी, तू भी बंशीवट पर मुझे मिल जाना।[1] इसी प्रकार घर के पिछवारे स्थित कृष्ण को जानकर दूसरी गोपी 'देवी के धौहरे' की पूजा करने की बात कहकर संकेत स्थल का ज्ञान करा देती है।[2] ऐसे प्रसंगों पर साक्षात् संकेतित अर्थ से भिन्न एक प्रतीयमान अर्थ का अभिव्यञ्जनात्मक सौन्दर्य भी वर्तमान रहता है। कभी नायक की ओर से भी दूती द्वारा संकेत स्थल का ज्ञान करा दिया जाता है।[3]

(२) स्वयं दूतिका का कार्य करती हुई कृष्ण को गोदोहन के बहाने से आमन्त्रित करने में यही वचन-वैदग्ध्य दिखाई पड़ता है।

१. जब लौं घर को धनी आवै घरैं, तब लौं इतनी करि दैबो करो।
'पद्माकर' ये बछरा, अपने बछरान के संग चरैबो करो।
अब औरन के घर सों हम ते तुम दूनी दुहावनी लैबो करो।
नित साँझ सकारे हमारी हहा, हरि गैयां भले दुहि जैबो करो।[4]

---

1 ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद पृ० २७३
2 सुन्दर-शृङ्गार पद ७१
3 नखत से फूलि रहे, फूलन के पुंज घन
कुंजन में होति जहाँ दिन हू में राति है।
ता बन की बाट कोऊ संग न सहेली साथ,
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है। रसराज २६७ मतिराम
4 ब्र० साहित्य का नायिका भेद पृ. २७६/२७४

२. कवि 'ग्वाल' चराय लै आवनी है अरु बांचनी पौरि सुहावनी है।
मन भावनी दैहौं दुहावनी मैं, यह गाय तुही पै दुहावनी है।[1]

वचन-वैदग्घ्य के साथ ही नायिका के स्वर का माधुर्य भी नायक को आकर्षित कर लेने का साधन है। उसके कण्ठ स्वर को सुनने में नायक की उत्सुकता व्यक्त हो जाती है। उसकी वाणी की रसालता, स्निग्धता, प्रफुल्लता, अमृतमयता आदि गुणों से नायक का मन आकृष्ट हो जाता है। ऐसा उदाहरण रीतिकालीन काव्य में कहीं भी देखा जा सकता है। दूसरी ओर नायक के वचन-माधुर्य का रस लेने के लिये नायिका भी अनेक उपाय करती दीख पड़ती है।[2] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वाचिक चेष्टा या स्वर माधुर्य आकर्षण को बढ़ाने में सहयोग देने वाली क्रियाओं के रूप में ग्राह्य हैं। इसमें वचन-विदग्धा नायिका का सौन्दर्य अधिक होता है। भाव प्रकाशन की इस वाचिक क्रिया से मन का अनुराग व्यक्त हो जाता है और स्वर माधुर्य से मन खिंचकर एक दूसरे पर केन्द्रित हो जाता है।

(ख) सामान्य चेष्टा—

चेष्टापरक सौन्दर्य विवेचन के आरम्भ में सम्पूर्ण शृंगार मूलक चेष्टाओं को विशेष चेष्टा और सामान्य चेष्टा में विभाजित किया गया था। विशेष चेष्टा को तीन वर्गों—कायिक, मानसिक और वाचिक—में विभाजित करके उनका विश्लेषण प्रस्तुत किया जा चुका है। यहाँ इन चेष्टाओं से भिन्न अन्य सामान्य चेष्टाओं का संक्षिप्त संकेत करके प्रबन्ध की शृङ्खला को बनाये रखने का प्रयास किया जायगा।

सामान्य चेष्टा के अन्तर्गत यौवनावस्था के अलंकारों का ग्रहण हुआ है। इस अवस्था में अनेक शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों से नायिका के व्यक्तित्व में मोहकता आ जाती है। वह आकर्षक प्रतीत होने लगती है। यह परिवर्तन सभी नायिकाओं में समान रूप से होता है। इन परिवर्तनों का ज्ञान उसकी अनेक चेष्टाओं से होता है। इन चेष्टाओं में भी समानता रहती है। अपनी इस सामान्य स्थिति के कारण ही इन्हें सामान्य चेष्टा के अन्तर्गत माना गया है।

इन अलंकारों की संख्या बीस मानी गई है। इनकी तीन कोटियाँ

---

[1] ब्रज साहित्य का नायिका भेद पृ. २७७/२७६

[2] बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाय। बिहारी

अंगज, अयत्नज और स्वभावज की गई हैं। अंगज में हाव, भाव, हेला की गणना होती है। अयत्नज में शोभा, कान्ति, दीप्ति आदि अलंकारों की गणना होती है। ये शारीरिक गुण हैं जो अपने आप ही स्वाभाविक रूप में नायिका में उत्पन्न हो जाते हैं। ये कृति साध्य नहीं है। इनका विकास चेष्टा के रूप में न होकर गुण के रूप में होता है। इससे चेष्टापरक क्रिया के अन्तर्गत इनका समावेश नहीं हो सकता है। लीला, विलास, विच्छित्ति, विव्वोक, किल किंचित्, विभ्रम ललित, विहृत, मोट्टायित, कुट्टमित आदि की गणना स्वभावज अलंकारों के अन्तर्गत होती है। ये अलंकार स्वभाव सिद्ध होते हुए भी कृति साध्य हैं। यौवनावस्था में स्वभाव से ही इसकी उत्पत्ति होती है, फिर भी इनमें यत्न की महत्ता वर्तमान रहती हैं। ध्यान रखने की बात है कि अंगज और स्वभावज अलंकारों द्वारा व्यक्त विभिन्न चेष्टाओं में शारीरिक व्यापार की प्रधानता बनी रहती है। शरीर का कोई न कोई अंग इनका आधार बना रहता है।

अंगज अलंकार अपने नाम से ही शारीरिक महत्ता का प्रतिपादन करते हैं। यह कामज अलंकार है। इनमें संभोग की इच्छा को प्रकाशित करने वाले भृकुटि नेत्र आदि के विलक्षण व्यापार को 'हाव' कहते हैं। यह स्वाभाविक चेष्टा नायिका की भाव-भंगिमा द्वारा प्रकट होती है। इससे उसका सौन्दर्य बढ़ जाता है। इन चेष्टाओं की महत्ता शृङ्गाररस में ही रहती है, अन्य रसों में नहीं। 'भाव' यौवनारम्भ पर निर्विकार चित्त में उत्पन्न हुए प्रथम काम विकार को कहते हैं। इन दोनों में हाव में शारीरिक व्यापार और भाव में हृदय की प्रधानता रहती है। हाव की योजना रीतिकालीन साहित्य में अधिक दीख पड़ती है। विहारी, मतिराम और देव की हाव योजना आकर्षक है। यह स्त्रियों की एक स्वाभाविक शृङ्गार चेष्टा है। मानसिक व्यापार ही भ्रू-निक्षेपादि से प्रकट होकर हाव संज्ञा को धारण करते हैं। दोनों का एक-एक उदाहरण लें—

(१) "हौं अलि आज बड़े तरके भरिके घट गोरस को पग धारो।
त्यों कब को धौं खर्‌यो री हुतो, 'पद्‌माकर' मोहित मोहिनी वारो।
साँकरी खोरि में कांकरी की करि चोट चलो फिर लौटि निहारो।
ता खिन तें इन आँखिन ते न कढ्‌यो वह माखन चाखन हारो।
(२) गहि हाथ सो हाथ सहेली के साथ में आवति ही बृषभानु लली।
'मतिराम' सुवात ते आवत नेरे, निवारति भौंरनि की अवली।
लखि के मनमोहन सों सकुची, कह्यो चाहति आपुनि ओट लली।
चित चोर लियो दृग जोरि तिया, मुख मोरि कछू मुसक्यात चली।

प्रथम उदाहरण में कांकरी मारकर पुनः लौटकर देखना मोहक 'हाव' की योजना करता है और दूसरे से वृषभानु लली के निर्विकार चित्त में मनमोहन का प्रेम उत्पन्न होने से संकोच की अभिव्यक्ति हो गई है, जिससे शारीरिक व्यापार के रूप में वह मुख मोड़ कर मुस्कराती हुई चली जाती है। इस चेष्टा से आकर्षण बढ़ता है। इससे यह सौन्दर्य वर्द्धक चेष्टा हुई। 'हाव-मूलक' आंगिक चेष्टा ही सुव्यक्त होकर 'हेला' कही जाती है।

'भाग के भोर अभीरनि में गहि गोविन्दै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की 'पद्माकर' ऊपर डारि अबीर की झोरी।
छीनि पितम्बर कम्बर ते सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाइ कही मुसकाइ लला फिर आइयो खेलन होरी।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि अंगज अलंकारों की योजना में रीतिकालीन कवियों ने संदर्भ विशेष या एक लघु कथा का समावेश कर दिया है। इसीसे इन नायिकाओं में इन चेष्टाओं द्वारा अपनी अभिरुचि को प्रकट करने का वर्णन सभी कवियों ने किया है। ये नायिकाएं-भ्रू, नेत्रादि का स्वच्छन्दता से प्रयोग करके नायक को रिझाने में सदैव तत्परता दिखाती हैं। उनके इस विलासमय आकर्षण और सौन्दर्य को बढ़ानेवाली चेष्टाओं में युग की प्रवृत्तियाँ पूर्णतः दीख पड़ती हैं। रीतिकालीन इन अलंकारों में अभिव्यञ्जनात्मक सौन्दर्य भी पूर्णतः दीख पड़ता है, जिससे प्रेमिका के हृदय की सजीवता मूर्तिरूप धारण करके स्पष्ट हो जाती है। उसमें चित्र-विधायिनी शक्ति एवं गुण से इसका महत्त्व बढ़ जाता है। प्रायः ऐसे प्रसंगों पर वातावरण की सृष्टि द्वारा मादकता की सृष्टि की गई है।

स्वभावज अलंकारों में लीला विलास आदि केवल दश अलंकारों की ही गणना होगी। साहित्यदर्पण कार द्वारा कहे गये शेष तपन मौग्ध्य आदि में कायिक चेष्टाएं सुव्यक्त न होकर मानसिक भावों की ही प्रधानता होती है। इससे उनकी गणना चेष्टा के अन्तर्गत नहीं होती है। स्वभावज अलंकार स्वाभाविक होते हुए भी कृति के द्वारा साध्य है। इनमें लीला विलासादि में शारीरिक व्यापार रहता है और मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, विहृत मानसिक भावों की अभिव्यक्ति करने वाले व्यापार हैं। रीतिकालीन काव्य में इन अलंकारों का स्वच्छन्दता के साथ प्रयोग किया गया है।

इन सभी अलंकारों द्वारा शारीरिक क्रियाओं से सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है। इन अलंकारों को व्यापार की दृष्टि से अनेक भागों में बांट सकते हैं—

(१) त्वरामूलक चेष्टा में 'विभ्रम' का नाम लिया जा सकता है। प्रिय-ग्रागमन प्रसंग पर जल्दी के कारण वस्त्रभूषणादि को ग्रन्य ग्रंगों में धारण कर लिया जाता है। इसकी प्रतिक्रिया में सखियों का उपहास ग्रथवा विनोद का भाव छिपा रहता है। इसमें एक ग्रोर प्रसन्नता ग्रौर दूसरी ग्रोर नायिका की जल्दीबाजी का मजाक रहता है। यथा:—

स्याम सो केलि करी सिगरी निसि सोवत प्रात उठी थहराय कै।
ग्रापने चीर के धोखे बधू, पहिरो पट पीत भटू भहराय कै।
बाँधि लई कटि सो बनमाल न किंकिनी बाल लई ठहराय कै।
राधिका के रसरङ्ग की दीपति संग की हेरि हँसी हहराइ कै।

रस-रत्नाकर पृ० २३२

(२) प्रसाधनमूलक चेष्टा में विच्छित्ति ग्रौर ललित की गणना होगी। कान्ति को बढ़ाने वाली ग्रल्प रचना 'विच्छित्ति'[1] कही जाती है। स्वाभाविक शोभा होने पर ही ग्राकर्षक एवं ग्रल्प-रचना सौन्दर्य की वृद्धि कर सकती है। संयोग के ग्रवसर पर शृंगार द्वारा ग्रंगों का विन्यास भ्रू विलास की मनोहरता ग्रौर ग्रांगिक क्रियाग्रों की सुकुमारता 'ललित'[2] कही जाती है। इन दोनों में ही शारीरिक रचना द्वारा स्वाभाविक सौन्दर्य को बढ़ाने की चेष्टा की जाती है। इससे सौन्दर्य साधक इन चेष्टाग्रों द्वारा संयोग का ग्राकर्षण बढ़ता है।

(३) ग्रनुकरणमूलक चेष्टा में 'लीला' का नाम लिया जा सकता है। इसमें रम्य-वेश, क्रिया ग्रौर प्रेमपूर्ण वचनों द्वारा नायिका ग्रौर नायक के

---

1 वारने सकल एक रोरी ही की ग्राड़पर,
हा-हा न पहरि ग्राभरन ग्रौर ग्रंग में।.........
स्वेत सारी ही सों सब सों तो रंग्यो स्याम रंग,
स्वेत सारी ही में स्याम रंग लाल रंग में। मतिराम

2 सजि ब्रजचंद पै चली यों मुखचंद जाको,
चंद चांदनी को मुख मन्द सों करत जात।
कहै 'पदमाकर' त्यों सहज सुगंध ही के,
पुंज बन कुंजन में कंज से भरत जात।
धरत जहां ही जहां पग है पियारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही के माठ से धरत जात।
बारन ते हीरा सेत सारी की किनारिन ते,
हारन ते मुक्ता हजारन भरत जात।

पारस्परिक अनुकरण की महत्ता होती है। वेष-परिवर्तन द्वारा नई कान्ति एवं छवि को धारण करने की भी चेष्टा की जाती है। इससे एक दूसरे के भिन्न रूप का आस्वादन मिल जाता है।[1] लीला के द्वारा प्रेम-व्यापार में सान्द्रता उत्पन्न हो जाती है और नायक-नायिका की निकटता बढ़ती है। यह प्रेम-भाव की अभिवृद्धि करने वाली चेष्टा है।

(४) अभिव्यक्ति मूलक चेष्टा में भावों का बाह्य प्रकाशन किया जाता है। इसमें कुट्टमित, बिव्वोक और विहृत की गणना होगी। कुट्टमित में निषेध का सौन्दर्य रहता है। यह रति को बढ़ाने वाली एक कृत्रिम क्रिया है। प्रिय के द्वारा केश, स्तन, मुख, अधर आदि काम अंगों के स्पर्श से हृदय में प्रसन्न होते हुए भी कृत्रिम अनिच्छा को अंगों के संचालन और सीत्कार आदि के द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसमें भावों की अभिव्यक्ति विपरीत व्यापार द्वारा की जाती है, परन्तु उसका उद्देश्य प्रतिकूलता उत्पन्न करना न होकर नायक की भावनाओं को अधिक उद्दीप्त करना होता है। 'बिव्वोक' में रूप और प्रेम गर्व के कारण अथवा पति की रसिकता के कारण उसका अनादर कर दिया जाता है। इसमें मानसिक लगाव बना होते हुए भी केवल वचनों द्वारा प्रिय का अनादर करके उसके दोष का कथन किया जाता है। यह भी 'कुट्टमित' की ही भाँति स्वीकृतिमूलक अस्वीकृति पूर्ण क्रिया है। कुट्टमित में वचन निषेध या अनुभाव निषेध होता है और 'बिव्वोक' में अवहेलना मूलक निषेध होता है। रीतिकाल में 'बिव्वोकगत' इस निषेध की चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ वर्णित हैं—

---

[1] रूप रच्यो हरि राधिका को, उनहूं हरि रूप रच्यो छबि छावत।
गावत तान तरंग दुहूं-दुहूं भाव बताय दुहूंन रिझावत।
त्यों 'भुवनेश' दुहूंन के नैन, दुहूंन के आनन पै टक लावत।
छाइ रही छबि वैसेई री, सुनो जो हुती चंद चकोर कहावत।

[2] तेरी परतीति ना परति अब संमुख हूं,
छैल जू छबीले मेरी छूजे जिन छतियाँ।
रात सपने में जनु बैठी मैं सदन सूने,
गोपाल तुम मेरी गहि लीनी वहियाँ
कहैं कवि 'तोष' तब जैसो-तैसो किन्हीं अब,
कहत न बनि आवे तैसी हम पहियाँ।
तुम न बिहारी नेकु मानो मन हारी अरु,
कहि, कहि हार रही नाही अरु नहियाँ। नवरस पृ० २४६

(क) विपरीत लक्षणा द्वारा अस्वीकृति से स्वीकृति का बोध करा देना। इसमें स्पष्ट रूप से किसी कार्य को करने के लिए नायिका मना करती है, परन्तु उसके इस निषेध से आमन्त्रण की ध्वनि निकलती रहती है। प्रयुक्त क्रिया शब्दों से निषेधात्मक अर्थ न निकलकर स्वीकारात्मक अथवा आमंत्रण देने वाला अर्थ ध्वनित होता है—

"ऐ अहीर वारे तो सों जोरि कर कोरि-कोरि,
विनय सुनावों बलि बांसुरी बजावें जनि।
बांसुरी बजावै तो बजाउ मो बलाय जानि,
बड़ी-बड़ी आंखिन तैं एक टक लावैं जनि।
लावैं तो लाव टक 'तोष' मोसो कहा काम,
परि नाम दौरि-दौरि मेरी पौरि आवैं जनि।
आवैं है तो आव हम आइबो कबूलों पर,
मेरे गोरे गात में असित गात छ्वावैं जनि।

इस छंद में निषेध द्वारा सभी कियाओं को सम्पन्न करने का निमंत्रण देना स्पष्ट रूप से व्यंजित है। इनका विपरीत लक्षणा से अर्थ लगकर यह भाव होगा कि हे अहीर के बालक इन सभी क्रियाओं को तू अवश्य सम्पन्न करले।

(ख) रूप अथवा प्रेमगर्विता द्वारा प्रिय का अनादर करके अपने प्रेम भाव की अभिव्यक्ति की जाती है।[1] प्रायः रूप लुब्ध नायक नायिका के सौन्दर्य की प्रशंसा करता है। नायिका समान रूप में प्रयुक्त प्रसिद्धतम उपमानों की महत्ता को जानकर भी उस समता से अपनी अप्रसन्नता व्यक्त करती है। इस अप्रसन्नता में अपने प्रेम अथवा रूप के गर्व की भावना रहती है। दिये गये उदाहरण में राधा कहती है कि श्रीकृष्ण नित्य ही मेरे मुख को चन्द्रमा के समान कहते हैं तो फिर मेरा मुख देखने की 'क्या आवश्यकता है, वे तो चन्द्रमा ही देखा करें।" इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि इस अभिव्यक्ति में नायिका का असीम विश्वास वर्तमान है। उसी के बल पर वह गर्व से युक्त इन वचनों के बोलने का साहस संचित कर पाती है।

(३) प्रिय के उपहास द्वारा उनका अनादर करने की चेष्टा में भी 'बिब्वोक' की अभिव्यक्ति होती है। यह प्रेम व्यंजक अभिव्यक्ति कही जा सकती

---

1 मेरो मुख चन्द सों बतावैं ब्रजचंद रोज,
कहो ब्रजचंद जू सों चन्द देखिबो करैं। रस रत्नाकर २३०

है। इससे विनोद के साथ ही मन के प्रेम-भाव की सान्द्रता एवं गहन अनुराग का ज्ञान हो जाता है।

ऐसे ही डोलति छैल भये, तुम्हें लाज न आवति कामरि ओढ़ें।

रस-रत्नाकर पृ० २२६

इस प्रेमपूर्ण मीठी झिड़की में अनुराग-लिप्त हृदय बरबस स्पष्ट हो जाता है।

(४) प्रेम गर्विता का आक्रोश पूर्ण अनुराग भी इसी भाव की अभिव्यक्ति करता है। सोती हुई नायिका का शृङ्गार नायक करता है। इसी बीच में वह जाग जाती है और भौंहो की भंगिमा तथा अनबोले वचन से अपने रूप का गुमान व्यक्त कर देती है—

"जागि परी 'मतिराम' सरूप गुमान जनावति भौंह के भंगनि।
लाल सों बोलति नाहिन बाल, सु पोछति आँखि अंगोछति अंगनि।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि नायक के प्रसाधन की स्पष्ट स्वीकृति न देकर अपने प्रेम गर्व के कारण अनादर द्वारा अस्पष्ट स्वीकृति देती है।

'विहृत' में शालीनता का भाव वर्तमान रहता है। इस शालीनता से 'लज्जा' की उत्पत्ति होती है। लज्जा के कारण अभिलाषा का अभिव्यक्त न हो सकना ही 'विहृत' कहा जाता है। यह एक मानसिक भाव है जो चिन्ता के रूप में अभिव्यक्त होता है। प्रायः मुग्धा नवोढ़ा नायिकाएँ प्रिय के समक्ष अपनी अभिलाषा को लज्जा के कारण व्यक्त नहीं कर पाती हैं। उनके मन की बातें मन में ही रह जाती हैं, प्रिय के जाने के बाद अनभिव्यक्त अभिलाषा ही चिन्ता में बदल जाती है। वचन और नेत्रों का असहयोग ही इसका मुख्य कारण माना जाता है। यथा—

बोलि हारे कोकिल बुलाय हारे केकी गन,
सिखै हारीं सखी सब जुगुति नई-नई।
'द्विजदेव' की सों लाज बैरिन कुसंग इन,
अंगन ही आपने अनीति इतनी ठई।
हाय इन कुञ्जनि में पलटि पधारे स्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधा मई।
आवन समैं में दुखदायिनी भई री लाज,
चलन समैं में चल पगेन दगा दई।

इसके अन्तिम पंक्ति में लज्जा और चंचल नेत्रों के असहयोग की भावना को स्पष्ट किया गया है। इसी असहयोग के कारण नायिका ने अपनी चिन्ता व्यक्त की है।

(५) वैशिष्ट्यमूलक चेष्टा में विलास, किलकिञ्चित और मोट्टायित आते हैं। इन तीनों चेष्टाओं में प्रिय सम्बन्ध से एक विशेषता उत्पन्न हो जाती है यह मानसिक भावों की अभिव्यक्ति में सहायक होती है। प्रिय के दर्शन से अथवा संयोग से स्थान, आसन, मुख नेत्रादि की चेष्टाओं में तात्कालिक उत्पन्न वैशिष्ट्य को विलास कहते हैं। यह वैशिष्ट्य अवस्थागत,[1] औत्सुक्यमूलक[2] और प्रेम व्यंजक[3] हो सकता है। अवस्थागत वैशिष्ट्य में प्रिय दर्शन से उत्पन्न अतृप्ति और दर्शन की अभिलाषा बनी रहती है। किसी बहाने से प्रिय दर्शन का अधिक से अधिक लाभ ले लेने की चेष्टा की जाती है। प्रेम व्यंजक चेष्टाओं में पारस्परिक प्रेम चेष्टाओं का वैशिष्ट्य रहता है। इन सभी विशेषताओं से युक्त चेष्टा को 'विलास' कहा गया है।

'किलकिञ्चित' में भावों की शवलता का वैशिष्ट्य होता है। प्रेमाधिक्य के कारण विपरीत भावों की स्थिति भी बनी रहती है। भय, प्रीति, परिहास आदि अनेक भाव व्यक्त हो जाते हैं। अतः प्रिय समागम से उत्पन्न प्रसन्नता के कारण गर्व, अभिलाष, कृत्रिम रुदन, मुस्कराहट, भृकुटि, भय, त्रास क्रोध आदि की मिश्रित क्रिया को 'किलकिञ्चित' कहते हैं। इन क्रियाओं द्वारा प्रेम के आधिक्य की व्यञ्जना होती है। छेड़छाड़ मूलक, या परिहास मूलक क्रियाओं द्वारा भी प्रिय की ओर से किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका नहीं रहती है। इसी से नायिका की प्रगल्भ चेष्टाएँ भी वर्णित होती हैं। ऐसी

---

[1] आइ है खेलन फाग इहाँ, वृषभानु पुरा तें सखी संग लीने।
त्यों 'पद्माकर' गावती गीत, रिझावति भाव बताय नवीने।
कंचन की पिचकी कर में लिये, केसर के रंग से अंग भीने।
छोटी सी छाती छुटी अलकें, अति वैस की छोटी बड़ी परवीने।

[2] बँसुरी सुनि देखन दौरि चली, जमुना जल के मिस वेगि तवै।
कवि देव सखी के संकोचन सों, करि ऊठ सु ओसर को वितवै।
वृषभानु कुमारि मुरारि की ओर, विलोचनि कोरनि सों चितवै।
चलिबे को धरै न करै मन नैकु, धरै फिर-फेरि भरै-रितवै।

[3] हँसि-हँस करैं बातैं रंगीले दोऊ मदमाते।
गौर-स्याम अभिराम अंग-अंग हिय उमंग बाढ़ी, अतिसरस पास ललचाते।

चेष्टाओं में प्रिय को देखकर मुसकराना, भृकुटि मटकाना, गाल में अंगुली गड़ा देना आदि क्रियाओं का वर्णन किया गया है।[1]

'मोट्टायित' में भावों के गोपन के लिये चेष्टा की जाती है। प्राय: देखा जाता है कि प्रिय सम्बन्धी अपनी आसक्ति के व्यक्त हो जाने पर स्त्रियां उसे छिपाना चाहती हैं। यह भावना दो रूपों में प्रकट होती है (१) अन्य मनस्कता दिखाकर (२) किसी माध्यम से भावों को छिपाकर।

प्रियतम से सम्बन्धित चर्चा के विभिन्न अवसरों पर उसे सुनने में दत्त चित्त होती हुई भी ऊपर से सुनने में अरुचि या अन्यमनस्कता दिखाई जाती है। यही अन्यमनस्कता उसकी इस चेष्टा को आकर्षक बना देती है।

अन्य माध्यम से अपने भावों को छिपाने की चेष्टा की जाती है। श्याम को देखकर शरीर में कम्प का भाव उत्पन्न हो जाता है, परन्तु शीत का नाम लेकर नायिका सिर पकड़ कर बैठ जाती है:—

श्याम विलोकत काम ते, भयो कम्प तन आय।
शीत नाम लै लाज ते, बैठि गई सिर नाय।

गोपन की यह प्रवृत्ति सखियों के समक्ष और स्वयं प्रिय से भी छिपाने में दीख पड़ती है। सखियों से छिपाने की चेष्टा का वर्णन बिहारी ने गमिष्यत् पतिका के प्रसंग पर किया है। ललन का चलना सुनकर नायिका की पलकों में आंसू झलक आते हैं, परन्तु वह जमुहाई लेकर सखियों से आंसुवों को लक्षित होने से बचा लेती है।[2]

प्रिय से अपनी भावनाओं को छिपाने में भी यही प्रयास नायक-नायिका दोनो द्वारा किया जाता है। दोनों एक दूसरे के रूप को सुनकर मानो संग ही रहने लगे हों, वे दोनों अंग में उत्साह बढ़ाकर ध्यान में ही एक दूसरे को देखने

---

[1] वह सांकरी कुञ्ज की खोरि अचानक, राधिका माधव भेट भई।
मुसक्यानि भली अँचरा की अली, त्रिवली की बली पर दीठि गई।
झहराइ झुकाइ रिसाइ 'ममारख' बांसुरिया हँसि छीनि लई।
भृकुटी मटकाइ गुपाल के गाल में आंगुरी ग्वालि गड़ाइ गई।

[2] ललन-चलन सुनि पलन में अंसुवां झलक्यो आइ।
भई लखाई न सखिन हूँ, झूठे ही जमुहाइ। बिहारी

लग जाते हैं,[1] परन्तु इसका ज्ञान किसी को भी नहीं हो पाता है। यह भी एक विशिष्ट क्रिया है। इन्हीं क्रियाओं के माध्यम से सौन्दर्य की अभिवृद्धि की जाती है।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि संयोग के अवसर पर विभिन्न आलंकारिक चेष्टाओं द्वारा नायिका को आकर्षक बनाने की चेष्टा की जाती है। शारीरिक सौन्दर्य की अतिशय रमणीयता और चेष्टामूलक अनुभावों की सफलता से ही प्रिय के संदर्भ में नायिका का यौवन अनुकूल भावों को उद्बुद्ध करने में सहायक सिद्ध होता था। इसी से रीतिकालीन कवियों ने नायिका के गुणमूलक एवं चेष्टापरक विविध हावों द्वारा उसकी नैसर्गिक शोभा को और अधिक मादक बनाकर उसके सौन्दर्य के माध्यम से नायक को आकर्षित करने में अपने अनुभव-गत रसिकता का मूर्त रूप प्रस्तुत कर दिया है। इन आत्मगत तत्त्वों के साथ वाह्य तत्त्वों द्वारा भी रूप सौन्दर्य की अभिवृद्धि की जाती है। ऐसे तत्त्वों में प्रसाधन गत सौन्दर्य और तटस्थ सौन्दर्य का नाम लिया गया है।

प्रसाधनगत सौन्दर्य—

शारीरिक एवं मानसिक सौन्दर्य के उत्कर्ष के लिये दो प्रकार के साधनों का संकेत किया जा चुका है। इनमें सौन्दर्य साधक कुछ उपकरण आलम्बन के शरीर से सम्बन्धित होते हैं और अन्य शरीर से बाहर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। इस दृष्टि से इन उपकरणों को आत्मगत और बाह्य उपकरण कहते हैं। आत्मगत उपकरण आलम्बन के शरीर से सम्बन्धित होने से स्वाभाविक या निसर्गगत उपकरण हैं। इनमें गुण और चेष्टा का वर्णन अभी तक किया जा चुका है। गुण यौवनावस्था में स्वतः ही स्फुरित हो जाते हैं। इन गुणों में रूप, सौन्दर्य, शोभा, छवि, नवीनता आदि तथा यौवनावस्था के स्वभावज अलंकारों की गणना होती है। चेष्टा मानसिक भावों को प्रेषणीय बनाने के लिये कायिक क्रियाएँ हैं। इनसे व्यक्तित्व का आकर्षण बढ़ता है और नायिका की इन क्रियाओं से नायक के मन में प्रेम एवं रतिभाव की उद्दीप्ति होती है। इन चेष्टाओं को 'कामज' चेष्टाओं का नाम देना असंगत नहीं कहा जा सकता है। ये आत्मगत चेष्टा होने से स्वाभाविक या नैसर्गिक है।

आत्मगत चेष्टाओं से इतर आलम्बन में स्थित न रहने वाले सौन्दर्य

---

1 रूप दुहूँ को दुहून सुन्यो सु रहे तव तें मनो संग सदा ही।
ध्यान में दोऊ दुहून लखें, हरखे अंग-अंग उछाहीं। पद्माकर

साधक उपकरणों को वाह्य साधन माना गया है। इन साधनों द्वारा प्राप्त सौन्दर्य अर्जित सौन्दर्य है। वाह्य होने के कारण इन उपकरणों को सौन्दर्योत्कर्ष का कृत्रिम साधक मानते हैं। ऐसा होने पर भी सौन्दर्य को बढ़ाने में इनकी महत्ता निर्विवाद है। इन उपकरणों में प्रसाधनगत उपकरण एवं तटस्थ साधनों की चर्चा होगी।

प्रसाधनगत उपकरणों के अन्तर्गत षोडश शृंगार का वर्णन होता है। यह वर्णन अनेक कवियों ने किया है। सभी ने सोलह शृङ्गार प्रसाधनों को बताया है, परन्तु उनके नामों में कहीं-कहीं अन्तर दीख पड़ता है। आचार्य वल्लभदेव ने मज्जन, चीर, हार, तिलक, अञ्जन, कुण्डल, नासा मौक्तिक, केश, कञ्चुक, सुगन्धि, कंकण, चरणराग, मेखला, ताम्बूल, दर्पण आदि को षोडश शृंगार कहा है।[1] उज्ज्वल नीलमणिकार के अनुसार स्नान, केशरचना, अंगराग, कुसुम, हाथों में कमल, ताम्बूल, बिन्दु, चिबुक, अञ्जन आदि षोडश शृङ्गार हैं।[2] रामचन्द्र वर्मा ने उपटन, मंजन, मिस्सी, स्नान, सुवसन, केश-विन्यास, माँग-भरना, अंजन, महावर, बिन्दी, तिल, मेंहदी, गन्ध द्रव्य, आभूषण, फूलमाला और पान रचना को षोडश शृंगार कहा है।[3] रीतिकालीन कवियों में केशवदास[4] सरदार कवि[5] बलभद्र[6] आदि ने षोडश शृङ्गार का वर्णन किया है। कबीर[7] जायसी[8], तुलसी[9] चन्द्र बरदाई[10] और ढोला मारू रा दूहा[11] में षोडश शृंगार

---

1 आद्यो मञ्जन चीर हार तिलक नेत्राञ्जनं कुण्डलं,
नासामौक्तिक केशपाशरचनासत्कञ्चुकं नूपुरौ।
सौगन्ध्यं करकङ्कणं चरणयोरागोरणन्मेखला।
ताम्बूलं करदर्पणं चतुरता शृङ्गारका षोडशाः। वल्लभदेव

2 उज्ज्वल नील मणि—पृ० ७७ निर्णय सागर प्रेस।

3 प्रामाणिक हिन्दी कोश सभा १९८० वि० पृ० ४७।

4 केशव ग्रन्थावली—भाग १ रसिक प्रिया छंद ४३ सं० विश्वनाथ प्रसाद

5 रसिक प्रिया टीका पृ० ५१

6 बलभद्र पृ० २६६ छंद ६५ पूना विश्वविद्यालय हस्तलिखित प्रति

7 कबीर ग्रन्थावली पृ० ७४ ना० प्र० सभा १९२८।

8 जायसी ग्रन्थावली पृ० १३१ चौथा संस्करण ना० प्र० सभा।

9 रामचरित मानस पृ० १३६ सं० १९८० वि० सभा

10 काशी से प्रकाशित पृथ्वीराजरासो पृ० ६६–६८।

11 ढोला मारू रा दूहा छंद ३९४

की चर्चा है। प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन ने भी इन शृङ्गारों की चर्चा की है।[1]

इन शृङ्गारों के नाम में कहीं-कहीं अन्तर है, परन्तु इसकी संख्या के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई मतभेद नहीं है। सभी लोगों ने शृङ्गार प्रसाधनों की संख्या सोलह मानी है। इन प्रसाधनों के प्रयोग एवं उद्देश्य में भी समान भाव दीख पड़ता है। सभी विचारकों ने इसके सौन्दर्य साधक गुण का अनुमोदन किया है। इनके धारण करने के अनेक उद्देश्य बताये जा सकते हैं। शृङ्गार मूलक ये प्रसाधन रस की दृष्टि से उद्दीपक और रूप के उत्कर्षक हैं। नायिका भेद की दृष्टि से इन्हीं प्रसाधनों से नायिका की विशेष स्थिति और भेद का ज्ञापन होता है। वस्त्रादि प्रसाधनों से शरीर के विभिन्न अंगों की रक्षा, उपगूहन, यौन अंगों का आकर्षक प्रदर्शन और नायक को आकृष्ट करने की चेष्टा की जाती है। वेश रचना द्वारा शालीनता की रक्षा और लौकिक मर्यादा का पालन किया जाता है। इन उपकरणों से सहज एवं नैसर्गिक सौन्दर्य की वृद्धि होती है,आलम्बन की मानसिक स्थिति का प्रकाशन होता है, नायक का आकर्षण एवं उसके प्रेम की उद्दीप्ति होती है, अलंकरण प्रवृत्ति का विकास होता है और प्रेम के प्रकाशन में इनका योग रहता है। मूलतः इन प्रसाधनों से प्रमुख दो उद्देश्यों की सिद्धि होती है (१) शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि करना (२) विशेष अभिप्राय एवं भावों की अभिव्यक्ति करना। इन्हीं दोनों उद्देश्यों का संकेत यहाँ होगा।

१. प्रसाधनों का अभिप्रायमूलक प्रयोग :—

षोडश शृङ्गार के अन्तर्गत वस्त्र, आभूषण और अन्य लगाये जाने वाले उपकरणों का संकेत किया जा चुका है। इन उपकरणों का सामान्य प्रयोग शरीर को सजाने अथवा आकर्षक बनाने के लिये होता है, परन्तु कभी-कभी इनसे एक विशेष अभिप्राय की सिद्धि होती है। ऐसे स्थलों पर वस्त्राभूषण या अन्य प्रसाधक उपकरण नायक अथवा नायिका की विशेष मनःस्थिति या अवस्था को व्यक्त करते हैं। वस्त्रों की विभिन्न स्थितियाँ अन्तप्रवृत्ति को व्यक्त करती हैं। उदाहरणार्थ नीवी बंद का खुलना अथवा उसका कसकर बंधा होना, मेखला का शिथिल होना या विगलन, कंचुकी के बन्द टूटने आदि में नायिका की परिवर्तित होती हुई धारणा पुष्ट हो जाती है। इसी प्रकार प्रसाधक उपकरणों के अस्थान अथवा विपरीत स्थान पर लगे होने से भी नायक के चरित्र और नायिका की प्रतिक्रिया सम्भावित की जा सकती है। नायक के मस्तक पर महावर, आँखों में पीक, अधरों में अञ्जन और अंगों में अन्य स्त्री के आभूषणों या वेणी के दाग उसके बहुनायकत्व की सूचना देते हैं। इस दृष्टि से

1 अकबरी दरबार के हिन्दी कवि पृ० १७६ सरयूप्रसाद अग्रवाल

विचार करने पर आभूषणों व अन्य प्रसाधक उपकरणों के दो अभिप्राय हो सकते हैं :—

(१) सौन्दर्य-वर्द्धक उपकरण के रूप में।

(२) भाव या स्थिति के बोधक उपकरण के रूप में।

इन दोनों अभिप्रायों की अभिव्यक्ति मध्यकालीन साहित्य में हुई है। शृङ्गार का सौन्दर्योत्कर्षक रूप सर्वविदित है, परन्तु यही शृङ्गार कोप-विधायक रूप से भी प्रस्तुत हुआ है। कहीं पर उल्लास को सूचित करता है और कहीं विपरीत मानसिक भावों की अभिव्यक्ति हो जाती है। इससे शृङ्गार द्वारा मानसिक भावों की व्यञ्जना होती है। इसी रूप में यहां पर शृङ्गार का विचार होगा।

शृङ्गार एवं प्रसाधनों की भाव-बोधकता :—शृङ्गार एवं अन्य प्रसाधनों द्वारा दो प्रकार की भाव-स्थितियों का चित्रण हुआ है।

(१) उल्लासमूलक स्थिति।

(२) दुःख मूलक मानसिक स्थिति।

प्रिय के मिलन की अभिलाषा अथवा उसकी सम्भावना मात्र से हृदय में जो प्रसन्नता होती है, उसका ज्ञान वस्त्राभूषणों से हो जाता है। किसी विशेष परिस्थिति में आभूषण आनन्द को उत्पन्न करने वाले होते हैं। ऐसा प्रायः अभिसारिका अथवा आगत्-पतिका नायिका के प्रसंग पर देखा जा सकता है। स्वकीया नायिका की सज्जा से प्रिया-प्रियतम के सम्बन्धों का ज्ञान होता है। मानवती नायिका का प्रसाधन अभिप्राय-विशेष की अभिव्यक्ति करता है। इससे स्वीकृति अथवा निषेध का आभास मिल जाता है। इस प्रकार का ज्ञान 'काव्य-अभिप्राय' के नाम से बताया जा सकता है। इसका मध्यकाल में निम्न-लिखित रूपों में प्रयोग हुआ है।

(१) रति अथवा प्रेम के प्रसंग पर वस्त्रों की स्थिति का वर्णन है। अंगिया या कंचुकी नायिका की रतिमूलक भावनाओं की वाहिका होती है। प्रिय के मिलन की सम्भावना से अँगिया के बन्द का टूटना या उसमें कसाव आ जाना मानसिक उल्लास का द्योतक है।[1] मिलन की अवस्था में मानसिक

---

[1] (क) कसि आई कंचुकी उकसि आयो दोऊ उर।

नवरस तरंग—बेनी—१५/८८

(ख) भावतो आवत ही सुनिकै, उड़ि ऐसी गई हद छामता जो गुनी।
कंचुकी हू में नहीं मढ़ती वढ़ती कुच की अब तो भई दो गुनी।

भिखारीदास १, १२४/१६३

उल्लास के कारण स्तनों में उभार का आ जाना स्वाभाविक हो सकता है, परन्तु इसी बात को बढ़ाकर सचमुच में अँगिया को फटता हुआ वर्णन कर देना[1] केवल अतिशयोक्ति मात्र ही हो सकती है, क्योंकि लोक-व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता है।

इन्हीं वस्त्रों के द्वारा मानसिक उल्लास का वर्णन दूसरे ढंग से भी किया गया है। प्रिय के मिलन पर गांठ का शिथिल हो जाना नायिका की स्वीकृति का सूचक है। स्वकीया-नायिका या मुग्धा की विभिन्न क्रियाओं से इसका ज्ञान होता है। नीवी-बंद का शिथिल होना, उसकी गांठ खुलना, बढ़ते हुए यौवन और रति इच्छा का प्रकाशन माना जा सकता है :—

१. गति भारी भई, विधि कीबी कहा, कसि बांधत हू कटि नीवी ढहै।
भिखारीदास

२. घरी-घरी यह घाघरि परति ढीलियै जाति।
पद्माकर ग्रन्थावली ८५।३१

३. प्रिय भेटिबे को उमगी छतियाँ, सु छिपावती हेरि हियो हँसिकै।
अँगिया की तनी खुलि जाति घनी, सुवनी फिरी बांधति है कसिकै।
सुजान० ३५-२१ देव

४. ललकि गहति लखि लाल को, ललो कंचुकी बन्द।
मिस ही मिस उठि-उठि हँसति अली चली सानन्द।

भिखारीदास १,६४।४५

उपर्युक्त चौथे उदाहरण में 'लाल' को देखकर कंचुकी के बन्द का छूना रति इच्छा का प्रकाशन है। इसी प्रकार नीवी का स्पर्श, उसका उकसाना या खींचना आदि रागदीप्त स्थिति का सूचक है।[2] कभी-कभी इनकी विपरीत क्रियाओं द्वारा असहमति की सूचना मिल जाती है। जैसे नीवी की शिथिलता

---

1 झारि डार्‌यो पुलक प्रसेद हूँ निवारि डार्‌यो,
रोके रसना हूँ त्यों भरी न कछू हाँगी री।
एते पै रह्यो न भान मोहन लह्यू पै भट्ट,
टूक-टूक ह्वै के जो छटूक भई आँगी री।

पद्माकर ग्र० १४७/२७६

2 (क) कसिबे मिस नीविन के छिन तो, अंग-अंगन दास दिखाइ रही।
भिखारीदास

(ख) जी बँधि ही बँधि जात है,
ज्यों-ज्यों सुनीबी तनीन की बांधति छोरति।

से रति इच्छा का प्रकाशन होता है, उसी प्रकार उसका कसकर बँधा होना नायिका के क्रोध का सूचक है। ऐसी स्थिति में या तो उसके मन में मान की प्रवृति रहती है या असहमति की भावना कार्य करती है।[1] हार के धारण करने में गाढ़ालिगन के बाधक होने से इसे भी असहमति का सूचक ही माना जाता है और उसके न पहनने से आलिंगन की कामना व्यक्त होती है।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वस्त्राभूषणों द्वारा मन की उल्लासमय स्थिति का ज्ञान होता है।

इस उल्लास के कारण आंगिक परिवर्तनों का वर्णन रीतिकाल में हुआ है। अनुकूल एवं प्रतिकूल स्थितियों में शरीर में कसाव आ जाने तथा कृशता का वर्णन हुआ है। प्रिय मिलन की अनुकूल स्थिति में आंगिक परिवर्तन भोग सूचक होते हैं और प्रतिकूल परिस्थिति में अंग की कृशता प्रधान हो जाती है। अनुकूल स्थिति में आनन्द का अनुभव होता है, जो कई रूपों में प्रकट हो जाता है। इसमें उमंग से शरीर में पुष्टता आ जाने का वर्णन है फलस्वरूप वलय आदि टूट जाते हैं।[3] अंगों में थिरकन उत्पन्न हो जाती है। यह थिरकन आनन्द को व्यक्त करती है। अंग में उमंग आ जाती है, कंचुकी कसने लग जाती है, दोनों कुच उकस आते हैं।[4] यह सभी वर्णन आनन्दमूलक है। कहीं-कहीं दुःख मूलक भावना भी व्यक्त हो जाती है।

वस्त्राभरणों द्वारा दुःख की व्यञ्जना प्रोषित-पतिका नायिका के प्रसंग पर होती है। ऐसे स्थलों पर कंकण, बाजूबन्द आदि की शिथिलता विरह-जन्य कृशता का सूचक हो जाती है। यथार्थ जगत् में इसकी वास्तविकता न रहते हुए भी काव्यात्मक जगत् में इसका प्रतीकात्मक महत्त्व विरह की अभिव्यञ्जना के लिए होता है। इसमें विरह जन्य दौर्बल्य की उत्कृष्ट भावना व्यक्त हो जाती है। बहुधा प्रोषित पतिका नायिका के प्रसंग में आभरणों के

---

1 ऐसे सयान सुभायन ही सों, मिली मनभावते सो मन भोरे।
मान गो जानि सुजान तबै, अंगिया की तनी न छुटी, जब छोरे।
मतिराम—रसराज ६९/१२७

2 और सिंगार सजै तो सजौ इक हार हहा हियरे मति गेरो।
पद्माकर ग्रन्थावली—१२८/२२२

3 सरकी सारी सीसते, सुनतहि आगम नाह।
तरकी वलया कंचुकी दर की फरकी बाँह। रामसहाय सतसई २५२

4 (क) भावते को सुनि आगम आनन्द अंगन-अंगन में उमह्यो है। रसराज
(ख) कसि आई कंचुकी उकसि आयो दोऊ कुच,
गसि आई वलया सो फँसि आयो भुजबन्ध। नवरस-वेनी १५/८८

शिथिल हो जाने का वर्णन है।[1] केशवदास ने राम की कृशता का वर्णन मुद्रिका के माध्यम से उत्तम व्यंग्य प्रणाली में किया है।[2]

विचारों की यह प्रतिकूलता कोप-व्यञ्जक रूप में वर्णित है। प्रायः भोग चिह्नों को देखकर नायिका के मन में विपरीत विकर्षक भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। ऐसे स्थलों पर प्रसाधन सौन्दर्य-वर्द्धक न होकर नायिका के क्रोध की व्यञ्जना कराने में समर्थ हो जाते हैं। प्रसाधक उपकरणों का इस स्थिति में वर्णन कई रूपों में किया गया है।

(१) स्वकीया नायिका के रति प्रसंग पर आभूषणों से कई अर्थों की सिद्धि बताई गई है। नायक द्वारा नायिका के शृङ्गार में प्रेमाधिक्य की व्यञ्जना होती है। विपरीत रति की अवस्था में वेष-परिवर्तन रीतिकाल का एक प्रिय विषय रहा है। इससे नायक के ऊपर नायिका के पूर्ण आधिपत्य की व्यञ्जना हो जाती है। मतिराम तोष आदि अनेक कवियों ने इस प्रकार का वर्णन किया है।[3] इस वेष-परिवर्तन से नारी के कामाधिक्य की व्यञ्जना होती है। कभी-कभी बहुनायकत्व के प्रसंग पर यह वेष स्वकीया के मान का कारण बन जाता है। बहुधा भूल या असावधानी के कारण नायक के शरीर पर प्रसाधन चिह्न रह जाते हैं। स्वकीया के प्रसंग पर यह उसकी लज्जा का कारण बनता है, क्योंकि समाज के प्रति गोपनीयता का भाव स्थिर नहीं रह पाता और उसकी क्रियाओं का ज्ञान सबको हो जाता है।[4] नायिका का वेष-परिवर्तन उसके

---

1 दास चली करते बलया, रसना चली लंक ते लागा अबारन।
प्रान के नाथ चले अनतैं, तनतैं नहिं प्रान चले केहि कारन॥
भिखारीदास ग्र० १, १३२/१६६

2 तुम कहि बोलत मुद्रिके मौन होति यहि नाम।
कंकन की पदवी दई, तुम बिनु या कहँ राम। केशव–रामचन्द्रिका।

3 (क) राधा हरि हरि राधिका बन आये संकेत।
दम्पति रति विपरीत सुख सहज सुरति हूँ लेत।
बिहारी रत्नाकर दोहा १५५

(ख) राधे हरि हरि राधे रूप की सुरति कीन्हें,
रति विपरीत विपरीत रति ह्वै गई।
तोष–सुधा निधि ११२/३२१

4 लाल-भाल बिंदी दिये उठे प्रात अलसात।
लोनी लाजनि गड़ि गई, लखे लोग मुसकात। मतिराम सत० दो० ६५०

अनुराग का सूचक है।[1]

खण्डिता प्रसंग पर नायक के शरीर पर ये प्रसाधन कोप को बढ़ाने वाले होते हैं। इसकी दो प्रकार की प्रतिक्रिया वर्णित है (१) अनुत्साह मूलक (२) व्यंग्य मूलक। अनुत्साह की स्थिति में नायिका कुछ न बोलती हुई भी अपने मान को उदासीनता के माध्यम से प्रकट कर देती है। व्यंग्य में वचन और क्रियाओं द्वारा यह भावना व्यक्त की जाती है। क्रिया द्वारा मान का वर्णन सूर ने एक स्थल पर बहुत अच्छा किया है।[2] वचनों द्वारा मान एवं व्यंग्य दोनों की ही सूचना मिल जाती है। यथा:—

(१) पलनु पीक अंजन अधर, धरे महावर भाल।
आजु मिले सुभली करी, भले बने हो लाल।

बि० रत्नाकर दोहा २२

(२) आवै हँसी हमें देखत लालन, भाल में दीन्हीं महावर घोरी।
एतै बड़े ब्रज मण्डल में न मिली कहूँ रंचक माँगेहु रोरी।

'नवरस' से

पहले उदाहरण में प्रशंसामूलक व्यंग्य है और दूसरे में स्पष्ट रूप से नायक को अपराधी सिद्ध करते हुए उस पर व्यंग्य किया गया है। इन उदाहरणों में प्रसाधन द्रव्यों के अस्थान या विपरीत स्थान पर लग जाने के कारण ये कोप-विधायक मण्डन हो जाते हैं। नायक की पलकों पर पान का पीक, भाल व अँगुलियों में महावर, अंगों पर आभूषण या वेनी के दाग इसी भाव को उद्दीप्त करते हैं। ये मण्डन विपरीत रति के समय स्वयं लगाये जाते हैं या परकीया के सम्पर्क में अनायास लग जाते है। स्वकीया के सम्बन्ध से ये आनन्द-विधायक और परकीया-सम्बन्ध से कोप-विधायक हो जाते हैं। इन मण्डनों के अतिरिक्त वस्त्राभूषणों का शृङ्गारिक प्रसंगों पर सांकेतिक महत्त्व होता है।

रीतिकालीन काव्य में कई आभूषणों की ध्वनि आदि के सम्बन्ध में विशेष सावधानी बरती जाती थी। ध्वनि दो प्रसंगों पर विशेष अवस्था की सूचक होती थी :—

---

[1] मेरे सिर कैसी लगै, यों कहि बाँधी पाग।
सुन्दरि रति विपरीत में, प्रकट कियो अनुराग।

मतिराम सतसई ससक दोहा ३९७

[2] प्यारी चितै रही मुख पिय को।
अंजन अधर कपोलन बिन्दन, लाग्यो काहू तिय को।
× × × × × ×
तुरत उठी दरपन कर लीन्हीं, देखो बदन सुधारो। सूरसागर

(१) संयोग प्रसंग पर।

(२) अभिसार प्रसंग पर।

संयोग के अवसर पर किंकिणी के मुखर होने या नूपुर के मौन होने में विशिष्ट सांकेतिक प्रसंगों की अभिव्यक्ति होती थी। बिहारी और पद्माकर आदि ने इसके द्वारा विशिष्ट भावों के उद्रेक की अभिव्यञ्जना की है।[1] प्रायः किंकिणी बजने के माधुर्य से विपरीत रति की कल्पना की जाती थी।

अभिसार के अवसर पर विशिष्ट प्रकार के वस्त्र या आभूषण पहने जाते थे। उनकी व्यावहारिक उपयोगिता सर्वमान्य थी। अभिसार की क्रिया परकीया सम्बन्ध से ही होती थी। अतः इसमें गोपनीयता को इसका अनिवार्य तत्व मानते थे। इसी गोपनीयता के लिये कृष्णाभिसारिका काले रंग के प्रसाधन, शुक्लाभिसारिका श्वेत प्रसाधन और दिवाभिसारिका दिन की उज्वलता में मिल जाने वाले सौन्दर्य के उपकरणों का प्रयोग करती थी। इन तीनों प्रकार की अभिसारिकाएं अपनी गति को गुप्त रखने के लिये शब्द या झनकार करने वाले आभूषणों को यथा सम्भव दूर रखती थीं। मुग्धा नायिका में झिझक अधिक होने के कारण पूर्णतया ऐसे आभूषणों का बहिष्कार हो जाता था।[2] प्रौढ़ाएँ आभूषणों की झनकार से चिन्तित नहीं होती थीं "गूजरी बजावै रव रसना सजावै, कर चूरी झनकावै गरो गहति गहकि कै।[3]

अभिसार के समय परिस्थिति में मिल जाने वाले वस्त्राभूषणों पर ध्यान जाता था। सामाजिक नियमों के विपरीत होने से अभिसार को सर्व स्वीकृति प्राप्त नहीं थी। इसी कारण गोपनीयता की भावना से युक्त आभरणों को धारण करने की परम्परा चल पड़ी। कृष्णाभिसारिका सांवरी होकर

---

1 (क) करत कुलाहल किंकिणी, गह्यो मौन मंजीर।

बिहारी रत्नाकर दोहा १२६

(ख) कहैं पद्माकर त्यों करत कुलाहल,

न किंकिनी कतार काम दुंदव सी दै रही। पद्माकर

2 किंकिनी छोरि छपाई कहूं, कहूं बाजनी पायल पाँय ते नाही।....

लाजनि तैं गड़ि जात कहूं अड़ि जाति कहूं गज की गति भाई।....

बैस की थोरी किसोरी हरै-हरै या विधि नन्द किसोर पै आई।

पद्माकर ग्र० १३०।२३०

3 देवकृत सु० विनोद ६१।५६

श्याम के पास अभिसरण करती है।[1] शुक्लाभिसारिका के श्वेत पुष्प, श्वेत अम्बर धारण करने का वर्णन है। वह झनकार वाले आभूषणों को दूर करके श्रीकृष्ण के पास ऐसे आती है कि कोई उसे देख नहीं पाता।[2] यहाँ स्पष्ट रूप से प्रसाधन सामग्री का अन्तर वर्णित है। परिस्थिति के अनुसार गोपन-मनोवृत्ति की प्रेरणा से सामाजिक विधि-निषेधों के पालनार्थ दुग्ध-धवल साड़ी, पुष्पों या मोती के आभरण तथा श्वेत वस्त्रों का प्रयोग होता है। दिवाभिसारिका के प्रसंग पर इन वस्त्राभरणों में पुनः परिवर्तन हो जाता है। दिन के प्रकाश में जरतारी की साड़ी का प्रयोग वर्णित है।[3] क्योंकि इसकी झलमलाहट प्रकाश में मिल जाती है। ग्रीष्म ऋतु में दिवाभिसारिका का वर्णन होता है। इस ऋतु में ध्वनि करने वाले आभूषणों की झनक तीव्र गति से चलती हुई वायु में मिलकर अलग से श्रुति-गोचर नहीं हो पाती। इससे आभूषणों के धारण में ध्वनि-विषयक सावधानी की उपेक्षा भी हो जाती है।[4]

अतः स्पष्ट है कि वस्त्राभरण एवं प्रसाधन सामग्रियों का उपयोग रूप को आकर्षक बनाने और विशेष परिस्थिति में अपनी मनोवृत्ति को व्यक्त करने के लिये होता है। वस्त्रादि के आकर्षक गुणों के कारण यह सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक होता है। भाव या परिस्थिति के बोधक रूप में वस्त्रादि से नायक या नायिका के चारित्रिक गुणों पर प्रकाश पड़ता है। भिन्न परिस्थिति में भिन्न आभूषणादि मनोगत भावों को अभिव्यक्त करते हैं। इनसे मानसिक उल्लास

---

1 सामरी पामरी की दै खुही वलि, सामरें पै चली सामरी ह्वै कै।
पद्० ग्र० १३३।२४३

2 सिख-नख फूलन के भूषण विभूषित कै,
बाँधि लीनी बलया विगत कीन्ही बजनो।
तापर सँवारयो सेत अम्बर को डम्बर,
सिधारी स्याम सन्निधि बिहारी काहू न जनी। भिखारी०ग्र० १२५।१६७

3 सारी जरतारी की झलकि झलकति तैसी,
केसर को अंग राग कीन्हों सब तन मैं।
तीछन तरनि की किरनि तैं दुगुन जोति,
जागति जवाहिर जटिल आभरन मैं। ललित०-मतिराम छंद ६०

4 मंद मंद चली नन्दनन्दन पै प्रवीन बेनी ग्रीषम दुपहरी अरी रही है।
संदली दुकूल फहरात भुज मूलन पै फूलन के भूषन सुगन्धि झरि रही है।
नूपुर झनक जैसे सनक समीर तीर, चहुँ ओर भौंरनि की भीर भरि रही है।
नव० तरंग २६।१७२

या क्रोध का आभास मिल जाता है। आभूषणादि का भावों की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित यह विशेष उपयोग है। इनसे मानसिक प्रवृत्तियों का उद्‌घाटन होता है। यहाँ प्रसाधन बाह्य सौन्दर्य का व्यञ्जक न होकर आन्तरिक भावनाओं का उद्‌घाटक है। अन्य स्थलों पर शोभा-विधायक उपकरण के रूप में इनके प्रयोग का वर्णन है। वहाँ सौन्दर्य-साधक उपकरण होने से इन्हें प्रसाधन गत सौन्दर्य के अन्तर्गत माना गया है।

प्रसाधनों का सौन्दर्य साधक प्रयोग

सौन्दर्य-साधक प्रसाधन गत उपकरणों का वर्णन करते हुए रीति-कालीन काव्य में दो प्रकार की पद्धतियां अपनाई गई हैं:—

(१) षोडश शृङ्गार के परिगणन वाले छंदों के सृजन से राधा अथवा अन्य नायिका के सौन्दर्य का वर्णन।

(२) एक या दो उपकरणों की सहायता से व्यष्टि रूप में सौन्दर्य-साधक उपकरणों का वर्णन।

इन दोनों पद्धतियों में प्रसाधनों की गणना वाले छंदों में कवियों ने अपने षोडश शृङ्गार के ज्ञान को ही दिखाया है। ऐसे छंदों से किसी प्रकार की कोई सौन्दर्य-वृद्धि नहीं होती। इनसे केवल इन उपकरणों का ज्ञान मात्र हो जाता है। केशवदास, बलभद्र आदि कवियों ने इस प्रकार के छंदों को प्रस्तुत किया है।[1] पद्‌माकर ने कुछ ही प्रसाधनों का नाम लिया है। ग्वाल कवि

---

1 (क) प्रथम सकल सुचि मज्जन अमल बास,
जावक सुदेश केश-पास को सुधारिबो।
अंगराग भूषण विविध मुख-बास,
राग-कज्जल कलित लोल लोचन निहारिबो।
बोलनि हंसनि मृदु चातुरी चितौनि चारु,
पल-पल प्रति-प्रति पतिव्रत प्रतिपालिबे।
'केसोदास' सविलास करहु कुँवरि राधे,
इहि विधि सोलह सिंगार सिंगारिबो। रसिक प्रिया

(ख) करिदन्त धावन उबटि अंग उबटन,
मज्जन कै देह अंगुछानु अंगु छाई है।
करिकै तिलक माँग पाटी पारी 'बलभद्र'
भली भाल बन्दन को बेंदुरी बनाई है।

ने भी 'रसरंग' में गणना वाले पद को लिखा है।[1] बकसी हंसराज के 'स्नेह सागर' (पृ० ८०-८१) और सोमनाथ के रासपंचाध्यायी[2] में भी गणना वाले उपकरणों का उल्लेख है। इन सभी प्रसंगों को देखने से स्पष्ट है कि इन अवतरणों द्वारा कवियों ने सौन्दर्य-साधना का प्रयास नहीं किया है, अपितु इन साधनों के वर्णन मात्र का ही उद्देश्य व्यक्त किया है। कहीं पूर्ण सोलह साधनों और कहीं छंदों में मात्रादि की आवश्यकतानुसार कम साधनों या उपकरणों का उल्लेख मात्र होने के कारण इन उपकरणों के प्रयोग से उत्पन्न सौन्दर्य का बिम्ब-विधान नहीं होने पाता। इससे परम्परा-निर्वाह की शुष्कता और आचार्यत्व की प्रवृत्ति का ही संकेत मिलता है। कुछ कवियों ने व्यष्टि रूप में प्रसाधक उपकरणों के प्रयोग से सौन्दर्य बढ़ाने की चेष्टा की है।

आलम्बन के सौन्दर्य को आकर्षक बनाने के लिये आरम्भ से ही सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग होता रहा है। इनसे दो प्रमुख उद्देश्य की पूर्ति होती रही है। प्रथम शृङ्गारिक उपकरणों से अपने आभिजात्य तथा सौन्दर्य का प्रकाशन और द्वितीय इनके प्रयोग से सुखद अनुभूति की उत्पत्ति द्वारा नायक का आकर्षण। इन दोनों ही उद्देश्यों में रीतिकालीन कवियों की सफलता असंदिग्ध है।

अंजन दै नैन देखि दर्पन चिबुक चिन्ह,
अधर तम्बोर की अधिक छवि छाई है।
मेंहदी करन एड़ि माँजि कै महावर दै,
सोरह सिंगारन की मूल चतुराई है। रस-रत्नाकर ७०४

[1] प्रथम न्हवाय चीर चुनि पहिराय भाय,
बेनी हूं बनाय फूल गंधनि गहत है।
माँग सीसफूल खोरि कजरा सुनथ डारै,
पत्रावली करत कपोलन महत है।
'ग्वाल' कवि बीरी ठोढ़ी बिन्दु हार फूल,
गैंद किंकिनी महावर दै आनन्द लहत है।
राइ नोन करत निहारत रहत मोंहि,
सारे है सिंगारन सिंगारत रहत है।

रसरंग-पंचम उमंग छंद ३ ग्वाल

[2] भारतवासी प्रेस दारागंज सन् १६३६ में प्रकाशित प्रयाग। पृ० ४४-४५

इन कवियों द्वारा प्रयुक्त शृङ्गार साधनों की तीन कोटियाँ की जा सकती है—

(अ) शरीर पर लगाये जाने वाले सौन्दर्य के उपकरण।

(आ) शरीर पर धारण किये जाने वाले सौन्दर्य साधक उपकरण।

(इ) अन्य उपकरण।

(अ) शरीर पर लगाये जाने वाले उपकरण--ऊपर बताये गये सौन्दर्य साधक सोलह उपकरणों में से अनेक उपकरणों को शरीर में लगाकर सौन्दर्य की वृद्धि की जाती है। इन उपकरणों के प्रयोग में उनके उद्देश्य की दृष्टि से उन्हें तीन वर्गों में बांट सकते हैं:--

(क) मृदुता उत्पन्न करने वाले सौन्दर्य-साधक उपकरण।

(ख) रूपाकर्षण को बढ़ाने वाले सौन्दर्य-साधक उपकरण।

(ग) सौभाग्य सूचक सौन्दर्य-साधक उपकरण।

(क) शारीरिक कोमलता को बढ़ाने वाले उपकरणों का आलम्बन से भिन्न स्वतंत्र अस्तित्व होता है। इनके प्रयोग से शरीर कोमल, मसृण और स्पर्श-सुखद बन जाता है। इनमें उबटन, अङ्गराग और सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग वर्णित है। षोडश शृङ्गार में इनका बहुत महत्त्व है। राजानक रुय्यक के अनुसार रत्न, हेम, अंकुश, माल्य, मण्डन, द्रव्य-योजना और प्रकीर्ण ये सात अलंकार अंगराग से सम्बन्धित हैं।[1] इन सभी मण्डनों को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। द्रव्य अलंकार के अन्तर्गत चन्दन, कस्तूरी, कुंकुम, अगरु, पटवास, ताम्बूल अंजन, गोरोचन आदि बताये गये हैं। गन्ध द्रव्यों के प्रयोग से घ्राणेन्द्रिय की तृप्ति होती है और उसकी सुगन्धि मन को भी आकृष्ट कर लेती है। इन उपकरणों की प्राप्ति का स्रोत जीव-जन्तु, जड़-पदार्थ और रासायनिक संश्लेषण है। मृग से कस्तूरी आदि और वनस्पतियों से पुष्पादि की प्राप्ति होती है। अनुलेपन विविध द्रव्यों के संश्लेषण आदि से बनाया जाता है।

अंगराग का मूल उद्देश्य गोरे वर्ण की शोभा को निखार देना है। अनुलेपन का प्रयोग प्रिय-मिलन के पूर्व होता है। स्त्री और पुरुष दोनों ही

---

1 रत्न हेमांशुके माल्यं मण्डनं द्रव्य-योजने।
प्रकीर्णं चेत्यलङ्कारा सप्तवेते मयामता।
निर्णय सागर काव्यमाला-पंचमो गुच्छ पृ० १५८

अंगरागादि का प्रयोग करते थे, परन्तु रीतिकालीन काव्य में स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त अंगराग की अधिक चर्चा हुई है।

कस्तूरी अगरु, केशर, मलाई, सन्तरे के छिलके आदि को एक में पीस-कर अंगराग बनाने की परम्परा रही है। इससे शरीर में सुगन्धि रहती है और यह सुगन्धि मन को तृप्त करती रहती है। रीतिकालीन साहित्य में ऐश्वर्य एवं वैभव परक सामाजिक स्थिति का प्रभाव सर्वत्र दीख पड़ता है। इसी से केसर के प्रयोग का वर्णन अनेक कवियों ने किया है।[1] कान्तिमान् स्वर्णाभा से युक्त शरीर में केशर का लेप आकर्षण एवं सुगन्धि से मन को आप्लावित कर देता है। इन सुगन्धित पदार्थों का प्रयोग सखी द्वारा, स्वयं नायिका द्वारा या नायक के द्वारा नायिका के अंगों में किया जाता है। इससे इसके भोग परक दृष्टिकोण की ही पुष्टि होती है। प्रायः अभिसारिकाएँ अभिसार के समय अंगराग एवं सुगन्धित पदार्थों का लेपन करके प्रिय-मिलन को जाती थीं। सखियाँ इस सुगन्धि के सहारे नायिकाओं के पीछे जाती हुई बताई गई हैं।[2] नायक के शरीर की सुगन्धि उसके अन्य नायिका के साथ रति प्रसंग को उद्घाटित कर देती हैं। ऐसे स्थलों पर रति-चिन्ह के रूप में सुगन्धि की उपयोगिता हो जाती है। कुञ्जादि इस सुगन्धि से भर जाता है।[3] सुगन्धि युक्त नायिका का आकर्षक चित्र उपस्थित हो सका है।[4] सौन्दर्यवर्द्धक उपकरण के रूप में सुगन्धित द्रव्यादि के प्रयोग से तत्कालीन वैभव की स्मृति हो जाती है। राधा का मुख सुगन्धिपूर्ण है।[5] मुखवास से रुचि बढ़ती है। जमुना को

---

[1] 'मतिराम ग्रन्थावली' रसराज छंद २०१, देव—'भावविलास' छंद १०५, रघुनाथ 'रसिक-मोहन' छंद ४०१ 'सुन्दरी-तिलक' छंद २९६।

[2] बिहारी

[3] सजि ब्रज चंद पै चली यों मुखचंद जाको,
चंद चांदनी को मुख मन्द सों करत जात।
कहै 'पदमाकर' त्यों सहज सुगन्ध ही के,
पुञ्ज बन कुंजन में कुञ्ज से भरत जात। जगदविनोद छंद २८३

[4] भेटी गुजरेटी अहिरेटी कान्ह भानु-बेटी
अतर लपेटी लेटी शीतल महल में।

श्री राधा सुधा शतक छंद ७१ हठी

[5] रति में न सती में न रंभा रमा जानकी में,
जैसी है सुगन्ध प्यारी राधा खास अंग में।

श्री राधिका जी नख-शिख छंद ६६ कालिका प्रसाद

जाती हुई नायिका के पीछे भौंरों का झुण्ड चलने लग जाता है।[1]

रीतिकालीन अन्य गन्ध-द्रव्यों में कस्तूरी, चोवा, चन्दन, अगरु, अतर एवं विभिन्न फूलों आदि के फुलेल के प्रयोग का वर्णन है। अभिसारिका का रहस्य उसकी सुगन्धि अथवा अंग-ज्योति से खुल जाता है। मिलनोत्सुका नायिकाओं में ही केश, मुख, शरीर आदि को सुवासित करने का वर्णन है।[2] इस प्रकार अंगरागादि के प्रयोग से एक ओर शरीर में कोमलता उत्पन्न की जाती है और दूसरी ओर सुगन्धि द्वारा प्रिय को आकर्षित करने की चेष्टा की जाती है। इस दृष्टि से इन पदार्थों के प्रयोग का मूल उद्देश्य प्रिय के सम्बन्ध में उनका उपयोगिता मूलक होना ही है। इसी को ध्यान में रखकर सुगन्धि, अंगराग, अनुलेपन, उबटन आदि का प्रयोग अभिसारिका, वासक सज्जा आदि नायिकाएँ शृङ्गार के सौन्दर्य साधक उपकरणों के रूप में करती थीं।

इन सुगन्धित पदार्थों का वर्णन अनेक स्थलों पर अनेक कवियों द्वारा किया गया है। मृगमद,[3] चंदन,[4] घनसार,[5] केशर[6] आदि द्वारा इन्हीं

---

1 रस-रत्नाकर पृ० ६६३

2 मतिराम रसराज छंद १७२

3 रैन अंधेरी नीलपट, मृगमद चर्चित अंग।
सघन घटा सी लखि परै, रँगी स्याम के रंग।
—री. का. सं. पृ. १४१ कृपाराम

4 (क) चंदन चढ़ाउ जिन ताप सी चढ़ति तन,
कुमकुम न लाउ अंग आग सी लगति है।
—री. का. सं. पृ. १४७ केशव

(ख) अंगन में चंदन चढ़ाय घनसार सेत,
सारी छीर फेन की सी आभा उफनति है।
—री. का. स पृ. १७३ मतिराम

5 (क) सीरे करिवै को पिय नैन घनसार कैधों,
वाल के वदन विलसत मृदु हास है।
—ललितललाम, मतिराम

(ख) घसिहीं घनसार पटीर मिलै, मिलै वात कही न बनावटी ऊ।
—वेनी प्रवीन

(ग) घनसार पटीर मिलै-मिलै नीर, चहै तन लावै न लावै चहै।
—वेनी प्रवीन

6 (क) केसरि कुसुम हूं ते कोरी जो न होती,
तो किसोरी सों कुसुम सर कौनी भांति जीततो। देव

उद्देश्यों की सिद्धि की जाती थी। इन पदार्थों की फैलती हुई सुगन्धि से वातावरण में भोगमूलक भावना फैलती है और उसकी तीव्र प्रतिक्रिया होती है। ऐसी नायिकाओं के पीछे भौंरों का झुण्ड लग जाता है और पहरा देने वाले पहरुओं के मन में भी औत्सुक्य जाग्रत हो जाती है।[1] अंगों से निकलती हुई सुगन्धी की झकोर प्रवाहित होने लगती है।[2]

अन्त में कहा जा सकता है कि शारीरिक कोमलता को अर्जित करने के लिये उबटन, अंगराग अनुलेपन आदि को सौन्दर्य साधक उपकरणों के रूप में प्रयोग किया जाता है। इनसे शरीर में कोमलता आती है, वातावरण में मादकता फैलती है, नायक के मन में रतिमूलक भावना का उद्भव होता है और भोग परक उद्देश्य की सिद्धि होती है। इनके प्रयोग से नायिका का आकर्षण बढ़ता है, स्पर्श सुखदता आती है, घ्राणेन्द्रिय की तृप्ति होती है। नायिका के सहज सुगंध में उसके 'पद्मिनी' होने की बात का समर्थन मिलता है। अनुलेपनादि से प्राप्त सुगन्धि नैसर्गिक न होकर कृत्रिम है। इस कृत्रिम सुगन्धि से भी भोगपरक भावना का प्रकाशन होता है और रतिमूलक भाव की उद्दीप्ति होती है। रीतिकालीन कवियों का यही उद्देश्य था और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है।

(ख) रूपाकर्षण को बढ़ाने वाले सौन्दर्य-साधक शृंगार के उपकरण–षोडश शृङ्गार के अन्तर्गत सौन्दर्य को बढ़ाने वाले अनेक उपकरणों का वर्णन रीतिकालीन साहित्य में मिलता है। इन उपकरणों में अञ्जन, तिल, जावक, मेंहदी की गणना होगी। अंजन नेत्रों में और तिल की रचना कपोल या चिबुक के ऊपर की जाती है। पैरों में लगाने के लिये महावर या जावक का प्रयोग होता है। सौन्दर्य वर्द्धक इस उपकरण का प्रयोग स्त्रियाँ अपनी एड़ी को रँगने में करती हैं। आँखों का अंजन और पग में महावर सौन्दर्य को बढ़ाने वाला होता है। शृङ्गार-साधन में यह महत्वपूर्ण उपकरण है। इससे कई बातों का ज्ञान होता है--

---

(ख) केसर रंग रंगे पट धारि, चली वृषभानुलली, बिमला सी।
—पृ. ३२५/४७७ ब, सा. का नायिका भेद

[1] रीति काव्य संग्रह पृ० २०२

[2] जमुना के तीर बहैं सीतल समीर तहाँ, मधुकर करत मधुर मंद सोर है।
कवि'मतिराम'तहाँ छबि सी छबीली बैठी,आंगन में फैलत सुगंध की झकोर है।
—रीति काव्य संग्रह पृ० १७३

(१) नायिका की एड़ी की लालिमा और इससे नाइन को धोखा हो जाना।

(२) जावक के भार से नायिका के सौकुमार्य की अभिव्यक्ति।

(३) जावक लगाने में नायक के प्रेम का प्रदर्शन एवं नायिका का रूप गर्विता एवं प्रेम गर्विता होने का संकेत।

(४) जावक द्वारा नायक के अन्य नायिका के साथ रहने का संकेत।

(१) जावक का रंग नायिका की एड़ी के रंग से मिल जाता है। इससे महावर लगाने को आई हुई नाइन भ्रम में पड़ जाती है। वह निर्णय नहीं कर पाती कि किस पग में महावर लग चुका है। नाइन के इस भ्रम के माध्यम से नायिका की शारीरिक अरुणिमापरक सौन्दर्य की व्यञ्जना हुई है।[1]

(२) जावक सौकुमार्य को व्यञ्जित करने के साधन के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। जावक के भार से नायिका का पग मन्द गति से धरा पर पड़ता है।[2] इसी भार से स्वयं नायिका भी जान पाती है कि उसके किस पग में जावक लग चुका है।[3] जावक के भार की इस असहनीयता द्वारा उसकी कोमलता अभिव्यञ्जित है। कोमल शरीर आकर्षण एवं स्पर्श-सुख का साधन होता है।

(३) जावक को शृङ्गार प्रसाधक रूप में प्रयोग करके नायक-नायिका अपनी प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति करते हैं। रीतिकालीन साहित्य में प्रिय द्वारा जावक लगाया जाना सौभाग्य का सूचक माना जाता है। इसे देखकर अन्य स्त्रियां स्पृहा करती हैं। ऐसे वर्णन में रीतिकालीन नायिकाओं की दो मानसिक प्रवृतियां व्यक्त हो जाती हैं (क) ऐसी नायिका जो प्रिय से जावक लगवा कर अपने प्रेम की प्रशंसा सखियों से सुनती हैं।[4] (ख) ऐसी नायिकाएं जो प्रिय द्वारा पैरों का स्पर्श किया जाना सामाजिक मर्यादा के कारण अनुचित समझ

---

1 पाँय महावर देन को, नाइन बैठी आय।
फिरि-फिरि जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाय। बिहारी

2 ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद पृ० २१२/१३ द्विजदेव

3 (क) बोझिल सो यह पाँव लगै, तब यौं मुसुकाइ कह्यो ठकुराइन। रघुनाथ
(ख) आप कह्यो अरी दाहिनै दै मोंहि, जानि परै पग बाम है भारी।
रीο काο संग्रह पृο २२७

4 आपुहि पाँइन देत महावर, बेनी गुहै और बैनी डुलावै।
आपुहि बीरी बनाइ खवावै, अनेक विलासन रीझि रिझावै।
री. का. सं. पृ. १६५/८ चिन्तामणि

कर उसका निवारण कर देती हैं और अपने प्रेम-प्रदर्शन द्वारा पैरों के स्पर्श करने से प्रिय को विरत कर देती हैं।[1] इन दोनों ही प्रवृत्तियों में स्वकीया नायिका का प्रेम-गर्व और अपने प्रिय के प्रति असीम विश्वास का भाव लक्षित होता है। इससे ऐसे प्रसंगों पर जावक भाग्य सूचक सौन्दर्य का उपकरण बन जाता है। यही जावक अस्थान पर लगा होने से नायिका के क्रोध का कारण भी बनता है। इससे नायक की रसिकता और परस्त्री गमन की सूचना मिल जाती है। खण्डिता नायिका के चित्रण में ऐसा वर्णन मिलता है।[2] नायक के मस्तक पर लगा हुआ जावक उसकी गुप्त रति-क्रीड़ा के रहस्य को प्रकट कर देता है। जावक का अर्थ यदि इस उपभोग मूलक अभिप्राय की सिद्धि में न लें, तो नायिकाओं द्वारा इसके प्रयोग से उनके सौन्दर्य की वृद्धि होती है। ऐसे प्रसंगों पर मीलित अलंकार के प्रयोग से नायिका की स्वाभाविक लालिमा को जावक की लालिमा से तद्रूप कर देते हैं। इससे नायिका की कोमलता, अरुण कान्ति, शोभा एवं आभिजात्य का आभास मिलता है। इसके विशेष अभिप्राय मूलक प्रयोग से पर-रति की व्यञ्जना होती है। रीतिकालीन साहित्य में जावक का वर्णन दोनों रूपों में किया गया है।

मेंहदी को षोडश शृङ्गार में समाविष्ट कर लेने की धारणा का विकास परवर्ती कवियों की देन है। षोडश शृङ्गार का विवेचन करते हुए आरम्भिक

---

1 हौं के रस-बस जब दीबे कौ महावर को,
'सेनापति' स्याम गह्यौ चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आँखिन सों,
कही प्राणपति यह अति अनुचित है।

'कवित-रत्नाकर' सेनापति

2 (क) अंजन अधर देखि जावक लिलार भए,
वाल के सु नैन महालाल रंग सराबोर।

ब्र. सा. ना. भेद पृ. ३३२/५०४

(ख) जावक लिलार ओठ अंजन की लीक सोहै,
वैयन अलीक लोक-लीक न बिसारियै।

मतिराम ब्र० सा० ना० भेद पृ. ३३२/५०५

(ग) काहे को नटत, बेई बैनन प्रकट होत,
अनुराग जिन को लिलार धरि आए हो।

सोमनाथ ब्र० सा० ना० भेद पृ. ३३३/५०६

युग में तथा संस्कृत कवियों द्वारा इसकी गणना इन शृङ्गारिक उपकरणों में नहीं की गई थी। बाद में तत्कालीन समाज के प्रभाव के कारण इसे सौन्दर्यो-त्कर्ष का प्रमुख साधन स्वीकार कर लिया गया होगा। इसी से इसकी गणना षोडश शृङ्गार के अन्तर्गत होने लगी होगी। इससे उत्पन्न शारीरिक लालिमा और सुगन्धि मन को आकृष्ट करने में सफल होती है। इस दृष्टि से मेंहदी के प्रयोग के दो उद्देश्य दीख पड़ते हैं:—

(१) नायिका के सौन्दर्य की अभिवृद्धि।
(२) मेंहदी से उत्पन्न सौन्दर्य द्वारा नायक की मनः स्थिति का वर्णन।

सौन्दर्य-साधन के रूप में वासकसज्जा नायिका द्वारा इसका प्रयोग वर्णित है।[1] अन्य नायिकाओं द्वारा भी सौन्दर्य को बढ़ाने के साधन के रूप में मेंहदी का उपयोग होता है। देव की नायिका सौभाग्य के अन्य चिह्नों के साथ मेंहदी का प्रयोग करती है।[2]

मेंहदी द्वारा नायक के अतिशय प्रेम की व्यञ्जना की गई है। वह प्रेम में पूर्ण होकर अपने ही हाथों से मेंहदी रचा देता है। नायिका इस कार्य के लिये नायक को निवारण करती हुई कहती है कि तुमने अंगों में अंगरागादि लगाया, मैंने मना नहीं किया, परन्तु हे प्रवीण, तुमसे अपने पैरों में मेंहदी नहीं लगवाऊँगी।[3] इन उक्तियों में स्वकीया का निर्मल और मर्यादित प्रेम-भाव व्यञ्जित किया गया है। नायिका प्रिय द्वारा अपने पैरों का स्पर्श किया जाना अनुचित मानती है। इसी से इस कार्य का निवारण अपनी प्रेमपूर्ण और मधुर उक्तियों से कर देती है।

सौन्दर्योत्कर्षक इन उपकरणों में तिल, अंजन, मेंहदी और जावक का संकेत हुआ है। इनमें जावक सौभाग्य सूचक उपकरण के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। अन्य उपकरणों से शारीरिक शोभा एवं आकर्षण को बढ़ाने का प्रयास

---

1 मेंहदी रचाइ कर, पाँवनि महावर दै, देखति कनैखनि सखिन खुबहतई।
देव भेद पृ० ३११/४११

2 भूषण भेष जराउ जरे परे छोरि सुगंध तमोर बिसारेई।
पैन्हैं फिरै झियरे पट फीके सुनीकै लगैं मुख ही के उज्यारेई।
बंदन बेंदी लिलार लसै चुरी चारु सोहाग की रासि पसारेई।
लाज लगै अरविन्दन 'देव' रची मेंहदी कर बिन्दु निहारेई। देव

3 अंग राग और अंगनि, करत कछू बरजी न।
पै मेंहदी न दिवाइहौ, तुमसों परम प्रवीन। पद्माकर

किया गया है। इनका प्रयोग सौन्दर्य वर्द्धक और विशेष अभिप्राय के सूचक उपकरणों के रूप में किया गया है। इनमें अंजन, जावक आदि द्वारा नायक की रसिकता का ज्ञान कराया गया है तथा स्वकीया के लिये अथवा अन्य नायिका के लिये इन उपकरणों के प्रयोग से सौन्दर्य एवं आकर्षण को बढ़ा कर नायक को लुब्ध करने की चेष्टा की गई है।

(ग) सौभाग्य सूचक सौन्दर्य के उपकरण—

शरीर पर लगाये जाने वाले शृङ्गार के उपकरणों को तीन वर्गों—मृदुता उत्पन्न करने वाले, आकर्षण बढ़ाने वाले और सौभाग्य की सूचना देने वाले—में विभाजित किया गया था। इनमें दो का वर्णन किया जा चुका है। षोडश शृङ्गार में कुछ ऐसे उपकरण भी माने जाते हैं जिनसे दो उद्देश्यों की सिद्धि होती है (१) सौन्दर्य को बढ़ाकर व्यक्तित्व को मोहक बनाना (२) सौभाग्य की सूचना देना। सभी उपकरणों में प्रसाधन का गुण तो रहता ही है। उनके बिना इनकी गणना शृङ्गार प्रसाधन में हो ही नहीं सकती है। इस वर्ग के उपकरणों से स्त्रियों के सौभाग्य की सूचना भी मिलती है।

सौभाग्य सूचक षोडश शृङ्गार के अन्तर्गत इन उपकरणों में सिन्दूर, बिन्दी और तिलक की गणना होती है। सिन्दूर का प्रयोग केवल विवाहित सधवा स्त्रियाँ ही करती हैं। बिन्दी और तिलक रचना द्वारा सौभाग्य की ही सूचना मिलती है। बिन्दी, चंदन, कुमकुम, केशर, कस्तूरी, गोरोचन, रोरी, ईंगुर, सिन्दूर से बनाई जाती है। इनमें रोरी, कुमकुम, सिन्दूर और ईंगुर की बिन्दी विवाहिता स्त्रियाँ लगाती हैं। रीतिकालीन साहित्य में बन्दन शब्द रोरी, सिन्दूर और गोरोचन आदि की बिन्दी के लिये प्रयुक्त होता है। मुग्धा अनूढ़ा के प्रसंग पर बन्दन का अर्थ गोरोचन से लगाया गया है।[1] इस सहज शृङ्गार में बेंदी, तमोल अंजन आदि की अनिवार्यता का समर्थन मिलता है।[2]

तिलक अमंगल को हटाने के लिये तथा मुख-शोभा बढ़ाने के लिये प्रयुक्त होता है। आड़ा-तिलक का यही उद्देश्य था। इसे केशर का बनाते थे।

---

[1] (क) करि चंदन की खोरि दै, बंदन बेंदी भाल
दरप भरी दिन द्वैक में दरपन देखति बाल।
भिखारी० ग्र० १/ पृ० ७/३२

(ख) अंजन नैन बिंदी मुख में कहि, तोष सो बंदन माँग संवारी।
तोष-सुधानिधि पृ० १२३/२६३

[2] बिहारी-रत्नाकर ६७९ वाँ दोहा।

ऐपन के आड़ा तिलक का वर्णन सतसई में है।[1] इसे ही खौर तिलक भी कहते हैं। बीच में खुरचे हुए आड़े तिलक को खौर कहते हैं। पत्रावली रचना का कार्य आज भी नवलवधू के मस्तक पर होता है। इसे बुन्दकी कहते हैं। ललाट, कपोल, वक्षदेश आदि अंगों पर चंदन, केशर, कस्तूरी से चित्रित करने का वर्णन इस साहित्य में मिलता है।

सिन्दूर मंगल सूचक द्रव्य के रूप में प्रयुक्त होता है। यह विवाहिता स्त्रियों का प्रथम लक्षण है। मांगों पर सिन्दूर और ललाट पर उसका टीका उसके सधवात्त्व की सूचना देते हैं। रीतिकालीन साहित्य में सिन्दूर की चर्चा अनेक स्थलों पर है। यह चर्चा दो रूपों में है (१) सामान्य वर्णन में (२) सिन्दूर के प्रभाव की व्यञ्जना में।

सामान्य वर्णन में सिन्दूर के प्रयोग की बात कही गई है। अन्य प्रसाधनों के साथ इसका भी प्रयोग नायिकाएं करती थीं।[2] कहीं पर केवल मांग सँवारे जाने का संकेत है। ऐसे स्थलों पर इससे उत्पन्न या बढ़ जाने वाली शोभा का कम वर्णन हो सका है। प्रभावमूलक व्यञ्जना में इसे कामदेव की दुधार के समान कहकर इसकी घातक और अचूक चोट का संकेत किया गया है।[3]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि बेंदी,[4] टीका, गोरोचन और रोरी [5] आदि

---

1 बिहारी रत्नाकर छंद ६३

2 (क) सुथरे सम्हारे बार सेंन्दुर सी मांग भरि,
सीसफूल-जोति सब जोतिन सों आगरी।
ब्र. सा. ना. भेद पृ० २१४/२२

(ख) मांग सँवारत कोंधई लैं, कचभार भिजावत अंग-समेत ही।
ब्र. सा. ना. भेद पृ० ३०८/३९८

3 काली पटियों के बीच मोहिनी की मांग है,
कि सान पर ठाढ़ा कामदेव का दुधारा है।

4 (क) बेंदी बर बीर नग हीर गन हीरन की,
'देव' झमकन में झमक भरि भारी सी। ब्र. सा. ना. भेद पृ० २१५

(ख) फूलन सो बाल की बनाय गुही बेनी लाल,
भाल दई बेंदी मृगमद की असित है।
ब्र. सा. ना. भेद पृ० ३०८/३९९

(ग) केसर लाइ सँवारि कै आड़ निहारि कै नेह-नदी तरिबो करै।
ब्र. सा, ना. भेद पृ० ३०९/४०१

को प्रसाधनों के रूप में प्रयुक्त किया जाता रहा है। सभी मंगलसूचक हैं। लगाये जाने वाले उपकरणों द्वारा तीन उद्देश्यों की सिद्धि बताई गई है (१) शरीर में मृदुता लाना (२) रूप का निखारना (३) सौभाग्य को सूचित करना। इन तीनों उद्देश्यों में रीतिकालीन साहित्यकार सफल हुआ है। इन सभी वस्तुओं के प्रयोग में भोगमूलक प्रवृत्ति लक्षित होती है। इसीसे इस साज-सौन्दर्य के द्वारा नायक के हृदय में उद्वेलन उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है। प्रिय-मिलन की आकांक्षा वाली स्त्रियां ही इनका प्रयोग करती हुई दिखाई पड़ती है। सहज शृङ्गार के साथ इन उपकरणों की विशेष अभिप्राय-मूलक सजा को भुलाया नहीं जा सकता है। यह अभिप्राय रीतिकालीन साहित्य में दो रूपों में वर्णित है (१) मिलन के उत्साह में इसका सुखद उपयोग किया गया है। ऐसी स्थिति में अपने रूप को अधिक आकर्षक बनाकर नायक के समक्ष अपने को प्रस्तुत कर देना प्रमुख उद्देश्य था। उस काल में पुरुष अनेक स्त्रियों से सम्पर्क रखते थे। अतः जो स्त्री अधिक बन-संवर कर आकर्षक दीख पड़ती थी, उसी की महत्ता सर्वोपरि रहती थी। इस दृष्टि से इनका उपयोगितामूलक प्रयोग होता था।

(२) रति-चिह्नों के रूप में ये ही उपकरण मानसिक विकर्षण के कारण बन जाते थे। ऐसा वर्णन खण्डिता या अन्य संभोग दुःखिता नायिकाओं के प्रसंग पर हुआ है। अपने पति के अंगों पर स्त्री द्वारा लगाये गये इन उपकरणों को देखकर या पर स्त्री के बदन पर रति-चिह्नों को देखकर इस प्रकार का मानसिक विकर्षण उत्पन्न होता है। ऐसा वर्णन इस काल के साहित्य में मिल जाता है।

लगाये जाने वाले सौन्दर्य-साधक उपकरण ही वियोग की अवस्था में अपनी सुखदता और आकर्षण को छोड़ देते हैं। मिलनोत्सुका नायिका के लिये ये ही उपकरण उद्देश्य साधक हैं, परन्तु विरहिणी के द्वारा इनके प्रयोग का निवारण किया गया है। ऐसी स्थिति में इनके द्वारा प्रतिकूलता ही वर्णित की गई है, फिर भी इनके अनुकूल और सुखद प्रयोग के सम्बन्ध में किसी प्रकार का प्रतिवाद उत्पन्न नहीं हो सकता है। सौन्दर्य-साधक इन उपकरणों के साथ शरीर पर धारण किये जाने वाले उपकरणों द्वारा भी सौन्दर्य की वृद्धि की जाती है।

---

1 रोचन, रोरी रची मेंहदी, 'नृपशंभु' कहै मुकता सम होति है।
ब. सा. ना. भेद पृ० २१५/२८

(आ) शरीर पर धारण किये जाने वाले सौन्दर्य के उपकरण —

षोडश-शृङ्गार के अन्तर्गत सभी उपकरणों को तीन वर्गों में बांटा गया था। इनमें शरीर पर लगाये जाने वाले उपकरणों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा चुका है। इन पंक्तियों में शरीर पर धारण किये जाने वाले उपकरणों का विश्लेषण होगा। इन उपकरणों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। यह विभाजन वस्तुओं की उपयोगिता के आधार पर किया गया है—

(क) वैभव के प्रदर्शक एवं सौन्दर्य को बढ़ाने वाले उपकरण।

(ख) शरीर की रक्षा करने वाले उपकरण।

वैभवगत उपकरण के अन्तर्गत उसका विभाजन प्राप्ति के स्रोत के आधार पर वर्गों में हो सकता है—

(१) धातु या खनिज के रूप में प्राप्त होने वाले उपकरण—अलंकार आदि।

(२) वनस्पतियों से प्राप्त होने वाले उपकरण—फूल माला आदि।

(३) जीवों से प्राप्त होने वाले उपकरण—मोती, मोरपंख आदि।

शरीर की रक्षा करने एवं उसको ढकने के लिये मनुष्य निर्मित वस्त्रादि का प्रयोग किया जाता है। क्रमशः इन सब पर विचार किया जायगा।

(१) **अलंकार**—रीतिकालीन साहित्य में युग की भोगपरक दृष्टि सर्वत्र लक्षित होती है। नायिकाएं अपने सौन्दर्य और यौवन को प्रभावशाली एवं ऐन्द्रिय बनाने के लिये सदैव से प्रयत्न करती चली आई हैं। इसके लिये निसर्गगत सहज एवं कृत्रिम अर्थात् अर्जित सौन्दर्य की अभिरुचि देखी जाती है। सहज सौन्दर्य मुग्धा-नायिकाओं में स्वतः ही प्रतिभासित होता रहता है। मध्या और प्रौढ़ा नायिकाओं में सहज सौन्दर्य की अपेक्षाकृत कमी पड़ जाती है। इसी कमी की पूर्ति हेतु षोडश-शृङ्गार की व्यवस्था की जाती है। मुग्धाओं के शृङ्गार का वर्णन भी विशेष अवसरों पर किया गया है। इन अलंकरणों से अनेक उद्देश्यों की सिद्धि बताई गई है।

(अ) अलंकारों द्वारा नायिका के सौन्दर्य का उत्कर्ष दिखाना।

(आ) मादक वातावरण की सृष्टि करना और प्रेमोद्दीपन करना।

(इ) विशेष अभिप्राय की अभिव्यक्ति करना।

अलंकारों के प्रयोग से नायिका का रूप पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ जाता है। ऐसा वर्णन अनेक स्थलों पर हुआ है। इनसे मादक वातावरण की

सृष्टि होती है। किंकिणी, नूपुर, बिछुवा, क्षुद्रघंटिका आदि द्वारा नादात्मक सौन्दर्य उत्पन्न होता है। इससे उत्पन्न ध्वनि वातावरण की सृष्टि करती हुई नायक के मन में मादकता और आकर्षण का संचार करती है। अलंकारों का अनुरणन नायक में औत्सुक्य और जिज्ञासा को उत्पन्न करता है। इसके श्रवण मात्र से रमणी की मोहक मूर्ति साकार हो उठती है।[1] अभिसार एवं समागम प्रसंग पर अलंकारों के अनुरणन से उत्पन्न ध्वनि द्वारा मादकता की सृष्टि की गई है। इसीसे अभिसार के अवसर पर प्रौढ़ा अभिसारिका निर्भय होकर प्रिय मिलन के लिये झंकार की चिन्ता न करती हुई जाती है। मुग्धा में संकोच, लोक-लाज और भय की मात्रा अधिक होती है इससे वह झंकार करने वाले आभूषणों को या तो उतार देती है अथवा उसका शब्द होने से रोक रखती है। सामान्य अभिसारिका में इस प्रकार का कोई भी बन्धन नहीं होता। इससे इसके आभूषणों द्वारा मादकता फैलती हुई चलती है। मतिराम, देव, पद्माकर बेनी प्रवीन आदि कवियों ने आभूषणों के झंकार के विषय में नायिकाओं की अवस्था और परिस्थिति का ध्यान रखा है। इससे उत्पन्न मादक वातावरण के कारण नायक और नायिका दोनों के मन में प्रेम का उद्दीपन हो जाता है। समागम के समय इस झंकार से रस की दीप्ति हो जाती है।[2] नुपूरादि की झंकार सहजरति और क्षुद्रघंटिका का झंकार विपरीत रति को व्यक्त करता है। इससे स्पष्ट है कि अलंकारों के प्रयोग और झंकार द्वारा विशेष स्थिति और अभिप्राय की व्यञ्जना भी होती है। इससे नायिका की अवस्था का ज्ञान होता है। प्रौढ़ा नायिकाएं झंकार की चिन्ता नहीं करती हैं, परन्तु मध्या और मुग्धा की झनकार को सुनकर सखियां उनका परिहास करने में चूकती भी नहीं है। इसीसे लज्जाशीला नायिका लोगों के सो जाने तक प्रतीक्षा करने को

---

1 किंकिनी पायल पैंजनियां, बिछुआ घुंघरू मिल गाजन लागे।
(क) मानो मनोज महीपति के दरबार मरातम बाजन लागे।

सुन्दरी तिलक छंद ४३

2 किंकिनी नेवर की झनकारनि चारु पसार महारस जालहिं।
काम कलोलनि मैं 'मतिराम' कलानि निहाल कियो नंदलालहिं।
(ख) भूषन कनक घुंघरुनु की घनक रति
कूज की झनक बढ़ै लालसा प्रसंग की। तोषसुधानिधि छंद ६६
(ग) भाव-विलास छंद ३९ देव।

कहती है।[1] उसे भय है कि आभूषण की ध्वनि से सखियाँ जान जायेंगी और प्रातःकाल उसका परिहास होगा। इसके विपरीत प्रौढ़ाएं इस झनकार की चिन्ता नहीं करती हैं। 'साजिसिगारिन सेज चढ़ी, तवहीं ते सखी सब सुद्धि भुलानी। कंचुकी के बंद छूटत जाने न नीवी की डोरि न टूटत जानी। ऐसी विमोहित ह्वै गई है जनु जानति रातिक मैं रति मानी। साजी सबै रसना रस केलि में बाजी कबं बिछुवानि की बानी।[2] इन विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि अलंकारों के प्रयोग में ऐन्द्रिय दृष्टिकोण सदैव बना रहा है। इससे उत्पन्न मदिर वातावरण रमणी के प्रति आकर्षित करके नायक को अधीर बना देता है। इसके साथ ही आभूषणों के विभिन्न अंगों में प्रयोग से उत्पन्न सौन्दर्य को भी जान लेना चाहिए।

सौन्दर्य साधक अलंकारों की संख्या अनेक मानी गई है। इनमें बारह आभूषणों को प्रमुखता प्रदान की गई है। इन आभूषणों में शीशफूल टीका, बाली, बेसर, श्रीकण्ठ, हार, बाजूबन्द, चूड़ी, कंकन, अंगूठी, किंकिणी और नूपुर का वर्णन है। बलभद्र ने भी बारह आभूषणों का समर्थन किया है।[3] इन आभूषणों का प्रयोग मस्तक, कान, नाक, गला, बाहु, कटि और पैरों में होता है। रीतिकालीन साहित्य में प्रायः स्त्रियों के आभूषणों का ही वर्णन

---

1 झाँझरियाँ झनकैंगी खरी खनकैंगी चुरी तनकौ तन तोरे।
'दास' जू जागती पास अली परिहास करैंगी सबै उठि भोरै।
सौंह तिहारी है भागी न जाऊँगी आई हौं लाल तिहारेई धोरे।
केलि के रैनि परी है घरीक गई करि जाहु दई के निहोरे।
सुन्दरी तिलक छंद ३९

2 भावविलास छंद ४७ देव

3 बेनी भाल माँगश्रुत नासिका के 'बलभद्र'
कंठ के कनक सुबरन अपार है।
भुज पहुँचानि कर पल्लव के कौन गनै,
उरन के मण्डल जित हमेल हार है।
कटि मुरवान के सु हाथन की अंगुरी,
कि बिछियानि दे केणित कोक नकार है।
चारि मन धातु रसुगंधवार अलंकार,
बारह आभरण ये सोलह सिंगार है।
बलभद्र पृ० २६६/६५ पूना विश्वविद्यालय से प्राप्त हस्त लिखित प्रति

किया गया है। कुछ कवि इस परम्परा के अपवाद में पुरुषों के प्रसाधनों की ओर आकृष्ट दीख पड़ते हैं। ऐसे कवियों में हठी और बकसी हंसराज आदि की गणना की जा सकती है।

अलंकारों के धारण करने की कई प्रवृत्ति रीतिकाल में दीख पड़ती हैं (१) सौन्दर्य की अभिवृद्धि (२) वैभव और ऐश्वर्य का प्रदर्शन (३) आत्म-तुष्टि का भाव। इन तीनों ही प्रवृत्तियों में रीतिकालीन कवि सफल हुए। इन अलंकारों की प्राप्ति के स्रोत पशु, खनिज धातु एवं रत्नादि है। पशुओं से प्राप्त होने वाले पदार्थों में मोती और मोर पंखो की गणना होगी और खनिज पदार्थों के रूप में स्वर्ण, चांदी, हीरा, आदि अन्य रत्नों की गणना होती है।

आभूषण रूप में प्रयुक्त बहुमूल्य रत्नों आदि के प्रयोग से वैभव के प्रदर्शन की वृत्ति सन्तुष्ट होती है। इनका प्रयोग स्त्रियां प्रसाधन के रूप में करती आ रही हैं। इससे अपने रूप को बढ़ाकर प्रिय को रिझाने का प्रयास किया जाता है। इन बहुमूल्य रत्नादि के धारण करने से सामाजिक मर्यादा एवं वैभव का ज्ञान भी होता है, परन्तु रीतिकालीन कवियों की दृष्टि इन अलंकारों के सौन्दर्यवर्द्धक गुण की उपयोगिता को समझकर ही किया गया है। रीतिकालीन नारी के आभूषणों में मोती के हार, नथुनी, कंचन के बिछुआ,[1] नग, गजमुक्ता की नथुनी, हीरा, मोती की मांग, कनक-किंकिनी और मोती की माला आदि आभूषणों की चर्चा की गई है।[2] इन आभूषणों में मोती के प्रयोग के प्रति अधिक रुचि दिखाई पड़ती है।[3] समकालीन सामाजिक

---

[1] (क) कंचन के बिछुवा पहिरावत, प्यारी सखी परिहास बढ़ायो।
रीο काο संο पृο १९५/९९ मतिराम

(ख) तिय निपट लटी कटि में, चटकीली कनक किंकिनी खनकै रास।
पंचाध्यायी पृο ४४ सोमनाथ भारतवासी प्रेस, प्रयाग १९३९ ईο

[2] (क) हारन ते हीरे ढरैं, सारीके किनारिनतें,
बारनते मुकुता हजारन झरत जात।
रीο काο संο २२३/१३ पद्माकर

(ख) कहैं 'पद्माकर' सुगन्ध सरसावै सुचि,
बिथुरी बिराजे बार हीरन के हार पर।
रीο काο संο २३२/९ पद्माकर

[3] (क) मोतिन को मेरो तोर्‌यो हरा, गहि हाथन सो रही चूनरी पोढ़े।
रीο काο संग्रह पृο १९६/२१ मतिराम

वैभव को प्रदर्शित करने में रत्नादि का प्रयोग केवल आभूषणों तक ही सीमित न रखकर उसके द्वारा चौकी तखत आदि बनाये जाने का वर्णन मिलता है।[1] कवियों ने हीरा, मोती, लाल, स्वर्ण आदि बहुमूल्य पदार्थों के विभिन्न आभूषणों द्वारा इसी वैभव को स्पष्ट किया है। वैभव परक अन्य पदार्थों में सुगन्धित द्रव्य और वस्त्रादि का प्रयोग भी किया गया है। दरबारी वातावरण और सामन्ती जीवन के आडम्बर और दिखावे का प्रभाव कवियों की मस्तिष्क पर इतना अधिक हो गया था कि हठी जैसे कवियों की दृष्टि 'अलंकारों' से उत्पन्न सौन्दर्य या शोभावृद्धि की ओर जाती ही नहीं थी। वैभव से मिलकर शारीरिक

(ख) हिये हार मोतिन को सोहे अरु फूलन की माला।
सनेह सागर पृ० १८ बकसी हंसराज

(ग) छोटी नथुनी बड़े मोतीयान, बड़ी आँखियानि बड़े सुघरे हैं।
री० का० सं० पृ० ३५६/५ ठाकुर

(घ) बेंदी ज्योति चहुँ निसि फैले मोतिन माँग भराई।
सनेह सागर पृ० ८० बकसी हंसराज

(ङ) मोल तोल छवि एकके गुही मोतिन की हार।
री० का० सं० पृ० १३६/११

(च) नाक नथुनी के गजमोतिन की आभा केधों
देहवंत प्रगटित हिए को हुलास है।
री० का० सं० १६८/३०

(छ) मोतिन की हार गरें, मोतिन सोमांग भरें,
मोतिन सौं बैन गुही 'हठी' सुख साज की।
श्री राधा सुधाशतक छंद ६

1 (क) चामीकर चौकीपर चंपक बरन 'हठी'
अंग की चमकै चारु चंचल चलावती।
श्री राधा सुधा शतक बंद २१

(ख) हीरन तखत बैठी राधे महरानी हठी,
रंभा रति रूप गिरि धसक धरा परें।
श्री राधा सुधा शतक छंद १६

प्रभा और ज्योति का चित्र प्रस्तुत करने में इनकी कल्पना शक्ति अवश्य ही सचेष्ट थी ।[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सभी अंगों में अनेक आभूषणों को धारण करके शोभा-वृद्धि या ऐश्वर्य का प्रदर्शन होता था । शरीर के बारह अंगों[2] में बारह आभूषणों को धारण करते थे। रघुनाथ कवि ने बारह अंगों में इन आभूषणों के धारण करने का एक ही पद में विवरण दिया है। मुग्ध-नायिकाओं के सहज सौन्दर्य में एक ही आभूषण से अंग शोभा बढ़ जाती है "और आभरण अब काहे को सजैगी बीर एक ही में बाढ़ी अंग-अंग छबि तुन्द है।" बेनी प्रवीन के इस कथन से निसर्गगत शोभा की व्यञ्जना की गई है। इन आभूषणों के साथ ही जीव-जन्तुओं से प्राप्त होने वाले वस्तुओं को भी प्रसाधन के रूप में प्रयोग किया जाता रहा। ऐसे प्रसाधनों को प्रकृति से प्राप्त होने वाले उपकरणों के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

(२) प्रकृति से प्राप्त उपकरण

सौन्दर्य के साधक उपकरणों में से अनेक उपकरणों की प्राप्ति प्रकृति से हो जाती है। ऐसे उपकरणों में फूल, मोर पंख, मुंजामाल और बनमाल का वर्णन रीतिकाल में मिलता है। फूल द्वारा सजाने की प्रवृत्ति स्त्री और पुरुष दोनों में पाई जाती है। मोर पंखादि का प्रयोग केवल कृष्णपक्ष में ही वर्णित है। विपरीत शृङ्गार के समय राधा द्वारा मोर पंखादि को धारण करके शोभा को बढ़ाने की चेष्टा की गई है। मोर पंख श्री कृष्ण का प्रिय-प्रसाधन है।[3] इसके अभाव में उनका शृङ्गार अधूरा रह जाता है। इसी के

1　जात रूप तखत पर बैठी रूप रासि राधे,
　अंगन की प्रभा प्रभाकर को लजावती ।

श्री राधा सुधा शतक छंद २५

2　सीस भाल श्रुति नासिका, ग्रीवा कटि उर बाहु
　मूल मणि अंगुरी चरन बारह भूषण चाहु ।

काव्य-प्रभाकर पृ० ३०६ सन् १६६६ जगन्नाथ दास भानु

3　(क) मोर के पखौवन को मंजुल मुकुट माथे,
　　तैसिये लकुट कर कंजनि धरति है ।

बेनी प्रवीन पृ० १२४ नवरसतरंग

साथ गुंजामाल को धारण करके प्रकृति प्रेम को व्यक्त किया गय है।[1] मोरपंख गुञ्जामाल वैजयन्तीमाल उनके प्रिय प्रसाधन है। वनमाल का प्रयोग भी श्रीकृष्ण करते थे।[2] इन प्रसाधनों से स्पष्ट है कि मोर पंखों को मस्तक पर, गुञ्जामाल, बनमाल और वैजयन्ती माल को गले में धारण करते थे। मोर पंखों का मुकुट, टटिया, किरीट आदि बनाया जाता था। पंखों की चन्द्रकनि से श्रीकृष्ण की शोभा बढ़ जाती थी। प्रत्येक अवसर पर श्रीकृष्ण मोर पंखों को अवश्य धारण करते थे। यहां तक कि उनके वीर-वेष के साथ भी शोभा-

---

(ख) मोर मुकुट की टटिया लीन्हें, कीन्हें नैन डिठौना।

सनेह सागर पृ० १६

(ग) गुञ्ज गरे सिर मोर पखा, 'मतिराम' यों गाय चरावत डोलें।

रीतिकाव्य संग्रह १६६/२१

(घ) मोर पखा 'मतिराम' किरीट मनोहर मूरति सो मनु लैगो।

रीतिकाव्य संग्रह १६६/२५

(ङ) मोर मुकुट की चन्द्रकनि, यों राजत नन्दनंद।

रीतिकाव्य संग्रह पृ० २८८/८२

1 (क) सखि, सोहत गोपाल के उर वैजयन्ती माल।

रीतिकाव्य संग्रह पृ० २८७/६४

(ख) माल गरे गुञ्जन की कुञ्जन को वसिबो।

रीतिकाव्य संग्रह पृ० २६३

(ग) मनो निसानों दृगनि दई गुञ्ज की माल।

रीतिकाव्य संग्रह पृ० २१८/२६ रसलीन

(घ) गुञ्जन के अवतंस लसै सिर, पच्छन अच्छ किरीट बनाओ।

रीतिकाव्य संग्रह पृ० १६५/१४ मतिराम

2 (क) मोरपखा 'मतिराम' किरीट में कंठ बनी बनमाल सुहाई।

रीतिकाव्य संग्रह पृ० १६६/२६ मतिराम

(ख) मेरो गह्यो उन हार झपोटि के, मैं हूं गही बन माल झपेटा।

रीतिकाव्य संग्रह पृ० २५०/१६ बेनीप्रवीन

(ग) कल कानन कुण्डल मोर पखा, उर पै बनमाल बिराजति है।

रसखान

विधायक मोर पंखों का वर्णन अवश्य ही होता था। प्रत्येक ब्रजवासी इसी रूप में श्रीकृष्ण को देखने का अभ्यस्त हो गया था। यही कारण है कि इस प्रसाधन से युक्त श्रीकृष्ण की शोभा को देखकर गोपियां अपनी सुधि-बुधि भूल जाती है, उनके नेत्र निर्निमेष हो श्रीकृष्ण को देखने लग जाते हैं और वृषभानु की किशोरी राधा तो बौरी हो जाती है।[1] प्रकृति से प्राप्त अन्य प्रमुख प्रसाधन में फूलों का महत्त्व है, जिसे स्त्री-पुरुष दोनों ही प्रयोग में लाते थे।

फूल—वनस्पति से प्राप्त होने वाले प्रकृति सुलभ पदार्थों में फूलों द्वारा आज भी अपने को प्रसाधित करने की परम्परा है। फूलों में नागरिक जीवन का वैभव एवं ऐश्वर्य न होकर स्वच्छन्द और मुक्त जीवन का अबाध उपयोग है। इसी से प्रकृति-सुलभ इस उपकरण के प्रति नागरिक एवं ग्राम्य जीवन दोनों की ही अभिरुचि व्यक्त होती है। फूलमालादि धारण करने के कई उद्देश्य दीख पड़ते हैं—

(१) सुगन्धित एवं अनुकूल वातावरण की सृष्टि।
(२) अपने रूप को आकर्षक बनाकर प्रिय को रिझाना।
(३) घ्राणेन्द्रिय की तृप्ति और लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना।

इन सभी उद्देश्यों की सिद्धि के लिए कृष्ण साहित्य में फूलमालादि का प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। गोपियां फूलों से अपने को सजाती हैं। फूलों की माला को ही आधार बनाकर श्रीकृष्ण पर व्यंग्य करती हैं।[2] रूप

---

[1] सूंघै न सुबास रहै राग रंग तै उदास,
भूलि गई सुरति सकल खान पान की।
कवि 'मतिराम' इक टक अनिमेष नैन,
बूझै न कहति बात समुझै न आन की।
थोरी सी हंसनि मैं ठगोरी तेने डारी स्याम,
बौरी कीनी गोरे तैं किसोरी वृषभानु की।
तब ते बिहारी वह भई दै परवान कीसी
जब मैं निहारी रुचि मोर के पखान की। "रसखान"

[2] फूलन की माल मोसों कहत 'गुलाब' ऐसी,
फूलन को माल मेलि राखत न क्यों गरै।
मेरो मुख चंद सो बतावै ब्रजचंद रोज,
कहो ब्रजचंद जू सो चंद देखिबो करै। ब्र. सा ना. भेद पृ. २९६/३५७

गर्विता का प्रेम एवं रूप-गर्व व्यक्त किया गया है। श्रीकृष्ण स्वयं फूलों की माला बनाकर पहनाते हैं।[1] फूलों से निर्मित अलंकारों द्वारा सभी अपना शृंगार करती हैं। बहुमूल्य आभूषणों के बीच के बिना शृंगार अधूरा ही रह जाता है। इसी से हीरे और मोती के अवतंस तथा स्वर्ण के भूषणों की छवि के साथ चमेली और चंपक की शोभा भी बनी रहती है।[2] फूल मालादि से युक्त श्रीकृष्ण की शोभा को देखकर गोपियां नेत्रों के लाभ का फल पा लेती हैं।[3]

अतः स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्य प्रसाधक उपकरणों की दो कोटियां रीतिकालीन साहित्य में वर्णित है। (१) ऐसे उपकरण जो वैभव के प्रतीक तथा रूप के उत्कर्षक हैं। इनमें बहुमूल्य धातु एवं रत्नों आदि के आभूषण का वर्णन है। स्वर्ण, हीरा, मोती, आदि के आभूषण इसी श्रेणी में आते हैं। इन आभूषणों के प्रयोग से अंग में उत्पन्न होने वाली ज्योति एवं प्रकाश आदि का चित्र भी अंकित किया गया है। (२) दूसरी कोटि में प्रकृति से प्राप्त किये जाने वाले सौन्दर्यसाधक उपकरणों की गणना होती है। इन उपकरणों में सादगी और शोभा रहती है। इनसे वैभव परकता का ज्ञान न होकर मुक्त प्रकृति के उपयोग का ज्ञान होता है। ऐसे उपकरणों में मोरपंख बनमाला गुंजामाला और फूल के विभिन्न आभरणों से उत्पन्न शोभा का वर्णन है। इन सभी आभूषणों आदि के धारण करने का उद्देश्य रूपोत्कर्ष द्वारा स्वयं रिझना और प्रिय को रिझाना है। पद्माकर की गोपी राधा से ऐसे ही साज सजने को कहती है, जो गोपाल की आंखों में प्रिय लगे।[4] इन प्रसाधनों के साथ वस्त्रादि के धारण द्वारा भी रूप का आकर्षण बढ़ाया जाता है।

---

[1] (क) हीरन मोतिन के अवतंसनि, सोन के भूषण की छवि छावै।
हार चमेली के फूलन में तिनमें रुचि चंपक की सरसावै।

ललित ललाम २३२

(ख) हिये हार मोतिन को सोहे, अरु फूलन की माला।

सनेह सागर पृ. १९

[2] ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद पृ० २०८/२९९ सेनापति।

[3] आजु को रूप लखै नंदलाल कौं, आजुहि नैननि को फल पायो।

रसराज २३८ मतिराम

[4] (क) मांगि संवारि सिंगारि सुवारिन, बेनी गुही जु छवानि लौ छावै।
'त्यों पद्माकर' या विधि औरहु साजि सिंगार जु स्याम को भावै।

(२) शरीर की रक्षा करने वाले सौन्दर्य साधक उपकरण—

शरीर की शोभा को बढ़ाने वाले उपकरणों में धारण किये जाने वाले उपकरणों का महत्त्व सदा से रहा है। भूषण वस्त्र और फूलमालादि में वस्त्र शरीर के आच्छादन के लिए प्रथम आवश्यक उपकरण है। इसका प्रयोग तीन दृष्टियों से किया जाता है। (१) अलंकरण की प्रवृति (२) शालीनता (३) शरीर की रक्षा।

इनमें शरीर रक्षा-परक उपयोगिता तो स्पष्ट है। शालीनता मूलक प्रवृत्ति भी प्रबल रूप में दीख पड़ती है। शालीनता का सामाजिक दृष्टि से महत्त्व है और इसके मूल में लज्जा वर्तमान रहती है। यौन-अंगों के ढकने और आकर्षण की दृष्टि से उसे उत्तेजक बनाने के वस्त्रों का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। इससे अंगों की रहस्यात्मकता बनी रहती है। देखने वालों के मन में कौतूहल और जिज्ञासा का संचार होता रहता है। उपगूहन और प्रदर्शन दोनों ही भावनाएँ समानान्तर गति से चलती रहती है। इससे आलम्बन की मानसिक प्रवृति का ज्ञान होता है, प्रेम की उदीप्ति होती है और सहज सौन्दर्य में उत्कर्ष आता है, अलंकरण की प्रवृत्ति तृप्त होती है। इस वेशभूषा से स्वाभाविक शोभा बढ़ती है। शोभा वृद्धि के लिए इन उपकरणों में वस्त्र से कई उद्देश्यों की सिद्धि हो जाती है।

वस्त्रों के प्रयोग से उत्कर्ष को प्राप्त शोभा द्वारा नायक को आकृष्ट करने की चेष्टा की जाती है। इसीसे सौतों को श्रृंगार करते हुए देखकर नायिका के मन में भय उत्पन्न हो जाता है कि सौत नायक को अवश्य ही आकृष्ट कर लेगी। मिलन के प्रसंग पर वेश-भूषा की व्यावहारिकता यथार्थ जीवन पर निर्भर है। वेश के आधार पर ही नायिका के कई भेद—वासक सज्जा और अभिसारिका—किये गये। उत्कण्ठिता और विप्रलब्धा नायिकाओं में भी वस्त्रादि की महत्ता रहती है। प्रायः मध्या और प्रौढ़ा नायिकाएँ साज—सज्जा

रीझै सखी लखि राधिका को रंग जा अंग जो गहनो पहिरावै।
होत यों भूषित भूषणगात ज्यों कोंकट ज्योति जवाहिर पावै।

जगद् विनोद ६३/२५१

(ख) श्रीनंदलाल गोपाल के कारण, कीन्हें सिंगार जो राधे बनाई।
सुन्दरी तिलक ६६/१८७

के प्रति अधिक सचेष्ट रहती हैं। मुग्धा की शालीनता स्पष्ट रूप से कुछ करने में उन्हें रोकती है। वस्त्रों का चटकीलापन सामान्य नायिका में अधिक पाया जाता है, क्योंकि उसके समक्ष सामाजिक बन्धन या नियन्त्रण का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। इससे वह यथारुचि अपने को अधिक से अधिक आकर्षक बनाने की चेष्टा करती है।

अभिसारिका नायिकाओं के वेश-वर्णन में कवियों की रुचि रही है। रीतिकाल में प्रायः दो अवसरों पर वेश से उत्पन्न शोभा का वर्णन किया गया है। (१) दूती के कथन में नायिका के सौन्दर्य तथा वेशादि का आकर्षक वर्णन (२) प्रत्यक्ष दर्शन के बाद नायक द्वारा नायिका के वेश की प्रशंसा। इन सभी शोभाओं के लिए वस्त्रों का आकर्षक और समुचित प्रयोग आवश्यक था। इसी से रीतिकालीन कवियों ने वस्त्रादि वर्णन में इसका ध्यान रखा है। इस युग का कवि वस्त्रों के चुनाव में अनुरूप एवं प्रतिरूप रंग-योजनाओं, वस्त्रों के कटाव आदि के माध्यम से अंगों की सुडौलता और आकर्षण को बढ़ाने की चेष्टा किया करता था। वह विविध प्रकार की सजावटों द्वारा शरीर को आकर्षक बनाता था। तत्कालीन वैभव परक समाज की प्रचलित परम्पराओं का स्पष्ट प्रभाव इन वस्त्रों पर दीख पड़ता है।

इस युग के प्रयुक्त वस्त्रों में साड़ी, चोली, अंगिया, चूनरी आदि प्रमुख हैं। पुरुषों के वस्त्रों में पीताम्बर, चीर, बागा आदि का वर्णन है। इन वस्त्रों का प्रयोग केवल शरीर रक्षा के लिये ही न होकर उसकी सजावट के लिये भी होता था। इससे रंगों की विशेषता महत्वपूर्ण स्वीकार की गई है। वस्त्र बारीक, झिलमिल और स्वर्णादि के तारों से खचित होते थे।

श्वेत, श्याम और हरे रंग की साड़ी का वर्णन है।[1] श्वेत वस्त्रों के

---

1 (क) सेत सारी सोहत उजारी मुखचंद की सी,
मलहनि मंद मुसकान की महमही। रसराज १७६ मतिराम

(ख) उजरई की उजारी गोरे तन सेत सारी,
मोतिन की ज्योति सों, जुन्हैया मानो बाढ़ी है।
री० का० सं० ३३६/५ आलम

(ग) गेह सों सनेह मैं सिधारी स्याम सारी सजि,
राजनि अन्धेरी न सजनी कोऊ साथ में।
री० का० सं० पृ० २४८/११

(घ) सेत बसन में यों लसै, उघरत गोरे गात।
री० का सं० पृ० १८१/५१ मतिराम

आकर्षण को बढ़ाने के लिये विभिन्न उपमानों और अप्रस्तुतों द्वारा उसका चित्र प्रस्तुत किया गया है। श्वेत साड़ी के तत्काल प्रभाव का वर्णन है। स्वयं कृष्ण भी उस रंग में रंग जाते हैं।[1] इन रंगों के अतिरिक्त केसरिया, कुसुम्मी आदि रंगों से रंगे वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था।

वस्त्रों के प्रयोग में शरीर शोभा बढ़ाने के साथ ऐश्वर्य और वैभव का प्रदर्शन भी होता था। यह प्रदर्शन जरतास के काम द्वारा होता था।[2] 'जरतास' में सोने के महीन तारों द्वारा वस्त्रों पर कारीगरी अंकित की जाती थी। इससे शरीर पर भी उसके प्रकाश द्वारा सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती थी तथा झिलमिलाते हुए चमक में नायिका की शोभा कई गुनी बढ़ जाती थी।

चोली, कंचुकि या अंगिया का प्रयोग शरीर को उन्नत बनाने, यौन दृष्टि से आकर्षक दीखने और उभार लाने के लिये किया जाता था। इससे यौन अंग का महत्व बढ़ता है, स्तन पुष्ट और कटि प्रदेश क्षीण दीखने लगता है। इसकी कोर को सुनहरी किनारी से मढ़कर इसकी शोभा बढ़ा देते हैं। मूल रूप में कंचुकी के प्रयोग द्वारा स्तनों को उन्नत और आकर्षक बनाने तथा उसके द्वारा नायक को आकर्षित करने की चेष्टा की गई है। सभी स्त्रियाँ गोटा लगे हुए कटावदार व 'बादले' के काम से युक्त उभार देने वाली चोली का ही प्रयोग करती थीं। इससे अनेक अभिप्रायों की सिद्धि बताई गई है।[3] कंचुकी के प्रयोग

---

1 (क) स्वेत सारी ही सों सबै सौतें रंगी स्याम रंग,
सेत सारी ही सों रंगे स्याम लाल रंग में। रसराज ३५७
(ख) लाल मन बूड़िबे को देवसिरि सौत भई,
सौतिन चुनौटी भई वाकी सेत सारी री। काव्य-निर्णय दास

2 (क) सारी जरतारी की झलके झलकति तैसी,
केसरी के अंग राग कीने सब तन में। रसराज २०१ मतिराम
(ख) सारी जरतारी अंग तैसी संग आलिका।
री० का० सं० पृ० २५०/१७ वेनी प्रवीन

3 (क) कंचुकी में कसे आवें उकसे उरोज बिंदु,
वंदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत।
(ख) आँगी कसे उकसे कुच ऊँचे, हँसे हुलसैं फुफदीन की फूंदे।
(ग) भावते को सुनि आगम आनन्द, अंगन-अंगन में उमह्यो है,—
गाढ़ी भई कर की मुंदरी, अंगिया की तनीन तनाव गह्यो है।
रसराज पृ० ३२० मतिराम

में भावों की प्रेषणीयता, प्रियदर्शन की उमंग, अंगों का उभार आदि व्यक्त किया गया है। इसका रंग श्वेत, श्याम, हरा[1] और केसरिया होता था। ये सभी रंग गोरे वदन पर अच्छे लगते थे। कंचुकी के वर्णन की इस विशदता के मूल में यही भावना काम करती है कि इसका प्रयोग वक्ष प्रदेश के लिये होता है, जो एक आकर्षक अंग है और इसी अंग के सहारे से नायक खिंचा हुआ चला आता है। इस कंचुकी के साथ चटकीले रंग की चूनरी से शोभा बहुत बढ़ जाती थी।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि वस्त्रों के प्रयोगादि के सम्बन्ध में रीति-काल का कवि सचेष्ट था। इसके प्रयोग का मुख्य रूप से दो ही उद्देश्य दीख पड़ता है—

(१) शालीनता जन्य लज्जा एवं शरीर के विभिन्न अंगों की रक्षा।

(२) यौन दृष्टि से अधिक आकर्षक दीखने का प्रयास। इन दोनों ही उद्देश्यों में रीतिकाल का कवि पूर्णतः सफल हुआ।

सौन्दर्य के इन उपर्युक्त उपकरणों के संग षोडश शृङ्गार के अन्तर्गत अन्य भी अनेक प्रसाधनों का वर्णन किया गया है। इन प्रसाधनों को न तो धारण किया जा सकता है और न शरीर पर लगाया ही जा सकता है, अपितु इनका उपयोग अन्य रूप में ही होता है। इसी रूप में ये सौन्दर्य साधक उपकरण बन जाते हैं।

(घ) रजनी मधि प्यारी ने गौन कियो, निरखी अंगिया पिय रंग भरी।
खरी खीन हरे रंग की अंगिया, दरकी प्रगटी कुच कोर सिरी।
सुन्दरी तिलक पृ० २५८

(ङ) अंगिया की तनी खुलि जाति घनी,
सुवनी फिरि बाँधति है कसि के।
सुजान-विनोद पृ० ३५ देव, सभा, काशी

1 (क) छोरी धरी हरी कंचुकी न्हान कों, अंगन ते जगे जोति के कौंधे।
पद्माकर

(ख) खरी खीन हरे अंगिया, दरकी प्रकटी कुच कोर सिरी।
सुन्दरी तिलक पृ० २५८

2 चुई सी परत चपल सी चै चपल,
चख-चंचल चितौनि चटकीली चारु चूनरी। री० का० सं० २५१/२५

(इ) सौन्दर्य के उत्कर्षक अन्य शृङ्गार-प्रसाधन—

प्रसाधन गत सौन्दर्य के अन्तर्गत षोडश शृङ्गार की चर्चा की जा चुकी है। ये शृङ्गार प्रसाधन शरीर पर धारण किये जाने पर, लगाये जाने पर अथवा अन्य प्रकार से शारीरिक शोभा के विधायक बनते हैं। इनमें आरम्भिक दो वर्गों का विवेचन किया जा चुका है। यहाँ षोडश शृङ्गार के अन्तर्गत अन्य प्रकार से शारीरिक शोभा को बढ़ाने वाले उपकरणों का संकेत होगा।

इन उपकरणों के अन्तर्गत स्नान, केश-विन्यास और ताम्बूल रचना का प्रयोग वर्णित है। डिठौना और दर्पण द्वारा मुख शोभा बढ़ाने अथवा निरखने का वर्णन मिलता है। डिठौना यद्यपि षोडश शृङ्गार में वर्णित नहीं है, फिर भी इसके द्वारा शोभा की वृद्धि ही होती है। रीतिकालीन कवियों ने गोरे बदन पर डिठौने की श्याम शोभा से युक्त मुख को चन्द्रमा के समान देखा है।[1] इस साहित्य में इसके माध्यम से नजर लगने से बचाने का भाव व्यक्त हुआ है।[2]

पान या बीरी के प्रयोग के दो उद्देश्य प्रतीत होते है (१) मुख बास द्वारा अनुकूल स्थिति उत्पन्न करना (२) अधरों की लालिमा बढ़ा देना। कभी-कभी गह लालिमा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि अधरों की निजी लालिमा अलग से लक्षित ही नहीं होती है।[3] पान की पीक गले में उतरती हुई अच्छी लगती है।[4] पान खाने का अनेक अवसरों पर वर्णन है—(१) किसी का आदर सत्कार करने में[5] (२) शोभा बढ़ाने में (३) स्वाधीन पतिका

---

[1] विधु सम सोभा सार लैं, रच्यौ बाल मुख इन्दु।
दियौ इन्दु मैं अंक मिस राहु हेतु मसि बिन्दु। विक्रम सतसई दो० २८६

[2] (क) लौने मुँह दीठि न लगै, यों कहि दीनि ईठि।
दूनी ह्वै लागन लगी, दियै दिठौना दीठि।
विहारी रत्नाकर दो० २८

(ख) निठुर दिठौना दीन्हें नीठि निकसन कहै,
डीठि लगिवे के डर पीठ दै गिरति है। सुजान-विनोद ६/१५

[3] पान पीक अधरान में सखी लखी न जाय।
कजरारी आँखियानि में कजरा री न लखाय।

[4] खरी लागति गोरे गरै, धसति पान की लीक।
मनौ गुलीबन्द लाल की लाल लाल दुति लीक। विहारी

[5] को है ज्योतिषी है, कछू जोतिषै विचारत हो?
ये ही शुभधाम काम जाहिर हमारो है!

नायिका द्वारा शृङ्गार करने में।[1] इन अवसरों द्वारा अनुकूल भावनाओं का वर्णन है, परन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों में पान द्वारा दुखद वातावरण एवं भाव की अभिव्यक्ति हुई है। यह अभिव्यक्ति विरह प्रसंग पर अथवा गोत्र-स्खलन[2] प्रसंग पर हुई है। यह पान का सौन्दर्यमूलक प्रयोग नहीं है। अन्य स्थलों पर इससे मुख की शोभा ही बढ़ाई गई है।

स्नान द्वारा नायिका के मादक और अनावृत सौन्दर्य को देखने की ही अधिक चेष्टा की गई है। सद्यः स्नाता का चित्र कहीं-कहीं प्रस्तुत हुआ है। अन्यत्र केवल स्नान का नाम मात्र ले लिया गया है। ऐसे स्थलों पर यह वर्णन के अनुरोध से ही प्रस्तुत किया गया है।[3] इससे शोभा का विकास नहीं बताया गया है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि स्नान द्वारा निर्मलता से शारीरिक कान्ति का विकास होता है। केश-विन्यास से सुन्दरता आती है। प्रिय द्वारा किये गये इस विन्यास में उसका अनन्य प्रेम व्यक्त होता है।

षोडश शृङ्गार में दर्पण महत्त्वपूर्ण होता है। सभी शृङ्गार कर लेने के बाद नायिका की आत्मतुष्टि के लिये दर्पण का देखना आवश्यक है। इसकी व्यावहारिक उपयोगिता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते हैं। अपने रूप एवं शृङ्गार को देखकर नायिका स्वयं सन्तुष्ट हो जाती है, तो उसका रूप नायक को अवश्य ही आकर्षित कर लेने में समर्थ हो सकेगा। दर्पण का दो प्रभाव वर्णित है। (१) नायिका स्वयं अपने रूप पर रीझती है और (२) दर्पण के माध्यम से प्रिय को देखने की चेष्टा की गई है। यथाः—

आवौ बैठ जावौ, पानी पीवौ, पान खावौ फेर,
होय के सुचित नेक गणित निकारौ तो। री० का० सं० पृ० ३६१

1 ब्रजभाषा साहित्य का नायिक भेद पृ० ३०६ छंद ३८७;
पृ० ३०८ छंद ३९५-३९६-३९८-४०३

2 (क) बूझत ही वह गोपी गुपालहिं, आजु कहूं हँसि के गुण गार्थाहं।
ऐसे में काहू को नाम सखी, कहि कैसे धों आइ गयो ब्रजनार्थाहं।
खाति खवावति ही जू बीरी, सु रही मुख की मुख हाथ की हाथनि।
केशवदास

(ख) बार-बार बरजति बावरी है वारौं प्रान,
बीरी ना खवाऊँ बीर विष सी लगति है। केशवदास

3 ब्र० सा० का नायिका भेद ३०९ छंद ४०१ तथा पृ० ३१८ छंद ४४६

(१) 'केशव' एक समै हरि राधिका आसन एक लसैं रंग भीनें।
आनन्द सों तिय आनन की द्युति देखत दर्पण में दृग दीनें।

(२) भाल गुही गुन लाल लटैं लपटी लर मोतिन की सुख दैनी।
ताहि बिलोकत आरसी लैकर, आरस सों इक सारस नैनी।

केशव री० का० सं० पृ० १४६

उपर्युक्त षोडश-शृङ्गार वर्णन के आधार पर हम यह निर्णय ले सकते हैं कि आलोच्य काल के कवियों ने इनके प्रयोग में दो बातों का ध्यान रखा है (१) वैभव एवं ऐश्वर्य का प्रदर्शन (२) शारीरिक रूपाकार के आकर्षण को अधिक से अधिक बढ़ाकर अपने प्रिय को रिझाने का प्रयास। इन दोनों ही बातों में रीतिकालीन कवियों को पूर्ण सफलता मिली है। प्रयोग किये जाने वाले प्रसाधनों द्वारा यह बताने की चेष्टा की गई है कि इनके द्वारा शरीर में कोमलता के उद्भव से स्पर्श-सुख की अनुभूति होती है तथा दृश्य रूप में आकर्षण एवं मोहकता बढ़ जाती है। इससे स्पर्श-जन्य सुखदता और दृश्य सुखदता दोनों की ही उपलब्धि होती है। लौकिक जीवन में नायक-नायिका का यह सुख ही उनके लिए काम्य आकांक्षा है और इसकी तृप्ति में रीतिकालीन कवि पूर्णतः सफल हुआ है।

तटस्थ-सौन्दर्य—रीतिकालीन कवियों ने तटस्थ सौन्दर्य के अन्तर्गत प्राकृतिक शोभा का वर्णन किया है। बहुधा शरीर या प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु के उपमान के रूप में प्रकृति का ग्रहण हुआ है। उपमानों के ऐसे प्रयोग से प्रस्तुत का सौन्दर्य तो बढ़ता ही है, अप्रस्तुत के गुणों का भी ज्ञान होता है। उनकी कोमलता, हृदय-आवर्जकता, स्पर्श-सुखदता आदि अनेक गुणों का ज्ञान होता है। सादृश्य मूलक अलंकारों में इस प्रकार के अप्रस्तुतों का अधिक प्रयोग मिलता है। नायक या नायिका के अंग-वर्णन या उसके उठते हुए यौवन के विकास को पुष्पों के खिलने के समान बताकर पुष्प की प्रफुल्लता, विकास, शोभा, सुगन्धि आदि अनेक तत्त्वों का एक साथ वर्णन कर दिया जाता है। अप्रस्तुतों के सफल प्रयोग से ही प्रस्तुत के रूप में निखार उत्पन्न होता है। एक उदाहरण देखें—

"कनक लता श्रीफल भरी, रही विजन वन फूलि।
ताहि तजत क्यों बावरे, अरे मधुप मति भूलि। वाणीभूषण

इस वर्णन में सोने की लता, श्रीफल आदि के कथन से नारी का सम्पूर्ण रूप-चित्र उपस्थित कर दिया गया है। ऐसे स्थलों पर प्रकृति के ये

उपकरण शोभा विधायक रूप में प्रयुक्त हो जाते हैं। इनके प्रयोग से नारी के रूप-चित्र का जो बिम्ब-विधान होता है, उसकी व्यञ्जना करने में ये उपमान सहायक होते हैं और प्रयुक्त इन अप्रस्तुतों द्वारा अभिव्यञ्जना-शिल्प इतनी सजी-सँवरी रहती है कि अश्लीलता की गन्ध नहीं मिलती। गुण और धर्म साम्य का आधार लेकर वर्णन को अनुभूतिमय बनाया जाता है। कहीं-कहीं तो केवल उपमानों के माध्यम से ही प्रस्तुत का रूप उपस्थित किया जाता है।

'कोक नद पद कंज कोप से गुलफ गोल,
जंघ कदली से लंक केहरि विसाल सों।
पान सो उदरि नाभि कूप सी गंभीर गुर,
उर नवनीतपानि पल्लव रसाल सों।
ग्वाल कवि लसति लतान सी भुजाहै वेस,
कंबु सो गरो है मुख नील कंज जाल सों।
स्याम के संचीर जौन गज सो मुजंघ वारो,
सुमि सो मुकुट सब तन है तमाल से।[1]

उपर्युक्त छंद में कोकनद, कोप, कदली, केहरि, पान, कूप, रसाल, लता, कंबु, नील कंज, गज आदि के कथन में उसके प्रति सौन्दर्य विषयक धारणा व्यक्त होती है। साहित्यिक परम्परा में इन प्रयुक्त शब्दों का गुण बोधक जो प्रतीकात्मक अर्थ है, उससे प्रस्तुत का रूप-चित्र गुणों के आधार पर सौन्दर्योत्कर्षक हो जाता है।

प्रकृति आदि तटस्थ सौन्दर्य के व्यञ्जक पदार्थों का वर्णन दो अवसरों पर हुआ है। (१) संयोग के अवसर पर (२) वियोग के अवसर पर। संयोग में तटस्थ सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना दो दृष्टियों या अवसरों पर की गई है। प्रथम नायिका या नायक के अंग-प्रत्यंग वर्णन के चाक्षुष रूप या उसके सूक्ष्म रूप वर्णन में कान्ति, छवि, लावण्य आदि के अंकन में उपमान रूप में इनका प्रयोग हुआ है। इन उपमानों द्वारा शरीर की विभिन्न छवियाँ अंकित की गई हैं। इनसे शरीर की मृदुता, कोमलता, अंग दीप्ति आकार आदि का बोध होता है। यह बोध रागात्मक अनुभूति में परिवर्तित होकर आलम्बन के रूप को अधिक बढ़ा देता है। बहुधा मानव जब अपनी प्रशंसात्मक भावनाओं की तृप्ति मानव मात्र के कथन से नहीं कर पाता, तभी उसे प्रकृति की शरण में जाना

1 कृष्ण जू को नख-शिख-ग्वाल ६८/६५

पड़ता है। वह मन एवं ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव क्षेत्र में आने वाली प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं में सुन्दरता एवं तत्सम्बन्धी सभी गुणों का अनुभव करके प्रस्तुत को उत्तम से उत्तम बनाना चाहता है। कलाकार का यह विचार है कि इससे सुन्दरता की उसकी मानसिक कल्पना प्रेषणीयता का गुण पाकर दूसरों के मन में भी उसी प्रकार की भावानुभूति उत्पन्न कर देती है। इस दृष्टि से प्रकृति आदि तटस्थ पदार्थों का उपयोग सौन्दर्य एवं आकर्षण को बढ़ाने के साधन के रूप में होता है। इसे तटस्थ संज्ञा इस कारण प्राप्त होती है कि सौन्दर्य-साधक ये उपकरण आलम्बनगत न होकर आलम्बन से अलग होते हैं, परन्तु अपनी इस तटस्थता में भी सौन्दर्य के उपकारक होते हैं। इनसे रति की भावनाएँ उद्दीप्त होती हैं। अतः तटस्थ सौन्दर्य का यह प्रियता मूलक उपयोग है, क्योंकि इनके प्रयोग से आलम्बन या आश्रय की बढ़ी हुई छवि आकर्षण का कारण बनकर प्रिय के मन में अनुकूल भावनाओं का संचार करने में समर्थ होती है।

प्राकृतिक साधनों द्वारा संयोग की अवस्था में भावनाएँ उद्दीप्त होती हैं। नदी तट, वन, उपवन आदि से प्रिय मिलन की आकांक्षा बलवती हो जाती है। ऐसे स्थलों पर इनका चयन उद्दीपन की दृष्टि से किया गया है। ये वातावरण का निर्माण करके उसकी मोहकता बढ़ाने में सहायक सिद्ध होते हैं। इस दृष्टि से ये सौन्दर्य परक होते हुये भी साक्षात् रूप में न होकर अवान्तर रूप में ही होते हैं। इनकी सौन्दर्य मूलकता उद्दीपन की सरणि से होकर आगे आती है। इस प्रकार का उदाहरण कहीं से भी लिया जा सकता है।[1]

---

[1] (क) पाय रितु ग्रीषम बिछायत बनाय,
बेष-कोमल कमल निरखत दल टकि-टकि।
इंदीवर कलित ललित मकरंद रची,
छूटत फुहारे नीर सौरभित सकि-सकि।
'ग्वाल कवि' मुदित बिराजत उसीर खाने,
छाजत सुरा में सुधा सुषमा को छकि-छकि।
होत छबि नीकी वृषभान-नंदिनी की सोंह,
भानु-नंदिनी की ते तरंगन को तकि-तकि।

व्रजभाषा साहित्य का ऋतु सौन्दर्य

(ख) 'रसिक-बिहारी' चारु हार मृदु फूलन के,
सरस सुगंध चाह अमित बढ़ावै है।'' वही पृ. ७२

प्राकृतिक उपकरणों की सौन्दर्य मूलकता एवं मृदुता का ज्ञान नायिका की कोमलता व्यक्त करते समय कराया गया है। ऐसे चित्रों के अप्रस्तुत विधानों में अनुभूति की भावना ही अधिक प्रधान रहती है। नायिका की कोमलता का कथन इन्हीं उपमानों द्वारा हुआ है। उसके श्रम की व्यञ्जना में फूलन के हार, तारक वृन्द, कुन्द, चन्द आदि का ग्रहण हुआ है—

'मैंने तो कही ही वह अति सुकुमार नारि,
हार-हार जाति हार फूलन के धारे हैं।
तुम्हें जक लगी लाल इहाँ ही बुलाइबे की,
याते जाय कहे प्रेम बचन तिहारे हैं।
'ग्वाल' कवि नैक चलि बैठि गई, सी करि,
कैसी कर समूह वाके बदन पसारे हैं।
तारन के वृन्दन को करत हुतो कुन्द,
चंद आज चढ़ि चंद पर चमकत तारे हैं।[1]

'चन्द्रमा पर तारों का चढ़ना' यह अप्रस्तुत योजना वस्तु को सुन्दर बना देने में समर्थ है। इसी के माध्यम से मुख रूपी चन्द्रमा पर स्वेद कण रूपी तारों की व्यञ्जना की गई है।

प्रसाधन से युक्त प्रकृति के उपकरण से रूप निखर जाता है। उसमें अनोखी मोहकता आ जाती है, दीप्ति फैलने लगती है—

सेत सारी सोहत उजारी मुख-चंद की सी,
मलहनि मंद मुसक्यान की महमही।
अँगिया के ऊपर ह्वै उलही उरोज ओप,
उर 'मतिराम' माल मालती डहडही।
माँजे मंजु मुकुट से मंजुल कपोल गोल,
गोरी की गुराई गोरे गातन गहगही।
फूलनि की सेज बैठी दीपति फैलाय लाय,
बेला को फुलेल फूली बेलि सी लहलही।

यहाँ नायिका को लता का समान फूली हुई बताकर उसकी कोमलता, अंगों की प्रफुल्लता और विकास का स्पष्ट संकेत है। अन्य शब्दों के प्रयोग में

---

[1] रसरंग-ग्वाल प्रथम उमंग छन्द ६५

भी सौन्दर्य की यही भावना दीख पड़ती है। इन सभी प्रयोगों से स्पष्ट है कि प्रत्येक युग का कवि अपने आलम्बन रूप नायक अथवा नायिका के रूप-सौन्दर्य की उत्तमता के वर्णन के लिये प्रकृति आदि से विभिन्न वस्तुओं का संग्रह करके अपनी इस भावना की तृप्ति करता है। आलम्बन से भिन्न सभी प्रेमोद्दीपक पदार्थ, वस्तु या व्यक्ति आदि को तटस्थ साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। इससे ये सभी साधन आत्मगत न होकर परगत हैं और इसी रूप में इनका संकेत किया गया है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियों की सौन्दर्य चेतना बहुत ही सचेष्ट थी। उन्होंने कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से रूप-सौन्दर्य का हृदय ग्राही और चमत्कार-प्रधान जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह अपनी अभिव्यञ्जना में सर्वथा नवीन, आकर्षक एवं रस की अनुभूति कराने वाला है। यही कारण है कि शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इस काल के काव्य में रूप-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति अपनी सफलता की उद्घोषणा करती रहती है। ऐसे काव्य में अंकित रूप-सौन्दर्य में अवगाहन करता हुआ सहृदय एक अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करके उसमें पूर्ण तन्मय हो जाता है और यही इस काव्य की सफलता है।

उपसंहार

उपसंहार—

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में रूप-सौन्दर्य के स्पष्टीकरण के हेतु जिस साहित्यिक क्षेत्र को ग्रहण किया गया है, उसे भक्तिकाल और रीतिकाल में विभाजित कर दिया गया है। इसकाल के आलम्बन के रूप-सौन्दर्य को वर्णन करने के लिये आलम्बन के शोभा-विधायक धर्मों की चर्चा की गई है। इनके अन्तर्गत यौवन, रूप, लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, सुकुमारता आदि की गणना होती है।

सौन्दर्य के विधायक तत्त्वों में आलम्बन के गुण और उसकी चेष्टा में अलंकृति और तटस्थ का नाम लिया गया है। इन चारों को उद्दीपन के अन्तर्गत माना गया है। इनसे आलम्बन का रूप-सौन्दर्य उत्कर्ष को प्राप्त होता है। आलम्बन का गुण आश्रय को आकृष्ट करने का प्रधान कारण होता है। उसकी चेष्टाओं से भावनाएं उद्दीप्त होती हैं, आलम्बन की मोहकता बढ़ती है और आश्रय मुग्ध होकर अनायास ही खिचा हुआ चला आता है। चेष्टा के अन्तर्गत आश्रय को मोहित कर लेने वाले हाव, मुसकान चितवन आदि तथा अनेक अलंकारों–लीला, विलास, कुट्टमित आदि की गणना होती है। हाव एवं अलंकारों के समुचित विधान से रूप आकर्षक हो जाता है और आलम्बन की शोभा उद्दीपक बन जाती है।

अलंकृति के अन्तर्गत शोभा-विधायक बाह्य प्रसाधनों की चर्चा हुई है षोडश-शृंगार सौन्दर्य को बढ़ाने में सदा से मान्य रहा है। इसमें धारण किये जाने वाले, अन्य प्रकार के (स्नान, दर्पण, पान) और शरीर पर लगाये जाने वाले उपकरणों की गणना होती है। वस्त्र, आभूषण, अंगरागादि द्वारा आज भी स्त्रियां अपने सौन्दर्य को मुखरित करके आकर्षण को बढ़ाती हैं। इस बढ़े हुए आकर्षण का मुख्य उद्देश्य लोगों को अपनी ओर खींच लेना होता है।

'तटस्थ' तत्त्व को सौन्दर्य साधक उपकरण न मानकर उद्दीपक माना गया है। इसमें प्रकृति के विभिन्न अंगों—चन्द्र, चन्द्रिका, बाग, तरु, कोकिल, मलय–पवन, एकान्त आदि–द्वारा मानव की रतिमूलक भावना को उद्दीप्त करने की चेष्टा की जाती है। प्रकृति के माध्यम से नायक–नायिका की अनुकूल अथवा प्रतिकूल मानसिक स्थितियों का चित्रण होता है। प्रकृति भाव की व्यञ्जना में सहायक होकर आती है। यह सौन्दर्य–वर्णन का सीधा अथवा

प्रत्यक्ष साधन नहीं है अपितु प्रकृति की पृष्ठभूमि में व्यक्ति ही अपनी भावनाओं की तृप्ति का एक साधन पा लेता है। ऐसी स्थिति में नायिका माध्यम का कार्य सम्पन्न करती है और नायक अपनी ही भावना का उपभोग करता है। इससे प्रकृति सौन्दर्य-साधक न होकर भावनाओं की उद्दीपक ही रही है। इस रूप में प्रकृति को प्रस्तुत करना इस प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं है। इसी कारण केवल मानवीय रूप-सौन्दर्य के स्पष्टीकरण हेतु गुण, चेष्टा और प्रसाधनों से उत्कर्ष को प्राप्त सौन्दर्य को ही विश्लेषित करके मध्यकालीन साहित्य में इस का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

मध्यकालीन साहित्य में केवल नारी के ही रूप-सौन्दर्य को प्रश्रय न देकर पुरुष-सौन्दर्य को भी वर्णन का विषय बनाया गया है। भक्तिकालीन कवियों ने पुरुष के बाह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य का मोहक चित्र प्रस्तुत किया है। रीतिकाल में नारी-सौन्दर्य की प्रमुखता होते हुए भी पुरुष सौन्दर्य सर्वथा आँखों से ओझल नहीं रहा है। प्रेम के आलम्बन रूप में कृष्ण-विषयक रचनाओं में पुरुष सौन्दर्य का यदा-कदा चित्रण मिल जाता है। 'ग्वाल' जैसे कवियों ने तो स्वतंत्र रूप से श्रीकृष्ण के नख-शिख सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने के लिये पूरा ग्रन्थ पुरुष-सौन्दर्य के ऊपर लिखा है। ऐसे स्थलों पर परम्परा का पालन होते हुए भी प्रभावोत्पादकता है परन्तु ऐसे ग्रन्थों की संख्या कम है। मुक्तक काव्य में श्रीकृष्ण की शृंगार मूलक चेष्टाएं कम वर्णित की गई है। रसखान जैसे कवियों ने अनुभावों का वर्णन किया है, परन्तु प्रसाधन-गत सौन्दर्य के उपकरणों पर दृष्टि जम नहीं सकी है। बाह्य आकर्षण के वर्णन की परम्परा भी कम दीख पड़ती है क्योंकि रीतिकाल की भोगपरक दृष्टि पुरुष अंगों के सौन्दर्य से हटकर नारी सौन्दर्य के उद्घाटन में लगी रही।

इस काल की नायिका के सौन्दर्य वर्णन में मुख्यतः गुण गत लावण्य एवं उसके प्रभाव का सफल और सजीव चित्रण हुआ है। इससे सौन्दर्य-चित्रण में अनुभूतिपरक सचाई दीख पड़ती है। यह सचाई युग से प्रभावित वैभव और ऐश्वर्य के विलास परक उपकरणों और रूप में चमक और ज्योति उत्पन्न करने वाले साधनों से लाई गई है। नायिका के सहज लावण्य द्वारा स्वच्छन्द धारा के कवियों ने रूप सौन्दर्य का यथार्थ और मर्मस्पर्शी रूप भी प्रस्तुत किया है। इन दोनों पद्धतियों से सौन्दर्य पूर्णत्व को पहुँच जाता है। यह पूर्णता नारी और पुरुष दोनों के ही सौन्दर्य-वर्णन द्वारा लाई गई है। यद्यपि पुरुष-सौन्दर्य का वर्णन प्रधान रूप से न होकर प्रसगतः ही हुआ है, फिर भी ग्वाल आदि कविनों ने रीतिकालीन परम्परा के विपरीत कृष्ण को आलम्बन बनाकर पुरुष-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में नवीन प्रयोग द्वारा नवीन दृष्टि दी है।

रीतिकालीन कवियों ने सौन्दर्याभिव्यक्ति के लिये 'सुन्दर' के प्रतीक रूप में कुछ वस्तुओं को ग्रहण कर लिया है। इन्हीं के माध्यम से मानवीय जीवन को आधार बनाकर मांसल-सौन्दर्य के प्रमुख आलम्बन रमणी की दैहिक रूप की सज्जा और कामोत्तेजक अंगों का आकर्षक रूप-चित्र उपस्थित किया गया है। यह चित्र किशोर अथवा किशोरी का है, क्योंकि शृंगार के सार रूप में यही अवस्था सर्वोत्तम मानी गई है। ऐसा मांसल, बाह्य और हृदय-आवर्जक चित्र अन्य स्थलों पर प्राप्त नहीं हो पाता है। नवल अंगनाओं की मकरध्वज के बाणों से विद्ध छवि की अभूतपूर्व आकर्षक कल्पना, वयः सन्धि और यौवन के उठान के वर्णन के प्रति सचेष्टता और वीर्य-विक्षोभक अंगों का मांसल सौन्दर्य इस युग की अनिवार्य विशेषता है।

इन अंगों में स्तन, नितम्ब, नयन आदि का वर्णन है। वक्ष के अनावृत सौन्दर्य से नारी अंगों की शोभा बढ़ाई गई है। इसके लिये अनेक चित्र और विशेषणों के साथ उपमानों का प्रयोग है। कड़े कुच, ठाड़े और उठते हुए उरोज, उचके कुच कोर, अछूत उरोज आदि विशेषणों से मांसल सौन्दर्य का उत्तेजक एवं ऐन्द्रिय रूप उपस्थित किया गया है। यौवन में इन अंगों द्वारा सौन्दर्य का उत्कर्ष दिखाया गया है। इसी अवयवपरक सौन्दर्य के साथ अंगों में प्रतिभासित होने वाले लावण्य की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है। इससे गुणपरक अकृत्रिम सौन्दर्य के सहज रूप के साथ कुल की अभिजातता से सौकुमार्य की व्यञ्जना होती है। वैभव और ऐश्वर्य के माध्यम से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई है। गार्हस्थ सौन्दर्य को देखने का प्रयास किया गया है। उस युग की सामाजिक भावना पार्थिवता का पक्ष ग्रहण करती है, परन्तु भक्तिकालीन अपार्थिव आलम्बन से सौन्दर्य का भाव-पक्ष भक्तिकाल में अधिक प्रबल हो जाता है। यही कारण है कि भक्तिकाल के अपार्थिव आलम्बन श्रीकृष्ण रीतिकाल में सामान्य मानव हो जाते हैं और युग की परिवर्तित सौन्दर्य-वृत्ति के कारण विलास-भावना को प्रश्रय मिल जाता है। रीतिकाल में भोग-भावना के प्रधान साधन नारी के सौन्दर्य का वर्णन करने के लिए कहीं-कहीं तो नाप-जोख वाली प्रणाली अपनाई गई और अभिव्यञ्जनात्मक सौन्दर्य द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया गया है। यह चमत्कार स्थूलता को आधार बना कर प्रदर्शित हुआ है। स्थूलता भाव और अभिव्यक्ति दोनों में दीख पड़ती है। नवीन रूप-रचना न होकर परम्परा का ही निर्वाह हुआ है। दृश्य-विस्तार और उसके उद्घाटन में अतिशयोक्ति की महत्ता बढ़ने लगी। स्थूल रेखाओं में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अलंकरण के माध्यम से होने लगी। इसी के साथ कोमल व मादनभाव को प्रश्रय मिला। इन सबके मूल में उक्ति-वैचित्र्य का

प्राधान्य हो गया। रूप दर्शन में 'अखियां मधु की मखियां" बन गईं। अलंकार प्रियता से उपमानों की गणना होने लगी। इससे सौन्दर्य का सहज रूप स्फुरित नहीं हो सका और ऐसे सभी वर्णनों में निसर्गगत सौन्दर्य की हत्या हो गई। यहां तक कि भक्तिकालीन सौन्दर्य के आश्रय और आलम्बन को भी रीतिकालीन विचित्र कल्पनाओं से व्याप्त कर दिया गया। आराध्य का रूप-सौन्दर्य स्वाभाविक न रहकर कृत्रिम बन गया। प्रकृत उपमानों के स्थान पर उक्ति वैचित्र्य का महत्व बढ़ गया। सौन्दर्य-वर्णन की रुचि सम्पूर्ण मध्यकाल में एक समान ही थी, परन्तु उसके आलम्बन और अभिव्यक्ति के ढंग में महान् अन्तर आ गया।

भक्तिकालीन सौन्दर्य-चेतना के कारण कवियों ने अपने आराध्य श्री कृष्ण के विश्वजित भुवन मोहन व्यक्तित्व का भावान्दोलित जो स्वरूप उपस्थित किया, वह सौन्दर्य की इयत्ता में न बंधकर असीम था। उनका रूप-सौन्दर्य विश्व के सभी प्रसिद्धतम उपमानों से बढ़कर है। वह केवल नख-शिख का शुष्क या मांसल सौन्दर्य नहीं है, अपितु भावों का निसर्ग-सिद्ध सौन्दर्य है। बाह्य-सौन्दर्य तो सहायक बनकर अपने आप ही अनायास आ गया है। इससे भक्तिकाल में शाश्वत सौन्दर्य के अप्रतिम रूप-दर्शन-जन्य आनन्द की अजस्र धारा प्रवाहित होने लगती है। श्रीकृष्ण का माधुर्य एवं सौन्दर्य मानवीय रूप में भी अनन्त-अलौकिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है। श्रीकृष्ण का मानवीय सौन्दर्य भौतिक उपकरणों के माध्यम से और आध्यात्मिक सौन्दर्य शाश्वत एवं चिरन्तन तत्वों से निर्मित हुआ है। प्रकृति के सभी उपमान ऐसे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में व्यर्थ हो जाते हैं। कवि आलम्बन के रूप को स्पष्ट करने में दिव्य दृष्टि रखकर आगे बढ़ता है।

श्री कृष्ण के मानवीय रूप-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति तथा अंग-वर्णन और सौन्दर्य-चित्रण में उसकी समष्टिगत चेतना जागरूक रही है। वहां अंगों के सौन्दर्य वर्णन की अनेकता में एकता वर्तमान है। प्रत्येक अंग अपने आप में पूर्ण मात्र नहीं है, अपितु वह सामूहिक सौन्दर्य में योग देने वाली छवि का स्रोत भी है। इससे अनन्त मुग्धता का भाव अनेक रूपों और रेखाओं में अभिव्यक्त किया गया है। कहीं कहीं यही सौन्दर्य अलौकिकता की परिधि में आ जाता है। इस काल में चमत्कार के अभिव्यञ्जनात्मक सौन्दर्य के स्थान पर रूप की भावात्मक और सचेतन उपस्थिति हुई है। रीतिकालीन सौन्दर्याङ्कन में अलौकिकता रूढ़ि एवं चमत्कार में बदल गई, सौन्दर्यानुभूति में भौतिकता का महत्व बढ़ गया, अलौकिक कल्पना का ह्रास हुआ और पुरुष-सौन्दर्य के स्थान पर नारी-सौन्दर्य

चित्रण कवियों का प्रमुख लक्ष्य बन गया। इसमें भक्तों की सौन्दर्य-भावना आध्यात्म-लोक की सुखमय कल्पना के स्तर से गिरकर रीतिकालीन इहलोक की वास्तविक सुन्दरता में बदल गई। राधा-कृष्ण का सौन्दर्य-माधुर्य गोचर और लौकिक रूप का आकर्षण उत्पन्न करने लगा। मानसिक भावों की तुलना में अभिव्यञ्जनात्मक सौन्दर्य की रुचि बढ़ गई। इससे वस्तु का बिम्ब उपस्थित नहीं हो पाता और बहुधा रूढ़ि का पालन मात्र रह जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल के सौन्दर्य-विधान में भाव की महत्ता है और यह सौन्दर्य वर्णन प्रयत्न साध्य न होकर कवि के अन्तः करण से स्वयं संभूत है, परन्तु रीतिकाल में प्रयत्न एवं बौद्धिक चेतना की अभिव्यञ्जनागत-शिल्प के कारण रूप सौन्दर्य बहुधा उक्ति-वैचित्र्य और चमत्कार में बदल जाया करता है।

सम्पूर्ण मध्यकाल पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भ में पुरुष-सौन्दर्य अंकन की प्रवृत्ति बाद में नारी-सौन्दर्याङ्कन में बदल जाती है। भक्तिकाल में नारी के रूप-सौन्दर्य का वर्णन स्वतन्त्र रूप से न होकर श्रीकृष्ण के संदर्भ में हुआ है। इससे उसके असत् रूप का भोगपरक मांसल-सौन्दर्य भौतिक धरातल पर प्रमुख नहीं हो पाता है। कवियों ने उसके बाह्य-आवरण की असारता और वीभत्सता के बीच उदात्त गुणों का आदर्श और मोहक रूप प्रस्तुत किया। इस युग की सम्पूर्ण शोभा सुन्दरता और रूपाकर्षण आदि श्रीकृष्ण के लिये ही थी, इसीसे उसके मूल में भक्ति की भावना वर्तमान रहती है। इसके विपरीत रीतिकालीन साहित्य में आदर्श एवं भक्ति को प्रश्रय न देकर पारस्परिक आकर्षण उत्पन्न करने वाले शरीर के विभिन्न अंगों, प्रसाधक उपकरणों आदि का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया। बाह्य-शरीर के मांसल-सौन्दर्य और कामोद्दीपक चेष्टाओं की प्रवृत्ति बढ़ गई। श्रीकृष्ण का लीलापरक रूप लुप्त होने लगा और वह मात्र 'मन-मोहन' बन कर रह गये। मोहिनी राधा नायिका के सामान्य स्तर पर आ गई और उनके रूप-वर्णन में नख-शिख की प्रधानता हो गई।

रीतिकालीन सूक्ष्म दृष्टि के कारण अनुभावों आदि के सौन्दर्य का मोहक-चित्र उपस्थित हो सका है। इसमें स्थूल एवं भौतिक दृष्टि सदैव कार्य करती रहती है। मानसिक सौन्दर्य के साथ बाह्य-शारीरिक सौन्दर्य की सफल अभिव्यञ्जना हुई है। बाह्य-सौन्दर्य-वर्णन में नायिका के अंग-प्रत्यंग, रूप-रंग, कान्ति, गठन, आयु, सौकुमार्य, चेष्टा, वेशभूषा, प्रसाधक उपकरण आदि को आधार बनाया गया है। शारीरिक गुणों में मध्यकालीन सभी कवियों ने

शारीरिक शोभा, तनद्युति, ज्योति, छवि, लावण्य आदि का अनुपम चित्र उपस्थित किया है। यह छवि अंगों में स्वतः प्रकाशित होती हुई बताई गई है। इसके और अधिक उत्कर्ष के लिए ग्रह-नक्षत्र, पशु-पक्षी, वनस्पति, बहुमूल्य पदार्थों आदि को अप्रस्तुत रूप में लाया गया है। इन उपमानों में कमल, चाँदनी, बिजली किरण, मोती, हीरा, चकोर, हरिण, चक्रवाक, कदली, कलकलता आदि का प्रयोग किया गया है। सुगन्धित द्रव्यों में केशर, कस्तूरी, मृगमद, कपूर आदि द्वारा आकर्षण बढ़ाया गया है। इन सभी पदार्थों एवं उपकरणों तथा आलम्बनगत गुणों और विभिन्न चेष्टाओं से रूप-सौन्दर्य की सफल व्यञ्जना हो सकी है। अतः कहा जा सकता है कि रूप-सौन्दर्य की आकर्षक और यथार्थ अभिव्यक्ति करने में मध्यकालीन कृष्ण-साहित्य के कवि पूर्णतः सफल हुए हैं।

परिशिष्ट

ग्रन्थानुक्रमणिका—आलोच्य एवं सहायक ग्रन्थ

१. अनुराग पदावली — गीता प्रेस, गोरखपुर।
२. अनुराग बाग — दीनदयाल गिरि।
३. अष्टछाप पदावली — सोमनाथ गुप्त।
४. अष्टछाप पदावली — प्रभूदयाल मीतल।
५. अष्टछाप पदावली — विद्या-विभाग, कांकरौली।
६. अष्टछाप परिचय — प्रभुदयाल मीतल।
७. अंग-दर्पण — रसलीन।
८. अंगादर्श — रंगनारायण पाल
९. आलम केलि — सम्पा० भगवान दीन
१०. आँख और कविगण — सम्पा० जवाहरलाल चतुर्वेदी
११. कवित्त-रत्नाकर — सेनापति
१२. कवितावली — तुलसीदास
१३. कामायनी — जयशंकर प्रसाद
१४, काव्य-प्रभाकर — जगन्नाथदास भानु
१५. कुम्भनदास-जीवनी और पद — विद्या-विभाग, कांकरौली
१६. केलिमाल और सिद्धान्त के पद — स्वामी हरिदास।
१७. केशव-ग्रन्थावली — सम्पा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
१८. कृष्ण जू को नख-शिख — ग्वाल कवि
१९. कृष्णदास पदावली — सम्पा० ब्रजभूषण शर्मा कांकरौली।
२०. कीर्तन-संग्रह भाग १,२ — लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद।
२१. गोविन्द स्वामी-जीवनी और पद — विद्या-विभाग, कांकरौली
२२. घनानन्द-ग्रन्थावली — सम्पा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
२३. चत्रभुजदास—पद संग्रह — विद्या-विभाग, कांकरौली
२४. छीतस्वामी—जीवनी और पद — विद्या-विभाग, कांकरौली
२५. जगद् विनोद — पद्माकर
२६. जायसी—ग्रन्थावली — सम्पा० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
२७. जुगल-सनेह पत्रिका — चाचा वृन्दावनदास

२८. तोष सुधा-निधि — तोष, भारत जीवन प्रेस, काशी
२९. दास-ग्रन्थावली — सम्पा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
३०. नख-शिख — ग्वाल कवि
३१. नख-शिख — नृप शंभु । नारायण प्रेस मुजफ्फर पुर ।
३२. नन्ददास ग्रन्थावली — सम्पा० ब्रजरत्न दास ।
३३. नन्ददास ग्रन्थावली — सम्पा० उमाशंकर शुक्ल
३४. निम्बार्क माधुरी — सम्पा० विहारी शरण
३५. परमानन्द सागर — सम्पा० गोवर्धन शुक्ल
३६. पल्लव — सुमित्रा नन्दन पंत
३७. पृथ्वीराज रासो — चन्द्र वरदाई
३८. ब्रजनिधि ग्रन्थावली — सम्पा० पुरोहित हरिनारायण शर्मा
३९. ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य — सम्पा० प्रभुदयाल मीतल
४०. ब्रजभाषा साहित्य का नायिका-भेद — सम्पा० प्रभुदयाल मीतल
४१. ब्रज माधुरी सार — सम्पा० वियोगी हरि ।
४२. बलभद्र कवि — हस्तलिखित प्रति पूना विश्वविद्यालय, पूना ।
४३. विहारी-रत्नाकर — सम्पा० जगन्नाथ दास रत्नाकर ।
४४. ब्यालीस-लीला — ध्रुवदास
४५. भक्त कवि व्यास जी — सम्पा० वासुदेव गोस्वामी
४६. भारतेन्दु ग्रन्थावली — सम्पा० ब्रजरत्नदास
४७. मतिराम-ग्रन्थावली — सम्पा० कृष्ण बिहारी मिश्र
४८. युगलशतक — श्री भट्ट
४९. रस तरंग — ग्वाल कवि
५०. रस खानि — सम्पा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
५१. रस-प्रबोध — रसलीन
५२. रस-रत्नाकर — देव
५३. रसराज — मतिराम
५४. रस-विलास — देव
५५. रामचरित मानस — तुलसीदास
५६. रास पंचाध्यायी — सम्पा० सोमनाथ
५७. रीतिकाव्य संग्रह — सम्पा० जगदीश गुप्त
५८. विद्यापति-पदावली — रामवृक्ष बेनीपुरी

५९.	सनेह-सागर	बकसी हंसराज, सम्पादक लाला भगवानदीन
६०.	सूर सागर	नागरी-प्रचारिणी सभा।
६१.	सूर-सागर	वेंकटेश्वर प्रेस।
६२.	संगीत–अष्टछाप	सम्पा० गोकुलानन्द तैलंग।
६३.	शिख–नखावली	राम सहायदास
६४.	शृङ्गार-तक	ध्रुवदास
६५.	श्री राधा सुधा शतक	हठी
६६.	श्री राधिका जी का नख-शिख	कालिका प्रसाद।
६७.	हित-चौरासी	हित हरिवंश।

सहायक-ग्रन्थ

६८.	अकबरी दरबार के हिन्दी कवि	सरयू प्रसाद अग्रवाल।
६९.	अवध के प्रमुख कवि	व्रजकिशोर मिश्र।
७०.	अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	डा. दीनदयाल गुप्त।
७१.	अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन	डा. मायारानी टंडन।
७२.	आधुनिक काव्य में रूप-विधाएँ	डा. निर्मला जैन।
७३.	आधुनिक काव्य में सौन्दर्य-भावना	शकुन्तला शर्मा।
७४.	आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम-सौन्दर्य	डा. रामेश्वर खण्डेलवाल।
७५.	उदात्त-सिद्धान्त और शिल्पन	जगदीश पाण्डेय।
७६.	कविवर पद्माकर और उनका युग	डा. व्रजनारायण सिंह।
७७	कविवर परमानन्द और वल्लभ-सम्प्रदाय	गोवर्धन नाथ शुक्ल।
७८.	काव्य में उदात्त तत्त्व	डा. नगेन्द्र।
७९.	काव्यात्मक बिम्ब	अछोरी व्रजनन्दन प्रसाद।
८०.	घनानन्द और स्वच्छन्द काव्य-धारा	मनोहरलाल गौड़।

८१. दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक — डा. त्रिभुवन सिंह।

८२. देव और उनकी कविता — डा. नगेन्द्र।

८३. प्रकृति और काव्य (हिन्दी) — डा. रघुवंश।

८४. प्रामाणिक हिन्दी कोश — रामचन्द्र वर्मा।

८५. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ — सम्पा. वासुदेवशरण अग्रवाल।

८६. ब्रजभाषा के कृष्ण काव्य में अभिव्यञ्जना शिल्प — डा. सावित्री सिन्हा।

८७. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन — डा. सत्येन्द्र।

८८. भारतीय साधना और सूर साहित्य — डा. मुन्शीराम शर्मा।

८९. मतिराम-कवि और आचार्य — डा. महेन्द्रकुमार।

९०. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ — डा. सावित्री सिन्हा।

९१. महाकवि मतिराम — डा. त्रिभुवन सिंह।

९२. मूल्य और मूल्यांकन — रामरतन भटनागर।

९३. राधावल्लभ सम्प्रदाय-सिद्धान्त और साहित्य — डा. विजयेन्द्र स्नातक।

९४. रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यञ्जना — डा. बचन सिंह

९५. रीतिकालीन काव्य में लक्षणा का प्रयोग — डा. अरविन्द पाण्डे।

९६. सत्यं, शिवं, सुन्दरम् भाग १ और २ — डा. रामानन्द तिवारी।

९७. सूर और उनका साहित्य — डा. हरवंशलाल शर्मा।

९८. सूर की झाँकी — डा. सत्येन्द्र।

९९. सौन्दर्य-तत्त्व (हिन्दी) — अनुवादक डा. आनन्द प्रकाश दीक्षित

१००. सौन्दर्य तत्त्व और काव्य सिद्धान्त — अनु. मनोहर काले।

१०१. सौन्दर्य-मीमांसा (हिन्दी) — अनु. रामकेवल सिंह।

१०२. सौन्दर्य-शास्त्र — डा. हरद्वारीलाल शर्मा।

१०३. सौन्दर्य-शास्त्र का तत्व — डा. कुमार विमल।

संस्कृत-ग्रन्थ

१०४. अभिज्ञान-शाकुन्तलम्	कालिदास ।
१०५. अलंकार-कौस्तुभ	कर्णपूर ।
१०६. उज्ज्वल नील मणि	रूप गोस्वामी ।
१०७. उत्तर-राम चरितम्	भवभूति ।
१०८. उपनिषद् (कठ, मुण्डक, छान्दोग्य,	मैत्रेय
१०९. औचित्य विचार चर्चा	आचार्य क्षेमेन्द्र ।
११०. कालिदास-ग्रन्थावली	सम्पा. सीताराम चतुर्वेदी ।
१११. काव्य-प्रकाश	व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर ।
११२. काव्य-प्रकाश	ज्ञान मण्डल लिमिटेड ।
११३. काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति	वामन ।
११४. किरातार्जुनीयम्	भारवि ।
११५. कुवलयानन्द	अप्पय दीक्षित ।
११६. कोश	अमर, वाचस्पत्य और हलायुध ।
११७. गीत गोविन्द	जयदेव ।
११८. दशरूपकम्	धनञ्जय, व्याख्या. भोलाशंकर व्यास
११९. ध्वन्यालोक	व्याख्याकार रामसागर त्रिपाठी ।
१२०. ध्वन्यालोक	व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर ।
१२१. ध्वन्यालोक	व्याख्याकार बदरीनाथ शर्मा ।
१२२. नागानन्द	हर्ष ।
१२३. प्रताप रुद्रीयम्	विद्यानाथ ।
१२४. पुराण	पद्म, वायु, वामन, कूर्म, गरुड़, ब्रह्मवैवर्त, श्रीमद्भागवत, ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, विष्णु ।
१२५. ब्राह्मण	कौशितकी, ऐतरेय, शतपथ ।
१२६. वाल्मीकि-रामायण	अनु. चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा ।
१२७. भास नाटक चक्रम्	भास ।
१२८. महाभारत	वेद व्यास ।
१२९. मनुस्मृति	मनु ।
१३०. मालती-माधवम्	भवभूति
१३१. रस-गङ्गाधर	व्याख्या, बदरीनाथ झा ।

१३२. वेद — ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद ।
१३३. साहित्य-दर्पण — व्याख्या. सत्यव्रत सिंह ।
१३४. संहिता — वाजसनेयी, तैत्तिरीय ।
१३५. शिशुपाल-वध — माघ ।
१३६. शृङ्गार-तिलक — रुद्र-भट्ट ।
१३७. हरिभक्ति रसामृत सिन्धु — रूप गोस्वामी, अच्युत ग्रन्थ माला ।
१३८. हिन्दी दशरूपक — टीकाकार डा. गोविन्द त्रिगुणायत ।
१३९. Encychlopaedea Brittanica Vol IX
१४०. Essay on Study of Greek Poetry — Fr. V. Schelegela,
१४१. From the style in Poetry — W. P. Ker.
१४२. From the philosophies of Beauty — E. F. Carritt.
१४३. History of Aesthetics — George, Bosanquette.
१४४. The Critique of judgement — Immanuel Kant.
१४५. The Sense of Beauty — G. Santayana.